पेशलफ़्ज़

मौलाना अब्दुल् हलीम शरर का शुमार उर्दू के मुमताज मुसन्निफ़ों में होता है। उन्होंने एक नाविलनिगार और मुअर्रिख़ की हैसियत से बड़ी शुहरत हासिल की और सबसे ज़ियादा नाम तारीख़ी नाविलों के ज़रीए पैदा किया। उर्दू में बहुत से रिसाले उन्होंने निकाले जिनमें 'दिलगुदाज़ लखनऊ' सबसे ज़ियादा मुद्दत तक जारी रहा और बड़ी शुहरत अदबी और इल्मी हल्क़ों में हासिल की। मौलाना ने इसी रिसाले में एक सिलसिल-ए-मज़ामीन "हिन्दोस्तान में मशरिक़ी तमद्दुन् का आख़िरी नमूना" के नाम से लिखा जो बरसों छपता और बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा जाता रहा। इसी को बाद में किताबी शक्ल में 'गुज़श्तः लखनऊ' के नाम से शायअ किया गया जिसके बहुत से एडीशन अब तक छप चुके हैं।

बेगम हामिदः हबीबुल्लाह,
एम्० पी०

यह किताब बड़ी पुरमालूमात और दौरे आख़िर के लखनऊ की तहज़ीब और तमद्दुन् की तफ़सील, जिसमें उलूम, फ़ुनून, अदब, शायरी, तर्ज़े मुआशरत, खेल-तफ़रीह वग़ैरह तमाम मशाग़िल शामिल हैं, पेश करने में लासानी हैसियत रखती है। किताब का आग़ाज़ नव्वाबे अवध शुजाउद्दौला के दौर से हुआ है जब लखनऊ को मरकज़ी हैसियत मिली, और ख़ातिमः आख़िरी ताजदारे अवध नव्वाब वाजिद अली शाह पर हुआ है जिसमें उनका वह ज़माना भी शामिल है जो तख़्त से उतारे जाने के बाद मटियाबुर्ज (कलकत्ता) में गुज़ारा और जहाँ उनके क़याम की बदौलत एक छोटा सा लखनऊ फिर से बस गया था, और लखनवी तहज़ीब और रिवायात मौजूद थीं। मौलाना ने भी इस ज़िन्दगी को अपनी आँखों से देखा था और यही वजह है कि उन्होंने बड़ी ख़ूबी से उसकी सच्ची तस्वीर खींची।

इस किताब की ज़बान बड़ी सलीस और सादा है और इसमें अदब और इंशा की वह तमाम ख़ूबियाँ भी मौजूद हैं जो हर तब्क़े और पेशे के मुतअल्लिक़ बड़ी बेशक़ीमत मालूमात जमा करके क़दीम लखनऊ की सही और न मिटनेवाली तस्वीर पेश की है। इसके मुताले से हिन्दू-मुस्लिम भाईचारा और साथ ही मुसलमानों के मुख़्तलिफ़ फ़िरक़ों—ख़ुसूसन् शीओं और सुन्नियों के माबैन इत्तिहाद पैदा हो सकता है, बल्कि

और बढ़ सकता है। इस तरह मुल्की यकजिहती और क़ौमी एकता के लिए भी यह किताब मुफ़ीद और क़ाबिले क़द्र है। क़दीम लखनऊ और उसकी तहज़ीब आज क़िस्स-ए-माज़ी बन चुकी है, फिर भी शरर साहब के क़लम का कमाल यह है कि उन्होंने घस तहज़ीब और उसके तमाम पहलुओं का दिलकश मुरक़्क़ा पेश करके उसे हमेशा के लिए महफ़ूज़ कर दिया। यह किताब एक ही वक़्त में तारीख़ भी है और साथ ही अदब और इंशा का उम्दा नमूना भी।

ख़ुशी की बात है कि इसको देवनागरी रस्मुल्ख़त में लखनऊ ही की एक मुहतरम ख़ातून हुमैरा सिद्दीक़ी दुख़्तर मरहूम मौलवी मुहम्मद सिद्दीक़ ने मुन्तक़िल किया और यहीं के एक इल्मदोस्त और इत्तिहाद-परवर नाशिर जनाब नन्दकुमार अवस्थी साहब ने उसकी इशाअ़त का बीड़ा उठाया है, ताकि हिन्दी जाननेवाले हज़रात भी इस क़ीमती किताब से पूरा फ़ायदा उठा सकें। मैं समझती हूँ कि मुल्की इत्तिहाद के लिए यह काम बहुत ज़रूरी है कि हिन्दी रस्मुल्ख़त में इस तरह की सभी ज़बानों की किताबों की इशाअ़त की जाये।

पं० अवस्थी साहब को इस क़ाबिले क़द्र काम के लिए दिली मुबारकबाद देती हूँ। उन्होंने एक अरसे-दराज़ में अरबी क़ुर्आन शरीफ़ को नागरी रस्मुल्ख़त में ढालने के बाद भुवन वाणी ट्रस्ट लखनऊ इंस्टीट्यूशन की बुनियाद डाली। इस ट्रस्ट के मातहत तमाम ज़बानों के बेशबहा लिट्रेचर को देवनागरी रस्मुल्ख़त में उन ज़बानों की मख़्सूस आवाज़ों को क़ायम रखते हुए, शायअ़ किया जा रहा है। उर्दू की भी मख़्सूस आवाज़ों के और फ़ारसी इज़ाफ़त के लिए नागरी रस्मुल्ख़त में अलामतें ईजाद की गयी हैं। इससे इन तमाम ज़बानों को हत्तल्इम्कान सही तलफ़्फ़ुज़ के साथ पढ़ा जा सकता है।

मैं उम्मीद करती हूँ की इस मिहनत पर हर मुमकिन हौसला-अफ़्ज़ाई की जायगी।

हमारे मुल्क में हर ख़ित्ते के लोग उर्दू ज़बान की लज़्ज़त को पसन्द करते हैं। लेकिन मजबूरी यह है कि हर शख़्स उर्दू रस्मुल्ख़त को भी सीख ले, यह मुमकिन नहीं। इसलिए जहाँ एक तरफ़ यह ज़रूरी है कि उर्दू और फ़ारसी अदब का तमाम ज़ख़ीरा ज़ियादा से ज़ियादा उर्दू रस्मुल्ख़त में शायअ़ किया जाय, वहीं निहायत अहम ज़रूरत यह भी है कि ज़ियादा से ज़ियादा उर्दू लिट्रेचर को देवनागरी रस्मुल्ख़त में लाज़िमी तौर पर शायअ़ किया जाय ताकि तमाम शायक़ीन, जो उर्दू रस्मुल्ख़त नहीं जानते और न सीखने की उनको तौफ़ीक़ है, वे भी उर्दू के तमाम नज़्म व नस्र को नागरी रस्मुल्ख़त में पढ़कर लुत्फ़ हासिल कर सकें।

दि० १४-३-८१ ख़ैरतलब
११, हबीबुल्लाह स्टेट, लखनऊ। हामिदा हबीबुल्लाह

प्रकाशकीय

विषय-प्रवेश

पुनरुक्ति का दोष होते हुए भी, प्रत्येक सानुवाद लिप्यन्तरित ग्रन्थ के प्रकाशकीय में निम्न पृष्ठभूमि किन्हीं न किन्हीं शब्दों में देना अनिवार्य होता है। 'लिप्यन्तरण' आज राष्ट्रीय समन्वय के लिए क्यों परम आवश्यक है, यह प्रत्येक देशवासी के सम्मुख आज बार-बार आना चाहिए।

वाणी, भाषा और लिपि

मन के भावों और उद्‌गारों को मुख से प्रकट करना, यही वाणी है। पशु, पक्षी अथवा मनुष्यों में जब कोई वर्ग एक प्रकार की वाणी बोलता है, उस बोली से परस्पर भावों को कहता, सुनता और समझता है, तब वाणी के उस प्रकार को उस विशिष्ट-वर्ग की भाषा की संज्ञा दी जाती है। और उसी भाषा को जब चिह्नों-आकृतियों में लिखकर प्रकट किया जाता है, तब उन्हीं चिह्नों और आकृतियों को उस वर्ग-विशेष की लिपि कहा जाता है।

कुछ विद्वानों के मत से धरातल पर पृथक्-पृथक् भूखण्डों से विभिन्न समयों पर मानवों की सृष्टि और विकास होता रहा है। वे सब एक ही स्थान पर एक ही मानव से उत्पन्न नहीं हैं। फलतः उन सबकी भाषाएँ भी एक-दूसरे से विल्कुल पृथक् और स्वतंत्र हैं। इन पृथक् कुलों को ये विद्वान् आर्य, मंगोल, सेमेटिक, हेमेटिक द्रविड़ आदि की संज्ञा देते हैं।

किन्तु भारतीय मत की घोषणा इसके विपरीत है, और इस्लामी तथा ख्रीष्ट मान्यता भी उसका अनुमोदन करती है। इस मत के अनुसार सारी मानव जाति एक ही मूल पुरुष मनु अथवा आदम की सन्तान होकर मानव अथवा आदमी कहलायी। कालान्तर में विभिन्न भूखण्डों में फैलने, एक-दूसरे से अलग-थलग होने और वहाँ की विशिष्ट जलवायु और संस्कारों से प्रभावित होने के फल-स्वरूप वह मानव जाति अनेक रूप, रंग, आकार और बोलियों में विभक्त होती गई। वह परिवर्तन लाखों वर्षों से चलते आ रहे हैं और इसलिए उन मानव-समूहों के रूप, रंग, आकार और बोलियों में अन्तर भी इतने सघन हो गये हैं कि ज्ञान की उपेक्षा करनेवाले और केवल तर्क, अनुमान, प्रयोग, अनुसंधान आदि भौतिक साधनों को ही ज्ञान मानकर उन पर निर्भर रहनेवाले पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अनुवर्ती भारतीयों का भ्रमित हो जाना स्वाभाविक ही है।

यह बात उनसे ओझल हो जाती है कि कितना भी बड़ा वैषम्य इन जातियों के लक्षणों में दिखाई देता हो, उनकी आकृतियों और भाषाओं में कुछ ऐसे तथ्य लाखों वर्ष बाद भी झलकते हैं जो सारी मानव जाति को किसी पुरातन काल में एक मूल मानव का पितृत्व प्रदान करते हैं।

भारतीय वाङ्मय के सृष्टिक्रम-सम्बन्धी विशाल ज्ञानकोश को विस्तार-भय से किनारे भी रख दें, तो भी जन-साधारण की समझ में आनेवाली कुछ बातें तो हमारे मत की पुष्टि करती ही हैं। उदाहरण के लिए— (१) द्रविड़कुल की भाषाएँ आर्यकुल की भाषाओं से पाश्चात्य मत में मूलतः पृथक् मानी गई हैं। किन्तु संस्कृत की वर्णाक्षरी, उनका वर्गीकरण तथा लिपि का बायें से दाहिने लिखा जाना द्रविड़ के समान ही है। इसके विपरीत आर्यकुल की अनेक भाषाओं का खरोष्टी लिपि में (दायें से बायें) लिखा जाना और वर्णों की संख्या, क्रम, वर्गीकरण आदि में बड़ा अन्तर है। (२) अरबी और संस्कृत की शब्दावली और लिपि में नाममात्र को भी मेल नहीं है, किन्तु उनकी व्याकरण में बड़ी समानता है, जबकि संस्कृत का अपने आर्यकुल ही की अन्य भाषाओं के व्याकरण से साम्य नगण्य सा है। (३) उत्तर-पश्चिम में सुदूरस्थ ईरान की अवेस्ता और गाथाओं की भाषा में असुर का अहुर उच्चारण है। बीच के पूरे आर्यावर्त्त में इसका अभाव होने के बाद उत्तर-पूर्व में असम प्रदेश में फिर दस को दह और गोसाईं को गोहाईं बोलते हैं। (४) नेपाल के आदिम निवासी, आर्यकुल के रूप, आकृति से सर्वथा भिन्न हैं। किन्तु वहाँ कुछ ही समय से आबाद आर्यकुल के राज-परिवार तथा राणा-परिवार की आकृतियों पर नेपाली प्रभाव प्रत्यक्ष है; आदि, आदि।

भारतीय भाषाएँ

अस्तु, जब मानव मात्र एक मनु (आदम) की सन्तान हैं और आज पृथ्वी पर उपलब्ध विविध भाषाओं और बोलियों का आदि-स्रोत एक है, तब भारत के निवासियों और भारतीय भाषाओं को मूलतः पृथक् मानना, उनका बुनियादी वर्गीकरक करना कहाँ तक समुचित है? जहाँ तक हिन्दी, गुरुमुखी, सिन्धी, राजस्थानी, ओड़िआ, बँगला, असमिया, गुजराती, मराठी, कश्मीरी, मैथिली, नेपाली, सिंघली आदि भाषाओं, लिपियों अथवा बोलियों का सम्बन्ध है इन सबकी वर्णमाला, शब्दावली, व्याकरण आदि में इतना अधिक साम्य है कि उनको एक परिवार से बाहर समझने की रत्ती भर गुंजाइश नहीं। ये सभी प्राचीन संस्कृत की पौत्री और भारतीय जनपदों में शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री आदि प्राकृत अथवा उनके अपभ्रंशों की पुत्रियाँ हैं। अलबत्ता भारत की दक्षिणी भाषाओं—

मलयाळम, तेलुगु, कन्नड और तमिळ का शेष भारतीय भाषाओं और लिपियों से भेद अधिक दूर का है।

उर्दू भाषा

किन्तु उर्दू को तो हिन्दी से पृथक् मानना ही भूल है। उसका तो हिन्दी से वही सम्बन्ध है जो एक रूह का दो क़ालिब से— एक प्राण का दो शरीर से। उर्दू-हिन्दी की व्याकरण, क्रियाओं के विभिन्न कारकों, कालों में प्रत्यय और रूप— ये सब एक समान हैं। अरबी लिपि में लिखी जाने अथवा अरबी-फ़ारसी भाषाओं के शब्दों के अधिक समाविष्ट हो जाने से वह पृथक् भाषा नहीं हो सकती। कदाचित् लोगों को कम पता है कि नगरों में नहीं, ग्रामों तक में नित्य बोली जानेवाली और हिन्दी कही जानेवाली भाषा में एक तिहाई से अधिक शब्द अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि के बार-बार बोले जाते हैं। उनमें ऐसे भी अरबी शब्दों की भरमार है जिनको लोग ठेठ हिन्दी की सम्पत्ति समझने लगे हैं, उनके अरबी-फ़ारसी होने की कल्पना भी नहीं करते। जैसे हलुवा, साइत (मुहूर्त्त), मेहरिया, हमेल, तरह, अन्दर, अगर, अचार, अजगर, अतलस, अबीर, अमीर, गरीब, अरक, मेवा, मल्लाह, मसखरा, मक्कर, लाला, लहास, स्याही, संदूक, रुमाल, साबुन आदि।

उर्दू को सगे-सौतेले, दोनों से परेशानी

उर्दू भाषा की समस्या, अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा कुछ अधिक जटिल हो उठी है। तथाकथित सगे और तथाकथित सौतेले दोनों ही उसकी प्रगति में बाधक हो रहे हैं। फलस्वरूप, इतनी सलीस-सरस और भरी-पुरी भाषा, जैसा चाहिए वैसा प्रसार नहीं प्राप्त कर पा रही है। उर्दू भाषा और उसके प्रेमी, दोनों ही इस रस्साकशी के कारण क्षति उठा रहे हैं।

तथाकथित सगे वे हैं, जो चाहते हैं कि उर्दू भाषा का साहित्य यदि लिखा-छापा जाय तो वह एकमात्र अरबी लिपि में ही लिखा जाय। वही उर्दू का इल्मोअदब, यदि जैसा का तैसा नागरी लिपि में छापा जाय तो उससे उर्दू के नापैद होने की उनको आशंका है। उर्दू होते हुए भी वह उर्दू नहीं, यदि वह अरबी लिपि में न हो।

तथाकथित सौतेले वे लोग हैं, जो उर्दू भाषा की लज़्ज़त की तो ज़ोर-शोर से तारीफ़ व हिमायत करते हैं, परन्तु नागरी लिपि में लिखते समय उर्दू की विशिष्ट ध्वनियों और मात्राओं को स्थान देने में हिचकते हैं। नागरी लिपि में फ़ासिला, मुज़फ़्फ़रपुर, ज़मीन, ग़नीमत आदि को फासिला, मुजफ्फरपुर, जमीन, गनीमत ही लिखने की वकालत करते हैं। उनका यह तर्क कि हिन्दी में तद्भव शब्द ही सलीस या मधुर लगते हैं।

तथाकथित सगों से मेरी प्रार्थना है कि अधिक से अधिक, उर्दू साहित्य को अरबी लिपि में लिखने का अपना पक्ष वह सबल रखें। परन्तु नागरी लिपि में भी जैसा का तैसा लिखा जाने पर उसको वह उर्दू मानें, प्रोत्साहित करें, ताकि उर्दू भाषा उस विशाल जनसमूह के सामने पहुँच सके जो उर्दू भाषा को तो प्यार करता है किन्तु अरबी लिपि को न जानता है, न जानने का उसको संयोग सम्भावित है। अरबी और नागरी, दोनों लिपियों में, शतप्रतिशत भारतीय भाषा उर्दू को फूलने-फलने दें।

उसी प्रकार तथाकथित सौतेलों से मेरी अतिविनम्र प्रार्थना है कि उर्दू भाषा को नागरी लिपि में तत्सम रूप में प्रसारित होने दें। यह अकिञ्चन का नया मत नहीं है। स्व० आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी इसके महान पक्षधर थे कि कोई भी भाषा, सुतरां हिन्दी भी अधिक ही सम्पन्न और समृद्ध होगी यदि उसमें अन्य भाषाओं के शब्द तत्सम रूप में प्रयुक्त हों।

एक बात और उल्लेखनीय है। हिन्दी क्षेत्र की हिन्दी भाषा एक वस्तु है, और राष्ट्रभाषा हिन्दी दूसरी वस्तु है। राष्ट्रभाषा के स्वरूप-निर्धारण पर समग्र राष्ट्र का, सारे भाषाई अञ्चलों का समान अधिकार है, न कि केवल हिन्दी का। राष्ट्रभाषा में अन्यान्य भाषाओं के समाहित शब्दों में उन भाषाओं का प्रतिबिम्ब जैसा का तैसा झलकना चाहिए।

भाषाई सेतुबन्धन

सच तो यह है कि सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक दृष्टि से सारा देश परस्पर ऐसा गुंथ गया है कि उसमें एकात्म-भाव के सर्वत्र दर्शन होते हैं। उसके प्रभाव की छाप सभी भाषाओं के साहित्य पर मौजूद है। इसलिए अपने-अपने क्षेत्र में विभिन्न लिपियों के फलते-फूलते रहने के बावजूद, यह जरूरी है कि राष्ट्र में सबसे अधिक सुपरिचित और व्याप्त देवनागरी लिपि के माध्यम से प्रत्येक क्षेत्रीय भाषा और साहित्य को भारत के कोने-कोने तक पहुँचाया जाय। भारत भूमि के हर कोने में प्रस्फुटित वाङ्मय को हर भारतवासी तक पहुँचाया जाय। लिपि और भाषा के अदल-बदल द्वारा सारे राष्ट्र का भावात्मक एकीकरण —यही इस 'भाषाई सेतुबन्धन' का उद्देश्य है।

हमारा उद्देश्य और उसकी पूर्ति

आसेतु हिमालय, सारे देश के साहित्य, संस्कृति, आचार-विचार और सन्तों की वाणी को, किसी एक क्षेत्र अथवा समुदाय तक सीमित न रहने देकर, सारे भारतीयों की सामूहिक सम्पत्ति बनाना ही राष्ट्रीय एकीकरण की उपलब्धि है। इस्लामी हदीसें, फ़ारसी और उर्दू का विशाल गद्य-पद्य

साहित्य, तमाम शायरों के दीवान, कुल्यात, मस्नवी और अदबी नावेल, नरसी मेहता के भजन, टैगोर की गीताञ्जलि, तिरुवल्लुवर का तिरुक्कुरळ् और सन्त नानक की अमर वाणी क्रमशः उत्तर प्रदेश, गुजरात, बंगाल तमिळनाडु और पञ्जाब को ही नहीं, अपितु सारे देश को प्राण प्रदान करें, यह उनके अनुवाद मात्र के द्वारा सम्भव नहीं। जिस भाषा रूपी सुधाभाण्ड से यह अमृत प्रवाहित हुए हैं उस भाषा के बोध के विना वह प्राण सुलभ नहीं। इसलिए जहाँ यह ज़रूरी है कि वह सब साहित्य अपनी निजी लिपि में जैसा का तैसा दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता रहे, वहाँ यह भी बहुत ज़रूरी है कि उस विपुल साहित्य को नागरी लिपि में लिप्यन्तरित कर सारे देश में फैलाया जाय ताकि हर देशवासी उसका आनन्द उठा सके।

अन्य लिपियों का विरोध नहीं

फिर स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि उपर्युक्त प्रयास से यह किसी प्रकार अभीष्ट नहीं कि भारत में प्रयुक्त अन्य लिपियों के शिक्षण अथवा प्रचार में ज़रा भी कमी हो। वह वैसे ही, वरन् अधिक फलती-फूलती रहें। किन्तु यह भी न भूलना चाहिए कि यदि हम इस देवनागरी लिप्यन्तरण की पद्धति से उस भाषा के अमूल्य साहित्य को देश में प्रसारित करने में उपेक्षा करते हैं तो निश्चय ही गिने-चुने व्यक्तियों अथवा सीमित समुदाय को छोड़कर सारे देश के जनसमुदाय से वह भाषा और साहित्य ओझल रह जायगा। अलबत्ता, इस स्थिति में अन्य भाषाओं के वह विशिष्ट स्वर-व्यञ्जन जो नागरी लिपि में उपलब्ध नहीं हैं, उनको गढ़ना होगा। यह कोई कठिन काम नहीं। यह काम सबसे अधिक अ़रबी लिपि ने किया है। अ़रबी लिपि में अपनी छबि और अपनी सजावट में नये अक्षर बढ़ाते हुए उसने फ़ारसी, तुर्की, पश्तो, कश्मीरी, उर्दू और सिन्धी लिपि को न केवल अपना जामा पहनाया है, वरन् उनको तथा अपने को मालामाल किया है।

उर्दू में फ़ारसी की इज़ाफ़त

उर्दू साहित्य को देवनागरी लिपि में लिप्यन्तरित करते समय एक 'इज़ाफ़त' के विवाद को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। सामासिक पदों में फ़ारसी की इज़ाफ़त का प्रयोग होता है। दीवाने ग़ालिब—ग़ालिब का दीवान, तीरो कमान—तीर और कमान। इसमें क्रमशः तत्पुरुष और द्वन्द्व समास हैं। इनमें 'दीवाने' का 'ने' और तीरो का 'रो' ह्रस्व बोले जाते हैं। उनको दीर्घ अर्थात् हिन्दी की मात्रा के अनुरूप बोलने पर 'दीवाने' का अर्थ 'पागल' अर्थात् 'पागल ग़ालिब' हो जायगा नकि 'ग़ालिब का दीवान'। इसकी विधि फ़ारसी में उनको 'ह्रस्व' बोलने की है।

इसको समझने के लिए अ़रबी भाषा का उदाहरण प्रस्तुत है।

अरबी में 'क़ुर्आनुन् मजीदुन्' कर्मधारय समास है, अर्थात् 'पवित्र क़ुर्आन'। फ़ारसी वालों के सामने इसको बोलने के लिए दो विकल्प थे। या तो यह अरबी शैली पर 'क़ुर्आनुन् मजीदुन्' कहते, या अपनी निजी फ़ारसी-शैली पर 'क़ुर्आनॆ मजीद' कहते जिसमें 'ने' का ह्रस्व उच्चारण 'नॆ' होता है।

यही दो विकल्प हिन्दी और उर्दू वालों के लिए हैं। या तो अरबी की पद्धति पर 'क़ुर्आनुन् मजीदुन्' लिखें अथवा हिन्दोस्तानी सामासिक पद्धति पर 'क़ुर्आन-मजीद' लिखें—इसमें दोनों शब्द परस्पर मिलाकर लिखे जायँगे। इसी प्रकार हिन्दोस्तानी आलिम बोलते भी हैं। अस्तु, बीच में तीसरी भाषा 'फ़ारसी' की पद्धति इख़्तियार करने की ज़रूरत नहीं।

कहने का प्रयोजन यह कि या तो अरबी को अरबी और फ़ारसी को फ़ारसी शैली में लिखें-बोलें, या फिर अपने हिन्दोस्तानी तरीक़े पर बोलें, जैसे कि फ़ारसी वाले अपनी फ़ारसी शैली में अरबी को बोलते हैं। या तो अरबी के ढंग पर 'क़ुर्आनुन् मजीदुन्' लिखिए, या हिन्दोस्तानी ढंग पर 'क़ुर्आन-मजीद'; न कि फ़ारसी का तीसरा माध्यम 'क़ुर्आनॆ मजीद' ग्रहण करें।

ह्रस्व 'ॆ' और ह्रस्व 'ॊ' का देवनागरी स्वरूप

यह तो 'अरबी' के देवनागरी-लिप्यन्तरण की बात है। अब उसी सिद्धान्त पर फ़ारसी शब्दों के सामासिक पदों को भी लिखिए। या तो हिन्दोस्तानी ढंग पर 'दीवान-ग़ालिब' लिखिए, और उसको ऊपर दी हुई दलील के अनुसार सही न मानने का कोई कारण नहीं; और या फिर 'फ़ारसी प्रयोग' होने के नाते फ़ारसी ढंग पर 'दीवानॆ ग़ालिब' लिखिए।

अब 'दीवाने ग़ालिब' के 'ने' और 'तीरो कमान' के 'रो' को ह्रस्व कैसे लिखा जाय, यह समस्या कठिन नहीं, अति सरल है। दक्षिणी लिपियों में भी 'ह्रस्व ए' और 'ह्रस्व ओ' के उच्चारण वर्तमान हैं। इनके देवनागरी लिप्यन्तरण में दीर्घ को े, ो और ह्रस्व को ॆ, ॊ लिखा जाता है। फ़ारसी शैली पर ही लिखने के इच्छुकों को 'दीवानॆ ग़ालिब' और 'तीरॊ कमान' लिखना चाहिए।

इस प्रकार सार यह है कि उर्दू साहित्य को सारे देश में अक्षुण्ण और व्यापक बनाने और राष्ट्र को भी अधिक परिपुष्टि देने के लिए यह ज़रूरी है कि उर्दू का समग्र मूल्यवान् साहित्य देवनागरी में लिप्यन्तरित कर दिया जाय। एक सुविधा यह भी है कि उर्दू भाषा के नागरी रूपान्तर में, लिप्यन्तरण मात्र पर्याप्त है। उसके हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता नहीं। हिन्दी और उर्दू पृथक् भाषाएँ नहीं। जय भारत !

'गुज़श्त: उर्दू' की भाषा

'गुज़श्त: उर्दू' की भाषा उर्दू है। इसमें सरल तथा क्लिष्ट दोनों प्रकार के उर्दू के नमूने मौजूद हैं। पाठक रोज़मर्र: और साहित्यिक—दोनों प्रकार की सरस उर्दू भाषा का आनन्द लें। किताब जैसी की तैसी देवनागरी लिपि में लिप्यन्तरित है। मिर्ज़ा रुस्वा के 'शरीफ़ज़ाद:' के नागरी संस्करण के प्रकाशन के बाद यह दूसरा प्रयोग है। इज़ाफ़त, ह्रस्व ॅ, ॉ तथा दीर्घ े और ो की मात्राओं का, ऊपर दी हुई पद्धति पर पुस्तक में सर्वत्र निर्वाह करने की कोशिश की गयी है। फिर भी कहीं भूल से त्रुटि रहना सम्भव है, इसलिए उदार पाठकों से निवेदन है कि इस लिप्यन्तरण को इस समय प्रयोगमात्र मानकर, अन्य उर्दू के लिप्यन्तरणों की प्रतीक्षा करें।

आभार-प्रदर्शन

भुवन वाणी ट्रस्ट के 'सानुवाद लिप्यन्तरण' के वाणीयज्ञ पर देश के विद्वानों और उदार श्रीमानों का वरद हस्त है। उनसे प्राप्त सहायता और प्रोत्साहन के हेतु हम उनके ऋणी हैं।

श्रीमती बेगम हामिद: हबीबुल्लाह, एम्० पी० का नियाज़ मुझे पहली बार उस वक़्त हासिल हुआ था, जब सन् ६४-६५ ई० में क़ुर्आन शरीफ़ के नागरी संस्करण की तबाअ़त में मश्ग़ूल था। उन्होंने उर्दू में मौजूदा नागरी लिप्यन्तरण पर पेशलफ़्ज़ लिखने की इनायत फ़र्माई उसके लिए उनका निहायत मश्कूर हूँ।

'गुज़श्त: लखनऊ' का नागरी लिप्यन्तरण एक अर्से से धीरे-धीरे छप रहा था। उत्तर प्रदेश शासन की सहायता का भी उपयोग होता रहा। वर्तमान वर्ष में केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की उदार सहायता से पुस्तक का शेष कार्य समाप्ति को प्राप्त हुआ। हम उनके नितान्त आभारी हैं। हम विश्वास दिलाते हैं कि भुवन वाणी ट्रस्ट निरन्तर लिपि और भाषा के अदल-बदल से राष्ट्रीय एकीकरण के प्रति सेवा करता रहेगा।

नन्दकुमार अवस्थी

मुख्यन्यासी सभापति

भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ।

भुवन वाणी ट्रस्ट द्वारा प्रयुक्त
(उर्दू) वर्णमाला का देवनागरी रूपान्तर

उर्दू (देवनागरी) वर्णमाला					
ट ٹ	त ت	प پ	ब ب	अ ا	
ख़ خ	ह ح	च چ	ज ج	स ث	
ड़ ڑ	र ر	ज़ ذ	ड ڈ	द د	
स ص	श ش	स س	झ़ ژ	ज़ ز	
ग़ غ	अ़ ع	ज़ ظ	त ط	ज़ ض	
ल ل	ग گ	क ک	क़ ق	फ़ ف	
य ے	य ی	ह ہ	व و	न ن	म م
झ جھ	ठ ٹھ	थ تھ	फ پھ	भ بھ	
ख کھ	ढ़ ڑھ	ढ ڈھ	ध دھ	छ چھ	
आ آ	उ اُ	इ اِ	अ اَ	घ گھ	

एकार—ओकार की मात्राएँ

े ो (ह्रस्व)

े ो (दीर्घ)

विषय-सूची

गुज़श्त: लखनऊ

[लेखक—मौलाना अब्दुल हलीम शरर]

फ़ैज़ाबाद की बुनियाद

इसके तस्लीम करने में शायद किसी को उज्र न होगा कि हिन्दोस्तान में मश्रिकी तहज़ीब[१] व तमद्दुन[२] का जो आखिरी नमूना नज़र आया वह गुज़श्त: दरबारे-अवध था। अगले दौर की यादगार और भी कई दरबार मौजूद हैं; मगर जिस दरबार पर पुरानी तहज़ीब और अगली मुआशरत[३] का खातिमः हो गया वह यही दरबार था, जो बहुत ही आखिर में क़ायम हुआ और अजीबो ग़रीब तरक्क़ियाँ दिखाकर बहुत ही जल्द फ़ना हो गया। लिहाज़: मुन्दरिजेबाला‡ उन्वान[४] के तहत में हम उस मर्हूम दरबार के मुख्तसर हालात और उसकी खुसूसियतों को बयान करना चाहते हैं।

इसके तस्लीम करने में भी शायद किसी को उज्र न होगा कि जिस खित्तए ज़मीन पर यह पहला दरबार क़ायम हुआ उसकी वक्अत[५] और अहम्मीयत[६] हिन्दोस्तान के तमाम सूबों से बढ़ी हुई है।

पुराने चन्द्रवंशी† खानदान खुसूसन राजा रामचन्द्र जी के आला कारनामे और अदीमुन्नज़ीर[७] नामूरयान इस दरजए कमाल को पहुँची हुई हैं कि तारीख की ज़र्फ़ को तंग और महदूद देखकर इन्होंने मज़हबी तक़द्दुस[८] का जामा पहिन लिया है, और आज हिन्दोस्तान का शायद नादिर ही कोई ऐसा बदनसीब गाँव होगा जहाँ उनकी याद हर साल रामलीला के मज़हबी नाटक के ज़रीये से ताज़ा न कर ली जाती हो। लेकिन अवध के उस क़दीमतरीन[९] देवताई दरबार के हालात और अयोध्या का उस अह्द का जाह[१०] व जलाल[११] वाल्मीकी ने ऐसी मुअ्जिज़नुमा[१२] फ़साहत के साथ दिखाया कि वह हर अक़ीदतकेश[१३] की लौहे-दिल पर लिख गया। लिहाज़: हमें इसके इआदे[१४] की

---

‡ ह्रस्व और दीर्घ 'ए' व 'ओ' की मात्राओं के लिए क्रमशः ॆ, ॊ, व े, ो का प्रयोग है।—जैसे दीवानॆ ग़ालिब, 'दीवाने लोग'। † लेखक को सूर्यवंश के स्थान पर चन्द्रवंश का धोखा हुआ है। —सम्पादक

---

१ शिष्टाचार २ सभ्यता ३ सामाजिक जीवन ४ उपर्युक्त शीर्षक ५ प्रतिष्ठा ६ महत्ता ७ मिसाल की कमी, अनुपमेय ८ पवित्र पद ९ प्राचीनतम १० वैभव ११ प्रताप, तेज १२ गरिमामय १३ धार्मिक विश्वास १४ दोहराना।

ज़रूरत नहीं। जिन लोगों ने अयोध्या के पुर-शुकोह[1] ज़माने की तस्वीर वाल्मीकी के लिटरेरी-मुरक़्क़अ़:[2] में देखी है वह उसी मुबारक ख़ित्ते पर आज दिल-गुदाज़[3] में फ़ैज़ाबादकी तसवीर देखें। लिहाज़ः हम सिलसिले वाक़िआ़त को उस वक़्त से शुरू करते हैं जब इस आख़िरी दरबार की बुनियाद पड़ी। जिसे फ़ना हुए कुछ ऊपर पचास साल से ज़ियादः ज़माना नहीं हुआ।

जब नव्वाब बुरहानुल्मुल्क अमीनुद्दीन ख़ाँ नेशापुरी शहनशाही दरबारे देहली की तरफ़ से सूबेदार-अवध मुक़र्रर होकर आये तो शेख़ज़ादगाने लखनऊ को मग़लूब[4] करके क़दीम मुस्तक़रे[5] अवध यानी मुहतरम व मुक़द्दस शहर अयोध्या में पहुँचे और आबादी से फ़ासले पर यानी दरिया घाघरा के किनारे एक बलन्द टीले पर अपना ख़ेमा नसब किया। चूँकि इन्तिज़ामे सूबा की महवियत[6] में इन्हें आलीशान इमारत बनाने की फ़ुरसत न थी और न अपनी सादामिज़ाजी की वजह से ऐसे नुमायशी कर्र व फ़र्र[6] का इन्हें शौक़ था, इसलिए एक ज़माने तक ख़ेमों में बसर की और जब चन्द रोज़ के बाद उन्हें बरसात में तकलीफ़ हुई तो थोड़ी दूर हटकर एक मुनासिब मुक़ाम पर अपने लिए एक छप्पर बनवाया*। फिर उसके बाद इस छप्पर के गिर्द कच्ची दीवार का एक बहुत वसीअ़ मुरब्बअ़[7] हिसार[8] खिंचवा लिया, जिसके चारों कोनों पर क़िला-बन्दी की शान से चार कच्चे बुर्ज बनवा दिये ताकि गिर्द व पेश की निगरानी की जा सके। यह अहाता इस क़दर वसीअ़ था कि इसके अन्दर मुतअ़द्दिद[9] रिसाले, पल्टनें, तोपख़ाने, अस्तबल और दीगर ज़रूरी कारख़ाने आसानी से रह सकते थे।

बुरहानुल्मुल्क को चूंकि इमारत का शौक़ न था इसलिए इनके ज़नाने और बेगमात के क़ियाम के लिए भी कच्चे ही मकानात बना लिये गये। ग़रज़ इस कच्चे बंगले में उस वक़्त का वाली अवध, जब उसे इजलाअ़[10] के दौरे और सफ़रहाये हुक्मरानी से फ़राग़त[11] होती, आराम व आसायश के साथ रहता था और किसी बात की शिकायत न थी; और इसका यह दारुल्-इमारत[12] चन्द रोज़ में "बंगला" के नाम से मशहूर हो गया।

बुरहानुल्मुल्क के इन्तक़ाल के बाद जब नव्वाब सफ़दरजंग का ज़माना शुरू हुआ

---

* फ़ैज़ाबाद के यह तमाम हालात मुंशी मुहम्मद फ़ैज़बख़्श की "तारीख़ फ़रहबख़्श" से लिए गये हैं। असल किताब हमने नहीं देखी। मगर इसका अंग्रेजी तर्जुमा मुतर्जुमा विलियम होई, जो सन् १८८९ ई० में गवर्नमेण्ट प्रेस इलाहाबाद में छपा है, हमारे पास मौजूद है। (ले० रशीदहसन ख़ाँ)

---

१ महत्वपूर्ण २ लेखन-कला के नमूने या सुन्दर चित्र-संग्रह ३ हृदय-द्रावक ४ पराभूत ५ सौन्दर्य, आकर्षण ६ शान शौकत, वैभव और शोभा ७ चौकोर ८ नगर का परकोटा ९ अनेक १० न्याय ११ निश्चिन्तता १२ राजधानी।

तो यह वस्ती फ़ैज़ावाद मशहूर हुई। यह है वुनियाद शहर फ़ैज़ावाद की। जिसने अपने वनने और विगड़ने की सरअ़त में लखनऊ को भी मात कर दिया। अव उन दिनों उस कच्ची चारदीवारी के गिर्द अक्सर मुग़ल सरदाराने फ़ौज ने अपनी दिलचस्पी के लिए वाग़ और पुरफ़िज़ा व फ़रहतवख्श नुज़्हतगाहें वनाईं और शहर की रौनक़ तरक़्क़ी करने लगी। उस कच्चे अहाते का एक फाटक दिल्ली दरवाज़ा कहलाता था जो मग़रिव की तरफ़ था। उसके वाहर दीवान आतमाराम के वेटों ने एक शानदार वाज़ार वनवाया और इसीके सिलसिले में रहने के लिए मकानात भी तामीर कराये। इसी तरह इस्माईल खाँ रिसालदार ने भी एक वाज़ार वनवाया और चारदीवारी के अन्दर ख्वाजःसराओं[1] और मुख्तलिफ़ फ़ौजी लोगों के वहुत से मकानात भी तैयार हो गये।

नव्वाव सफ़दरजंग की वफ़ात के वाद इस नई वस्ती पर चन्द रोज़ के लिए तवाही वरस गई, जिसकी वजह से इतने दिनों में जो कुछ वना था ज़माने ने विगाड़कर रख दिया। इसलिए कि उनके फ़र्ज़न्द नव्वाव शुजाउद्दौलः ने अपनी सकूनत के लिए लखनऊ पसंद किया था और वहीं रहते थे। गो साल में दो एक रातें अपने वापदादा के इस क़दीम मस्कन[2] में जरूर वसर कर लिया करते। यहाँ तक कि सन् १७६४ ई० में इन्हें वक्सर की लड़ाई में अंग्रेज़ों से शिकस्त हुई। उस वक़्त वह कमाल वे-सरो-सामानी से भागते हुए फ़ैज़ावाद में आये और वहाँ के क़िले में जो कुछ साज़ो सामान मौजूद पाया लेकर रातों रात चल खड़े हुए और लखनऊ पहुँचे। यहाँ भी एक ही रात क़ियाम करके जो कुछ हाँथ आया लिया और वरेली की राह ली ताकि अफ़ाग़ने रुहेल-खंड के पास जाकर पनाह लें। लड़ाई के नौ महीने वाद अंग्रेज़ों से सुलह हो गई, जिसकी रू से शुजाउद्दौलः के ज़िम्मे वाजिव था कि महासिले मुल्क[3] में से पँचअन्नी (पाँच आना) अंग्रेज़ों को अदा किया करें।

सुलह होने से पहले इस सफ़र में इत्तिफ़ाक़न् शुजाउद्दौलः का गुज़र शहर फ़र्रुखावाद में भी हुआ था, जहाँ अहमद खाँ वंगश से मुलाक़ात हुई, जो उस ज़माने के पुराने तजुर्वःकार शुजाओं[4] में शुमार किये जाते थे। उन्होंने शुजाउद्दौलः को मश्वुरः[5] दिया कि अवकी जो तुम जाकर अनाने-हुकूमत हाथ में लेना तो मेरी दो वातों को न भूलना। एक तो यह कि मुग़लों का कभी एतवार न करना, वल्कि अपने दीगर मुलाज़िमों और ख्वाजःसराओं से काम लो। दूसरे यह कि लखनऊ का रहना छोड़ दो और फ़ैज़ावाद ही को अपना दारुल्-हुकूमत वनाओ।

यह वातें शुजाउद्दौलः के दिल पर वैठ गई और अंग्रेज़ों से मुआहिदा होने के वाद

---

१ महलों में रहनेवाले ज़नाने रखवाले व सेवक २ प्राचीन निवास-स्थान ३ मालगुज़ारी ४ वहादुरों ५ सलाह, परामर्श।

सन् १७७९ ई० में जो इन्होंने अपनी क़लम-रौ[1] की राह ली तो सीधे फ़ैज़ाबाद आये और इसी को अपना दारुल्-हुकूमत क़रार दे दिया। अब यहाँ इन्होंने नई फ़ौज भरती करना शुरू की, नये रिसाले मुरत्तब[2] करने लगे और नई इमारतों की बुनियाद डाली। पुराने हिसार[3] को एक मज़बूत शहर-पनाह की शान से अज़ सरे-नौ[4] तामीर कराया, जो अब क़िला कहलाता था। मुग़लों के जो मकानात अन्दर वाक़िअ् थे ढा दिये और अपने अक्सर ख़ानगी मुलाज़िमों को हुक्म दिया कि शहर-पनाह के बाहर मकान बनवायें। उस हिसार के गिर्दा-गिर्द हर तरफ़ दो-दो मील का मैदान छोड़ दिया गया जिसके गिर्द गहरी ख़न्दक़ खोदकर क़िलाबन्दी की वज़अ्[5] से दुरुस्त की गई और मुलाज़िमीने सरकार और अफ़सराने फ़ौज को इजाज़त हुई कि अपनी हैसियत और हालात के मुनासिब क़तआते ज़मीन[6] लेकर इसी मैदान में मकान बनायें। जैसे ही यह ख़बर मशहूर हुई कि शुजाउद्दौलः ने फ़ैज़ाबाद को अपना मुस्तक़र[7] क़रार दिया है, एक दुनिया का रुख़ इधर फिर गया। हज़ारहा ख़िलक़त आ-आकर आबाद होना शुरू हुई। शाहजहाँबाद में यह हालत थी कि जिसे देखिए, फ़ैज़ाबाद जाने के लिए तैयार हैं। चुनाँचिः देहली के अक्सर बाकमालों ने वतन को ख़ैर-बाद कही और पूरब का रुख़ किया। शब-व-रोज़ लोगों के आने का ताँता बँधा रहता था और क़ाफ़िले पर क़ाफ़िले चले आते थे, जो आ-आकर यहाँ बसते और फ़ैज़ाबाद के सवाद[8] में खपते जाते थे। चन्द ही रोज़ के अन्दर हर क़ौम व मिल्लत के ख़ुशबाश[9], अहले क़लम, अहले-सैफ़, ताजिर, सन्नाअ्[10] और हर तबक़े और हर दरजे के लोग यहाँ जमा हो गये; और जो आता, आते ही इस फ़िक्र में पड़ जाता कि कोई क़तअे ज़मीन हासिल करके मकान बना ले।

चन्द ही साल के अन्दर उस पहले हिसार के अलावः दो और फ़सीलें[11] तामीर हो गईं। एक जो पहले मुरब्बअ्[12] के जनूबी पहलू से मिली हुई थी, उसके रक़बे का तवल[13] व अर्ज़[14] दो-दो मील का था; और दूसरा हिसार, एक मील के फैलाव में था जो क़िले और बेरूनी फ़सील के दरमियान था। उसी ज़माने में त्रिपोलिया और चौक-बाज़ार तामीर हुए। जिनके सड़क क़िले के जनूबी[15] फाटक से शुरू होकर सड़क इलाहाबाद के नुक्कड़ तक चली गई थी और इतनी कुशादः थी कि बराबर दस छकड़े आसानी से गुज़र सकते थे। फ़सील शहर का आसार[16], ज़मीन के पास चाहे जितना हो, दरमियान में दस गज़ से कम न था जो ऊपर पहुँचकर पाँच गज़ रह गया था। इस फ़सील पर क़ायदा और बेक़ायदा दोनों तरह की फ़ौजों के दस्ते रात भर रौंद फिरा

---

१ राज्य २ क्रमबद्ध ३ परकोटा ४ नये सिरे से ५ बनावट ६ निवास-योग्य स्थान ७ ठिकाना ८ नगर के आसपास के स्थान ९ मज़े की जिन्दगी बसर करनेवाले १० शिल्पी, कारीगर ११ परकोटे १२ चौकोर १३ लम्बाई १४ चौड़ाई १५ दक्षिणी १६ इमारत की नींव।

करते और जा-वजा पहरा देते। बाक़ायदा सिपाहियों की वर्दी लाल थी और बेक़ायदा सिपाहियों की वर्दी सियाह। इन्हीं सिपाहियों की ज़रूरत से बरसात में जा-ब-जा छप्पर डाल दिये जाते; मगर बरसात के खत्म होते ही, आग लगने के अन्देशे से, वह लाज़िमी तौर पर उतार डाले जाते। चुनाँचि: सिर्फ़ फ़सील की दीवारों के लिए हर साल तक़रीबन् एक लाख छप्पर छाये और चार महीने बाद नोचकर फेंक दिये जाते।

हवाली[1] शहर में दो मुर्ग़ज़ार[2], शिकारगाह क़रार दिये गये थे, जिनमें से एक मग़रिब की जानिब गुर्जीबेगखाँ की मस्जिद से गुप्तारघाट तक चला गया था। जो एक मुतअद्दिद[3] मसाफ़त[4] है। इसके दोनों तरफ़ कच्ची दीवारें थीं और तीसरी तरफ़ घाघरा वाक़िअ हुई थी। इसमें हिरन, चीतल, बारहसिंघे, नीलगायें वग़ैर: शिकार के जानवर कस्रत से छोड़े गये थे, जो निहायत आज़ादी से छूटे-छूटे फिरते और भड़कते ही चौकड़ियाँ भरने लगते। दूसरी शिकारगाह शहर से मशरिक़ की तरफ मौज़ा जिनोरा और छावनी गोसाईं से दरिया के किनारे तक थी, जिसका फैलाव छै मील का था। इस रक़बे में ग्यारह मौज़े और इनकी आराज़ी आ गई थी। मगर यह शिकारगाह नातमाम[5] ही रही और इसकी नौबत न आने पाई कि इसमें वहशी जानवर छोड़े जायें।

खास शहर के हलक़े के अन्दर तीन ऐसे नुज़्हतबख़्श बाग़ थे जो इस क़ाबिल थे कि उमरा और शाहज़ादे आकर इनमें सैर करें और इनकी बहार और शादाबी से लुत्फ़ उठायें। एक अंगूरीबाग़ जो क़िले के अन्दर वाक़िअ था और उसके रक़बे के चौथाई हिस्से पर हावी था। दूसरा मोतीबाग़, जो ऐन चौक के अन्दर वाक़िअ था। तीसरा लालबाग़, जो सब बाग़ों से ज़ियाद: वसीअ था। इसमें निहायत ही नफ़ासत[6] से चमनबन्दी की गई थी और हर तरह के नाज़ुक व नज़रफ़रेब फूल क़रीने से लगाये गये थे। सारे सूबे में इसकी शुहरत थी और दूर-दूर के लोगों को तमन्ना थी कि कोई खुशनसीबी की शाम इस रूह-अफ़ज़ा बाग़ में बसर करें। शहर के नौजवान शुरफ़ा[7] के ग़ोल रोज़ सिह-पहर[8] को इसमें गश्त लगाते और दिल बहलाते नज़र आते। इस बाग़ की जाँ-फ़िज़ाई[9] की शुहरत यहाँ तक थी कि शहनशाहे-देहली शाह आलम बादशाह जब इलाहाबाद से पल्टे तो इसी बाग़ की सैर के शौक़ में फ़ैज़ाबाद होते हुए देहली गये और कुछ ज़माने तक इसी के अन्दर इनका क़ियाम रहा। इन तीन बाग़ों के अलावा आसफ़बाग़ और बलन्दबाग़ भी नवाहे[10] शहर में लखनऊ के रास्ते पर वाक़िअ थे।

नव्वाब शुजाउद्दौल: बहादुर को शहर की दुरुस्ती का इस क़दर शौक़ था कि हर सुबह व शाम सवार होकर सड़कों और मकानों का मुआयना करते। मज़दूर, फड़वे

---

१ आसपास के स्थान २ चमन जहाँ चिड़ियाँ स्वच्छंद रहती हैं ३ अच्छी खासी ४ दूरी, अन्तर ५ अपूर्ण ६ उत्तमता ७ कुलीन मनुष्य ८ तीसरे पहर ९ अमृत्व १० आसपास।

और कुदालें लिए हुए साथ होते। जहाँ कहीं किसी मकान को टेढ़ा और अपनी हद से बढ़ा हुआ पाते या किसी दुकानदार को देखते कि उसने सड़क की ज़मीन बालिश्त भर भी दबा ली है, फ़ौरन् उसे खुदवाकर बराबर और सीधा करा देते।

फ़ौज की इस्लाह की तरफ़ भी शुजाउद्दौल: को ख़ास तवज्जु: थी। रिसाले के आला सरदार नव्वाब मुर्तज़ा ख़ाँ बरेज और हिम्मतबहादुर और उमरावगीर नाम दो गोसाईं थे। इनके मातहत इतने सवार थे कि इन तीन के अलावा और जितने छोटे-छोटे जमादार थे सबकी फ़ौज की मजमूई तादाद से, इनमें से हर एक की जमैयत ज़ियाद: थी, दीगर सरदाराने फ़ौज अहसान कम्बोही, गुर्जी बेग ख़ाँ, गोपालराव मरहठा, मीर जुमला के दामाद नव्वाब जमालुद्दीन ख़ाँ, मुज़फ़्फ़र-उद्दौल: तहव्वरजंग, बख़्शी अबुल् बरकात ख़ाँ साकिन काकोरी और मुहम्मद मुअ़ज़्ज़िद्-दीन ख़ाँ लखनऊ के एक शेखज़ादे थे। इनमें से कोई न था जिसके मातहत हज़ार पाँच सौ सिपाहियों का गरोह न हो। मा सिवा इनके ख़्वाज:सरा और वह नौ उम्र ख़्वाज:सरा जो उनके ज़ेरे निगरानी तर्बियत पाते। चेले और शागिर्दपेशा थे। बसन्त अली ख़ाँ ख़्वाज:सरा के मातहत दो डिवीज़न फ़ौज यानी चौदह हज़ार बाक़ायदा सिपाह थी जिसकी वर्दी सुर्ख़ थी। एक दूसरा बसन्त ख़्वाज:सरा था, जिसके ज़ेरे कमान एक हज़ार बेक़ायदा नैज़:बाज़ सवार और एक पल्टन थी। अनवर अली ख़ाँ ख़्वाज:सरा की अफ़सरी में पाँच सौ सवार और एक पल्टन थी जिनकी वर्दियाँ सियाह थीं। महबूब अली ख़ाँ ख़्वाज:सरा के ज़ेरे-अलम पाँच सौ सवार थे और चार पल्टनें थीं। इतनी ही फ़ौज लताफ़त अली ख़ाँ के मातहत थी। रघुनाथसिंह और परशादसिंह में से हर एक के ज़ेरे कमान तीन-तीन सौ सवार और चार-चार पल्टनें थीं। इसी तरह मक़बूल अली ख़ाँ अव्वल, व दोम यूसुफ़ अली ख़ाँ के हमराह पाँच-पाँच सौ मुग़ल सवारों और पैदलों की जमैयत थी और तोपख़ाना बेहद व बेहिसाब था।

लिहाज़ा कुल फ़ौज जो शुजाउद्दौल: के क़ब्ज़े में थी और फ़ैज़ाबाद में मौजूद रहा करती थी उसकी मजमूई तादाद यह थी —सुर्ख़ वर्दी वाले तीस हज़ार बाक़ायदा और सियाह वर्दी वाले चालीस हज़ार बेक़ायदा प्यादे। इनके अफ़सरे आला यानी सिपहसालारे-आज़म सय्यद अहमद थे जो "बाँसी वाला" के लक़ब से मशहूर थे। जल्दी भरने और फ़ायर करने के एतबार से इनकी तोड़ेदार बन्दूक़ों के मुक़ाबिले में अंग्रेज़ी फ़ौज की बन्दूक़ें कोई वक़्अ़त न रखती थीं।

इस जमैयत के अलावा शुजाउद्दौल: के पास बाईस हज़ार हरकारे और मुख़बिर थे, जो हर सातवें रोज़ पूना से और हर पन्द्रहवें दिन काबुल से ख़बरें लाते। दरबार में हमेशा बिलादे-दूरदराज़ के हुक्मरानों के नायब मौजूद रहा करते। एक नायब मरहठों का था; एक निज़ाम अली ख़ाँ फ़रमाँ-रवा दकन (दक्षिण) का। एक

ज़ाबितः ख़ाँ का और एक नव्वाब ज़ुल्फ़िक़ार-उद्दौलः नजफ़ ख़ाँ का, जिनके साथ उनके दफ़्तर और सिपाही भी थे। इन लोगों के अलावः और भी बहुत से फ़ौजी अफ़सर अपनी जमैयतों के साथ यहाँ मौजूद रहते। जैसे मीर नईम ख़ाँ जिनके झंडे के नीचे साबितख़ानी, बुन्देलखण्डी, चन्देला और मेवाती सिपाहियों का हुजूम था।

मुहम्मद बशीर ख़ाँ क़िलेदार थे। शहर की फ़सीलों और फाटकों पर उन्हीं के सवार और प्यादे फैले रहते और क़िले के अन्दर ही इनके रहने और दफ़्तर के लिए उम्दः मकानात और उनके सिपाहियों की बारकें बनी हुई थीं। जब बेरूनी दीवारों में भी जगह बाक़ी न रही तो सय्यद जमालउद्दीन ख़ाँ और गोपालराव मरहठा ने बाहर निकलकर मौज़ा नवराही के पास सुकूनत इख़्तियार की और अपने मकानात और कैम्प वहाँ बनाए और इसी जगह की तंगी की वजह से नव्वाब मुर्तज़ा ख़ाँ बिरेज, मीर अहमद बाँसी वाला, मीर अबुल्बरकात और शेख़ अहसान अयोध्या और फ़ैज़ाबाद के दरमियान ख़ेमों में रहते थे।

आदमियों की कस्रत और सिपाहियों के हुजूम से शहर के अन्दर ख़ुसूसन् चौक में इस क़दर भीड़ लगी रहती कि गुज़रना दुश्वार था; और ग़ैर मुमकिन था कि कोई शख़्स बग़ैर अटके हुए सीधा चला जाये। फ़ैज़ाबाद न था, इन्सानों का जंगल था। बाज़ार में देखिए तो मुल्कों-मुल्कों का माल ढेर था और यह ख़बर सुनकर कि फ़ैज़ाबाद में नफ़ीसमिज़ाज रईसों और शौक़ीन अमीरों का मुन्तख़ब मजमा है, हर तरफ़ से ताजिरों के क़ाफ़िले लदे-फँदे चले आते थे; और चूँकि चाहे कैसा ही क़ीमती माल हो हाथों-हाथ बिक जाता, अच्छी से अच्छी चीज़ों के आने का सिलसिला बँध गया था। जब देखिए ईरानी, काबुली, चीनी, फ़िरंगी सौदागर निहायत गिराँक़ीमत और भारी माल लिए हुए मौजूद रहते और जो-जो नफ़ा उठाते, हविस बढ़ती और ज़ियादः जुस्तजू व जाँ-फ़िशानी से नया माल ले आते। मसयूज़ान तेल, मसयूसोन सोन, और मसयूपैंद-रोज़ वग़ैरः के ऐसे दो सौ फ़्रान्सीसी जो यहाँ इक़ामत-गुज़ीं हो गये थे[1], सरकार में मुलाज़िम थे और शुजाउद्दौलः की सल्तनत से रवाबित[2] इत्तहाद[3] रखते थे। जो सिपाहियों को फ़ौजी तालीम देते और तोपें, बन्दूकें और दीगर अस्लिहए[4] जंग अपने इहतिमाम[5] में तैयार कराते।

मुंशी फ़ैज़बख़्श मुसन्नफ़े-तारीख़े फ़रहबख़्श, जिनकी इनायत से हमें यह वाक़िआत मालूम हुए हैं, ख़ुद ज़माने में मौजूद थे और उन्होंने जो कुछ लिखा है अपने मुशाहिदे से लिखा है। वह कहते हैं कि मैं जब पहले पहल घर छोड़कर फ़ैज़ाबाद में गया हूँ मुमताज़ नगर ही तक पहुँचा था जो शहर के मग़रिबी फाटक से चार मील के फ़ासले

---

१ निवासी बन गये थे २ मेल-मिलाप ३ मित्रता ४ अस्त्र-शस्त्र ५ निरीक्षण।

पर है, मैंने देखा कि एक दरख़्त के नीचे अनवाअ्[१] व अक़साम[२] की मिठाइयाँ, गरमा-गरम खाना, कवाव, सालन, रोटियाँ और पराठे वग़ैरः पक रहे हैं। सवीलें रखी हुई हैं। नान ख़ताइयाँ, मुख़्तलिफ़ क़िस्म के शरवत और फ़ालूदः भी विक रहा है और सदहा आदमी ख़रीदारी के लिए उन दुकानों पर गिरे पड़ते हैं। मुझे ख़याल गुज़रा कि मैं शहर के अन्दर दाख़िल हो गया और ख़ास चौक में हूँ। मगर मुतहैयर[३] था कि अभी तक शहर का फाटक तो आया ही नहीं, मैं अन्दर कैसे पहुँच गया? लोगों से पूछा तो एक राहगीर ने कहा—जनाव! शहर का फाटक यहाँ से चार मील है, आप किस ख़याल में हैं!

इस जवाव पर हैरत करता हुआ, मैं शहर में दाख़िल हुआ तो अजीव चहल-पहल नज़र आई। रंगीनियाँ थीं और दिलचस्पियाँ। जिधर देखता हूँ नाच हो रहा है, मदारी तमाशा कर रहे हैं और लोग तरह-तरह के सैर-तमाशों में मसरूफ़ हैं। मैं यह रौनक़ और शोरो-हंगामा देखकर मवहूवत[४] रह गया। सुवह से शाम तक और शाम से सुवह तक कोई वक़्त न होता जव फ़ौजों और पल्टनों के नक़्क़ारों की आवाज़ न सुनी जाती हो। पहरों और घड़ियों के वताने के लिए वार-वार नौवत वजती और घड़ियालों पर मोगरियाँ पड़तीं, जिनके शोरो-ग़ुल से कान उड़े जाते। सड़कों पर देखिए तो हरदम घोड़ों, हाथियों, ऊँटों, खच्चरों शिकारी कुत्तों, गाय-भैंसों, वैलों, छकड़ों और तोपों के गुज़रने का सिलसिला जारी रहता, जिनका शुमार हिसाव और अन्दाज़े से वाहर था। रास्ता चलना दुश्वार था।

एक अजीव रौनक़ और तम्कनत[५] का शहर नज़र आया जिसमें वज़अ्दाराने देहली में से ख़ुशपोशाक और वज़अ्दार शरीफ़ज़ादे, हाज़िक़[६]-अतिव्वाए-यूनानी[७] आला दरजे के मर्दाने और जनाने तायफ़े[८], हर शहर और हर मुक़ाम के मशहूर और वाकमाल गवैये, सरकार में मुलाज़िम थे, और वड़ी-वड़ी तनख़्वाहें पाकर ऐश व फ़ारिग़-उल्वाली[९] की ज़िन्दगी वसर करते। अदना व आला सव की जेवें रुपयों अशर्फ़ियों से भरी हुई थीं और ऐसा नज़र आता कि जैसे यहाँ कभी किसी ने इफ़्लास[१०] व इहतियाज[११] को ख़्वाव में भी नहीं देखा है। नव्वाव वज़ीर (शुजाउद्दौलः वहादुर) शहर की सरसब्ज़ी व रौनक़ और रियाया की मुरफ़्फ़ःउल्-हाली[१२] में हमःतन[१३] मसरूफ़ हैं और मालूम होता था कि चन्द ही रोज़ में फ़ैज़ावाद, देहली की हमसरी[१४] का दावा करेगा।

---

१ प्रकार-प्रकार २ भाँति-भाँति ३ चकित ४ भयभीत ५ शानो-शौकत ६ प्रवीण, दक्ष ७ हकीम ८ वेश्याओं की जमातें ९ सव प्रकार से निश्चिन्त और सुखी १० दरिद्रता, ग़रीवी ११ अभाव १२ अमन-चैन १३ तन्मय होकर १४ टक्कर का।

चूँकि किसी मम्लुकत[1] और किसी शहर का रईस इस नफ़ासत और शान व शुकोह से नहीं रहता था जिस तरह नव्वाव शुजाउद्दौलः रहते थे और इसके साथ ही यह नज़र आता था कि कहीं के लोग इस वेजिगरी से हर काम में और हर मौक़ा व महल पर दौलत सर्फ़ करने को नहीं तैयार हो जाते थे, इसलिए हर क़िस्म के और हर जगह के आला दस्तकारों, सन्नाओं[2] और तालिब-इल्मों ने वतनों को खैरवाद कहकर फ़ैज़ावाद ही को अपना मस्कन बना लिया और यहाँ हर ज़माने में ढाके, वंगाले, गुजरात, मालवा, हैदरावाद, शाहजहाँवाद, लाहौर, पेशावर, काबुल, कश्मीर और मुलतान वग़ैरः के तालिब-इल्मों का एक बड़ा भारी गरोह मौजूद रहता, जो उलमा की दरसगाहों में तालीम पाते और उस चश्मए इल्म से जो फ़ैज़ावाद में जारी था, सैराव हो-होकर अपने घरों को वापस जाते। नव्वाब वज़ीर और दस-बारह वरस जी जाते तो घाघरा किनारे एक नया शाहजहाँबाद आबाद हो जाता और दुनिया एक नई ज़िन्दा देहली की सूरत देख लेती।

यह नव्वाव शुजाउद्दौलः के सिर्फ़ नौ साल के क़ियाम का नतीजा था जिसने फ़ैज़ाबाद को ऐसा बना दिया। और इन नौ साल में भी सिर्फ़ वरसात के चार महीने वह शहर में रौनक़-अफ़रोज़ रहते। वाक़ी ज़माना अपनी क़लम-रौ[3] के दौरे और सैर व शिकार में सर्फ़ होता था। शुजाउद्दौलः का तब्ई-मैलान[4] मह:जबीं[5] औरतों और रक़्स[6] व सुरोद[7] की तरफ़ था, जिसकी वजह से बाज़ारी औरतों और नाचने वाले तायफ़ों की शहर में इस क़दर कस्रत हो गई थी कि कोई गली कूचः इनसे ख़ाली न था और नव्वाब के इनाम व इकराम से वह इस क़दर खुशहाल और दौलतमंद थीं कि अक्सर रंडियाँ डेरादार थीं। जिनके साथ दो-दो, तीन-तीन, आलीशान खेमे रहा करते और नव्वाब साहब जब अज़्लाअ़ का दौरा करते और सफ़र में होते तो नव्वावी खेमों के साथ-साथ इनके खेमे भी शाहाना-शुकोह से छकड़ों पर लद-लदकर, रवाना होते और इनके गिर्द दस-दस, बारह-बारह तिलंगों का पहरा रहता; और जब हुक्म-राँ की यह वज़अ़ थी तो तमाम उमरा और सरदारों ने भी वेतकल्लुफ़ यही वज़अ़ इख़्तियार कर ली और सफ़र में सब के साथ रंडियाँ रहने लगीं। अगरचिः इससे वद अख़्लाक़ी और वेशर्मी को तरक़्क़ी हो गई लेकिन इसमें शक नहीं कि उन शाहिदाने वाज़ारी की कस्रत और उमरा की शौक़ीनी से शहर की रौनक़ बदरजहा ज़ियादः बढ़ गई थी और फ़ैज़ावाद दुल्हन बन गया था।

सन् १७७३ ई० में शुजाउद्दौलः ने मग़रिब का सफ़र किया। इस सफ़र में शाही कैम्प की रौनक़ और चहल-पहल बयान से बाहर थी। मालूम होता था कि नव्वाबी अलमे-इक़वाल के साथ-साथ एक बड़ा भारी शहर सफ़र कर रहा है। लखनऊ

---

१ राज्य २ शिल्पियों, कारीगरों ३ सल्तनत, राज्य ४ स्वाभाविक प्रवृत्ति, झुकाव ५ चन्द्रमुखी ६ नाच ७ गाना।

होते हुए इटावा पहुँचे, जिस पर मरहठे क़ाविज थे। एक ही हमले में उसे उनसे छीन कर अपने क़ब्ज़े में किया और अहमद ख़ाँ वंगश की क़लम-रौ में दाख़िल होकर कोड़ियागंज और कासगंज में ख़ेमाज़न हुए। यहाँ से इन्होंने हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ फ़रमाँ-रवा वरेली को लिखा "गुज़श्तः साल मैंने एक करोड़ रुपये महाजी सिंधिया मरहठे को भेजे थे, जिसने आपका वह तमाम इलाक़ा जो दरमियाने दोआव है, आप से छीन लिया था। वह रक़म अदा करके मैंने आपका वह इलाक़ा उसके क़ब्ज़े से छुड़ाया और आपके हवाले कर दिया, लिहाज़ा अव पचास लाख की रक़म जो आपकी तरफ़ से मैंने अदा की थी, फ़ौरन अदा कीजिए"।

हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ ने अपने तमाम अफ़ग़ान सरदारों और भाई-वन्दों को जमा करके कहा—"शुजाउद्दौलः लड़ाई के लिए वहाना ढूँढ़ रहे हैं, मुनासिव यह है कि मतलूवा रक़म अदा कर दी जाये। वीस लाख मैं अपने पास से देता हूँ और मावक़ी तीस लाख तुम जमा कर दो"।

ना-आक़िवत-अन्देश[1] पठान सरदारों ने जवाव दिया—"शुजाउद्दौलः के आदमी देखने ही के हैं, वह भला हमसे क्या मुक़ाविला करेंगे? वाक़ी रही अंग्रेज़ी फ़ौज जो उनके साथ है, तो उनकी तोपों पर जिस वक़्त हम तलवारें सूत-सूतकर जा पड़ेंगे सव के हवास जाते रहेंगे। देने-लेने की कुछ ज़रूरत नहीं"। रहमत ख़ाँ ने यह सुनकर कहा—"तुम्हें इख़्तियार है, मगर मैं अभी से कहे रखता हूँ कि अगर लड़ाई का रंग वदला तो मैं मैदान से ज़िन्दा न आऊँगा और इसका जो अन्जाम होगा वह तुम्हीं को भुगतना पड़ेगा"।

वहर तक़्दीर शुजाउद्दौलः को अपनी ख़्वाहिश के मुआफ़िक़ जवाव न मिला, फ़ौज लेकर चढ़ गये। लड़ाई हुई और लड़ाई का अंजाम वही हुआ जिसे तक़्दीर ने हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ की ज़वान से पहले ही सुनवा दिया था। हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ शहीद हुए और उनकी हुकूमत का ख़ात्मा हो गया। मगर यह फ़तह शुजाउद्दौलः वहादुर को भी सज़ावार[2] न हुई। १३ सफ़र सन् ११८८ हिजरी (सन् १७७४ ई०) को लड़ाई हुई थी, ११ शावान को शुजाउद्दौलः वरेली से कूच करके लखनऊ आये। माहे-मुवारके रमज़ान लखनऊ में वसर किया। ७ शव्वाल को लखनऊ से कूच करके १४ को फ़ैज़ावाद में दाख़िल हुए और फ़तह को ९ महीने १० ही दिन हुए थे और घर में पूरे डेढ़ महीने भी आराम करने का मौक़ा नहीं मिला था कि २३ ज़ीक़ाद सन् ११८८ हिजरी (सन् १७७४ ई०) को रहगिराए-आलमे जाविदाँ हुए और अफ़सोस! इनकी वफ़ात[3] ही के साथ फ़ैज़ावाद की तरक़्क़ी का दौर भी ख़त्म हो गया।

---

१ अदूरदर्शी २ मुनासिव ३ मृत्यु।

उस वक़्त हुकूमते अवध में सबसे बड़ा असर नव्वाब शुजाउद्दौलः बहादुर की बीबी बहूबेगम साहिबः का था जो निहायत ही दौलतमंद भी समझी जाती थीं। उनकी मंजूरी से नव्वाब आसिफ़उद्दौलः मसनद-नशीने हुकूमत हुए। मगर इनकी इख़्लाक़ी हालत निहायत ख़राब थी और मुसाहिबों को मुनासिब मालूम हुआ कि माँ-बेटों को अलग रखें। चन्द रोज तक सैर व शिकार में मस्रूफ़ रहने के बाद नव्वाब आसिफ़उद्दौलः बहादुर ने लखनऊ में क़ियाम इख़्तियार कर लिया और यहीं बैठे-बैठे माँ को सताया करते और बार-बार उनसे रुपया तलब करते।

बहूबेगम साहिबः के मौजूद रहने से फ़ैज़ाबाद को उनकी ज़िन्दगी तक थोड़ी बहुत रौनक़ हासिल रही। अगरचिः उनकी ज़िन्दगी में भी नव्वाब आसफ़उद्दौलः की नालायक़ियों ने बेगम साहिबः के इत्मीनान में और इसकी वजह से फ़ैज़ाबाद के अमन व अमान में ख़लल डाला, मगर उस मुहतरम ख़ातून[1] की ज़िन्दगी तक वह झगड़े और हंगामे भी एक गोनः[2]-बायसे रौनक़ हो जाया करते थे। उनकी वफ़ात पर फ़ैज़ाबाद की तारीख़ ख़त्म हो गई और लखनऊ का दौर शुरू हुआ जिसका हाल हम आइन्दः लिखेंगे।

ज़िक्रे लखनऊ

ठीक किसी को नहीं मालूम कि लखनऊ की आबादी की बुनियाद कब पड़ी? इसका बानी कौन था? और वजह तस्मियः[3] क्या है? लेकिन मुख़्तलिफ़ ख़ानदानों की क़ौमी रिवायतों और क़यासात से काम लेकर जो कुछ बताया जा सकता है, यह है :—

कहते हैं राजा रामचन्द्रजी लंका को फ़तह करके और अपने बनवास का ज़माना पूरा करके जब सरीरे जहाँपनाही[4] पर जल्वःअफ़रोज़ हुए तो यह सर ज़मीन उन्होंने जागीर के तौर पर अपने हम-सफ़र व अपने हमर्दद भाई लक्ष्मनजी को अता कर दी। चुनांचिः इन्हीं के क़ियाम या वुरूद[5] से यहाँ दरिया किनारे एक ऊँचे टेकरे पर एक बस्ती आबाद हो गई, जिसका नाम उस वक़्त से लक्ष्मनपूर क़रार पाया और वह टेकरा लक्ष्मनटीला मशहूर हुआ। उस टीले में एक गहरा ग़ार या कुवाँ था जिसकी किसी को थाह न मिलती थी और लोगों में मशहूर था कि वह शेषनाग● तक चला

---

१ प्रतिष्ठित महिला २ कुछ ३ नामकरण ४ राजसिंहासन ५ पहुँचना।

● हिन्दू देवमाला में शेषनाग उस हज़ार सर वाले साँप का नाम है जो धरती (ज़मीन) को अपने फ़न पर उठाये हुए है और क़ुदरत व अज़्मते-इलाही का एक वाजिब-उल्-इहतिराम मज़हिरः है।

गया है। इस ख़याल ने जज़बाते अक़ीदत को हरकत दी और हिन्दू लोग ख़ुश एतिक़ादी से जा-जाकर इसमें फूल-पानी डालने लगे।

यह भी कहा जाता है कि महाराजा युधिष्ठर के पोते राजा जन्मेजय ने यह इलाक़ा मरताज़ बुज़ुर्गों, ऋपियों और मुनियों को जागीर में दे दिया था, जिन्होंने यहाँ चप्पे-चप्पे पर अपने आश्रम बनाए और हरि के ध्यान में मस्रूफ़ हो गये। एक मुद्दत के बाद इनको कमज़ोर देखकर दो नई क़ौमें हिमालिया की तराई से आकर इस मुल्क पर क़ाबिज़ हो गईं जो बाहम मिलती-जुलती और एक ही नस्ल की दो शाख़ें मालूम होती थीं। एक 'भर' और दूसरी 'पाँसी' §

इन्हीं लोगों से सय्यद सालार मसऊद ग़ाज़ी से सन् ४५९ मुहम्मदी (सन् १०३०ई०) में मुक़ाबिला हुआ और ग़ालिबन् इन्हीं पर बख़्तियार ख़िलजी ने सन् ६३१ हि० मुहम्मदी (सन् १२०२ ई०) में चढ़ाई की थी। लिहाज़ा इस सरज़मीन पर जो मुसलमान खानदान पहले-पहल आकर आबाद हुए, वह इन्हीं दोनों हमला-आवरों, खुसूसन् सय्यद सालार मसऊद ग़ाज़ी के साथ आने वालों में से थे।

'भर' और पाँसियों के अलावा ब्राह्मण और कायस्थ भी यहाँ पहले से मौजूद थे। इन सब लोगों ने मिलकर यहाँ एक छोटा सा शहर बसा लिया और अमन व अमान से रहने लगे। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि इस बस्ती का नाम लक्ष्मनपूर से बदलकर लखनऊ कब हो गया। इस आख़िरी मुरव्वजः नाम का पता, शहनशाह अक्बर से पहले नहीं चलता। लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दू-मुसलमानों की काफ़ी आबादी पहले से मौजूद थी, जिसका सुबूत उस वाक़िए से हो सकता है जो श्योख़े लखनऊ की खानदानी रिवायतों में बहुत पहले से मौजूद है कि सन् ९६९ मुहम्मदी (सन् १५४० ई) में जब हुमायूँ बादशाह को शेरशाह के मुक़ाबिल जौनपूर में शिकस्त हुई तो वह मैदान छोड़कर सुल्तानपूर, लखनऊ, पीलीभीत, होता हुआ भागा था। लखनऊ में उसने सिर्फ़ चार घंटे दम लिया था और गो कि शिकस्त खाकर आया था, और कोई क़ुव्वत और हुकूमत न रखता था, मगर लखनऊ के लोगों ने महज़ इन्सानी हमदर्दी और महमान-नवाज़ी के खयाल से उन चन्द घण्टों ही में दस हज़ार रुपया और पचास घोड़े उसकी नज़र किये थे। इतने थोड़े ज़माने में उस सामान के फ़राहम हो जाने से क़ियास किया जा सकता है कि उन दिनों यहाँ मुतअद्दिदवः[1] आबादी मौजूद थी और उन दिनों का लखनऊ आजकल के अक्सर क़स्बात से ज़ियादः बारौनक़ और खुशहाल था।

उसी क़दीम ज़माने के आने वालों में शाह मीना का खानदान भी है जिनका

§ यह शब्द 'पासी' प्रचलित है।

१ अधिक संख्या।

मज़ारे-पुर अनवार आज तक मिरज़ा-इनाम है और ग़ालिबन् उसी अहद के आनेवालों में शाह पीर मुहम्मद भी थे, जिन्होंने ख़ास लक्ष्मनटीले पर सुकूनत इख़्तियार की और वहीं पैवन्दे-ज़मीं हुए। उनके क़ियाम की वजह से वह पुराना टेकरा लक्ष्मन-टीले से शाह पीर मुहम्मद का टीला हो गया और मुरूरे अय्याम से वह गहरा ग़ार भी पट गया। उस पर बाद के ज़माने में शहनशाह औरंगज़ेब ने, जो ब-नफ़्सेनफ़ीस यहाँ आया था, एक उम्द: मज़बूत ख़ूबसूरत और शानदार मस्जिद बनाकर खड़ी कर दी, जो आज तक आलमगीर की तरफ़ से सदायें 'अल्लाहु अक्बर' बलन्द कर रही है।

सन् १०१९ मुहम्मदी (सन् १५९० ई०) में शहनशाह अक्बर ने जब सारे हिन्दुस्तान को बारह सूबों में तक़सीम किया तो सूबए अवध के सूबेदार या वाली का मुस्तक़र बादियुन्नज़र[१] में लखनऊ ही क़रार पाया था। उन दिनों इत्तिफ़ाक़ से शेख़ अब्दुर्रहीम नाम ज़िला बिजनौर के एक ख़स्ताहाल व परेशान-रोज़गार बुज़ुर्ग ब-तलाशे-मआश[२] देहली पहुँचे। वहाँ उमरा दरबार में रुसूख़[३] पैदा करके बारगाहे शहनशाही में बारयाब हुए। आख़िर मनसब दाराने शाही में शामिल होकर लखनऊ में जागीर पाई और चन्द रोज़ बाद बड़े तुज़ुक व इहतिशाम[४] व कर्र व फ़र्र[५] से अपनी जागीर में आकर मुक़ीम हुए। यहाँ ख़ास लक्ष्मनटीले या शाह पीर मुहम्मद के टीले पर मुक़ीम होकर इन्होंने अपना पँचमहला बनवाया। शेखन दरवाज़ा तामीर कराया और लखनऊ ही में पैवन्दे-ज़मीन हुए। उनका मक़बरा नादानमहल के नाम से आज तक मशहूर है, जिसकी इमारत को अभी चन्द रोज़ हुए गवर्नमेण्ट आफ़-इण्डिया ने पसंद करके अपनी ज़ेरे हिमायत ले लिया है।

उसी ज़माने में यहाँ शेख़ अब्दुर्रहीम ने लक्ष्मनटीले के पास एक दूसरी बलन्दी पर एक छोटा क़िला तामीर कराया जो क़ुर्ब व जवार की गढ़ियों से ज़ियाद: मज़बूत था और गिर्द-व-नवाह[६] के लोगों पर उसका बड़ा असर पड़ता था। या तो इसलिए कि शेख़ अब्दुर्रहीम का दरबारशाही से अलमें[७] माही-मरातब अता हुआ था या इसलिए कि उस क़िले के एक मकान में छब्बीस महराबें थीं और हर महराब पर मैमार ने दो दो मछलियाँ बनाकर बावन मछलियाँ बना दी थीं। उस क़िले का नाम "मच्छी-भवन" मशहूर हो गया। 'भवन' का लफ़्ज़ या तो क़िले के मायनों में है या "बावन" से बिगड़ कर बन गया है। जिस मैमार ने इस क़िले को तामीर किया, वह लखना नाम का एक अहीर था और कहते हैं कि इसी के नाम से शहर का नाम लखनऊ हो गया और बाज़ का खयाल है कि लक्ष्मनपुरी बिगड़ कर लखनऊ

---

१ स्थायी तौर पर पहली नज़र २ रोज़ी की खोज में ३ मेलजोल ४ शान-शौकत ५ वैभव व शोभा ६ आस पास के स्थान ७ सेना के आगे रहनेवाला झंडाबरदार।

बन गया। इनमें से जो बात हो, मगर इस आबादी ने यह नाम शेख़ अब्दुर्रहीम के आने के बाद पाया। §

चन्द रोज़ बाद शेख़ अब्दुर्रहीम के ख़ानदान वालों यानी शेख़ज़ादों के अलावा यहाँ पठानों का एक गिरोह आ गया जो जुनूब की तरफ़ बसे और रामनगर के पठान मशहूर हुए। उन्होंने अपनी ज़मीदारी की हद उस मुक़ाम तक क़रार दी थी जहाँ अब गोल दरवाज़ा वाक़ै है। क्योंकि वहाँ से दरिया की तरफ़ बढ़िए तो शेख़ज़ादों की ज़मीन शुरू होती थी। उन पठानों के बाद श्योख़ का एक नया गरोह आकर मशरिक़ की तरफ़ बस गया जो श्योख़े-निबहरा कहलाते हैं। उन लोगों की ज़मीन वहाँ पर थी जहाँ अब रेज़ीडेन्सी के खंडहर हैं।

यह तीनों गरोह अपने-अपने इलाक़ों पर मुतसर्रफ़ और अपने हलक़ों के हाकिम थे; लेकिन शेख़ज़ादों का असर सब पर ग़ालिब था और क़ुर्ब व जवार पर उनका दबाव पड़ता था। जिसका क़वी सबब यह था, कि यह लोग दरबारे देहली में रुसूख़ रखते थे। उनमें से कई शख्स पूरे मुल्क अवध के सूबेदार मुक़र्रर हो गये थे और उनके क़िला—'मच्छी भवन' की मज़बूती की इस क़दर शुहरत थी की अवाम की ज़बान पर था "जिसका मच्छी-भवन उसका लखनऊ"।

अक्बर ही के ज़माने में लखनऊ तरक़्क़ी करने लगा था और इसकी आबादी बढ़ती और फैलती जाती थी। यह सही है कि सूबेदार अवध उन्हीं शेख़ज़ादों में से मुन्तख़ब हुए। लेकिन आम मामूल यह था कि इस ख़िदमत पर मुअ़ज़्ज़िज़ीन देहली मुक़र्रर होते, जो सालों साल अपने घर बैठे रहते। फ़क़त तहसील वसूल के ज़माने में एक दौरा-सा करते और उनके नायब यहाँ रहा करते। लिहाज़ा उनसे शहर की तरक़्क़ी की कोई उम्मीद न की जा सकती थी। हाँ, यहाँ के दो एक शेख़ज़ादे जो सूबेदार मुक़र्रर हो गये तो उनके तक़र्रुर से अलबत्ता लखनऊ को फ़ायदा पहुँचा।

लेकिन मालूम होता है कि अक्बर को लखनऊ की तरफ़ ख़ास तवज्जुः थी। चुनाँचिः इसने यहाँ के ब्राह्मणों को 'वाजपेयी' चढ़ावे के लिए एक लाख रुपये मरहमत फ़रमाये थे और इसी वक़्त से लखनऊ के वाजपेयी ब्राह्मण मशहूर हुए। इसी से पता चलता है कि लखनऊ के क़दीम तरीन हिन्दू मुहल्ले जो अक्बर के वक़्त में मौजूद थे, वाजपेयीटोला, सोंधीटोला, बंजारीटोला और अहीरीटोला हैं और यह सब चौक ही के अतराफ़ में हैं।

---

§ 'लक्ष्मणटीला' और 'लखनऊ', ये दोनो नाम शेख़ के आने से पहले से मौजूद और ख्याति पाये हुए थे। यह 'गुज़श्तः लखनऊ' में अगले और पिछले पैरों से ज़ाहिर है। शहंशाह अक्बर ने जब सल्तनत को सूबों में बाँटा, तो अवध का लखनऊ केन्द्र था।

—सम्पादक
'वाणीसरोवर'

मिर्ज़ा सलीम ने जो तख़्त पर बैठकर नूरुद्दीन जहाँगीर के लक़ब से मशहूर हुए, बाप की ज़िन्दगी और अपने ऐयामे वली-अह्दी में मिर्ज़ामंडी की बुनियाद डाली, जो मच्छी-भवन से मग़रिब की तरफ़ वाक़ै है। अकबर के आख़िर अह्द में यहाँ के सूबेदार जवाहर ख़ाँ थे। वह तो देहली में रहते थे मगर इनके नायब क़ाज़ी बिलगिरामी ने चौक के जुनूब में इससे मिले हुए दाहिनी तरफ़ महमूदनगर और बाईं तरफ़ शाहगंज आबाद किये और उनके और चौक के दरमियान में बादशाह के नाम से अकबरी दरवाजा तामीर कराया।

अह्दे अकबरी में जब कि यह इमारतें बन रही थीं और यह मुहल्ले आबाद हो रहे थे, लखनऊ एक अच्छी तिजारतगाह बन गया था, और तरक़्क़ी के इस दरजे को पहुँचा हुआ था कि एक फ़्रान्सीसी ताजिर ने जो घोड़ों की तिजारत करता था, यहाँ क़ियाम करके नफ़ा हासिल करने की कोशिश की और दरबारे शहनशाही से लखनऊ के क़ियाम के लिए सनद मस्तामनी† हासिल करके यहाँ अपना अस्तबल क़ायम किया, और पहले ही साल में इस क़दर फला-फूला कि चौक के मुत्तसिल[1] चार आलीशान मकान तामीर कर लिए। साल ख़त्म होने पर जब उसने पुरानी मस्तामनी की तजदीद चाही तो उसे ज़ियाद: क़ियाम की इजाज़त न मिली; और इस पर भी इसने ज़बरदस्ती ठहरने का इरादा किया तो हस्बुल्हुक्म शहनशाही हुक्कामे शहर ने उसके मकानात ज़ब्त करके नज़ूल सरकार कर लिए और उसे यहाँ से निकाल दिया। वह चारों मकान मुद्दत तक सरकार के क़ब्ज़े में रहे, यहाँ तक कि शहनशाह औरंगज़ेब आलमगीर के अह्द में जब मुल्ला निज़ामुद्दीन सहालवी ने अपने क़स्बे के फ़सादों से आजिज़ आकर लखनऊ में सुकूनत इख़्तियार करने का क़स्द किया, तो अतय्यै: सरकार[2] के तौर पर वह चारों मकान उन्हें दे दिये गये और इन्होंने अपने पूरे ख़ानदान के साथ आकर उन मकानों में सुकूनत इख़्तियार की जो अपने गिर्द व पेश के बहुत से मकानात के साथ आज तक "फ़िरंगी-महल" कहलाते हैं। मुल्ला साहब के क़दूम[3] की बरकत से लखनऊ इल्म व फ़ज़्ल का मरकज़ और तलबए उलूम का मरजअ व मावा बन गया और इस इल्मी मरजइय्यत को इस क़दर तरक़्क़ी हुई कि मुल्ला निज़ामुद्दीन का मुरत्तब किया हुआ निसाबे-तालीम, जो

† मस्तामन के मानी तालिबे अमन हैं। योरुप वालों को चूँकि मुसलमानों और हिन्दुओं में अपने लिए ख़तरा नज़र आया करता था, इसलिए जहाँ क़ियाम करना चाहते वहाँ के लिए दरबारे देहली से मस्तामनी की सनद हासिल कर लिया करते ताकि हुक्काम व अम्माल और नेज़ रिआया इन्हें न सताये। इस सनद से चूँकि सल्तनत पर ज़िम्मेदारियाँ आयद हो जाती थीं, इसलिए एक साल से ज़ियाद: की सनद कम दी जाती थी।

१ साथ में मिला २ सरकार से प्रदान तोहफ़ा ३ चरणों।

सिलसिले निज़ामिया कहलाता है, मुद्दतें दराज़ से हिन्दोस्तान ही का नहीं सारे एशिया का निसाबे-तालीम है और इल्मी कमालात के साथ उसमें वलीयाना वरकतें भी मुज़मर-तसव्वर की जाती हैं और इससे ब-ख़ूबी अन्दाज़ा किया जा सकता है कि उस ज़माने में कहाँ-कहाँ और कितनी-कितनी दूर के तलबए उलूम[1] लखनऊ में जमा रहते होंगे।

यूरोपियन सैयाह[2] लीकट जो सन् १०६० मुहम्मदी (सन् १६४१ ई०) यानी शाहजहाँ की सल्तनत के अवायल[3] में हिन्दोस्तान की सैर कर रहा था, लखनऊ की निस्बत लिखता है कि "यह अज़ीमुश्शान मंडी है"। अहदे शाहजहानी में यहाँ के सूबेदार सुल्तान अली शाह क़ुली ख़ाँ थे। उनके दो बेटे थे; मिर्ज़ा फ़ाज़िल और मिर्ज़ा मन्सूर। इन्हीं दोनों के नाम से उन्होंने महमूदनगर से जनूब की तरफ़ आगे बढ़कर दो नए मुहल्ले फ़ाज़िलनगर और मन्सूरनगर आबाद किये।

उस ज़माने में यहाँ अशरफ़ अली ख़ाँ नाम के एक रिसालदार थे। उन्होंने इसी सिलसिले में अशरफ़ाबाद बसाया और उनके भाई मुशर्रफ़ अली ख़ाँ ने नाले के दूसरी तरफ़ अपना घर बनाकर मुशर्रफ़ाबाद नाम एक और मुहल्ला क़ायम किया जिसका नाम मरूरे अय्याम से अब नौबस्ता हो गया है। उन्हीं दिनों पीर ख़ाँ नाम एक और फ़ौजी अफ़सर थे, जिन्होंने इन सब मुहल्लों से मग़रिब की तरफ़ दूर जाकर अपनी गढ़ी बनाई, जो मुक़ाम (कुजा) आज तक पीर ख़ाँ की गढ़ी कहलाती है।

शहनशाह औरंगज़ेब आलमगीर ने किसी ज़रूरत से अयोध्या का सफ़र किया था। वापसी के वक़्त लखनऊ में ठहरता हुआ देहली गया। उस मौक़े पर उसने शाह पीर मुहम्मद के टीले वाली मस्जिद तामीर कराई जो ख़ास लक्ष्मन टीले पर होने की वजह से ऐसी बलन्दी पर वाक़िअ् है, जिससे ज़ियादः मुनासिब जगह मस्जिद के लिए लखनऊ में नहीं हो सकती, और ग़ालिबन् इसी मौक़े पर इसने फ़िरंगी-महल के मकानात अल्लामएज़माँ मुल्ला निज़ामुद्दीन की नज़र किये होंगे।

मुहम्मद शाह रँगीले के ज़माने में लखनऊ का सूबेदार गिर्धा नाँगा नाम एक बहादुर हिन्दू रिसालदार था। उसका चचा छबीलेराम दरबारे देहली की तरफ़ से इलाहाबाद की हुकूमत पर मामूर[4] था। छबीलेराम के मरने पर गिर्धा नाँगा ने सरकशी इख़्तियार की और इरादा किया कि चचा की जगह ज़बरदस्ती इलाहाबाद का हाकिम हो जाये। मगर फिर ख़ुद ही कुछ सोचकर उसने इज़हारे-इताअत व फ़रमाँबरदारी किया और दरबार से उसे अवध की सूबेदारी का ख़िलअत अता किया गया। इसने यहाँ की सुकूनत इख़्तियार की और इसकी बीवी ने जो रानी कहलाती थी रानीकटरा आबाद किया। मगर यहाँ का हाकिम और सूबेदार चाहे कोई हो, शेख़ज़ादों का इस क़दर ज़ोर था कि किसी वाली[5] को चाहे कैसा ही ज़बरदस्त हो

१ ज्ञानार्थी, विद्यार्थी २ यात्री ३ आरम्भ ४ नियुक्त ५ शासक।

और कैसी ही सनदें हुक्मरानी लेकर आया हो, जुर्अत[1] न हो सकती थी कि उनके हलक़े में क़दम रखे। "मच्छी-भवन" को अगरचिः क़स्रे इमारत हासिल थी लेकिन शेख़ज़ादों ने उसे अपनी मौरूसी जायदाद बना लिया था और देहली से जो वाली आता इसके पास फटकने न पाता। इन्होंने मच्छीभवन के पास दो और इमारतें तामीर कर ली थीं जिनमें से एक का नाम "मुबारक-महला" था और दूसरे का नाम "पँच-महला" था। पँचमहले के निस्वत कोई कहता है कि पंच-मंज़िल इमारत थी और कोई कहता है कि एक दूसरे के पास पाँच महल बने हुए थे और उनके जुनूब तरफ़ एक बड़ा महराबदार फाटक था जो शेख़न दरवाज़ा कहलाता था। शहर से जो लोग शेख़ज़ादों की मज़कूरः इमारतों में जाना चाहते इसी फाटक में से होकर गुज़रते।

इस फाटक के महराब में बाँके शेख़ज़ादों ने एक नंगी तलवार लटका रखी थी और हुक्म था कि जो कोई यहाँ आना चाहे, कोई हो और कितना ही बड़ा शख़्स हो, पहले इस तलवार को झुककर सलाम कर ले, फिर आगे क़दम बढ़ाये। किस की मजाल थी कि इस हुक्म की तामील में उज्र करे? यहाँ तक कि देहली से जो वाली और हाकिम मुक़र्रर होकर आते थे और शेखों से मिलने जाते तो उन्हें भी जबरन व क़हरन[2] उस तलवार के आगे ज़रूर सिर झुका देना पड़ता।

लखनऊ की यह हालत थी कि सन् ११६१ मुहम्मदी (सन् १७३२ ई०) में नव्वाब सआदत ख़ाँ बुरहानुल्-मुल्क दरबारे देहली से अवध के सूबेदार मुक़र्रर होकर आये, जिनसे हिन्दोस्तान के उस आख़िरी मशरिक़ी दरबार की बुनियाद पड़ी, जिसके उरूज को हम मशरिक़ी तमद्दुन का आख़िरी नमूना क़रार देकर बयान करना चाहते हैं। पहले नम्बर में हमने फ़ैज़ाबाद की हालत दिखाई जो इसी तमद्दुन का नक़्शे-अव्वलीन और इसी मशरिक़ी दरबारे लखनऊ का एक ज़मीमः[3] था। इस नम्बर में इस दरबार के क़ायम होने के पेश्तर के लखनऊ की तस्वीर दिखा दी और उस बिसात को अपने नाज़रीन के पेशे-नज़र कर दिया जिस पर इस दरबार ने अपनी शतरंज बिछाई। आइन्दः चन्द नम्बरों में हम इस नेशापूरी ख़ानदान की तारीख़े हुकूमत बयान करेंगे और इसके बाद दिखाएँगे, यह तमद्दुन क्या और कैसा था।

अवध में नव्वाबी की बुनियाद

नव्वाब सआदत ख़ाँ बुरहानुल्-मुल्क के ख़ानदान के मुतअ़ल्लिक़ इसी क़दर बता देना काफ़ी है कि मीर मुहम्मद नसीर नाम नेशापूर के एक सय्यदज़ादे जिनका सिल-सिलए-नसब इमाम मूसा काज़िम रज़ि० से मिलता है, सन् ११३५ मुहम्मदी (सन् १७०६ ई०) अह्दे-बहादुरशाह में वारिदे हिन्दोस्तान हुए। इनके बड़े बेटे मीर

१ हिम्मत २ बल से विवश होकर ३ परिशिष्ट।

मुहम्मद वाक़र साथ-साथ आये जिन्होंने यहाँ शादी कर ली और वाप-वेटों ने नाज़िमे-वंगाला की ज़ेरे हिमायत अज़ीमावाद पटना में सुकूनत इख्तियार की। मुहम्मद बाक़र को हिन्दोस्तान की वीवी से ख़ुदा ने एक वेटा दिया जो वाद को शेरजंग के मुअ़ज़्ज़िज़ लक़व से मशहूर हुआ।

मीर मुहम्मद नसीर के आने के दो साल वाद उनके छोटे वेटे मीर मुहम्मद अमीन भी नेशापूर से हिन्दोस्तान में आ गये। अज़ीमावाद पहुँचे तो सुना कि वालिद ने सफ़रे आख़िरत किया और अव दोनों भाई मीर मुहम्मद वाक़र और मुहम्मद अमीन देहली को रवाना हुए, जहाँ पहुँचकर मीर मुहम्मद अमीन को शाहज़ादों की जागीर का ठेका मिल गया। इसमें इन्होंने ऐसी लियाक़त, मुस्तैदी और कारगुज़ारी दिखाई कि तमाम लोगों में शुहरत हो गई। इक़्वाल वरसरेयारी था। चन्द ही रोज़ वाद दरवारे शाही के मुअ़ज़्ज़िज़ अमीरों और मनसवदारों में शामिल हुए। फिर सूवेदारे अक्वरावाद की वेटी से निकाह हो गया और उस आला तवक़ए उमरा में शुमार किये जाने लगे जिस पर सल्तनत की ज़िम्मेदारी की ख़िदमतों के लिए इन्तख़ाव[१] की नज़रें पड़ती थीं।

उन दिनों देहली में सादाते वारह:[२] का ज़ोर था जिनसे रअ़य्यत[३] तो रअ़य्यत ख़ुद वादशाह सलामत भी डरते थे। मुहम्मद अमीन ने इनको क़त्ल कराकर सय्यदों का ज़ोर हमेशा के लिए तोड़ दिया और लड़ाई में ऐसी शुजाअ़त दिखाई कि दरवारे शाही से मनसवे हफ़्त-हज़ारी और सात हज़ार सवारों की सरदारी के साथ "वुरहानुल्-मुल्क वहादुर जंग" का ख़िताव अता हुआ और उसी वक़्त अक्वरावाद के सूवेदार मुक़र्रर हुए। इसके वाद वादशाही ख़वासों[४] की दारोग़गी अता हुई जो वड़ा मुअ़ज़्ज़िज़ उहद: था। उसके थोड़े दिनों वाद वह सूवए अवध के सूवेदार और इसके साथ ही वादशाही तोपख़ाने के दारोग़ा मुक़र्रर हुए। आदमी होशियार और निहायत ही वेदार-मग़ज़[५] और इसके साथ वड़े वहादुर शुजाअ़ थे। शाही तोपख़ाने को अपने हाथ में लेकर इन्होंने ऐसी ज़वरदस्त क़ुव्वत पैदा कर ली जैसी इन दिनों सारे हिन्दोस्तान में किसी को नसीव न थी। उस ज़माने में कोड़ा के ज़मींदार भगवन्तसिंह ने सल्तनत से सरतावी[६] करके वड़ा ज़ोर वाँध रखा था और कई अफ़सर जो इसकी सरकोवी[७] को गये, इसके हाथ से मारे जा चुके थे। आख़िर वुरहानुल्-मुल्क इस मुहिम पर मामूर[८] हुए और यल्ग़ार[९] करते हुए पहुँचे। भगवन्तसिंह ने चालाकी से उनको घेर लिया और लड़ाई का रंग ऐसा विगड़ा नज़र आया कि वड़े-वड़े वहादुरों के हाथ-पाँव फूल गये। मगर वुरहानुल्-मुल्क ने ऐसी जवाँमर्दी से मुक़ाविला किया कि देर तक दुश्मनों के

१ चुनाव, निर्वाचन २ अक्सर सय्यद जाति ३ प्रजा ४ खिदमतगारों ५ चैतन्य-मस्तिष्क ६ विद्रोह ७ दंड देना ८ नियुक्त ९ आक्रमण।

नरग़े[1] में उनकी लम्बी सफ़ेद नूरानी डाढ़ी चमकती और रोब डालती रही। थोड़ी देर में भगवन्तसिंह उनके तीर का निशाना हुआ और दुश्मन भाग खड़ा हुआ।

बुरहानुल्-मुल्क की दूसरी मुहिम[2] इससे भी ज़बरदस्त थी। उन दिनों मरहठों का हिन्दोस्तान में बड़ा ज़ोर था। इन्होंने ताजदारे देहली से चौथ मुक़र्रर करा ली थी और बड़े-बड़े सूरमा उनके नाम से काँपते थे। बुरहानुल्-मुल्क ने मरहठों को ज़बरदस्त फ़ौज के साथ जाकर ऐसी सख़्त शिकस्त दी कि उनके हवास जाते रहे। नोकदुम[3] भागे और बुरहानुल्मुल्क ने तअक़्क़ुब[4] शुरू किया। वाक़िआते तारीख़ देखने से मालूम होता है कि अगर इस मौक़े पर बुरहानुल्-मुल्क ज़बरदस्ती न रोक दिए जाते तो वह बढ़कर मरहठों का इस्तीसाल[5] कर देते और सल्तनते मुग़लिया अपने अगले अहदे-शवाब की तरह सारे हिन्दोस्तान की सियाह व सफ़ेद की मालिक हो जाती। मगर इस बदनसीब ज़वाल-पिज़ीर[6] सल्तनत को मिटना ही था। दरबारियों की साज़िश और मुक़र्रबीन दरबार[7] के हसद[8] ने बुरहानुल्-मुल्क की रफ़्तार को रुकवा दिया।

इस बात ने बुरहानुल्-मुल्क को यक़ीन दिलाया कि बादशाह में अपने नेक व बद के सोचने की सलाहियत[9] नहीं और अहले दरबार बद-दियानत व ख़ुदग़रज़ हैं। फ़ौरन् मरहठों से सुलह कर ली। फिर इरादा किया कि अपने सूबे में जाकर क़ियाम करें और सब से अलग होकर अपने इलाक़े को मज़बूत और मुन्तज़िम[10] बना दें। ग़रज़ बुरहानुल्-मुल्क ने दिल में समझ लिया कि अब सल्तनते मुग़लिया पनपनेवाली नहीं है। अपना सूबा लेकर अलग हो जाना ही मुनासिब है और दरबारे देहली को उसकी क़िस्मत पर छोड़ देना चाहिए।

लखनऊ में जैसा कि हम बयान कर चुके हैं, शेख़ज़ादों का ज़ोर था; इन्होंने अपनी आदत के मुवाफ़िक़ इन्हें भी रोका। मगर बुरहानुलमुल्क हिक्मते अमली से दाख़िल हो गए और नक्सीर भी न फूटने पाई। बुरहानुलमुल्क के लखनऊ में दाख़िल होने के मुतअ़ल्लिक दो रिवायतें मशहूर हैं। एक यह कि वह बराबर बढ़ते चले आये, यहाँ तक कि अक्बरी दरवाज़े पर रोके गये। चूँकि वह साबिक़ के[11] तमाम सूबेदारों के ख़िलाफ़ तजुर्बेकार, मतीन[12] और संजीदा शख़्स थे, ठहर गये, और महमूद नगर में पड़ाव डाल दिया। दो एक दिन के बाद शेख़ज़ादों की दावत की, उनसे बड़ी ख़ातिर तवाज़ो से पेश आये। लेकिन जिस वक़्त ग़ाफ़िल शेख़ज़ादे अल्वाने-निअ़मत का मज़ा लूटने में मसरूफ़ थे, शाही फ़ौज ख़ामोशी के साथ चौक में दाख़िल हो रही थी, जो बराबर बढ़ती ही चली गई यहाँ तक कि मच्छीभवन के पास जा पहुँची।

---

१ भीड़ २ लड़ाई ३ साँस-साधकर बेतहाशा ४ पीछा करना ५ समूलनाश ६ अवनतोन्मुख ७ प्रमुख दरबारियों ८ डाह, रश्क ९ योग्यता १० समुन्नत ११ पिछले १२ बुद्धिमान्।

दूसरी रिवायत यह है कि मुहम्मद खाँ बंगश ने बुरहानुलमुल्क को बतला दिया था कि लखनऊ के शेखज़ादे बड़े शोरेःपुश्त[1] हैं, इनसे पेश पाना आसान नहीं। मगर क़ुर्ब व जवार के दूसरे श्यूख उनके खिलाफ़ हैं, आप उन लोगों से मदद लीजिए और उन्हीं की मदद से लखनऊ वालों को ज़ेर कीजिए। चुनाँचिः बुरहानुलमुल्क ने काकोरी में क़ियाम करके श्यूखे काकोरी को अपने मुवाफ़िक़ बना लिया। इन्हीं की मदद और रहबरी से आगे बढ़े और यह सुनकर कि महमूदनगर और अकबरी दरवाज़े में मुक़ाबिले का सामान किया गया है, अस्ली रास्ते से कतराकर मग़रिब की तरफ़ कट गये। गऊघाट के पास दरिया के पार उतरे और पार की तरफ़ से आहिस्तः आहिस्तः आकर अचानक मच्छीभवन पर आ पड़े। ग़रज़ जो सूरत हो, इन्होंने बग़ैर इसके कि कोई मुज़ाहिम[2] हो, क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया।

जब मच्छी-भवन पर क़ब्ज़ा हो गया तो फिर कौन दम मार सकता था? शेखज़ादों के तमाम मुअज़्ज़िज़ लोगों ने हाज़िर होकर आजिज़ी से सिर झुका दिया। बुरहानुलमुल्क हाथी पर सवार होकर शेखेन दरवाज़े में दाखिल हुए और उस तलवार को, जो बड़े बड़े बहादुरों से सलाम ले चुकी थी, अपनी तलवार से काटकर गिरा दिया। फिर शेखज़ादों से कहा—"हमारे क़ियाम के लिए मच्छी-भवन खाली कर दो"। इसमें इन्होंने लैतोलअल[3] करना चाही मगर न चली। आखिर एक हफ़्ते मुहलत दी गई और इस मुद्दत के अन्दर श्यूख जो कुछ अस्बाब ले जा सके, उठा ले गये, और जो रह गया उस पर बुरहानुलमुल्क के सिपाहियों ने क़ब्ज़ा किया। क़िले में जाकर रहने से पहले उसके पास जहाँ खेमे डालकर वह रहे थे, वहाँ एक नौबतखाना तामीर करा दिया जिसमें दरबारे अवध के आखिर अहद तक रोज़ाना छै वक़्त नौबत बजती थी।

उसके बाद बुरहानुलमुल्क अयोध्या में गये और दरिया किनारे वह बंगला बनवाया जिसका हाल हम बयान कर चुके हैं। लेकिन वक़्तन फ़वक़्तन लखनऊ में आते और क़ियाम करते थे, क्योंकि सूबे का मुस्तक़र[4] यही शहर था। उनके ज़माने में यहाँ कई नये मुहल्ले आबाद हुए। मगर यह सब मुहल्ले उनके मुग़ल सरदाराने फ़ौज के पड़ाव के मुक़ामात थे जहाँ मुस्तक़िल सुकूनत के लिए लोगों ने मकान बनाना शुरू कर दिये। सय्यद हुसैन खाँ का कटरा, अबूतुराबखाँ का कटरा, खुदायार खाँ का कटरा, बिज़न बेग खाँ का कटरा, मुहम्मद अली खाँ का कटरा, बाग़ महानरायन, सराय मआलीखाँ और इस्माईल गंज (जो मच्छी-भवन के मशरिक़ तरफ़ था, अब खुद गया) सब उसी ज़माने के मुहल्ले या बुरहानुलमुल्क के सरदाराने फ़ौज की लश्करगाहें हैं।

नव्वाब बुरहानुलमुल्क छै ही बरस अवध और लखनऊ में रहने पाये थे कि सन् ११५१ मुहम्मदी (सन् १७३८ ई०) में नादिरशाह ने हिन्दोस्तान पर हमला कर दिया

---

१ उद्दण्ड, झगड़ालू २ लड़ाई ३ टालमटोल ४ स्थायी।

और वह निहायत ही ताकीद के साथ देहली में बुलाए गए। उस पुरफ़ितन ज़माने में जो कुछ वाक़िआत गुज़रे, उनको लखनऊ से तअल्लुक़ नहीं। लखनऊ में अपना नायब और क़ायममुक़ाम बनाकर वह अपने भानजे और दामाद सफ़दरजंग को छोड़ गये थे। नादिरशाह देहली को लूट चुका था और क़त्लेआम करा चुका था, मगर अभी वहीं था कि नव्वाब बुरहानुलमुल्क ने देहली में वफ़ात पाई। इनके भतीजे शेरजंग ने नादिरशाह से सिफ़ारिश उठवाई कि नव्वाब मरहूम[1] के बाद अवध की सूबेदारी इन्हें दी जाय।

लेकिन राजा लक्ष्मीनरायन ने जो बुरहानुलमुल्क के मुअ़तमद[2] उहदेदारों में था, नादिरशाह की ख़िदमत में इस मज़मून की एक अर्ज़-दाश्त पेश कर दी कि "नव्वाब बुरहानुलमुल्क शेरजंग से ख़ुश न थे और इसीलिए इन्होंने अपनी बेटी उनको छोड़कर सफ़दरजंग को दी जो इनकी नियाबत[3] करते थे और इस वक़्त भी उनकी तरफ़ से वहाँ मौजूद हैं। बुरहानुलमुल्क के माल व असबाब की मालिक सरकार है, जिसे चाहे अता करे, इसलिए कि कोई वरसा[4] नहीं है। यह भी अर्ज़ है कि सफ़दरजंग बुर्दबार, ख़ुदातरस, लायक़ और वादे के सच्चे हैं और सिपाह इनसे ख़ुश है, क़तअ़ नज़र इसके हुज़ूर के लिए बुरहानुलमुल्क ने दो करोड़ रुपये की रक़म का वादा किया था, इसके अदा करने का इन्तज़ाम नव्वाब सफ़्दरजंग ने कर लिया है, जिस वक़्त हुक्म हो हाज़िर किये जाएँ। इन वजूह से उम्मीद है कि हुज़ूर इन्हीं की सिफ़ारिश फ़रमाएँगे।" यह अर्ज़न्दा अर्ज़-दाश्त देखते ही नादिरशाह ने सफ़्दरजंग के लिए मुहम्मद शाह से ख़ुद ही ख़िलअ़ते सूबेदारी ले लिया और अपने एक मुसाहिब और दो सौ सवारों के साथ अवध में सफ़दरजंग के पास भेजा। यों ख़िलअ़ते सूबेदारी पहिनकर सफ़दरजंग ने वह दो करोड़ का नज़राना नादिर के पास भिजवा दिया और अपने इलाक़े पर हुकूमत करने लगे।

सफ़दरजंग का पूरा नाम मिर्ज़ा मुक़ीम अबुल मन्सूर ख़ाँ सफ़दरजंग था। गो उनमें बुरहानुलमुल्क की सी सच्ची बहादुरी, सादगी, रास्तबाज़ी और जफ़ाकशी न थी, मगर निहायत फ़ैयाज़, बलन्द हौसला, रहमदिल, रिआयापरवर और मुन्तज़िम थे। शहर से तीन मील की मसाफ़त[5] पर इन्होंने क़िला जलालाबाद तामीर कराया और मच्छी-भवन के अन्दर पँचमहले की जो क़दीम इमारत थी उसे भी शेख़ज़ादों से ले लिया और इसके एवज़ में दो गाँव में ७०० एकड़ ज़मीन शेख़ज़ादों को रहने और बसने के लिए अता की। जिससे अगरचि: शेख़ज़ादों पर ज़ुल्म हुआ मगर लखनऊ की आबादी को वुसअ़त[6] और तरक़्क़ी हासिल हुई। मच्छी-भवन को सफ़दरजंग ने अज़सरे नौ[7] तामीर कराया और उसे बहुत दुरुस्त किया।

लेकिन सफ़दरजंग पाँच ही बरस अपने सूबे में रहने पाए थे कि देहली में इनकी

---

१ स्वर्गीय नव्वाब २ विश्वासी ३ प्रतिनिधित्व ४ उत्तराधिकारी ५ अन्तर, दूरी ६ फैलाव ७ नये सिरे से।

तलबी हुई और राजा नवलराय को अपनी नियाबत[1] पर लखनऊ में छोड़कर वह देहली चले गये। नवलराय इल्मदोस्त, वक़्त का पाबन्द, जफ़ाकश,[2] बहादुर और बहुत बड़ा मुन्तज़िम था और इसके साथ उसे ख़ुदा ने अपने आक़ा की सी उलू-उल-अज़्मी[3] और फ़ैयाज़ी भी दी थी। उसने इरादा किया कि मच्छीभवन के सामने दरिया पर एक पुल तामीर करे। पायों की बुनियाद डालने के लिए गहरे कुएँ खुदवाये। लेकिन पाये बनना शुरू नहीं हुए थे कि अपने आक़ा की तलब पर उसे अहमद ख़ाँ बंगश के मुक़ाबिले के लिए जाना पड़ा। इस मुहिम में वह बड़ी ज़बरदस्त फ़ौज लेकर गया, मगर मारा गया और पुल का काम जो छिड़ा था, नातमाम पड़ा रहा गया।

अहमद ख़ाँ बंगश उस ज़माने का बहादुर-तरीन शख्स था। इसके मुक़ाबिले के लिए बुरहानुलमुल्क की ज़रूरत थी। सफ़दरजंग इसके हरीफ़ मुक़ाबिल[4] न हो सकते थे। नतीजा यह हुआ कि अहमद ख़ाँ की और उनके साथ अफ़ाग़नः की क़ुव्वत तरक़्क़ी करती गई। सफ़दरजंग ने लाख हाथ-पाँव मारे, ख़ुद शहनशाहे-देहली तक को उसके मुक़ाबिले पर लाकर खड़ा कर दिया, मगर इसका कुछ न बिगाड़ सके और इसके इशारे से हाफ़िज़ रहमतख़ाँ ने अवध के शहरों और क़स्बों में लूट-मार शुरू कर दी। ख़ैराबाद पर क़ब्ज़ा कर लिया और ख़ुद अहमद ख़ाँ बंगश का बेटा महमूद ख़ाँ फ़ौज लेकर चला कि लखनऊ पर क़ब्ज़ा कर ले।

सन् ११७९ मुहम्मदी (सन् १७५० ई०) में पठानों ने मलीहाबाद में अपना थाना क़ायम किया और सन् ११७० मुहम्मदी (सन् १७५१ ई०) में महमूद ख़ाँ का कोई अज़ीज़ बीस हज़ार फ़ौज लेकर लखनऊ की तरफ़ चला। शहर के बाहर पड़ाव डाला और अपना एक कोतवाल मुक़र्रर करके शहर में भेजा। सफ़दरजंग के आदमियों से शहर ख़ाली था। जो चन्द थे भी, पठानों के आने की ख़बर सुनकर भाग खड़े हुए और पठानों के कोतवाल ने शहर में आकर बेएतदालियाँ[5] शुरू कर दीं।

उन दिनों शेख़ज़ादगाने लखनऊ में सब से ज़ियादः सरवर[6] आबुर्दः[7] शेख़ मुअज़्ज़िद्दीन थे। वह अफ़ाग़नः के सरदार से शहर के बाहर जाकर मिले। उसी वक़्त किसी ने उससे जाकर शिकायत की कि शहरवाले आपके कोतवाल की तहक़ीर[8] व तौहीन[9] करते हैं और कोई उसका हुक्म नहीं मानता। शेख़ मुअज़्ज़िद्दीन बोले—"क्या मजाल है कि कोई ऐसी गुस्ताख़ी करे। मैं जाता हूँ, मुफ़्सिदों[10] को सज़ा दूँगा।" यह कहकर वापस आये और तमाम भाई-बन्दों को बुलाकर कहा—"पठानों के क़ौल व फ़ेल का एतबार नहीं। बेहतर यह है कि हम नव्वाब सफ़दरजंग का साथ दें और मुक़ाबिला करके पठानों को यहाँ से निकाल दें"। इसके बाद शेख़ मुअज़्ज़िद्दीन ने घर

---

१ प्रतिनिधित्व २ सहिष्णु, विपत्तियाँ और कष्ट सहनेवाला। ३ ऊँचा हौसला ४ प्रतिद्वन्द्वी। ५ असंयम ६ नेता, नायक ७ कृपापात्र ८ अपमान ९ अप्रतिष्ठा १० फ़िसाद करने वालों।

का जेवर बेचकर फ़ौज जमा की और सारे शेख़ज़ादों को लेकर कोतवाल पर हमला किया। वह अपनी जान लेकर भागा और शेख़ साहब ने किसी मुग़ल को दरबारी लिबास पहनाकर अपने मकान में बिठा दिया और मनादी कर दी कि सफ़दरजंग ने अपनी तरफ़ से इस मुग़ल को कोतवाल बना कर भेजा है। इसके साथ ही अली(रज़ि०) के नाम का एक सब्ज़ झंडा खड़ा किया और लोग उसके नीचे आकर जमा होने लगे।

यह हालत सुनकर पठानों ने हमला कर दिया। शेख़ज़ादों ने जान तोड़कर मुक़ाबिला किया और अपनी पुरानी शुजाअत दिखा दी। पठान मुक़ाबिले की ताब न ला सके। पन्द्रह हज़ार फ़ौज के साथ भागे और मौक़ा पाकर शेख़ज़ादों ने पठानों को सारे मुल्के अवध से निकाल बाहर किया।

दो साल बाद जब अहमद ख़ाँ बंगश से सुलह हो गई तो सन् ११८२ मुहम्मदी (सन् १७५३ ई०) में नव्वाब सफ़दरजंग फिर लखनऊ में आये और महदी घाट पर आकर ठहरे। एक ख़ास मकान अपने रहने के लिए बनवाया और सजाया और सिपाह की दुरुस्ती में मसरूफ़ हुए। लेकिन इसकी मुहलत न मिली। उसी साल सुलतानपूर के क़रीब पापड़घाट में पड़ाव था कि इन्तक़ाल किया। लाश पहले फ़ैज़ाबाद की गुलाबबाड़ी में ले जाकर ज़मीन सुपुर्द की गई, फिर थोड़े दिनों के बाद हड्डियाँ देहली में ले जाकर दफ़्न की गईं, जिन पर निहायत ही आलीशान मक़बर: मौजूद है और सैयाहाने-अर्ज़[1] इसे आज तक इबरत[2] व इज़्ज़त की निगाह से देखते हैं।

फ़ैज़ाबाद से लखनऊ

सफ़दरजंग मन्सूर अली ख़ाँ के इन्तकाल के बाद सन् ११८२ मुहम्मदी (सन् १७५३ ई०) में उनके बेटे नव्वाब शुजाउद्दौल: मसनदनशीन हुए, जिनके कुछ हालात इस मज़मून के पहले हिस्से में बयान हो चुके हैं। वह एक मुज़तरिब[3] और बेक़रार[4] तबीअत के उलू-उल्-अज़्म[5] फ़र्मांरवा थे, लेकिन बद-क़िस्मती से उनका अहद बड़े-बड़े फ़ित्नों और यादगारे ज़माना इन्क़लाबों[6] से भरा हुआ था। दुनिया की दो ज़बरदस्त तारीख़ी क़ौमों और क़ुव्वतों की क़िस्मत का फ़ैसला इन्हीं की आँखों के सामने हुआ। पहले पानीपत की महशर-अंगेज़ लड़ाई हुई जिसमें अहमद शाह दुर्रानी, शुजाउद्दौल: और नजीबउद्दौल: के साथ ख़वानीने रोहेलखंड की तमाम ज़बरदस्त फ़ौजें एक तरफ़ थीं और मरहठों का टीड़ीदल दूसरी तरफ़। इस लड़ाई ने सन् ११९० मुहम्मदी (सन् १७६१ ई०) में एक ही दिन के अन्दर फ़ैसला कर दिया कि हिन्दोस्तान चाहे मुसलमानों का रहे या न रहे, मगर मरहठों का नहीं हो सकता। उसके बाद बक्सर का क़ियामत-ख़ेज़ मैदान गर्म हुआ, जिसमें अंग्रेज़ों की बाक़ायदा फ़ौज एक तरफ़ थी

---

१ पृथ्वी के यात्री २ नसीहत ३ बेचैन ४ अशान्त ५ हौसलेमंद ६ क्रान्तियों।

और शुजाउद्दौल: का लश्करे कसीर एक तरफ़। इस लड़ाई ने, जंगे पानीपत के चार साल बाद सन् ११९३ मुहम्मदी (सन् १७६१ ई०) में चौबीस घंटे के अन्दर इस बात का फ़ैसला कर दिया कि हिन्दोस्तान अब मुसलमानों का नहीं, अंग्रेज़ों का है।

इन लड़ाइयों से पहले शुजाउद्दौल: अगरचि: लखनऊ ही में रहे, लेकिन बड़ी-बड़ी मुहतिमों[1] पोलीटिकल मशग़ूलियतों और फ़ौजी इस्लाहों[2] से इन्हें इतनी मुहलत ही न मिली कि शहर की तरक़्क़ी व आरायश की तरफ़ तवज्जु: करें। उन्होंने क़िले बनवाये, गढ़ियाँ क़ायम कीं, फ़ौजी सामान और आलाते जंग[3] को फ़राहम किया। इसकी फ़ुर्सत न मिली कि अपने घर को दुरुस्त और अपने शहर को आरास्त: करें। बक्सर की लड़ाई के बाद, जैसा कि हम बयाँ कर चुके हैं, वह फ़ैज़ाबाद में जाकर अक़ामत-गुज़ीं हो गये। इसीलिए लखनऊ इन बरकतों से महरूम रह गया। सन् १२०४ मुहम्मदी (सन् १७७५ ई०) में इन्होंने सफ़रे आख़िरत किया और नव्वाब आसिफ़उद्दौल: उनके जानशीन हुए।

आसिफ़उद्दौल: ने मसनदे हुकूमत पर क़दम रखते ही, माँ से नाराज़ होकर लखनऊ की राह ली और यही वह ज़माना है जब से दरबारे अवध की क़ुव्वते फ़रमाँ-रवाई घटने और लखनऊ की ज़ाहिरी रौनक़ बढ़ने लगी। बक्सर का मैदान जीतने के बाद अंग्रेज़ों ने दरबारे अवध में दख़्लदिही के बहुत से हुक़ूक़ हासिल कर लिये थे। जिनकी बिना पर यहाँ फ़ौजी तरक़्क़ियों की रोक-टोक की जाती और हमेशा ग़ायर-नज़र[4] से इस बात की निगरानी की जाती कि हुकूमते अवध को फिर ऐसी क़ुव्वत न हासिल होने पाये कि उसकी फ़ौजें दोबारा अंग्रेज़ी लश्कर के सामने सफ़-आरा हो सकें। ताहम शुजाउद्दौल: जब तक फ़ैज़ाबाद में ज़िन्द: रहे फ़ौजी इस्लाह ही में मसरूफ़ रहे और रात-दिन इसी बात की धुन थी कि जिस तरह बने अपनी क़ुव्वत को बढ़ायें। चुनाँचि: मुंशी फ़ैज़बख़्श अपनी तारीख़ "फ़रह बख़्श" में उसी ज़माने का चश्मदीद हाल बयान करते हैं कि "जल्दी भरने और फ़ैर करने के एतबार से शुजाउद्दौल: की फ़ौज की बन्दूक़ों के मुक़ाबिले में अंग्रेज़ी फ़ौज की बन्दूक़ें कोई वक़अ़त न रखती थीं।"

लेकिन आसिफ़उद्दौल: का अहद शुरू होते ही यह सब बातें तशरीफ़ ले गईं। अंग्रेज़ों ने बड़ी होशियारी के साथ अपनी दख़्लदिही के हुक़ूक़ को बढ़ाना शुरू किया और निहायत ही दानाई से आसिफ़उद्दौल: को इस बात पर आमादा कर दिया कि फ़ौजी इस्लाह की तरफ़ से बे-परवा होकर दूसरे मशाग़ल में जी बहलायें। आसिफ़उद्दौल: को ख़ुद भी फ़ौज का ज़ियाद: शौक़ न था। इन्हें लुटाने और मज़े उड़ाने के लिए रुपये की ज़रूरत थी, जो बग़ैर फ़ौज के मौक़ूफ़ किये पूरी न हो सकती थी। इसलिए इन्होंने थोड़ी सी फ़ौज रख ली। बाक़ी सब को माज़ूल[5] कर दिया;

---

१ प्रबन्धों　२ सुधार　३ हथियार, अस्त्र-शस्त्र　४ तीक्ष्ण दृष्टि　५ पद से अलग, बर्ख़ास्त।

और ऐश व इशरत में मस्रूफ़ हो गये। वह अपने मग़रिबी दोस्तों के इताअ़त-केश[१] दोस्त थे जो उनके इशारों पर चलते और उनके मशविरों के आगे किसी की न सुनते।

इस खुलूसे[२]-अ़क़ीदत[३] के सिले में अंग्रेज़ों ने रुहेलखंड पर इनका क़ब्ज़ा करा दिया। अपनी माँ बहू बेगम साहिबा को सताने और लूटने के लिए जब इन्होंने अंग्रेज़ों से मदद मांगी तो निहायत फ़ैयाज़ी के साथ इन्हें अख़्लाक़ी मदद दी गई और इनकी तरफ़दारी की गई। इस पर भी इनके ज़माने तक इन्हें या लखनऊ की रिआया को भी ऐश-परस्त व इशरत-तलब बना दिया था और किसी को मौजूदा राहत व आराम के आगे अंजाम पर ग़ौर करने की ज़रूरत ही न महसूस होती थी। इस ऐशपरस्ती का नतीजा था कि ज़ाहिरी सूरत में उन दिनों लखनऊ के दरबार में ऐसी शान व शौकत पैदा हो गई जो कहीं और किसी दरबार में न थी और ऐसा सामाने-ऐश जमा हो गया था जो किसी जगह न नज़र आता। उन दिनों शहर लखनऊ ऐसी रौनक़ पर था कि हिन्दोस्तान ही नहीं शायद दुनिया का कोई शहर लखनऊ के औज व उरूज[४] का मुक़ाबिला न कर सकता होगा। शुजाउद्दौल: जो रुपया फ़ौज और जंगी तैयारियों में सर्फ़ करते थे उसे आसफ़उद्दौल: ने अपनी ऐश-तलबी के ज़ौक़ और शहर की आरायश व ख़ुशहाली में सर्फ़ करना शुरू कर दिया और चन्द ही रोज़ के अन्दर सारी दुनिया की धूमधाम अपने यहाँ जमाकर ली। उनका हौसला बस यही था कि निज़ाम हैदराबाद हों या टीपू सुलतान, किसी दरबार का कर्र व फ़र्र और किसी की शौकत व हश्मत मेरे दरबार से ज़ियाद: न हो सके।

अपने बेटे वज़ीर अली ख़ाँ की शादी में इन्होंने ऐसा हौसला दिखाया कि बरात का तुज़ुक[५] व इहतिशाम[६] तारीख़े-अर्ज़ के तमाम तकल्लुफ़ात[७] से बढ़ गया। बरात के जुलूस में बारह सौ हाथी थे। दूल्हा जो शाही ख़िलअ़त पहिने था, उसमें बीस लाख के जवाहिरात टँके हुए थे। महफ़िले तरब[८] के लिए दो अ़ज़ीमुश्शान और पुरतकल्लुफ़ ख़ेमे बनवाये गये। जिनमें हर एक ६० फ़ुट चौड़ा १२०० फ़ुट लम्बा और ६० फ़ुट बलन्द था। और ऐसा उम्द: नफ़ीस और क़ीमती कपड़ा लगाया गया था कि उन दोनों की तैयारी में सल्तनत के दस लाख रुपये सर्फ़ हो गये।

उन्होंने दरिया के किनारे मच्छी-भवन के मग़रिब तरफ़ दौलतख़ाना, रूमी दरवाज़ा और अपना यकताये-रोज़गार इमामबाड़ा तामीर कराया। सन् १२१३ मुहम्मदी (सन् १७८४ ई०) में अवध में क़हत[९] पड़ गया था और शुरफ़ाए शहर तक फ़ाक़ाकशी में मुब्तला थे। उस नाज़ुक मौक़े पर रिआया की दस्तगीरी के लिए इमामबाड़े की इमारत छेड़ दी गई। चूँकि शरीफ़ लोग दिन को मज़दूरी करने में अपनी बेइज़्ज़ती ख़याल करते थे, इसलिए तामीर का काम दिन की तरह रात को भी जारी रहता और

---

१ आज्ञाकारी २ निष्ठा ३ दृढ़ विश्वास ४ विकास ५ शोभा, वैभव ६ प्रतिष्ठा ७ शिष्टाचार ८ सम्मान ९ अकाल।

ग़रीब व फ़ाक़ाकश शुरफ़ाए-शहर रात के अँधेरे में आकर मज़दूरों में शरीक हो जाते और मशालों की रौशनी में काम करते। इस इमारत को नव्वाब ने जैसे ख़ुलूसे अक़ीदत और जोशे-दीनदारी से बनवाया था, वैसे ही ख़ालिस और सच्चे दिली जोश से लोगों ने तामीर भी किया। नतीजा यह हुआ कि ऐसी नफ़ीस और शानदार इमारत बनके तैयार हो गई जो अपनी नौईयत[1] में बेमिस्ल और नादिरे रोज़गार है। उसका नक़्शा बनाने के लिए बड़े-बड़े मशहूर मुहन्दिस[2] और मेमार[3] (मेअ़मार) बुलाये गये और सबने कोशिश की कि हमारा नक़्शा दूसरों के मुज़व्विज़ा[4] नक़्शे से बढ़ जाये। मगर किफ़ायतुल्ला नाम के एक बेमिस्ले ज़माना मेमार का नक़्शा पसन्द किया गया और उसी के मुताबिक़ इमारत बनना शुरू हो गई। जो १६७ फ़ुट लम्बी, ५२ फ़ुट चौड़ी है। ईंट और निहायत आला दरजे के चूने से यह इमारत बनाई गई है, जिसमें फ़र्श से छत तक लकड़ी का नाम नहीं है। इस इमारत को शाहाने मुग़लिया की संगीन इमारतों से क़िसी क़िस्म का तअ़ल्लुक़ नहीं है। लखनऊ में उस कस्रत से संगमर्मर दस्तयाब नहीं हो सकता था। लेकिन इमामबाड़े और आसफ़उद्दौलः की दूसरी इमारतों को देखिए तो एक नई ख़ुशनुमाई और निराली अज़्मत[5] व शान रखती हैं। इमामबाड़े की लदाव की छत, जो कड़ा देकर के बनाई गई है इतनी बड़ी है कि उतनी बड़ी लदाव की छत सारी दुनिया में कहीं नहीं है और इसी वजह से यह भी दुनिया की अजूबः रोज़गार कारीगरियों में शुमार की जाती हैं।

आसफ़उद्दौलः की इमारतों पर योरुप की इमारतों का ज़रा भी असर न था। वह अपनी नौईयत[6] में ख़ालिस एशियाई हैं, जिनमें नुमायशी नहीं, असली व हक़ीक़ी शान व शौकत पाई जाती है। नव्वाब आसफ़उद्दौलः के बाद यह इमारतें कस्मपुरसी में पड़ी रहीं। ग़दर के बाद अंग्रेज़ों ने इन पर क़ब्ज़ा करके गिर्द-व-पेश के मकानों को मुनहदिम[7] कर दिया और सिवा उस जानिब के जिधर दरिया है, बाक़ी तीनों तरफ़ मैदान करके इमामबाड़े को क़िला और रूमी दरवाज़े को उसका फाटक बना लिया। उस ज़माने में इस इमामबाड़े में गोरे रहते थे, इसके बड़े हाल में सिलह-ख़ाना[8] था और उसके फ़र्श पर बड़ी-बड़ी तोपें दौड़ती फिरती थीं। मगर न कभी ज़मीन खुदी न दर व दीवार की कोई चीप उखड़ी। अब सरकारे अंग्रेज़ी ने इमामबाड़े को छोड़ कर फिर मुसलमानों के हवाले कर दिया है। उसकी मस्जिद में एक मुजतहिद साहब[9] नमाज़ पढ़ाते हैं और इमाम बाड़े में ताज़ियःदारी होती है।

नव्वाब आसफ़उद्दौलः की इमारतों की मज़बूती का अन्दाज़ः इससे हो सकता है कि इन्हें तामीर हुए अगरचिः सवा सौ बरस से ज़ियादः की मुद्दत गुज़र गई, मगर आज तक अज़्मत व शुकोह[10] और उसी मज़बूती व पायदारी से अपनी जगह पर क़ायम हैं,

---

१ विशेषता २ नक़्शानवीस ३ थवई ४ प्रस्तावित ५ महत्ता ६ विशेषता ७ गिराया हुआ ८ शस्त्रागार ९ धार्मिक आचार्य १० बड़प्पन।

न कोई ईंट अपने मुक़ाम से हटती है और न किसी जगह चूने ने ईंटों को छोड़ा है। ब-ख़िलाफ़ उनके, दीगर शाहाने अवध ने करोड़ों रुपये सर्फ़ करके जो इमारतें बाद को बनवाईं वह क़ौमी व मुल्की वज़अ़दारी (वज़ादारी[1]) के मफ़क़ूद[2] हो जाने के अलावा निहायत कमज़ोर हैं और अगर वक़्तन् फ़वक़्तन् मरम्मत न होती रहती तो आज तक मुन्हदिम हो चुकी होतीं।

आसफ़उद्दौलः इमामबाड़े और मच्छी-भवन के मुत्तसिल अपने महल "दौलतख़ाने" में रहते थे। शहर के बाहर और दरिया पार हुजूमे खलायक़ से दूर और दुनियवी झगड़ों से अलग रहके मसरूफ़े-ऐश होने के लिए बिबियापूर का महल बनवाया। अक्सर जब वह सैर व शिकार के लिए जाते तो इसी मकान में क़ियाम करते। इसी तरह चिनहट में एक पुर-फ़िज़ा व नुज़्हतबख़्श[3] मकान, और चारबाग़ और ऐशबाग़ में कोशकें बनवाईं और उसी ज़माने में यहियागंज में और इसके मुत्तसिल अस्तबल बने। फिर मुहल्ला वज़ीरगंज क़ायम हुआ जो आसफ़उद्दौलः के बेटे वज़ीर अली ख़ाँ की क़ियामगाह होने के बायस इन्हीं की तरफ़ मन्सूब और उन्हीं की यादगार है।

अब लखनऊ में हाकिम और फ़रमाँ-रवा के मुस्तक़िल तौर पर सुकूनत-पिज़ीर हो जाने की वजह से आम ख़िलक़त का रुख लखनऊ की तरफ़ फिर गया। जो लोग शुजाउद्दौलः के ज़माने में फ़ैज़ाबाद में बस गए थे, उन्होंने फ़ैज़ाबाद को छोड़-छोड़कर, लखनऊ में आ-आकर बसना शुरू किया। दूसरी तरफ़ देहली के लोग अपने वतन को ख़ैर बाद कह-कहकर सीधे लखनऊ में आते थे और फिर जाना न नसीब होता था। ख़िलक़त के इस हुजूम ने नए मुहल्ले आबाद करना शुरू कर दिए, इसलिए कि बाहर के आनेवालों में से जिसे जहाँ जगह मिल जाती, आबाद हो जाता और सैकड़ों मुहल्ले आबाद होते चले जाते।

चुनाँचिः अमानीगंज, फ़तहगंज, रकाबगंज, नख़ास, दौलतगंज, बेगमगंज, नव्वाबगंज, ख़ानसामा का इहाता (जिसे नव्वाब आसफ़उद्दौलः के एक ख़ानगी दारोग़ा ने आबाद किया और इफ़्तताह[4] की तक़रीब में ख़ुद इन्हें बुलाया), टिकैटगंज, टिकैटराय का बाज़ार, (जो वज़ीरे आज़म महाराजा टिकैटराय की जानिब मन्सूब हैं), तिरमिनीगंज, टुकड़ी या टकली, हुसैन-उद्दीन ख़ाँ की छावनी, हसनगंज, बावली, भवानीगंज, बालकगंज, कश्मीरी मुहल्ला, सूरतसिंह का इहाता, निवाजगंज, तहसीनगंज, ख़ुदागंज, नगरिया (जिसकी नव्वाब आसफ़उद्दौलः की माँ बहूबेगम साहिबा ने उसी दिन बुनियाद डाली जिस दिन दरिया पार ख़ुद इन्होंने अलीगंज की बुनियाद रखी थी), अम्बरगंज, महबूबगंज, तोपदरवाज़ा, ख़यालीगंज, झाऊलाल का पुल, (इन दोनों मुहल्लों के बानी राजा झाऊलाल, सल्तनते अवध के वज़ीरे-ख़ज़ाना थे)—यह सब वह मुहल्ले हैं जो अहदे

१ तरहदार २ गुम, जिसका कुछ पता न लगे ३ सुखद, आनन्द बढ़ानेवाला ४ शुरु करना, उद्घाटन।

आसफ़ी में बसे और तामीर हुए और इन्हीं दिनों दरिया के पार हसन रज़ा ख़ाँ ने हसनगंज बसाया।

नव्वाब आसफ़उद्दौल: की फ़ैयाज़ियों[1] की ख़ास व आम में शुहरत थी और दूर-दूर के शहरों में उनकी दाद व दिहश[2] (उदारतापूर्वक देने की यह कसरत थी कि मांगने वालों की ज़ुबाँ पर हमेशा यह तराना "जिसको न दे मौला, उसको दे आसफ़उद्दौल:" विर्द रहता था, का तज़किरा हो रहा था) लोग उठते-बैठते इज़्ज़त व मुहब्बत के साथ उनका नाम लेते और उनके तमाम ज़ाती उयूब[3] फ़ैयाज़ी के दामन में छिपकर नज़रों से ग़ायब हो गये थे और अवाम को नव्वाब की सूरत में एक ऐशपरस्त फ़रमाँ-रवा नहीं बल्कि एक बेनफ़्स और दरवेश[4]-सिफ़त वली नज़र आता। हिन्दू दूकानदार आज तक सुबह को आँख खुलते ही जोशे-अक़ीदत से कहते हैं "या आसफ़उद्दौल: वली"।

उसी ज़माने में जनरल क्लाडमार्टिन नाम एक बहुत बड़ा दौलतमंद फ़्रान्सीसी ताजिर लखनऊ में आके रह पड़ा था। इसने एक निहायत ही आलीशान कोठी का नक़्शा बनाकर, नव्वाब आसफ़उद्दौल: के मुलाहिज़े में पेश किया। नव्वाब ने उसे इस क़दर पसन्द किया कि उसकी क़ीमत में दस लाख अशर्फ़ियाँ देने को तैयार हो गये। बैअ्[5] का मुआहद: तक्मील को नहीं पहुँचने पाया था कि नव्वाब आसफ़उद्दौल: ने सफ़रे आख़िरत किया और इमारत हनोज़[6] तक्मील को नहीं पहुँची थी कि मसयूमार्टिन दुनिया से रुख़सत हो गये। इन्होंने चूँकि दौलतें-बेपायाँ छोड़ी थीं और वारिस कोई न था, इसलिए मरते वक़्त वसीयत कर दी कि मेरी लाश इसी कोठी के अन्दर दफ़्न की जाये ताकि मेरे बाद इसे हुक्मरानाने अवध ज़ब्त न कर सकें। इस इमारत का नाम इन्होंने कानिस्टेन्शिया (क़ुस्तुनतुनिया) क़रार दिया था। मगर अवाम में वह आजकल "मारकीन (मार्टीन ?) साहब की कोठी" मशहूर है और देखने के क़ाबिल है। मरने के बाद वह इसी कोठी में दफ़्न हुए। वह मदरसा आज तक जारी है, जिससे बहुत से तलबा[7] को खाना और कपड़ा मिलता है। मगर सुनते हैं कि मार्टिन साहब ने उस स्कूल और उसके वज़ायफ़[8] को किसी मज़हब और क़ौम के साथ मख़्सूस[9] नहीं किया था। बल्कि वसिय्यत की थी कि ईसाई, हिन्दू, मुसलमान सब ही यकसाँ तौर पर इससे फ़ैज़याब हो सकते हैं। लेकिन अब यह मदरसा सिर्फ़ योरूपियन बच्चों के लिए मख़्सूस है, किसी हिन्दोस्तानी को वज़ीफ़: मिलना दरकिनार, इसकी तालीम में भी शरीक नहीं किया जाता। शायद यह इस वजह से हो कि ग़दर के ज़माने में जाहिल व पुरजोश बलवाइयों ने क़ब्र खोदकर मिस्टर मार्टिन की हड्डियाँ निकाल लीं और उन्हें इधर उधर फेंक दिया, अंग्रेज़ों को बाद-तसल्लुत[10] इत्तिफ़ाक़न् एक हड्डी मिल गई, जो फिर उसी

---

१ दानशीलता २ दान-पुण्य ३ "ऐब" का बहुवचन ४ फ़क़ीर ५ बै करना, विक्रय ६ अब तक ७ विद्यार्थी लोग ८ वृत्ति या आर्थिक सहायता ९ ख़ास तौर पर अलग १० पूर्ण अधिकार।

खाक में दवा दी गई। लेकिन उन वलवाइयों के फ़ेल के ज़िम्मेदार आम हिन्दोस्तानी नहीं हो सकते।

सन् १२२७ मुहम्मदी (सन् १७९८ ई०) में नव्वाव आसफ़उद्दौलः ने सफ़रे आख़िरत किया और इनकी जगह नव्वाव वज़ीर अली ख़ाँ मसनद-नशीन हुए जिनकी शादी की धूमधाम का हाल हम वता चुके हैं। मगर चार ही महीने में इनसे ऐसे वेहूदा और क़ाविले नफ़रत हर्कात ज़ाहिर हुए कि अक्सर लोग उनसे नाराज़ थे। ख़ुद वहूवेगम साहिवा इनके मुक़ाविल अपने सौतेले वेटे यमीनउद्दौलः नव्वाव सआदत अली ख़ाँ को ज़ियादः पसन्द करती थीं। इधर इस खवर की शुहरत हुई कि वज़ीर अली ख़ाँ आसफ़उद्दौलः के वेटे ही नहीं हैं। क्योंकि आसफ़उद्दौलः की निस्वत वहुतेरों का ख़याल था कि पैदायशी इन्नीन[1] थे।

नव्वाव सआदत अली ख़ाँ, आसफ़उद्दौलः की मुख़ालिफ़त के वायस उनके ज़माने में मुद्दतों क़लम-री से वाहर और दूर-दूर रहते थे। मुद्दतों कलकत्ते में रहे और एक ज़माने दराज़ तक वनारस में क़ियाम रहा। वज़ीर अली ख़ाँ की निस्वत यह ख़याल क़ायम होने के वाद क़ुरए[2] इन्तख़ाव सआदत अली ख़ाँ पर पड़ा। वह वनारस से लाए गए और विवियापूर की कोठी में ख़ुद गवर्नर जनरल वहादुर ने दरवार फ़रमाकर वज़ीर अली ख़ाँ की मअज़ूली[3] और नव्वाव सआदत अली ख़ाँ की मसनदनशीनी का फ़ैसला किया। वज़ीर अली ख़ाँ फ़ौरन् गिरफ़्तार करके वनारस भेज दिये गये। जहाँ इन्होंने तैश में आकर मिस्टर चेरी को मार डाला और इसकी सज़ा में गिरफ़्तार करके चुनारगढ़ भेजे गये और वहीं मरे। इनकी मुसीवतों और सरगरदानियों[4] का एक भारी क़िस्सा मशहूर है जिसका यह मुख़्तसर मज़मून मुतहम्मिल[5] नहीं हो सकता।

आधा मुल्क अंग्रेज़ों की नज़र

नव्वाव सआदत अली ख़ाँ ने सन् १२२७ मुहम्मदी (सन् १७९८ ई०) में तख़्त पर वैठते ही आधा मुल्क अंग्रेज़ों की नज़र कर दिया, मशहूर है कि वह सल्तनत से मायूस व नाउम्मीद वनारस में पड़े हुए थे कि ख़वर पहुँची, नव्वाव आसफ़उद्दौलः वहादुर ने सफ़रे आख़िरत किया और मसनदे हुकूमत पर वज़ीर अली ख़ाँ वैठ गये। यह सुनते ही सल्तनत की रही सही उम्मीदें भी ख़ाक में मिल गईं। इस क़तई-यास[6] के आलम में थे कि वनारस के किसी योरोपियन हाकिम ने आकर पूछा—"नव्वाव साहव! अगर आप को अवध की हुकूमत मिल जाए तो अंग्रेज़ी हुकूमत को क्या दीजियेगा?" जो चीज़ हाथ से जा चुकी हो, इन्सान के दिल में उसकी क़दर ही क्या हो सकती है?

१ नपुंसक, नामर्द २ लाटरी ३ अपने पद से हटाना ४ दुर्दशा ५ वर्दाश्त ६ पूरी निराशा।

बे-इख्तियार ज़बान से निकला—"आधा मुल्क अंग्रेज़ों की नज़र करूँगा"। यह वादा सुनकर इस अंग्रेज़ हाकिम ने कहा—"तो आप ख़ुश हों और मैं आप को ख़ुश ख़बरी सुनाता हूँ कि आप ही फ़रमाँ-रवायें लखनऊ मुन्तख़ब[1] हुए हैं। सआदत अली ख़ाँ यह मज़्दए[2] ग़ैर-मुतरक़्क़िब:[3] सुन के ख़ुश तो ज़रूर हुए मगर अपने वादे का ख़याल आया तो एक सन्नाटे में आ गये और आख़िर तख़्तनशीनी के बाद उस वादे के ईफ़ा[4] में इन्हें अपनी आधी क़लम-रौ बाँट देना पड़ी, जिसका काँटा ज़िन्दगी भर उनके दिल में खटकता रहा।

अंग्रेज़ी तारीख़ों में उनसे वादा लिए जाने का तो ज़िक्र नहीं है, मगर इसको सब तस्लीम करते हैं कि नव्वाब सआदत अली ख़ाँ को चूँकि अंग्रेज़ों ने तख़्त पर बिठाया था, इसलिए इन्होंने अपना आधा मुल्क शुक्रिए के तौर पर अंग्रेज़ों की नज़र कर दिया। बहर तक़दीर, जो कुछ हो, सआदतअली ख़ाँ की तख़्तनशीनी के वक़्त अवध की हुकूमत आधी रह गई। लखनऊ के पुराने लोगों में मशहूर है कि इसी कोफ़्त[5] में सआदत अली ख़ाँ ने निहायत ही किफ़ायत-शआरी से काम ले के और तहसील वसूल में बेइन्तहा मुस्तैदी व बेदार-मग़्ज़ी ज़ाहिर करके बाईस-तेईस करोड़ रुपया जमा किया और इंग्लिस्तान में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट से मुरासलत[6] करके यह तय कर लिया था कि हिन्दोस्तान की हुकूमत का ठेका ब-एवज़ ईस्ट इंडिया कम्पनी के उनको दे दिया जाये। और मुआहदे की तक्मील होने ही को थी कि उनके साले ने किसी साज़िश में शरीक होकर ज़हर दे दिया और वही मसल पूरी हुई कि 'आन क़दह बशिकस्त व आन साक़ी न मानद"[7]। यह और इसी क़िस्म के बीसियों वाक़िआत मशहूर हैं, जिनका सुबूत सिवाय अफ़वाही रिवायतों के और कुछ नहीं मिल सकता। लेकिन इसमें शक नहीं कि सआदत अली ख़ाँ इस क़दर जुज़रस[8] और मुन्तज़िम वाक़िअ् हुए थे कि उनके हाकिम ने क़लमरौ का कोई जुज़ आसानी से न दिया होगा। दूसरे उनके तर्ज़े-अमल और पालिसी में एक ऐसी मुज़्तरिबाना[9] होशियारी और पुर असरार बेक़रारी नज़र आती है कि चाहे पता न चले, मगर साफ़ मालूम होता है कि वह कोई बड़ा काम करने वाले थे, और उनके तेवर बहुत ही पुर-मानी थे।

मुल्क को बाँट देने की वजह से इन्हें सब से बड़ी मुश्किल यह पेश आई कि सल्तनत की निस्फ़ आमदनी घट गई। और आसफ़उद्दौल: मरहूम ने मसारिफ़[10] हद से ज़ियाद: बढ़ा रक्खे थे। चुनाँचि: इन्हें दरबार के मसारिफ़ घटाना पड़े, जो निहायत ही मुश्किल चीज़ थी। इस कोशिश में इन्होंने हिसाबात की जाँच की। अदना-अदना रक़मों पर नज़र डाली, माफ़ियों और जागीरों की निहायत सख़्ती के साथ

१ निर्वाचित २ ख़ुश ख़बर ३ अजनबी प्रतिद्वन्द्वी से ४ वचन पूरा करना ५ दुःख ६ पत्र-व्यवहार ७ वह प्याला टूट गया और वह साक़ी न रहा ८ जोड़-तोड़वाला ९ बेचैनी १० अनेक प्रकार के व्यय या उनकी मदें।

छान-विनान की, दरवार के मसारिफ़ में जहाँ तक वना, कमी की। ग़रज़ जिस तरह हो सका वदनामियाँ उठाके और लोगों पर सख्त वे-रहमियाँ करके इन्होंने सल्तनत की आमदनी वढ़ाई और ख़र्च घटाया।

यह कार्रवाईयाँ देखकर ज़ीहोश[1] और मुन्सिफ़ मिज़ाज लोग तो सआदत अली ख़ाँ की लियाक़त और ख़ुश तदवीरी के क़ायल हो गये मगर अवाम में वे-इन्तिहा नाराज़ी फैली। एक तरफ़ उन मुआफ़ीदारों और जागीरदारों का गरोह शाकी[2] था, जिनकी जायदादें ज़ब्त हुई थीं। दूसरी तरफ़ वह फ़िज़ूल और अज़कार-रफ़्तः मुलाज़िमीन रोते फिरते थे जिनकी जगहें तख़्फ़ीफ़[3] में आ गई थीं। इसी क़दर नहीं, मुल्क में एक वड़ा भारी गरोह उन लोगों का भी था, जो वज़ीर अली ख़ाँ के तरफ़दार थे। उनको जायज़ और सच्चा हक़दारे सल्तनत ख़याल करके नव्वाव सआदत अली ख़ाँ को ग़ासिव[4] वताते थे। ग़रज़ मुल्क में हज़ारों दुश्मन थे, जिनसे ख़तरः था कि नव्वाव की जान पर हमला न कर वैठें। रिआया के अलावा फ़ौज भी नए नव्वाव से निहायत नाराज़ थी। वे-शुमार फ़ौज का टीड़ी-दल जो नव्वाव शुजाउद्दौलः के अहद में था, उसमें आसफ़उद्दौलः ही के ज़माने से सरकार अंग्रेज वहादुर के मश्विरे से तख़्फ़ीफ़ शुरू हो गई थी। मगर आसफ़उद्दौलः की फ़ैयाज़ियों और फ़िज़ूलख़र्चियों ने वहलाये रखा और शिकायत की आवाज़ ज़ियादः नहीं वलन्द होने पाई; सआदत अली ख़ाँ ने जब ज़ियादः तख़्फ़ीफ़ की और इसके साथ ज़ुज़रसी भी इख़्तियार की तो हर तरफ़ हाय-हाय पड़ गई, और जो था उनकी जान को रो रहा था।

नतीजा यह हुआ कि जान की हिफ़ाज़त के लिए सरकारे अंग्रेज़ी को ज़रूरत मालूम हुई कि अंग्रेज़ी वाज़ाब्ता फ़ौजी गार्ड ख़ास शहर के अन्दर रक्खा जाए क्योंकि शहर के मुफ़्सिदों और सरकशों की सरकोवी के लिए, और नीज़ अमन व अमान क़ायम रखने की ग़रज़ से, एक वेरूनी ज़वरदस्त क़ुव्वत का हर वक़्त शहर में रहना वहुत ही ज़रूरी था, जिसकी निस्वत सुना जाता है कि नव्वाव सआदत अली ख़ाँ ने इनको निहायत ही नागवारी के साथ मंज़ूर किया।

फ़रमाँ-रवायाने अवध ने इससे पेश्तर अपने रहने सहने के मुतअल्लिक़ निहायत ही सादगी ज़ाहिर की थी। पहले तीन हुक्मरानों यानी नव्वाव वुरहानुल्मुल्क, नव्वाव सफ़दरजंग और नव्वाव शुजाउद्दौलः ने जिन सादे मकानों में ज़िन्दगी वसर की, वह भी इनकी ज़ाती मिलकियत नहीं; वल्कि किराये पर थे। उन्होंने अपना असली मकान या तो मैदाने जंग को ख़याल किया या सारी ममलिकत को जिसमें दौरा करते रहते और सारी ममलूकः[5] ज़मीन के हर हिस्से को अपना मस्कन व मकान तसव्वुर करते। नव्वाव आसफ़उद्दौलः अगरचिः निहायत ही मुस्रिफ़[6] थे, ऐयाशी व फ़िज़ूल ख़र्ची में वदनाम थे,

---

१ ज्ञान रखनेवाला २ शिकायत करनेवाला ३ कमी ४ वलपूर्वक किसी की वस्तु ले लेनेवाला ५ सल्तनत ६ व्यर्थ और अधिक व्यय करनेवाला।

मगर उनके लिए भी सिर्फ़ एक सादा पुरानी क़ितअ़ का मकान यानी पँचमहला काफ़ी था, हालाँकि इन्हें इमारत का बड़ा शौक़ था। इससे ज़ियादः क्या होगा कि बीस लाख रुपए एक इमामबाड़े और मस्जिद की तामीर में सर्फ़ कर दिये और इससे ज़ियादः ही रक़म चौक, मुख़्तलिफ़ बाज़ारों, मंडियों, पुलों और सरायों वग़ैरः की तामीर में ख़र्च की। ग़रज़ पहले तीन फ़र्मा-रवाओं का शौक़े तामीर अगर क़िलों, गढ़ियों की तामीर और फ़ौजी सामान के फ़राहम करने में पूरा होता था, तो आसफ़उद्दौलः का शौक़ दीनदारी की इमारतों या नफ़ारसानी खल्क़-अल्लाह के कामों में। इसके साथ इमारत का क़दीम[1]-मजाक़[2] भी अब तक निभता चला जाता था। आसफ़उद्दौलः के इमामबाड़े तक की इमारतें क़दीम-मज़ाक़े[3] तामीर का मुकम्मलतरीन नमूना हैं। देहली व आगरे में शाहजहाँ बादशाह को आला दरजे का संगे-रख़ाम, और संगे-सुर्ख़, क़रीब की कानों[4] में मिल गया था, जिसने वहाँ की इमारतों में खास क़िस्म की नफ़ासत और आला दरजे की शान पैदा करा दी। लखनऊ में पत्थर का मिलना ग़ैर मुमकिन था और आगरे और जयपुर से लाना इस क़दर दुश्वार था कि किसी को मंगवाने की जुरअत[6] न हो सकती थी। आसफ़उद्दौलः ने ईंट और चूने से वही काम लिया और वैसी ही शानदारी दिखा दी।

नव्वाब सआदत अली ख़ाँ को बावजूद किफ़ायतशआरी, जुज़रसी और रुपया जमा करने की हविस के, मकानों और इमारतों का शौक़ था; मगर अफ़सोस उनका यह शौक़ कलकत्ते वग़ैरा में रहने और मुख़्तलिफ़ मक़ामात की इमारतों के देखने की वजह से ऐसा ग़ारत[5] हो गया था कि उनके अहद की इमारतों से वह पुरानी ख़ुसूसियतें जुदा हो गईं और उस वक़्त से गोया इमारत का मज़ाक़[7] ही बदल गया।

लखनऊ में इस इन्क़िलाबे तामीर का असली बाअस, कुछ तो तख़्तनशीनी से पहले नव्वाब सआदत अली ख़ाँ की ग़रीबुल-वतनी, ख़ाना-बदोशी, और अक़्वामे योरुप से मिलना-जुलना था; और ज़ियादःतर यह चीज़ थी कि जनरल मार्टिन ने अपने मज़ाक़[8] की दो एक कोठियाँ यहाँ बनवा के, एक नई वज़अ़[9] इमारत फ़रमाँ-रवाओं[10] के सामने पेश कर दी जो ब-लिहाज़ मज़बूती के नाक़िस और ब एतबार ज़रूरीयातें ज़िन्दगी के निहायत ही दिलफ़रेब थी। इन इमारतों की हालत बिलकुल उन खिलौनों की सी थी जो बच्चों के हाथ में दे दिये जाते हैं और रोज़ टूटते और नये ख़रीदे जाते हैं। नाक़दीने[11] योरुप तनक़ीद करते वक़्त बड़े ज़ोर शोर से एतराज़ करते हैं कि आसफ़उद्दौलः के बाद वाले फ़रमाँ-रवायाने लखनऊ का मज़ाक़े इमारत बिलकुल बिगड़ गया था और इनकी तमाम इमारतें लड़कों के खिलौने या लड़कियों के घरौंदे हैं।

---

१ पुरानी २ रुचि ३ प्रवृत्ति ४ खदान ५ हिम्मत ६ नष्ट, बरबाद ७ रुचि ८ रुचि ९ बनावट १० आज्ञा देनेवाले ११ जो गुणों का आदर न करे।

मगर इधर तवज्जु: नहीं करते कि यह मज़ाक़ विगाड़ा किसने ? कहा जाता है कि यहाँ का क़ौमी मज़ाक़ इसलिए विगड़ गया कि यहाँ दरअस्ल कोई क़ौम ही नहीं थी, और इसका खयाल नहीं किया जाता कि यहाँ की क़ौमीयत को विगाड़ा किसने ? और किसकी करिश्म:-साज़ियों ने लोगों से उनकी पुरानी वज़ा छुड़ा दी ? सच यह है कि—"अय वादे सवाई हम: आवुर्द ए-तुस्त"[1] ।

सआदत अली खाँ ने पहले कोठी फ़रहतवख्श पचास हज़ार रुपये पर जनरल मार्टिन से मोल ली । इसी में रहना शुरू किया और उसके मुत्तसिल और कई मकान वनवाए । फिर वहाँ करीव ही, साहव रेज़ीडेण्ट की सुकूनत के लिए टेढ़ी कोठी तामीर की, जिसके खण्डहर रेज़ीडेंसी के अन्दर पड़े हुए हैं । इसके वाद अपने दरवार के लिए इन्होंने लाल वारहदरी तामीर कराई जिसमें अव कुतुवखाना है, और उन दिनों क़स्रुस्सुल्तान[2] के नाम से मशहूर थी । इसके अलावा दरिया पार इन्होंने दिल-आराम नाम एक नई कोठी तामीर की और इसी सिलसिले में एक वलन्द टेकरे पर जो अव सदर यानी लश्कर-गाहे लखनऊ के इलाक़े में वाक़िअ हुआ है, और जहाँ सारे शहर, गिर्द के मैदानों और दरिया का दिलकश मंज़र नज़र के सामने हो जाता है, एक खूबसूरत कोठी तामीर की और दिल-कुशा इसका नाम रखा । इसी तरह एक और कोठी तामीर की जिसका नाम हयात-वख्श क़रार दिया । मगर वह कोठी नव्वाव सआदत अली खाँ के वाद के फ़रमाँ-रवायाने अवध के इस्तेमाल में नहीं रही । इसमें ग़दर से पहिले मेजर वैंक रहते थे और ग़दर के वाद यह मामूल[3] था कि अंग्रेज़ी गवर्नमेंण्ट की तरफ़ से जो मुअज़्ज़ज योरोपियन अवध के चीफ़ कमिश्नर मुक़र्रर होके आते, इसी कोठी में क़ियाम करते ।

मज़कूरेवाला कोठियों के अलावा नव्वावे मम्दूह ने मशहूर इमारतें मुनव्वर-बख्श और खुरशीद-मंज़िल भी तामीर कराईं और चौपड़ का अस्तवल भी इन्हीं की यादगार है । मगर इन सव इमारतों की तामीर में पुरानी वतनी इमारत की वज़ा[4] तर्क कर दी गई और योरुप से आई हुई नई जिद्दतें[5] इख्तियार की गईं । और ज़ाहिर है कि इस वारे खास में, लखनऊ का कोई क़दीम मकान उन नई आलीशान इमारतों का मुक़ाविला न कर सकता था जो खुद दौलते वरतानिया के असर और इहतिमाम से हिन्दोस्तान के मुख्तलिफ़ शहरों में तामीर हो चुकी हैं या रोज़-व-रोज़ तामीर होती जाती हैं । ग़रज़ यही ज़माना है जवसे लखनऊ में इन क़दीम मज़ाक़ की इमारतों का खात्मा हो गया जो तारीखी वक़अत[6] रखती हों और किसी खास खूबी के लिहाज़ से सैयाहों[7] को अपनी तरफ़ वुलाती हों ।

---

१ ऐ वादे सबा यह सव तेरा ही लाया हुआ है २ राजप्रासाद ३ रीतिरवाज, परिपाटी ४ बनावट ५ नवीनता ६ साख, महत्व ७ विश्व-भ्रमण करने वाले, पर्यटक ।

नव्वाब सआदत अली ख़ाँ ने लखनऊ के मग़रिबी हिस्से में एक बड़ा गंज बनवाया और उसकी आबादी और रौनक़ के लिए इस क़दर इहतिमाम किया कि उसके वास्ते ख़ास क़वानैन वज़अ किये गये और ताजिरों और दूकानदारों को ख़ास क़िस्म के हुक़ूक़ अता किए गये। इसने बड़ी रौनक़ पाई और आज तक बावजूदे कि शहर की आबादी से फ़ासले पर और बिलकुल अलग वाक़ै हुआ है, मुख़्तलिफ़ चीज़ों की सबसे बड़ी मंडी है और आलमनगर का स्टेशन सिर्फ़ इसी की वजह से रोज़-ब-रोज़ तरक़्क़ी पाता जाता है।

सआदतगंज के अलावा दूसरे बड़े बाज़ार जो नव्वाब मम्दूह के अहद में क़ायम और आबाद हुए हस्बे-ज़ैल हैं।

रकाबगंज (जो आज लोहे की सबसे बड़ी और ग़ल्ले वग़ैर: की एक मुम्ताज़[1] मंडी है), जंगलीगंज, मक़्बूलगंज, मौलवीगंज, गोलागंज और रस्तोगी मुहल्ला; मोतीमहल में जो असली और पुरानी इमारत है, वह भी नव्वाब सआदत अली ख़ाँ ही की बनवाई हुई है। यह इमारत, मौजूदा इहाता मोतीमहल में शिमाल[2] की तरफ़ वाक़ै है। इसमें निहायत ही सफ़ेद गुंबद था जिसमें कारीगर ने मोती की सी आब-व-ताब पैदा कर दी थी।

सआदत अली ख़ाँ अवध के तमाम फ़रमाँ-रवाओं से ज़ियाद: बेदार-मग़ज़[3] व मुदब्बिर[4] और इसके साथ ही निहायत ही किफ़ायत-शआर, जुज़रस बल्कि बख़ील[5] ख़याल किये जाते हैं। मुल्क का इन्तज़ाम इन्होंने ग़ैरमामूली होशियारी और ख़ूबी व शाइस्तगी[6] से किया और इसमें ज़रा भी शक नहीं कि अगर इनको आख़िर अहद तक पूरा इतमीनान नसीब हो जाता तो तमाम गुज़श्त: बदनज़्मियाँ[7] और ख़राबियाँ दूर हो जातीं और वह मुल्क की पूरी-पूरी इस्लाह कर ले जाते। लेकिन ख़राबी यह हुई कि ईस्टइंडिया कंपनी के साथ इनके तअल्लुक़ात अच्छे नहीं रहे। यहाँ तक कि बाज़-औक़ात उनका दिल ताज व तख़्त और फ़रमाँ-रवाई व जहाँबानी से खट्टा हो गया था। इन्हीं बातों से आजिज़ आकर इन्होंने आधे से ज़ियाद: मुल्क सरकारे-अज़मतमदारे बरतानिया के सुपुर्द कर दिया और समझे कि अब मैं अपने मक़्बूज़ा[8] इलाक़े में बेख़रख़श:[9] व बेतरद्दुद[10] हुकूमत कर सकूँगा। मगर अफ़सोस कि अब भी उनको इत्मीनान और चैन न नसीब हुआ। जो मुल्क उनके क़ब्ज़े में छोड़ा गया था, उसमें भी जा-ब-जा अंग्रेज़ी फ़ौज के कैम्प क़ायम किये गये और बड़ी मिक़्दार, ख़ास लखनऊ और उसके हवाली[11] में मुक़ीम हुई, जिसकी सँभाल दुश्वार थी और

---

१ प्रतिष्ठित २ उत्तर दिशा ३ जागृत-मस्तिष्क ४ परामर्शदाता ५ कृपण, कंजूस ६ शिष्टता, भलमनसी ७ अव्यवस्था ८ अधिकृत ९ बिना झंझट १० बेखटके ११ आसपास के स्थान।

उसकी तादाद के ज़ियादः होने से सल्तनत पर सख़्त वार पड़ गया था। इसके मुक़ाबिल इन्हें अपनी बहुत सी फ़ौज घटा देनी पड़ी।

मगर बावजूद इन अफ़कार[1] व तरद्दुदात[2] के इन्होंने जो जो इस्लाहें[3] कीं, बहुत कुछ क़ाबिले तारीफ़ हैं। मगर सबसे अजीब बात यह है कि बाज़ारों की तरक़्क़ी और तिजारत के फ़रोग़[4] के साथ, उनके दरबार में बाकमालों और क़ाबिले क़दर लोगों का इतना बड़ा मजमा हो गया था कि उस वक़्त हिन्दोस्तान के और किसी दरबार में ऐसे साहिबाने कमाल न नज़र आ सकते थे। ऐसे लोग अक्सर उसी जगह जमा हुआ करते हैं जहाँ के रईस मामूल से ज़ियादः फ़ैयाज़ी ज़ाहिर करते हों। सआदत अली ख़ाँ जैसा कि हम बयान कर चुके हैं, ज़ुज़रस और बख़ील थे, मगर इस बुख़्ल[5] व किफ़ायत-शआरी के साथ यह सिफ़त[6] थी कि उनकी ज़ाती[7] क़ाबिलीयत, दूसरे बाकमालों की लियाक़त का एतिराफ़[8] करने पर मजबूर हो जाती थी। और इसी बात ने उनके हाथों से लायक़ लोगों की बड़ी-बड़ी क़दरें कराईं और लखनऊ पहले से ज़ियादः अह्ले-कमाल का मर्जअ बन गया। जो क़ाबिल आदमी जहाँ होता, सआदत अली ख़ाँ की क़द्रदानी की शुहरत सुनते ही अपने वतन को ख़ैर बाद कहकर लखनऊ का रुख़ करता और यहाँ आकर ऐसा आराम पाता कि फिर कभी वतन का नाम न लेता।

सन् १२४३ मुहम्मदी (सन् १८१४ ई०) में नव्वाब सआदत अली ख़ाँ ने सफ़रे आख़िरत किया और उनके बेटे ग़ाज़ीउद्दीन हैदर मसनदे हुकूमत पर रौनक़-अफ़रोज़ हुए। क़ैसरबाग़ की मुरब्बअ[9] इमारत के अन्दर नव्वाब सआदत अली ख़ाँ और उनकी बीबी मुर्शिदज़ादी के मक़बरे हैं। इन दोनों मक़बरों की जगह एक मकान था जिसमें नव्वाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ऐयामे-वली-अहदी में रहा करते थे। बाप की आँखें बंद होते ही जब वह ऐवाने शहरयारी[10] में गये तो कहा—"मैंने वालिद का घर लिया तो ज़रूर है कि अपना मकान उन्हें रहने को दे दूँ।" इस ख़याल के मुताबिक़ मरहूम को अपने घर में दफ़्न कराया और पुराना मकान मुनहदिम[11] कराकर, यह मक़बरे तामीर करा दिये।

अब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के अह्द में न बाप की सी बेदार-मग़ज़ी और दौलत की क़द्र थी और न अगले फ़रमाँ-रवाओं की सी फ़ौजी सरगरमी। हाँ, आसफ़उद्दौलः के अह्द की सी आरामतलबी और ऐश-परस्ती ज़रूर थी। मगर इसमें यह फ़र्क़ आ गया था कि आसफ़उद्दौलः का इस्राफ़[12] भी मुल्क व मिल्लत की नफ़ा-रसानी के लिए होता था और अब ख़ालिस नफ़्स-परवरी थी।

---

१ फ़िक्र २ अंदेशा, खटका ३ सुधार ४ प्रगति ५ कृपणता ६ विशेषता ७ व्यक्तिगत ८ स्वीकृति ९ चौकोर १० राजप्रासाद ११ ढाया हुआ १२ धन का अपव्यय, फ़िज़ूलख़र्ची।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर को बाप का जमा किया हुआ, करोड़ों रुपये का नक़द ख़ज़ाना मिल गया था, जो शाही शौक़ के पूरा होने में निहायत ही दरियादिली से उड़ने लगा। मोतीमहल में हम कह आये हैं कि शिमाली[१] जानिब सआदत अली ख़ाँ ने एक कोठी तामीर कराई थी। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने उस अहाते में दो और कोठियाँ तामीर कराईं, जिनके नाम 'मुबारक-मंज़िल' और 'शाह-मंज़िल' क़रार दिये गये। शाह-मंज़िल के पास ही किश्तियों का एक पुल था और मुबारक-मंज़िल इससे मशरिक़[२] की तरफ़ हटी हुई थी। शाह-मंज़िल के मुहाज़ी[३] दरिया पार रमना था जो हज़ारीबाग़ के नाम से मौसूम[४] था और इसमें मीलों तक नुज़्हतबख़्श[५] सब्ज़ाज़ार[६] चला गया था। इसमें अक्सर मस्त हाथी, गैंडे, और वहशी दरिन्दे लड़ाये जाते और बादशाह, इस पार शाहमंज़िल के कोठे पर जल्व:फ़रमाँ होकर इनकी लड़ाई का तमाशा मुलाहज़ा फ़रमाते। शेरों की लड़ाई भी वहीं होती, जिसके लिए मज़बूत कटहरे और एक उम्द: सर्कस बना हुआ था। मगर जो छोटे ग़ैर-आज़ार-रसाँ[७] जानवर लड़ाये जाते, उनकी लड़ाई ख़ास शाहमंज़िल के अहाते में इसी पार होती।

यह दरिन्दों और वहशी जानवरों का शौक़, हिन्दोस्तान में यहाँ से पहले और कहीं नहीं सुना गया। मालूम होता है कि रेज़ीडेण्टों और दरबार-रस अहलें-योरुप से रूमियों के एमफ़ी थियेटर के हालात सुनकर, जहाँपनाह के दिल में शौक़ पैदा हुआ। मगर मौलाना हबीबुर्रहमान ख़ाँ साहब शेरवानी के तवज्जु: दिलाने से हमें मालूम हुआ कि दरिन्दों की लड़ाई का रवाज दौलतें मुग़लिया के अहद से है।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने अपनी एक योरोपियन बीबी के लिए विलायती महल बनवाया और इसका नाम 'बलायती-बाग़' क़रार दिया। वहाँ से क़रीब ही 'क़दम-रसूल' की इमारत तैयार कराई। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की आरज़ू के मुवाफ़िक़, दरबारें अंग्रेज़ी से इन्हें बादशाही का लक़ब[८] अता किया गया। इससे पेश्तर फ़र्मा-रवायानें अवध, वज़ीर के रुतबे के समझे जाते और सिवा नव्वाब के और किसी एज़ाज़ी[९] लक़ब से नहीं याद किये जाते थे। उस ज़माने तक हिन्दोस्तान में शहनशाही मुग़लिया की इतनी आन बाक़ी थी कि अगरचि: मुल्क, ख़ुद-मुख़्तार व ख़ुदसर हुक्मरानों में बँट गया था और शहनशाहें देहली के क़ब्ज़े में सिर्फ़ देहली के गिर्द-व-पेश की ज़मीन बाक़ी रह गई थी, लेकिन इस बे-बिज़ाअती[१०] पर भी शहनशाह व जहाँपनाह वही थे। न सरीर-आरायानें[११] देहली के सिवा हिन्दोस्तान में किसी को "बादशाह" कहलाने का हक़ था और न ख़िताब व इज़्ज़त देने का। उनके इस ग़ुरूर को तोड़ने के लिए ईस्ट-इंडिया कंपनी ने ग़ाज़ीउद्दीन हैदर को, जिन्होंने बाप के अन्दोख़्ते[१२] में से बहुत सा रुपया

---

१ उत्तर का २ पूर्व ३ सामने वाला भाग ४ नामधारी ५ आनन्ददायक ६ हरियाली ७ कष्ट न देने वाले ८ उपाधि ९ आदरणीय १० पूँजी ११ राज-सिंहासन की शोभा बढ़ाने वाले १२ छोड़ी हुई सम्पत्ति।

अंग्रेज़ों को क़र्ज़ दे दिया था, शाही का ख़िताब दिया और दरबारे अवध ने इस इज़्ज़त व सरफ़राज़ी[1] को निहायत ही क़द्र की निगाह से देखा। चुनाँचि: उस वक़्त से हुक्मरानाने अवध जो रेज़ीडेण्टों के हाथों के खिलौने थे, बादशाह बन गये और आख़िरी फ़रमाँ-रवा वाजिद अली शाह के मरने तक उनका सरमायएनाज़ रहे।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने इसी ख़िताबे-शाही की यादगार में दरिया पार मच्छी-भवन के सामने एक नया बाज़ार बसाया और इसका नाम बादशाहगंज रक्खा। इसी ज़माने में हकीम महदी ने मेंहदीगंज आबाद किया और नायबुस्सल्तनत[2] आग़ामीर की शाहाना इमारत के दूर तक फैल जाने की वजह से ऐन-वस्ते शहर में मुहल्ला आग़ामीर की डेवढ़ी क़ायम हुआ और उसी अहद में आग़ामीर की सराय तामीर हुई।

बादशाह को और उनसे ज़ियाद: बादशाह बेगम को मज़हबी मुआमलात में बहुत ज़ियाद: इनहिमाक[3] था। सफ़विय्या ख़ानदान के ज़माने से ईरान का मज़हब शीआ-असना-अशरी था। मगर हिन्दोस्तान के आम मुसलमान सुन्नी थे। नव्वाब बुरहानुल्-मुल्क चूँकि विलायत से नये आये थे इसलिए उनका और उनके सारे ख़ानदान का मज़हब शीआ था। बा-वजूद इसके ज़माने तक लखनऊ में हुकूमत का वही क़दीम तरीक़ा चला आता था जो आग़ाज़े[4]-सल्तनते इस्लाम से दीगर बिलादे-हिन्द[5] और सारे मुल्क का था। मगर इस वक़्त से बादशाह और उनके ख़ास महल के इनहिमाके मज़हबी की वजह से शीओयत, हुकूमते लखनऊ का एक नुमायाँ उन्सर[6] बन गई। फ़िरंगी-महल के उलमा की तरफ़ से हुक्मरानों की तवज्जुह हट गई और ख़ानदाने इजतिहाद[7] उरूज[8] पाकर सल्तनत का अस्ली मुक़न्निन[9] क़रार पाया। लेकिन शीआ मज़हब अपनी अस्ली हालत पर क़ायम रहता तो चन्दाँ मुज़ायक़ा न था, ख़राबी यह हुई कि बादशाह बेगम की जाहिलाना और अमीराना मज़हबी सरगरमी ने मज़हब शीआ में नई-नई बिदअतें[10] ईजाद कीं जिनकी वजह से इसी क़दर नहीं हुआ कि बादशाहों और अमीरों में तरह-तरह की तिफ्लान[11]-मिज़ाजियाँ पैदा हुईं। बल्कि लखनऊ की शीओयत सारी दुनिया की शीओयत से नई-निराली और अजीब हो गई।

सबसे पहले बेगम साहिबा ने इमामे साहिबुल्-अस्र की छटी की रस्म क़रार दी, जिसमें अगर यह होता कि किसी महफ़िल में इमामे मम्दूह के हालात बयान करके सवाब हासिल कर लिया जाये, तो मुज़ायक़ा न था। मगर नहीं, यहाँ हिन्दुओं के जन्म-अष्टमी के रसूम के मुवाफ़िक़ पूरा ज़चाख़ाना मुरत्तब किया जाता। इसके बाद यह तरक़्क़ी हुई कि सहीहुन्नसब[12] सैयदों की ख़ूबसूरत लड़कियाँ लेकर अम्म:असना-अशर[13] की बीवियाँ क़रार दी गईं जिनका नाम 'अछूतियाँ' रखा गया। और जब वह इमामों

---

१ माननीयता, मान्यता २ उपराज्याधिकारी ३ दिलचस्पी ४ आरम्भ ५ हिन्दोस्तान के राज्य समूह ६ मूल तत्व ७ नई बात ८ विकास ९ जगह १० अनीति ११ बचपना।

की बीवियाँ थीं तो फिर उनके यहाँ इमामों की विलादत[1] भी होती और बारहों इमामों की विलादत की तक़रीबें बड़े कर्र बफ़र[2] के साथ मनाई जाने लगीं।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर निहायत ही ग़ज़बनाक और आशुफ़्ता-मिज़ाज[3] बादशाह थे, और रोब-दाब इस बला का था कि उनके ज़माने में अंग्रेज़ों से तअल्लुक़ात तो अच्छे रहे मगर आग़ामीर जो वज़ीरुस्सल्तनत[4] था दरबार पर इस क़दर हावी था कि ख़ुद बादशाह बेगम और बली अहदे सल्तनत तक उसके आज़ार से महफ़ूज़ न रह सके। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर उसे घूँसों और लातों से मारते। जिस मार को वह ख़ुशी से खा लेता, मगर उसका बदला दीगर मुअज़्ज़िज़ीने[5] दरबार और अइज़्ज़ाय[6] शाही तक से ले लिया करता।

इससे पहले बादशाहे अवध ने मज़हबी इरादत[7] व अक़ीदत[8] से दरिया किनारे और मोतीमहल के मुत्तसिल[9] वक़्फ़े अशरफ़ यानी रौज़ः मुतह्-हरा हज़रत अली की नक़ल लखनऊ में बनवाई और इसकी रोशनी व ख़िदमत के लिए बहुत सा रुपया सरकारे अंग्रेज़ी के हवाले किया, जिसकी बदौलत आज तक वह बा-रौनक़ और ख़ूब आबाद है और सन् १२५६ मुहम्मदी (सन् १८२७ ई०) में जब उनका इन्तक़ाल हुआ तो उसी में दफ़न हुए।

अवध अंग्रेज़ों के चंगुल में

सन् १२५६ मुहम्मदी (सन् १८२७ ई०) में ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के बेटे नसीरुद्दीन हैदर तख़्त पर बैठे। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के ज़माने से, जैसा कि हम बता चुके हैं, फ़र्मां-रवायाने अवध नव्वाब नहीं बादशाह थे। इस दौलत का आग़ाज़ वज़ारते देहली के दरजे से हुआ था और अगले ज़बरदस्त व ज़ी-वक़अत फ़र्मां-रवा सब नव्वाब वज़ीर कहलाते थे। लेकिन अब जबकि अस्ली हुकूमत व सतवत[10] रुख़सत हो चुकी थी और हिन्दोस्तान के पॉलीटिक्स में उन लोगों का बिलकुल असर नहीं बाक़ी रहा था, यह बादशाह बन गये।

ख़याल किया जा सकता है कि अंग्रेज़ों ने हुक्मरानाने अवध को बादशाही इज़्ज़त दी तो अपनी पुश्त-पनाही से उनकी सतवत भी बढ़ा दी होगी और इन्हें नाम ही का बादशाह नहीं, बल्कि हक़ीक़तन् बादशाह बनाकर दिखा दिया होगा। लेकिन नहीं, हमें यह नज़र आता है कि इस अहद में अवध के बाहर इन लोगों का असर तो बिलकुल था ही नहीं, ख़ुद अपनी क़लम-रौ में भी यह इतने आज़ाद न थे जितने कि उनके मा-सबक़[11] बुज़ुर्ग होते आये थे। अब किसी की तख़्त-नशीनी बग़ैर अंग्रेज़ों की मंज़ूरी

---

१ जन्म-दिवस २ शान-शौकत ३ बेचैन-दिल ४ प्रधानमंत्री ५ प्रतिष्ठित ६ इज़्ज़तदार ७ विचार ८ धार्मिक विश्वास ९ सम्बद्ध १० सत्ता ११ पूर्वज।

के हो ही न सकती थी। अंग्रेज़ी फ़ौज सारी क़लम-रौ में जा-बजा फैली हुई थी। कोई अहम मुआमला (मामला) बग़ैर साहब रेज़ीडेण्ट की दख़लदिही के तय ही न हो सकता था। सरीरे शहरयारी एक स्टेज था, जिस पर जो कुछ होता, बज़ाहिर नज़र आता कि एक्टर कर रहे हैं। मगर अस्ल में वह अफ़आल किसी और शख्स के क़ब्ज़ए क़ुदरत में थे जो परदे की आड़ में था और जो चाहता था करता था।

मगर ख़ुदा की इतनी मिहरबानी थी कि इन पिछले हुक्मरानाने अवध की और इनके साथ क़रीब-क़रीब सारे वाबस्तगाने[1] दामने दौलत की हिस[2] मफ़क़ूद[3] हो गई थी, जिसकी बदौलत वह अपनी कमज़ोरी व बे-दस्तो पाई[4] को बिलकुल महसूस न कर सकते थे। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर बादशाह बनते ही ऐश-व-इशरत में मश्ग़ूल हो गये और नसीरउद्दीन हैदर को तो तख़्तेशाही बरसे में मिला था। नव्वाब सआदत अली ख़ाँ का जमा किया हुआ रुपया, ऐश-परस्ती में दोनों का मुमिद[5] व मुआविन[6] हुआ। कुछ अंग्रेज़ों को क़र्ज़ दिया गया, कुछ उन बतदअः[7] मज़हबी रस्मों की बजा आवरी[8] में सर्फ़ हुआ, जिन्हें बादशाह और इनकी मलकाओं ने अपने मज़ाक़ के मुवाफ़िक़ ज़ौक़ व शौक़ से ईजाद किया; और बाक़ी फ़िज़ूल ख़र्चों और ऐयाशियों की नज़र होने लगा। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने तो इतना भी किया था कि नक़्फ़े-अशरफ़ की नक़ल बनवाकर अपनी क़ब्र का ठिकाना कर लिया और बग़ैर इसके कि अपने बरसे पर भरोसा करें, कुछ रुपया अंग्रेज़ों के हवाले किया कि इसके सूद से पूरे दीनी आदाब के साथ नजफ़ की दाश्त किया करें। चुनाँचि: आज तक उनकी क़ब्र पर चिराग़ रौशन होता है, मजलिसें होती हैं, क़ुर्आन-ख्वानी होती है और मुहर्रम में ख़ूब रौशनी होती है, जिसके तुफ़ैल थोड़े से ग़रीबों की परवरिश हो जाया करती है। मगर नसीरउद्दीन हैदर को हुजूमे ऐश में इतनी भी तौफ़ीक़ न हुई। दरिया पार मुहल्ला इरादत नगर में इन्होंने एक करबला बनवाई जो ख़ुद उनका मरक़द[9] क़रार पाने वाली थी। मगर इसकी ख़िदमत व दाश्त की ज़रा भी फ़िक्र नहीं की; जिसका नतीजा यह है कि आज वह डालीगंज के स्टेशन के पास उजाड़ और ख़ामोश पड़ी है और शायद कोई चिराग़ जलाने वाला भी नहीं। उनके ज़माने में नए मुहल्ले गनेशगंज और चाँदगंज वहीं दरिया पार आबाद हुए।

नसीर-उद्दीन हैदर को नजूम से अक़ीदत थी, जिसने इल्मे-हयात की तरफ़ तवज्जु: दिलाई और इरादा किया कि अपने शहर में एक आला दरजे की रसद-गाह[10] क़ायम करें। चुनाँचि: इसी ग़रज के लिए एक कोठी नव्वाब सआदत अली ख़ाँ के मक़बरे और मोतीमहल के दरमियान में तामीर कराई जो रसद-गाह होने के बाअस, लखनऊ

---

१ रिश्तेदार २ शक्ति, कुव्वत ३ गुम, जिसका कुछ पता न लगे ४ लाचारी, असहायता ५ सहायक ६ मददगार ७ अभीष्ट सिद्ध करने वाली ८ पालन में ९ समाधि, क़ब्र १० वेधशाला।

में तारेवाली कोठी के नाम से मशहूर हुई। इसमें बड़ी-बड़ी दूरबीनें और आला दरजे के आलातें-रसद[1] जमा किये गये। उनके मुनासिब तौर पर क़ायम करने का काम और उनका इन्तज़ाम व इहतिमाम कर्नल विल्काक्स के सिपुर्द हुआ जो एक अच्छे हैयत-दाँ[2] थे, मगर लखनऊ की यह रसदगाह गोया कर्नल साहब मौसूफ़ ही की ज़िन्दगी का एक मजहूलुल्-हाल[3] वाक़िअ: थी। क्योंकि सन् १२५६ मुहम्मदी से नसीरउद्दीन हैदर की सल्तनत का आग़ाज़ हुआ, जिसके चार-पाँच साल बाद ग़ालिबन् यह रसदगाह क़ायम हुई होगी और उस वक़्त से सन् १२७६ मुहम्मदी (सन् १८४७ ई०) तक जबकि आखिरी ताजदारे अवध वाजिद अली शाह का ज़माना था, यह रसद-गाह इन्हीं के इहतिमाम में रही। सन् मज़कूर में कर्नल साहब का इन्तिक़ाल हुआ और उनकी जगह कोई हैयत-दाँ इस खिदमत पर मुक़र्रर नहीं किया गया।

वाजिद अली शाह ने इसकी तरफ़ से बेपरवाही की। लखनऊ के बाज़ मुस्तनद[4] अश्खास की ज़बानी सुना गया कि इसकी सबसे बड़ी दूरबीन को वाजिद अली शाह ने एक खिलौना ख़याल करके, हैदरी तवायफ़ के हवाले कर दिया था। लेकिन गज़ेटियर से मालूम होता है कि यह रसद-गाह इंतिज़ाए-सल्तनत[5] के ज़माने तक क़ायम थी। ग़दर में ग़ालिबन् बलवाइयों उसे तबाह कर दिया, क्योंकि अहमद-उल्लाह-शाह ने (जो डंकाशाह भी कहलाते थे और अंग्रेज़ी फ़ौज से बड़ी मुस्तैदी व गरमजोशी के साथ लड़े थे) तारे वाली कोठी ही में सुकूनत इख्तियार की थी। इसी में अपना दरबार क़ायम किया था और बाग़ी फ़ौजों के अफ़सर यहीं जमा होकर मश्विरे किया करते थे।

उसी ज़माने में रौशनउद्दौल: ने, जो वज़ीरे सल्तनत थे अपनी खूबसूरत और शानदार कोठी तामीर कराई, जिसमें फ़िल्हाल डिप्टी कमिश्नर बहादुर इजलास करते। इसलिए कि वाजिद अली शाह ने इस कोठी को क़ैसरबाग़ बनवाते वक्त ज़ब्त कर लिया था और जब मुल्क अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में आया है, यह कोठी एक सरकारी जायदाद थी।

नसीरउद्दीन हैदर का ज़माना, सच यह है कि निहायत ही खतरनाक ज़माना था। एक तरफ़ तो इन्तिज़ामे मम्लुकत की ख़राबी थी। बादशाह को ऐश व इशरत और ईजादकर्द: दीनदारी की रस्मों से फ़ुर्सत न मिलती थी। सारा इन्तिज़ामे सलतनत वज़ीर पर छोड़ा जाता था और वज़ीरों की यह हालत थी कि कोई ऐसा शख्स मिलता ही न था जो नेकनीयती और खुशतद्बीरी से काम चला सके। हकीम मेंहदी बुलाये गये; वह मुन्तज़िम तो आला दरजे के थे, मगर चाहते थे कि सलतनत को अपनी ही मीरास बना लें। रौशनउद्दौल: वज़ीर हुए; उनमें न माद्द: था न तबीअतदारी।

---

१ नक्षत्रों की गति आदि देखने के यन्त्र २ ज्योतिष जानने वाले ३ प्रमाणित ४ जिसका सर-पैर किसी को न मालूम हो ५ राज्य के उथल-पुथल, विप्लव।

उनसे कुछ करते-धरते न बनी। बादशाह की फ़ुज़ूल-ख़र्चियों की यह हालत थी कि सआदत अली ख़ाँ का जमा किया हुआ सारा रुपया पानी की तरह उड़ गया और मुल्क की आमदनी महल के मसारिफ़ के लिए किफ़ायत ही न करती थी। इस पर तुर्रा यह कि बादशाह और उनकी माँ, ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की खास महल में झगड़े पैदा हुए। वह मुन्नाजान को बादशाह का बेटा बताती थीं और बादशाह इसको अपना बेटा तस्लीम न करते थे। इन बातों ने मुल्क की ऐसी हालत कर दी थी कि मालूम होता, हुक्मरानों में हुकूमत करने और मुल्क के सम्हालने की मुतलक़ सलाहीयत नहीं है।

साहब रेज़ीडेण्ट और गवर्नर जनरल हिन्द ने बार-बार समझाया, डराया, धमकाया, अंजाम से मुत्तला किया और बराबर कान खोलते रहे। मगर यहाँ किसी के कान पर जूँ न रेंगी। नसीरउद्दीन हैदर में, औरतों में रहते-रहते इस दरजा ज़नाना-मिज़ाजी पैदा हो गई थी कि औरतों की सी बातें करते और औरतों ही का सा लिबास पहिनते। ज़नाना-मिज़ाजी के साथ मज़हबी अक़ीदत ने यह शान पैदा कर दी कि अइम्मअे असना-अशर[1] की फ़रज़ी बीवियाँ (अछूतियाँ) और उनकी विलादत की तक़रीबें, जो उनकी माँ ने क़ायम की थीं, उनको और ज़ियादः तरक़्क़ी दी; यहाँ तक कि विलादतें अइम्मः की तक़रीबों में ख़ुद हामला औरत बनकर ज़च्चाख़ाने में बैठते, चेहरे और हरकात से वज़ेहमल की तकलीफ़ ज़ाहिर करते और फिर ख़ुद एक फ़रज़ी बच्चा जनते, जिसके लिए विलादत, छटी और नहान के सामान बिलकुल अस्ल के मुताबिक़ किये जाते। यह तक़रीबें इस क़दर ज़ियादः थीं कि साल-भर बादशाह को इन्हीं से फ़ुर्सत न मिलती, सल्तनत की तरफ़ कौन तवज्जुः करता।

दरबारे अवध और सरकारे अंग्रेज़ी के तअल्लुक़ात देखने से मालूम होता है कि अगर गवर्नर जनरल और रेज़ीडेण्टों की नज़रें इनायत न होतीं और इंग्लिस्तान का जो बोर्ड ईस्ट-इंडिया-कम्पनी का निगराँ था, कम्पनी को रोके-थामे न रहता तो इन्तज़ामे सल्तनत की कार्रवाई इसी ज़माने में हो गई होती। मगर इस तिफ़्लानः मिज़ाजी के दरबार की ज़िन्दगी अभी बाक़ी थी। अंग्रेज़ मुल्क के लेने का इरादा करके रह गये।

नसीरउद्दीन हैदर की निस्बत लखनऊ के मुअतबर पुराने लोगों का बयान है कि इस ज़नाना-मिज़ाजी और इन तिफ़्लानः हरकतों के साथ निहायत ज़ालिम भी थे। लेकिन चूँकि सारी ज़िन्दगी औरतों में बसर होती थी इसलिए उनके मज़ालिम का शिकार भी ज़ियादःतर औरतें ही होतीं। बीसियों औरतों को अदना क़ुसूर और मामूली बदगुमानी पर दीवारों में चुनवा दिया। कहते हैं कि राह चलते किसी मर्द को किसी औरत के सीने पर हाथ रखे देख लिया था, फ़ौरन औरत की छातियाँ और मर्द के हाथ कटवा डाले।

---

१ चाचा की प्रमाणित बहुत शरीफ़।

आखिर दस बरस की बेएतदालियों[1] के बाद जबकि अन्दर-बाहर के तमाम अह्लें-दरबार ज़िन्दगी से आजिज़ आ गये थे, बादशाह ख़ुद अपने दोस्तों और अज़ीज़ों के हाथ का शिकार बने और किसी ने ज़हर देकर सन् १२६६ मुहम्मदी (सन् १८३७ ई०) में क़िस्सः तमाम कर दिया। नसीरउद्दीन हैदर ला-वलद मरे थे। मुन्नाजान को ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की बेगम ने हमेशा अपना पोता और सच्चा वारिसें-सलतनत बनाकर पेश किया मगर ग़ाज़ीउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन हैदर दोनों ने उनके नस्लें-शाही होने से इन्कार किया था। इसी बिना पर गवर्नमेन्ट अंग्रेज़ी ने नव्वाब सआदत अली ख़ाँ मरहूम के बेटे नसीरुद्दौलः मुहम्मद अली ख़ाँ की तख़्त-नशीनी का पहले से बन्दोबस्त कर लिया था। मगर बेगम साहिबा ने न माना। मुन्नाजान को लेकर लाल बारहदरी याने तख़्तगाह में आ गई।

रेज़ीडेण्ट ने हज़ार रोका और समझाया, मगर एक न सुनी और ज़बरदस्ती मुन्नाजान को तख़्त पर बैठा दिया, जिन्होंने तख़्त पर क़दम रखते ही नज़रें लीं और अपने दुश्मनों से फ़ौरन् बदला लेना भी शुरू कर दिया। बहुतों के घर लुटवाए, बाज़ को गिरफ़्तार कर लिया, बाज़ क़त्ल हुए और शहर में एक हड़बोंग मच गया।

साहब रेज़ीडेण्ट और उनके असिस्टेण्ट फ़ौरन् दरबार में पहुँचे। बादशाह बेगम को समझाया कि मुन्नाजान वारिसें-सल्तनत नहीं हो सकते और इसमें आप को हरगिज़ कामयाबी न होगी। फिर लाट साहब का तहरीरी फ़रमान दिखाया और कहा—"बेहतर यही है कि मुन्नाजान तख़्त को ख़ाली कर दें और नसीरुद्दौलः की तख़्तनशीनी अमल में आ जाए"। मगर किसी ने समाअत[2] न की, बल्कि किसी ने असिस्टेण्ट रेज़ीडेण्ट पर हमलः किया, जिससे उनका चेहरा ख़ून-आलूद हो गया।

रेज़ीडेण्ट ने मँड़यावँ से अंग्रेज़ी फ़ौज पहले ही से बुलवा ली थी, और उसने तख़्तगाह के सामने तोपें लगा दी थीं और सिपाही सफ़ें बाँधे खड़े थे। मजबूरन् साहबें-आलीशान ने घड़ी हाथ में ली और कहा—"दस मिनट की मुहलत दी जाती है, इस ज़माने के अन्दर अगर मुन्नाजान तख़्त से न उतर गये तो जबरियः कार्रवाई की जायगी। इसका भी किसी ने ख़याल न किया। हालाँकि रेज़ीडेण्ट बार-बार कहते जाते थे कि अब पाँच मिनट बाक़ी हैं, अब दो ही मिनट रह गए और अब देखिए पूरा एक मिनट भी नहीं।

इन तंबीहों[3] का किसी ने ख़याल न किया और यकायक तोपों ने गर्राबें मारना शुरू कीं। आनन्-फ़ानन् में तीस-चालीस आदमी गिर गए। दरबारी बदहवासी के साथ गिरते-पड़ते भागे। जो तायफ़ा मुजरा कर रहा था, उसमें से भी कई आदमी ज़ख़्मी हुए। शीशएआलात झनाझन टूट कर गिरने लगे। जब कई वफ़ादार बहादुर, जो सीनें-सिपर थे, मारे जा चुके तो मुन्नाजान ने भी तख़्त से गिरकर भागने का क़स्द किया,

१ असंयम या बद-परहेज़गारी २ सुनवाई ३ चेतावनियाँ।

मगर पकड़ लिये गये। ग़रज़ बेगम साहब और इन्हें, दोनों को अंग्रेज़ों ने गिरफ़तार कर लिया। साथ ही नसीरुद्दौलः की तख़्तनशीनी अमल में आई। जो मुहम्मदअली शाह के लक़ब से बादशाहे अवध क़रार पाये। और मुन्नाजान और उनकी दादी सख़्त हिरासत में लखनऊ से कानपूर और कानपूर से क़िलअे चुनारगढ़ में भेज दिये गये और दो हज़ार चार सौ रुपये माहवार उनकी तनख़्वाह लखनऊ के ख़ज़ाने से मुक़र्रर कर दी गई।

मुहम्मदअली शाह की उम्र तख़्तनशीनी के वक़्त तिरसठ बरस की थी, बूढ़े तजुर्बेकार थे। ज़माने के सर्द व गर्म और दरबार की तिफ़्लानःमिज़ाजियाँ[1] देखते रहे थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि नव्वाब सआदतअली ख़ाँ के बेटे थे और उनकी आँखें देखे हुए थे। इन्होंने बहुत सँभलकर काम किया। किफ़ायत-शआरी के उसूल[2] जारी किये, और जहाँ तक बना इन्तिज़ाम को सँभालने की कोशिश की। मगर उम्र ज़ियादः आ चुकी थी और क़वा[3] जवाब देते जाते थे। तख़्त पर बैठते ही उन्होंने हकीम मेंहदी को फ़र्रुख़ाबाद से बुलवाकर खिलअते वज़ारत दिया, मगर चन्द ही रोज़ बाद वह मर गए। तब ज़हीरउद्दौलः को खिलअते वज़ारत हुआ। दो-तीन महीने बाद वह भी दुनिया से रुख़सत हुए और मुनव्वरउद्दौलः वज़ीर क़रार पाए। जिन्होंने दो-चार महीने के बाद ही इसतअफ़ा (इस्तीफ़ा) दे दिया और करबलाये मुअल्ला चले गए। फिर अशरफ़उद्दौलः मुहम्मद इब्राहीम ख़ाँ वज़ीर क़रार पाए जो औरों के देखते ज़ी-होश[4] और मतीन[5] थे।

मुहम्मदअली शाह की तख़्तनशीनी पर गवर्नमेण्ट अंग्रेज़ी और सल्तनते अवध में एक नया मुआहिदः हुआ, जिसकी रू से सरकार अंग्रेज़ी ने जो फ़ौज अवध की निगरानी के लिए रखी थी इसमें मुअतद्दिबः[6] इज़ाफ़ः[7] हुआ और ईस्ट-इंडिया कंपनी की गवर्नमेंट को यह इख़्तियार हासिल हुआ कि सारी क़लम-रवे-अवध[8] या उसके जिस इलाक़े में बदनज़मी देखे उसे जब तक चाहे अपने ज़ेरे-इन्तिज़ाम रक्खे। बादशाह ने नागवारी के साथ इस अहदनामे पर दस्तख़त किये और जहाँ तक बना, मुल्क की इस्लाह[9] करने लगे।

तख़्तनशीनी के दूसरे ही बरस इन्होंने अपना मशहूर इमामबाड़ा हुसैनाबाद और उसके क़रीब एक आलीशान मस्जिद तामीर कराना शुरू की, जिसकी बाबत इहतिमाम किया गया कि देहली की जामा मस्जिद से रौनक़ और वुसअत में बढ़ जाये।

उन दिनों लखनऊ की आबादी व रौनक़ इस क़दर तरक़्क़ी कर गई थी और इस कसरत से आदमी उसके सवाद में आबाद थे कि इसे हिन्दोस्तान का 'बाबुल' कहना बेजा न था। वाक़ई यह शहर हर हैसियत से उस अहद का ज़िन्दः बाबुल था।

---

१ बचपन की चोचलेबाज़ी २ सिद्धान्त ३ शक्तियाँ ४ चेतना रखनेवाले ५ बुद्धिमान ६ तादादी ७ वृद्धि ८ अवध राज्य ९ सुधार, संशोधन।

इस मुशाबहत[1] को शायद अंग्रेजों या किसी और दरबारी से सुनकर मुहम्मदअली शाह ने इरादा किया कि लखनऊ को पूरा-पूरा बाबुल बना दें और अपनी एक ऐसी यादगार क़ायम कर दें जो उनके नाम को तमाम-शाहाने अवध से ज़ियादः बलन्दी पर ला दिखाए। इन्होंने बाबुल के मीनार या वहाँ के हवाई बाग़ की तरह की एक इमारत हुसैनाबाद से क़रीब और मौजूदः घंटाघर के पास तामीर कराना शुरू की, जिसमें महराबों के मुद्‌वर[2] हलक़े पर दूसरा हलक़ा और दूसरे हलक़े पर तीसरा हलक़ा, ग़रज़ यूँ ही तले ऊपर क़ायम होते चले जाते थे। इरादा था कि यूँ ही सात मंज़िलों तक उसे बलन्द करके, एक इतना बड़ा और ऊँचा बुर्ज बना दिया जाए जो दुनिया भर में लाजवाब हो और इसके ऊपर से सारे लखनऊ और इसके गिर्द की फ़िज़ा नज़र आए। यह इमारत अगर पूरी बन जाती तो यक़ीनन् लाजवाब और अजीब व ग़रीब होती। इसका नाम 'सतखंडा' क़रार दिया गया था और बड़े इहतिमाम से बन रही थी। मगर पाँच ही मंज़िलें बनने पाई थीं कि मुहम्मदअली शाह ने सन् १२७१ मुहम्मदी (सन् १८४२ ई०) में सफ़रे आख़िरत किया।

मुहम्मदअली शाह ने अपने मुख़्तसर ज़माने में, बग़ैर इसके कि अन्दरूनी झगड़े पैदा हों, या मुल्क में बदनज़्मी की फ़रियाद बलन्द हो, लखनऊ को निहायत ही ख़ूबसूरत शहर बना दिया। हुसैनाबाद के फाटक से रूमी दरवाज़े तक दरिया (के) किनारे-किनारे एक सड़क निकाली जो चौक कहलाती थी। इस सड़क पर बावजूद दो-तरफ़: आलीशान मकानों के एक तरफ़ रूमी दरवाज़ा, आसफ़उद्दौल: का इमामबाड़ा और उसकी मस्जिद थी, दूसरी तरफ़ सतखंडा और हुसैनाबाद का फाटक था। इस नए इमामबाड़े की मुख़्तलिफ़ सरबए-फ़लक[3] इमारतें थीं और इनके पहलू में जामा मस्जिद वाक़िअ थी, इन सब इमारतों ने मिलकर दोनों जानिब एक ऐसा ख़ुशनुमा और नज़र-फ़रेब मंज़र पैदा कर दिया था जो दुनिया के तमाम मशहूर व ख़ुश-सवाद मनाज़िर पर चश्मकज़नी[4] करता था और अब भी गोकि दरमियान में बाशिन्दगाने शहर के जितने मकानात वाक़िअ थे सब खुद गये, मगर दुनिया का एक बेहतरीन मंज़र तसव्वुर किया जाता है।

सल्तनत मटियामेटे की ओर

मुहम्मदअली शाह के बाद अमजदअली शाह 'अरीका-आराई[5]-सरीरे-शहरयारी' हुए। मुहम्मदअली शाह ने कोशिश की थी कि वली-अहदे सल्तनत की तालीम आला दरजे की हो, चुनाँचिः उन्हें उलमा व फ़ुज़ला की सुहबत में रखा। नतीजा

१ समानता　२ गोल　३ गगन-चुम्बी　४ ऐनक का काम　५ राज्य सिंहासन-आरूढ़।

यह हुआ कि अमजदअली शाह बजाय इसके कि तालीम में कोई नुमायाँ तरक़्क़ी करें, अख़्लाक़ व आदात के लिहाज़ से एक सिक़: मौलवी बन गए। इनानें-हुकूमत[1] हाथ में लेने के बाद उनका जो कुछ हौसला था, यह था कि वह और उनके साथ सारी रिआया, जनाबे क़िब्ला व काबा की हलक़ा-ब-गोशें-इरादत[2] बन जाय। लेकिन ज़ाहिर है कि उलमाये दीन व मुक़्तदायाने-मिल्लत[3] को पालिटिक्स से किसी क़िस्म का वास्तः नहीं हो सकता। वह न मुदव्बरे सल्तनत हो सकते हैं और न स्टेट्समैन। उनसे जो कुछ हिदायत मिल सकती थी, यह थी कि सय्यदों की ख़िदमत-गुज़ारी की जाए और सल्तनत का रुपया, मोमिनीन की अआनत[4] व दस्तगीरी में सर्फ़ हो। और यह काम भी इरादतें कैश और मुहतात[5] परहेज़गार, फ़रमाँ-रवाये अवध अमजद-अली शाह की नज़र में उसी वक़्त क़ाबिले इत्मीनान हो सकता था, जब ख़ुद मुजतहिदुल्-असर के मुबारक हाथों से अंजाम पाए। चुनांचि: मुल्क की आमदनी में से लाखों रुपया ज़कात के नाम से इनकी नज़र किया जाता और इसके अलावा और भी बहुत सी ख़ैरात की रक़में इन्हीं के हाथ में जातीं।

अमजदअली शाह के लिए तक़्वे, तहारत का ख़याल मर्ज़ बन गया था। इन्हें अपने ख़याल की पाबन्दीए शरअ से इतनी फ़ुर्सत ही न मिलती थी कि नज़्म व नस्क़े[6] मम्लुकत[7] की तरफ़ तवज्जु: करें। जिसका यह लाज़िमी नतीजा था कि मुहम्मदअली शाह ने अपनी तजुर्बाकारी व बेदार-मग़्ज़ी से जो कुछ इन्तिज़ामात किए थे, सब दरहम व बरहम[8] हो गए और यह हालत हो गई कि (क़ाज़ी मुहम्मद सादिक़ ख़ाँ 'अख़्तर' के बयान के मुताबिक़) "तमाम अम्माल बदकार व बद-बातिन और ख़ुदग़रज़ थे। रिआया तबाह थी, ज़बरदस्त का ठेंगा सिर पर था। ज़ालिम व मुजरिम को सज़ा न मिलती। ख़ज़ानः ख़ाली था। रिश्वत-सतानी की गर्म-बाज़ारी थी और जो फ़ित्ने पैदा होते, किसी के मिटाए न मिट सकते"।

लेकिन इस इत्तिफ़ा की ख़ामोशी और तमद्दुनी[9] ग़फ़लत व बे-परवाई पर भी इन्होंने मुहल्ल-ए हज़रतगंज आबाद किया जो आज लखनऊ में तमाम मुहल्लों से ज़ियादः साफ़ सुथरा, खूब आबाद, निहायत ख़ूबसूरत, दौलतमंद ताजिरों का आलातरीन बाज़ार है और सिविल लाइन का सबसे ज़ियादः बारौनक़ हिस्सा है। इन्होंने लखनऊ से कानपूर तक ब-राहे-रास्त एक पुख़्तः सड़क बनवाई। उनके अहद में सबसे बड़ा काम यह हुआ कि लोहे के पुल की इमारत बनकर तैयार हो गई। इस पुल की तामीर का वाक़िअः यह है कि इसके अजज़ा और पुरज़े ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने इंग्लिस्तान से मँगवाए थे। मगर वह पुरज़े जब तक लखनऊ में पहुँचें, बादशाह रह-गराय आलमे

१ शासन की बागडोर २ विचारानुकूल ३ धार्मिक आचार्य ४ सेवा-सुश्रूषा ५ हर बात का ध्यान रखनेवाले ६ प्रबन्ध और व्यवस्था ७ राज्य, सल्तनत ८ तितर-बितर ९ नागरिकता।

जा-व-दाँ हो चुके थे। नसीर-उद्दीन हैदर के अहद में जब वह पुरज़े विलायत से आए तो उन्होंने अपने दरबार के इंजीनियर मिस्टर संकलियर को उन पुरज़ों को जोड़ने और पुल को बनाकर खड़ा कर देने का ठेका दिया, और हुक्म दिया कि वह पुरज़े रेज़ीडेण्सी के सामने पार दरिया के किनारे डाल दिये जाएँ। जिस मुक़ाम पर पुल के यह आहनी[1] पुरज़े डाले गए थे, इस जगह का पता देने के लिये आज वहीं एक घाट और शिवाला क़ायम है। मिस्टर संकलियर ने दरिया के अन्दर सुतून[2] क़ायम करने के लिए गहरे कुँवें खुदवाये और सुतूनों की जुड़ाई भी कर लाए मगर इसके बाद उनसे कुछ करते-धरते न बनी और पुल की तकमील[3] में नाकामी हुई। मुहम्मदअली शाह के ज़माने में यह पुल ना-तमाम पड़ा रहा। मगर अमजदअली शाह ने अपने अहद में इसकी जानिब तवज्जुः की और पुल बनकर तैयार हो गया। लेकिन जो लोहे का पुल आज कल क़ायम है, वह अमजदअली शाह के ज़माने का पुल नहीं है। वह एक हैंगिग-ब्रिज यानी लटकनेवाला पुल था, जिसका सारा बार चार बलन्द और ज़बरदस्त आहनी खम्बों पर लटक रहा था। अंग्रेज़ी ज़माने में जब इसके पुरज़े ज़ंग-आलूद[4] होकर कमज़ोर हुए और उस पर आम आमदो-रफ़्त में ख़तरः नज़र आया तो उसे मुनहदिम[5] करा के इसकी जगह दूसरा आहनी पुल क़ायम किया गया और वही पुल इस वक़्त मौजूद है।

अमजदअली शाह ही के ज़माने में उनके वज़ीर, अमीनउद्दौलः ने अमीनाबाद आबाद किया जिसकी आबादी व रौनक़ आजकल रोज़-अफ़ज़ूँ तरक़्क़ी कर रही है। अमजदअली शाह ने अपने ज़माने में अगरचिः कुछ नहीं किया और न अपने शौक़ से कोई ऐसी इमारत बनवाई जो आज कल उनकी यादगार हो, मगर शायद अपने इत्तिक़ा व परहेज़गारी के सिले में इन्हें यह क़ुदरती नामवरी हासिल हो गई, कि लखनऊ के आज कल के दो सबसे ज़ियादः मशहूर, सबसे ज़ियादः आबाद, सबसे ज़ियादः बारौनक़ और सब से ज़ियादः दौलतमंद मुहल्ले अमीनाबाद और हज़रतगंज उन्हीं के अहद की यादगार हैं।

आख़िर ज़माने ने उनके दौर का वर्क़ भी उलटा और सन् १२७७ मुहम्मदी (सन् १८४८ ई०) में जब कि उम्र अड़तालीस बरस से कुछ ही दिन ज़ियादः थी, मर्ज़-सरतान[6] में मुब्तला होकर दुनिया से रुख़्सत हो गए और अपने आबाद किए हुए मुहल्ले हज़रतगंज में मेंडूख़ाँ रिसालदार की छावनी के अन्दर दफ़्न हुए। इनका इमामबाड़ा जिसमें वह मदफ़ून हैं हज़रतगंज के मग़रिबी हिस्से में लबे-सड़क मौजूद है, जिसकी इमारत उनकी वफ़ात के बाद वाजिदअली शाह ने दस लाख रुपया सर्फ़ करके बनवाई थी। यह इमामबाड़ा हुसैनाबाद की एक नाक़िस नक़ल है और अगर हुसैनाबाद की तरह इसमें भी रौशनी होती तो मुहर्रम में लखनऊ का मशरिक़ी हिस्सा

---

१ लोहे का २ खम्बा ३ पूरा होना ४ मुरचा लगा हुआ ५ ढाया हुआ ६ कैंसर।

भी आलमे-नूर बन जाया करता। अगरचिः इसके लिए कोई वसीक़ः[1] नहीं मुअय्यन[2] है, लेकिन इसकी आमदनी भी कम नहीं। इहाते की इमारत के बेरूनी रुख़ की दुकानों में बहुत से अच्छे-अच्छे ताजिरों की दुकानें हैं और अन्दरूनी इमारतों में बहुत से यूरेशियन वग़ैरः रहते हैं, जिनसे किराए की मुअतद्दिबः[3] रक़म वसूल होती है। मगर किराया वसूल करनेवालों का यह भी एहसान है जो मुहर्रम में ख़ास क़ब्र और इमामबाड़े में चन्द चिराग़ रौशन कर दिया करते हैं।

अब अमजदअली शाह के बड़े बेटे वाजिदअली शाह तख़्ते सल्तनत पर जल्वए अफ़रोज़ हुए। उनका ज़माना इस मशरिक़ी दरबार की तारीख़ का आख़िरी वर्क़ और इसी मरसिये-पास्तां[4] का आख़िरी बन्द है। चूंकि इन्तिज़ाअ[5] सल्तनत इन्हीं के अहद में हुआ, इसलिए तमाम अहले-अलराय के हदफ़े-सहाम[6] और निशाने मलामत वही बन गए और क़रीब-क़रीब तस्लीम कर लिया गया कि ज़वाले सल्तनत के बाअस वह थे। लेकिन जिस ज़माने में उनकी सल्तनत का ख़ात्मः हुआ है, उन दिनों हिन्दोस्तान की तमाम वतनी क़ुव्वतें टूट रही थीं और बुरी-भली सब तरह की क़दीम हुकूमतें दुनिया से मिटती जाती थीं। पंजाब में सिक्खों का और दकन में मरहठों का दफ़्तर क्यों उल्टा, जो बहादुर और ज़बरदस्त और होशियार माने जाते हैं? देहली में मुग़ल शहनशाही का और बंगाला में नव्वाब नाज़िमे-बंगाला का इस्तीसाल[7] क्यों हुआ? हालांकि इनमें इतनी तिफ़्लानःमिज़ाजी[8] न थी जितनी कि लखनऊ के अरीकएआरा[9] सल्तनत में बताई जाती है। मज़कूरा चारों दरबारों में कोई वाजिदअली शाह न था। हालांकि इनकी तबाही लखनऊ की तबाही से कम न थी।

अस्ल यह है कि उस अहद में इधर अहले हिन्द की ग़फ़लत और जहालत का पैमाना छलकने के क़रीब पहुँच गया था और उधर दौलते बरतानिया की क़ुव्वत और ब्रिटिश क़ौम की आक़बतें-अन्देशी,[10] क़ाबिलीयत, जफ़ाकशी, अपनी कोशिशों और अपनी आला तहज़ीब या शाइस्तगी[11] का समरः[12] पाने की रोज़-ब-रोज़ मुस्तहक़ साबित होती जाती थी। ग़ैरमुमकिन था कि दानायाने फ़िरंग[13] की ज़हानत व तिब्बाई, ख़ुश-तदबीरी व बाज़ाब्तगी, हिन्दुस्तान की जहालत व ख़ुदफ़रामोशी पर फ़तह न पाती। ज़माने ने सारी दुनिया में तमद्दुन का नया रंग इख़्तियार किया था और पुकार-पुकार कर हर एक क़ौम से कह रहा था कि जो इस मज़ाक़ में मेरा साथ न देगा, मिट जायेगा। ज़माने के इस ढिंढोरे की आवाज़ हिन्दोस्तान में किसी ने न सुनी और सब मिट गये। इन्हीं मिटनेवालों में अवध की सल्तनत भी थी, जिसके ज़वाल[14] का बार ग़रीब वाजिदअली शाह पर डाल देना मुहक़्क़िक़ाना[15]-मज़ाक़[16] के ख़िलाफ़ है।

---

१ ऐसे धन से आया हुआ सूद २ नियत ३ तादादी ४ पुराने मर्सिये का ५ पतन ६ तीर की चोट ७ विनाश ८ बचकाना स्वभाव ९ सजानेवाले शासन १० परिणाम-दर्शिता ११ सभ्यता १२ फल, लाभ १३ बुद्धिमान फ़िरंगी १४ अवनति १५ वास्तविकता की जाँच करनेवाले १६ योग्यता।

पाबन्दे-शरअ बाप ने वाजिदअली शाह को भी उलमा की सुहबत में रखकर अपना सा बनाना चाहा था और यह रंग एक हद तक वाजिदअली शाह पर चढ़ा भी, जो इन्क़ज़ाए[१]-उम्र के साथ ज़ियादः खुलता गया। मगर अमजदअली शाह का इसमें कुछ ज़ोर न चला कि वारिसे सल्तनत फ़र्ज़न्द का फ़ितरी रुजहान ऐयाशी और फ़ुनूने[२]-तरब[३] व निशात[४] की तरफ़ था। अगरचिः बाप की ताकीद से पढ़ने-लिखने की तालीम भी अच्छी थी लेकिन मूसीक़ी[५] का शौक़ ग़ालिब था। वली-अहदी[६] ही में अपने ज़ाती शौक़ से उन्होंने बाप के मंशा के ख़िलाफ़ गवैयों और ढारियों को अपनी सुहबत में रक्खा, गाना बजाना सीखा, आवारः औरतों और डोम-ढारियों से रब्त व ज़ब्त बढ़ाया और अंजाम यह हुआ कि जो लुत्फ़ इन्हें हसीन औरतों और गवैयों की सुहबत में आता, इल्मी-मज़ाक़[७] की मुहज़्ज़ब[८] सुहबतों में न आता। बाप के ख़िलाफ़ इन्हें इमारत का शौक़ था और वलीअहदी ही में इन्होंने ख़ास अपनी महफ़िले-तरब[९] और ऐश के लिए एक पुर-फ़िज़ा बाग़ और इसमें दो एक मुख़्तसर ख़ूबसूरत और पुरतकल्लुफ़ मकान बनवाये। अलीनक़ी ख़ाँ, जिन्हें तख़्त पर बैठते ही ख़िलअते वज़ारत अता किया, इनसे ज़मानए वलीअहदी में एक रंडी के घर पर मुलाक़ात हुई। उनकी जवानानए शोख़मिज़ाजी ने, मिज़ाज में दर-ख़ोर[१०] पैदा किया और जब मज़्कूरएवाला बाग़ और इमारत उनके इहतिमाम में तामीर होकर पसन्द आये तो समझ लिया गया कि वज़ारत और इन्तज़ामे मम्लुकत[११] के लिए उनसे ज़ियादः मौज़ूँ कोई शख़्स नहीं है।

वाजिदअली शाह की सल्तनत का आग़ाज़[१२] तो इस उन्वान से हुआ कि नौजवान बाँके बादशाह को अदालते-गुस्तरी[१३] और इस्लाहे फ़ौज की तरफ़ ग़ैर मामूली तवज्जुः थी। सवारी में आगे-आगे दो नुक़रई[१४] सन्दूक़ चलते। जिस किसी को कुछ शिकायत होती, अर्ज़ी लिखकर इनमें डाल देता। कुंजी ख़ुद बादशाह के पास रहती। महल में पहुँचकर हुज़ूर उन अर्ज़ियों को निकालते और अपने हाथ से अहकाम तहरीर फ़रमाते। इस तरह कई नये रिसाले और कई पल्टनें भरती हुईं। रिसालों के नाम बादशाह ने अपनी मुंशियाना तिब्बाई से बाँका, तिरछा, घनघोर रखे और पल्टनों के नाम 'अख़्तरी', 'नादरी' रखे गये। ख़ुद बदौलत बनफ़्स नफ़ीस घोड़े पर सवार होकर जाते और घंटों धूप में खड़े होकर उनकी क़वायद और फ़ुनूने जंग में इनकी मश्शाक़ी[१५] देखते और ख़ुश हो-होकर, बा-कमाल सिपाहियों को इनआम व इकराम से सरफ़राज़ फ़रमाते। फ़ौजी क़वायद के लिए ख़ुद ही फ़ारसी-इस्तिलाहात[१६] और कलमात मुक़र्रर किये।

---

१ उम्र की ढलान २ फ़न ३ मनोरंजन ४ सुख भोग ५ संगीत शास्त्र ६ युवराज-पद ७ विद्या-सम्बन्धी रुचि ८ शिष्ट, तहज़ीबदार ९ सभा की रंगरेलियाँ १० दरवाज़ा घूमने वाला ११ सल्तनत १२ आरम्भ, उठान १३ न्याय-व्यवस्था १४ चाँदी के १५ अभ्यास, दक्षता १६ परिभाषाएँ।

"रास्त रौ, पस बया, दस्ते-चप वगर्द" (दाहिने चल, पीछे आ, बायें मुड़)। चन्द बाँकी जवान, हसीन औरतों की एक छोटी ज़नानी फ़ौज मुरत्तब की गई और उनको भी उन्हीं इस्तिलाहों में क़वायद सिखाई गई।

मगर जदीद-अह्द[1] का यह नक़्शे-अव्वलीन चन्दरोज़ः था। पूरा एक साल भी न गुज़रा होगा कि तबीअत इन चीज़ों से उकता गई। ज़मानए वलीअह्दी का वही पुराना-मज़ाक़ फिर औद[2] कर आया। हसीन और आवारः औरतों से सुह्बत बढ़ी, अस्बाबे-निशात[3] का बाज़ार गर्म हुआ और थोड़े ही दिनों में डोमधारी ही, अरकाने दौलत और मुअज़्ज़ज़ीने सल्तनत थे। बादशाह के दिल में अब अगर कोई इल्मी और शरीफ़ाना मज़ाक़ बाक़ी था तो वह शायरी थी, क्योंकि ख़ुद शिअ़्र (शैर) कहते और शुअरा की क़द्र करते थे।

लखनऊ में उन दिनों शायरी का चर्चा हद से ज़ियादः बढ़ा हुआ था। अकेले लखनऊ में इतने शायर मौजूद थे कि अगर सारे हिन्दोस्तान के शुअरा जमा किये जाते तो उनकी तादाद लखनऊ के शायरों से न बढ़ सकती। 'मीर' और 'सौदा' की पुरानी शायरी, तक़्वीमे-पारीना[4] हो चुकी थी। अब 'नासिख़' की ज़बान और 'आतिश' के ख़यालात दिमाग़ों में बसे हुए थे जिनमें 'रिन्द' व 'सबा' के रिन्दानः[5] कलाम और नव्वाब मिर्ज़ा 'शौक़' की मसनवियों[6] ने शह्वत-परस्तियों[7] की रूह फूँक दी थी और इसी मज़ाक़ को बादशाह की तबीअत का अस्ली रंग चाहता और पसंद करता था।

इस्लामी शायरी का रंग, ख़िलाफ़ते इस्लामिया की पहली सदी तक तो यह था कि शायर एक ख़ास औरत पर आशिक़ होते। उसका नाम ले-लेकर उसके हुस्न की ख़ूबियों और उसकी अदाओं की दिल-फ़रेबियों को बयान करते और उसकी तरफ़ ख़िताब कर-करके अपनी बेताबियों और बेक़रारियों को ज़ाहिर करते। अक्सर छुप-छुपकर उससे मिलते, मगर तहज़ीब व इफ्फ़त[8] के दायरे से कभी क़दम बाहर न निकालते। चन्द रोज़ बाद अरब ही में माशूक़ गुमनाम हो गया और अमूमन शुअरा का माशूक़, इनके ख़याल का एक पुतला बन गया, जिसे रिन्द-मिशरब[9] तो कोई हसीन औरत या कोई ख़ूब-रू लड़का बताते। मगर सूफ़ी थोड़ी सी मअनवी (मानवी)[10] तावील[11] करके इसे अपना हसीने-मुतलक़ यानी ख़ल्लाक़े-आलम[12] बता देते। यही समोया हुआ छुपा-ढका मज़ाक़े-रिन्दी फ़ारसी शायरी में रहा और यही मज़ाक़ इस वक़्त तक उर्दू शायरी का भी था। मगर नव्वाब मिर्ज़ा 'शौक़' ने अपनी शायरी को,

---

१ नया शासन २ पलट ३ सुख-भोग ४ पुराना ज्योतिष ५ वाहियात और शरारती ६ एक प्रकार की कविता जिसमें दो दो चरण एक साथ रहते हैं और दोनों में तुकान्त मिलाया जाता है ७ विषय-लिप्सा ८ सदाचार ९ मनमौजी आदमी का तौर तरीक़ा १० भीतरी ११ बहाना या झूठी कैफ़ियत १२ विश्व का सिरजनहार।

हसीन परदादार औरतों पर आशिक़ होकर इनके ख़राब करने का आल:[1] बनाया और क़ियामत यह थी कि उनकी मसनवियों की ज़बान ऐसी ख़ूबसूरत, बे-तकल्लुफ़ और शुस्त:[2] व रफ़्त:[3] थी और उनमें आशिक़ाना जज़्बात इस कसरत से भर दिये गये थे कि मुहज़्ज़ब[4] व शाइस्त: लोगों से भी बे-देखे और बे-मज़ा लिये न रहा जाता।

वाजिदअली शाह ने भी इन मसनवियों को देखा और चूँकि माशाअल्लाह ख़ुद शायर थे, इस रंग को इख़्तियार करके अपने बहुत से इश्क़ों और अपनी अनफ़वाने-शबाब[5] की सदहा[6] -रिन्दाना बे-एतिदालियों[7] को ख़ुद ही मौज़ूँ करके, मुल्क में फैला दिया और अख़लाक़ी दुनिया में इक़रारी मुजरिम बन गये। मैं समझता हूँ कि बादशाह तो बादशाह, वुज़रा व उमरा में भी शाज़ व नादिर[8] ही ऐसे गुज़रे होंगे जिन्होंने अनफ़वाने-शबाब में अपनी शहवत-परस्ती की हविसों को जी भरकर न निकाल लिया हो। मगर वाजिदअली शाह की तरह किसी ने अपने इन बे-शर्मी के जरायम को ख़ुद ही पबलिक के सामने पेश नहीं किया था। वाजिदअली शाह ज़ोर में आये तो चाहे शायरी में न बढ़ सकें मगर अपने जज़्बात व ख़यालात और अपने कारनामों को आलमें-आशकारा करने में नव्वाब मिर्ज़ा से भी दो क़दम आगे निकल गये और यहाँ तक तरक़्क़ी की कि बाज़ मौक़ों पर इन्हें मुब्तज़िल बाज़ारी मज़ाक़ और फ़ह्श अल्फ़ाज़ के इस्तेमाल में भी तअम्मुल नहीं होता।

वह कहारियों, रंडियों, ख़वासों, महल में आने-जानेवाली औरतों, ग़रज़ सदहा औरतों पर आशिक़ हुए, और चूँकि वली-अहदे सल्तनत थे, अपने इश्क़ में ख़ूब कामयाब हुए। जिनकी शर्मनाक दास्तानें उनकी नज़्मों, तहरीरों और तस्नीफ़ों में, ख़ुद इनकी ज़बान से सुन ली जा सकती हैं और यही सबब है कि तारीख़ में उनका कैरक्टर (आचरण) सबसे ज़ियाद: नापाक और तारीक[9] नज़र आता है।

चूँकि इमारत का बेहद शौक़ था, इसलिए तख़्तनशीन होते ही क़ैसरबाग़ की इमारत बनवाना शुरू कर दी, जो चाहे आसफ़उद्दौल: की इमारतों की तरह मज़बूत न हो मगर ख़ूबसूरती और शानदारी में लाजवाब है। इसमें बहुत सी ख़ुशनुमा और बशान व शौकत दो मंज़िली इमारतों का एक मुरब्बअ[10]-मुस्तलील[11] रक़ब: दूर तक चला गया था, जिसका एक रुख़ जो दरिया की जानिब था, ग़दर के बाद खोद डाला गया और तीन ज़िले अब तक क़ायम हैं जिनको मुख़्तलिफ़ क़ितआत[12] पर बाँटकर गवर्नमेंट ने ताल्लुक़दाराने अवध के हवाले कर दिया है और हुक्म दिया है कि उनमें रहें और इनको उसी वज़ा में क़ायम व बर-क़रार रखें।

क़ैसरबाग़ का अन्दरूनी सहन जिसमें चमनबंदी थी, 'जुलूख़ाना' कहलाता था।

---

१ औज़ार २ साफ़ ३ धीमी ४ तहज़ीबदार, शिष्ट ५ चढ़ती जवानी ६ सैकड़ों ७ असंयमों ८ कभी-कभी ९ अँधकारपूर्ण १० चौकोर ११ आयताकार १२ हिस्सा, विभाग।

दरमियान में बारहदरी थी जो आज कल लखनऊ का टाउन हाल है। इसमें और कई इमारतें भी थीं जो अब नहीं बाक़ी हैं। इसके बाहर यहाँ से मुत्तसिल ही बहुत सी शाही इमारतें थीं जिन्होंने इस क़ितअ़े ज़मीन को अजूब-ए रोज़गार बना दिया था। यह इमारतें क़ैसरबाग़ के मशरिक़ी फाटक के बाहर थीं। लोगों को इस फाटक से निकलते ही दोनों जानिब चोबी स्क्रीनें मिलती थीं जिनमें से गुज़र कर वह चीनीबाग़ में पहुँचते। वहाँ से बाएँ हाथ की तरफ़ मुड़कर आप जलपरियों के एक आलीशान फाटक पर पहुँचते, जिस पर मदार-उल्-महाम[1] सल्तनत नव्वाब अली नक़ीख़ाँ का क़ियाम रहता था। ताकि हरवक़्त जहाँपनाह से क़रीब रहें और ब-वक़्ते ज़रूरत फ़ौरन् बुला लिए जा सकें। इस फाटक के उस तरफ़ हज़रतबाग़ था और अन्दर ही दाहिनी तरफ़ चाँदीवाली बारहदरी थी। यह एक मामूली ईंट चूने की इमारत थी। मगर छत में चाँदी के पत्तर जड़े होने की वजह से चाँदीवाली बारहदरी कहलाती। इसी से मुलहक़[2] कोठी ख़ास-मुक़ाम थी, जिसमें ख़ुद जहाँपनाह सलामत रहते और वहीं नव्वाब सआदतअली ख़ाँ की बनाई हुई पुरानी कोठी बादशाह मंज़िल थी। फिर इन चोबी-स्क्रीनों[3] के गलियारे से निकलकर दूसरी तरफ़ मुड़िए तो पेचीदः इमारतों का एक सिलसिलः दूर तक चला गया था जो चौलक्खी के नाम से मशहूर थीं। इन इमारतों का बानी हुज़ूरी नाई अज़ीमुल्लाह था जिन्हें बादशाह ने चार लाख रुपये देकर मोल लिया था। नव्वाब ख़ासमहल और मुअज़्ज़िज़ महल्लातें आलियात इसमें रहती थीं। इसी के अन्दर ग़दर के ज़माने में हज़रतमहल का क़ियाम रहा और यहीं उनका दरबार हुआ करता था।

यहाँ से एक सड़क क़ैसरबाग़ की तरफ़ आई थी जिसके किनारे एक बड़ा भारी सायःदार दरख़्त था, इसके नीचे गिर्दा-गिर्द संगेमर्मर का एक नफ़ीस गोल चबूतरः बनाया गया था जिस पर क़ैसरबाग़ के मेलों के ज़माने में जहाँपनाह जोगी बनकर, गेरुवे कपड़े पहिनकर आते और धूनी रमा के बैठते। इस चबूतरे से आगे बढ़कर एक आलीशान फाटक था जो लक्खी फाटक कहलाता, इसलिए कि इसकी तामीर में एक लाख रुपये सर्फ़ हुए थे और इससे बढ़कर आप फिर क़ैसरबाग़ में आ जाते। क़ैसरबाग़ की इमारत में सल्तनत के अस्सी लाख सर्फ़ हुए थे और उसके चारों तरफ़ की इमारतों में जहाँपनाह की बेगमें और परीजमाल व माहे तलअ़त ख़ातूनें रहतीं, जिनकी जगह अब अजीब व ग़रीब सूरतों को देखकर बाज़ पुराने ज़मानेवाले कह उठा करते हैं :—

परी नहुफ़्तः रुख़ व देवदर करिश्मः व नाज़।
व सोख़्त अक़्ल ज़हैरत कि ईचः बू अल् अ़जबीस्त[4]॥

---

१ प्रधानमंत्री २ लगा हुआ ३ काठ की ४ परी लेटी हुई है और देव उससे अठखेलियाँ कर रहा है। अब यहाँ की बदली हुई दशा देख कर अक़्ल हैरान है।

क़ैसरबाग़ के मग़रिबी फाटक के बाहर रौशनउद्दौल: की कोठी थी। इसे वाजिदअली शाह ने ज़ब्त करके इसका नाम क़ैसर-पसंद रख दिया था, और उनकी एक महबूबा नव्वाब माशूक़महल इसमें रहती थीं। अब इसमें साहब डिप्टी कमिश्नर बहादुर की अदालत है। इसके सामने और क़ैसरबाग़ के इस मग़रिबी पहलू पर भी एक दूसरा जल्व:ख़ाना[1] था।

साल में एक मर्तब: क़ैसरबाग़ में एक अज़ीमुश्शान मेला होता था जिसमें पब्लिक को भी क़ैसरबाग़ में आने और जहाँपनाह की इशरतपरस्तियों का रंग देखने का मौक़ा मिल जाता। बादशाह ने श्रीकृष्ण जी का रहस जो हिन्दुओं में मुरव्विज[2] है,—देखा था और श्रीकृष्ण जी की माशूक़ाना-रविश आशिक़ी इस क़दर पसंद आ गई थी कि उस रहस से ड्रामा के तौर पर एक खेल ईजाद किया था, जिसमें ख़ुद कन्हैया बनते। मुख़द्दराते[3] अस्मतें आयात[4] गोपियाँ बनतीं और नाच-रंग की महफ़िलें गरम होतीं। कभी जोशे जवानी के जज़्बात से जोगी बन जाते। मोतियों को जलाकर भभूत बनाई जाती। जिसकी बदौलत फ़क़ीरी में भी शाही के करिश्मे नज़र आते। मेले के ज़माने में इन सुहबतों में शरीक होने की आम अहले शहर को इजाज़त हो जाती। मगर इस शर्त के साथ कि गेरुवे कपड़े पहिनकर आएँ। जिसका नतीजा यह था कि अस्सी-अस्सी बरस के बुड्ढे भी शिंगरफ़ी कपड़े पहिनकर छैला बन जाते और बादशाह की जवानी के बाद-ए तरब से अपने बुढ़ापे का जाम भर लेते।

यही रंग चला जाता था और लखनऊ में कमाल बेफ़िक्री के साथ रँगरेलियाँ मनाई जा रही थीं कि गवर्नमेंट बरतानिया को रेज़ीडेंटों ने यहाँ के हालात से आगाह किया और वहाँ के बोर्ड ने यह फ़ैसला कर दिया कि मुल्क अवध क़लम-रौ[5] बरतानिया में शामिल कर लिया जाए। इस हुक्म की तामील के लिए अंग्रेज़ी फ़ौज लखनऊ में आई और यकायक ख़िलाफ़े-तवक़्क़ा[6] (तवक़्क़ुअ) बादशाह को हुक्म सुनाया गया कि :—"आपका मुल्क अंग्रेज़ी मुमालिके मुहरूसा[7] में शामिल कर लिया गया है, आप के लिए बारह लाख रुपया सालाना और आपके जुलूसी लश्कर के लिए तीन लाख रुपया माहवार जो आपकी और वाबिस्तगाने दामन[8] की ज़रूरतों के लिए ब-ख़ूबी काफ़ी है? मुक़र्रर की गई (कुजा) और आपको इजाज़त है कि शहर के अन्दर आराम से बेफ़िक्र बनकर बैठिए और रिआया की फ़िक्रों से आज़ाद होकर बे-गुल[9] व ग़श रँगरेलियाँ मनाइए।

यह अहकाम सुनते ही शहर में सन्नाटा हो गया। ख़ुद बादशाह ने रो-धोकर बहुत कुछ उज़्र-ख़्वाही की। बादशाह की माँ और ख़ासमहल ने हक़्क़े वकालत अदा

---

१ शोभा-भवन २ प्रचलित ३ परदे में रहनेवाली ४ सतीत्व का रूप बनने-वाली ५ राज्य ६ आशा, उम्मेद ७ अधिकार ८ सम्बन्धितों ९ बिना हल्ला-गुल्ला बेहोशी।

किया, मगर गवर्नर-जनरल बहादुर के हुक्म में रद्दोबदल करना, साहब रेज़ीडेंण्ट के इक़्तिदार[1] से बाहर था। ईस्ट-इंडिया-कम्पनी की गवर्नमेण्ट ने बग़ैर किसी ज़हमत व मज़ाहमत के मुल्के अवध पर क़ब्ज़: कर लिया और बादशाह मअ़ अपनी वालिद:, वली अहद, खास महल्लात[2] और जाँ-निसार रुफ़क़ा[3] के कलकत्ते रवाना हुए कि इंग्लिस्तान जाकर अपील करें और अपनी बे-गुनाही साबित करके इन्तिज़ाअे सल्तनत[4] के हुक्म को मन्सूख[5] करायें।

वाजिदअली शाह की यह बड़ी खुशनसीबी थी कि ताज व तख़्त से जुदा होते ही आखिर सन् १२८५ मुहम्मदी (सन् १८५६ ई०) में लखनऊ छोड़कर कलकत्ते की तरफ़ रवाना हो गए। ताकि अपने मामले (मुआमले) में बा-ज़ाब्त: पैरवी करें और गवर्नर जनरल हिन्द के दरबार से कामयाबी न हो तो लंदन पहुँचकर मुक़दमे को पार्लमेण्ट और मल्क-ए इंग्लिस्तान के सामने पेश कर दें। चुनांचि: जब कलकत्ते में काम न निकला तो इंग्लिस्तान का क़स्द किया मगर अतिब्बा[6] ने बहरी सफ़र को बादशाह के लिए मुज़िर तसव्वर किया और मुशीरों ने रोका। नतीजा यह हुआ कि खुद बादशाह तो कलकत्ते ही में ठहर गए मगर अपनी माँ और भाई के साथ वलीअहद को इंग्लिस्तान रवाना किया। इस सफ़र में मेरे नाना मुंशी क़मरुद्दीन साहब मरहूम भी इस खानुमाँ बरबाद शाही क़ाफ़िले के साथ थे। बादशाह को सरकार अंग्रेज़ी की मुजव्वज़: तनख्वाह लेने से इन्कार था, और अड़े हुए थे कि हम तो अपना ताज व तख़्त ही लेंगे। जो बे-क़ुसूर छीना गया है।

बादशाह कलकत्ते में थे, इनका खानदान लंदन में था, और मामला ज़ेरे-ग़ौर था कि यकायक कार्तूसों के झगड़ों और गवर्नमेण्ट की ज़िद ने सन् १२८६ मुहम्मदी (सन् १८५७ ई०) में ग़दर पैदा कर दिया और मेरठ से बंगाले तक ऐसी आग लगी कि अपने पराए सबके घर जल उठे और ऐसा फ़ित्न-ए अज़ीम पैदा हुआ कि हिन्दोस्तान में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की बुनियाद ही मुतज़लज़ल नज़र आती थी। जिस तरह मेरठ वग़ैर: के बाग़ी हर तरफ़ से सिमट कर देहली में जमा हुए थे और ज़फ़र शाह को हिन्दोस्तान का बादशाह बनाया था, वैसे ही इलाहाबाद व फ़ैज़ाबाद के बाग़ी मई सन् १८५७ ई० में जोश व खरोश के साथ लखनऊ पहुँचे। इनके आते ही यहाँ के भी बहुत से बे-फ़िक्रे उठ खड़े हुए और शाही खानदाने अवध का और कोई रुक्न न मिला तो वाजिदअली शाह के एक दस बरस के नाबालिग़ बच्चे मिर्ज़ा बरजीस क़दर को तख़्त पर बैठा दिया और इनकी माँ नव्वाब हज़रत महल सल्तनत की मुख्तारे-कुल बनीं। थोड़ी सी अंग्रेज़ी फ़ौज जो यहाँ मौजूद थी और इसके साथ यहाँ के तमाम योरोपियन ओहद:दाराने ममलकत, जो बाग़ियों के हाथ से जाँ-बर हो सके, बेलीगारद में क़िलाबंद हो गए। जिसके गिर्द बाग़ियों के पहुँचने से पहले ही धुस बना लिए

---

१ अधिकार २ बेगमें ३ साथियों ४ राज्य का उलट-पलट ५ निरस्त ६ मुसाहिबों।

गए थे और हिफ़ाज़त व बसर का काफ़ी वन्दोवस्त कर लिया गया था। ग़नीमत हुआ या यह कहिए कि क़िस्मत अच्छी थी कि वाजिदअली शाह लखनऊ से जा चुके थे, वरनः वही ख्वाहमख्वाह वादशाह वनाए जाते। उनका हश्र ज़फ़र शाह से भी वदतर होता और अवध के परेशान-वख्तों को ज़रा पनपने के लिए मटियावुर्ज के दरवार का जो एक आरयती[1] सहारा मिल गया था, यह भी न नसीव होता।

अव लखनऊ में अंग्रेज़ों की वाक़ी फ़ौज के अलावा, अवध के अक्सर ज़मींदार व ताल्लुक़दार और अहदे शाही के वर-तरफ़शुदा सिपाही कसरत से जमा थे और इनमें शहर के वहुत से औवाशों[2] और हर तवक़े के लोगों का तूफ़ाने वे-तमीज़ी भी शरीक हो गया था। मालूम होता था कि थोड़े से अंग्रेज़ों पर एक खुदाई का नरग़:[3] है। मगर फ़र्क़ यह था कि मुहासरा[4] करने वालों में सिवा औवाश अहले शहर और वे-उसूल व खुदसर मुद्दईयाने शुजाअत के एक भी ऐसा शख्स न था जो उसूले-जंग से वाक़िफ़ हो और तमाम मुन्तशिर[5] क़ुव्वतों को यकजा करके एक वा-ज़ाव्ता फ़ौज वना सके। व-खिलाफ़ इसके अंग्रेज अपनी जान पर खेलकर अपनी हिफ़ाज़त करते।

सिर हथेली पर लेकर हमल:आवरों को रोकते थे और जदीद-उसूले-जंग से वखूवी वाक़िफ़ थे।

अव लखनऊ में वरजीस क़दर का ज़माना और हज़रतमहल की हुकूमत थी। वरजीस क़दर के नाम का सिक्का जारी हुआ, ओहद:दाराने सल्तनत मुक़र्रर हुए। मुल्क से तहसील वसूल होने लगी और सिर्फ़ तफ़ुन्नने-तवअ[6] के तौर पर मुहासरे की कार्रवाई भी जारी थी। लोग हज़रतमहल की मुस्तैदी व नेकनफ़्सी की तारीफ़ करते हैं। वह सिपाहियों की निहायत क़द्र करतीं और इनके काम और हौसले से ज़ियाद: इनाम देती थीं। मगर इसका क्या इलाज कि यह मुमकिन न था कि वह खुद परदे से निकल कर फ़ौज की सिपहसालारी करतीं। मुशीर अच्छे न थे और सिपाही काम के न थे। हर शख्स ग़रज़ का वन्दा था और कोई किसी का कहना न मानता था। अंग्रेजी फ़ौज के वाग़ी इस ग़ुरूर में थे कि यह फ़क़त हमारे दम का ज़हूरा[7] है। अस्ली हाकिम हम ही हैं और जिसके सिर पर जूता रख दें वही वादशाह हो जाए। अहमदुल्लाह नाम शाह साहव, जो फ़ैज़ावाद के वाग़ियों के साथ आए थे और कई मारकों[8] में लड़ चुके थे, वह अलग अपना रोव जमा रहे थे वल्कि खुद अपनी हुकूमत क़ायम करना चाहते थे। वरजीस क़दर के मुक़ाविल लखनऊ ही में इनका दरवार अलग क़ायम था और दोनों दरवारों में पोलीटिकल इख्तिलाफ़[9] के साथ, शीआ-सुन्नी का झगड़ा और तअस्सुव[10] भी नुमायाँ होने लगा। ग़रज़ वादशाह और शाह साहव में रक़ावत[11] वढ़ती जाती थी। आख़िर इसी साल नवम्वर के महीने में

---

१ सामयिक २ लुच्चे, वदमाश ३ विपत्ति ४ घेरा ५ तितर-वितर
६ मनचाही ७ प्रताप ८ युद्धक्षेत्र ९ विरोध १० धार्मिक-पक्षपात, कट्टरपन
११ प्रतिद्वन्दिता।

वरजीसक़दर की तख़्तनशीनी को छै ही सात महीने हुए थे कि अंग्रेज़ी फ़ौज लखनऊ पर तसल्लुत[1] हासिल करने के लिए आ गई। जिसके साथ पंजाब के सिख और भूटान के पहाड़ी भी थे और कहा जाता है कि इन्हीं लोगों ने ज़ियादः मज़ालिम किए। दो ही तीन दिन की गोलावारी में नई सलतनत का जो नक़्श क़ायम हुआ था, मकड़ी के जाले की तरह टूटकर रह गया। हज़ारहा मफ़रूरीन[2] के साथ हज़रतमहल और वरजीसक़दर नैपाल की तरफ़ भागे। शाह साहव ने दो तीन दिन लड़ लड़कर अगरचिः वरजीसक़दर के लिए आज़ादी से भागने का मौक़ा पैदा कर दिया, मगर ख़ुद अपनी जान न वचा सके, शिकस्त खाकर भागे। बाड़ी और मुहम्मदी होते हुए पवाएँ में पहुँचे वहाँ किसी ने गोली मार दी। पवाएँ के राजा ने सिर काटकर अंग्रेज़ों के पास भेजा और सिले में इनाम व जागीर पाई।

आवादी को वाग़ियों से साफ़ करने के लिए अंग्रेज़ों ने शहर में सख़्त गोलावारी की। सारी रिआया घवरा उठी। ज़न व मर्द घर छोड़कर भागे, और एक ऐसी क़ियामत वरपा हो गई कि जिन लोगों ने देखा है, आज तक याद करके काँप जाते हैं। महलों की वैठने वालियाँ, जिनकी सूरत कभी आफ़्ताव तक ने न देखी थी, वरहनः पा[3] जंगलों की खाक छानती फ़िरती थीं। वे-कसी में एक-एक का दामन पकड़ती थीं और जो मिलता था, दुश्मन ही मिलता था और 'सादी' का यह मिसरा (मिसरअ) पूरी तरह सादिक़[4] आ रहा था "याराँ फ़रामोश करदन्द इश्क़"[5] इसी हालत में फ़तहयाव फ़ौज ने शहर को लूटा और वाद खरावी बिसूरः (विसियार[6]) ख़ुदा-ख़ुदा करके लोगों को फिर अपने घरों में आने की इजाज़त मिली। अव एक तहलके के वाद जो अमन क़ायम हुआ था, वह वफ़ज़्लिही तआला आज तक क़ायम और रोज़-ब-रोज़ तरक़्क़ी करता जाता है। लेकिन पुरानी दौलत के वाविस्तगानें-दामन[7] और आज़ाअें-शाही[8] जो इन्क़िलावें सल्तनत[9] के वाद विलकुल वेकार हो गए और नई सल्तनत से फ़ायदा उठाने की लियाक़त न रखते थे, मिटते ही चले गए। चुनांचिः बड़े-वड़े दौलतमन्द और मुअज़्ज़िज़ घरानों के पामाल व तवाह होने का सिलसिलः मुद्दत तक वरावर जारी रहा। मुहल्ले के मुहल्ले उजड़ते चले जाते थे और खानदान के बाद ख़ानदान मिट रहा था और अक्सर लोगों को यक़ीन हो गया था कि चन्द रोज़ के वाद लखनऊ का नाम व निशान भी वाक़ी न रहेगा, लेकिन अंजाम में सरकार अंग्रेज़ी की वह तदवीरें, जिन्होंने सारी दुनिया में अंग्रेज़ों की नौआबादियाँ क़ायम करा दी हैं, ग़ालिव आईं और लखनऊ हवादिसे ज़माना की दस्त-वुर्द[10] से वचके पनपा। जिनको मिटना था, मिट गए और जो वाक़ी रहे, सँभलने के क़ाविल हो गए और

---

१ पूर्ण अधिकार २ भागने वाले ३ नंगे पाँव ४ उपयुक्त ५ लोगों को इश्क़ करना भूल गया ६ वहुत ७ सम्वन्धी ८ राजघराने वाले ९ राज्य का उलट-पलट का फेर १० विनाशकारी पंजे।

अगर मिस्टर वटलर के ऐसे चन्द और हाकिम लखनऊ को मिल गए तो उम्मीद है कि आयन्दः वहुत तरक़्क़ी करेगा।

ज़रूरत मालूम होती है कि इस सिलसिलए वाक़िआत में हम वाजिदअली शाह की वाक़ी माँदः[१] ज़िन्दगी और उनके क़ियाम कलकत्ता के हालात भी अपने नाज़िरीन[२] के सामने पेश कर दें। क्योंकि वग़ैर इसके इस तारीख़ का तक्मिलः[३] नहीं हो सकता। कलकत्ते में ख़ुद हमारा वचपन वादशाह के ज़िल्लेहिमायत[४] में वसर हुआ है। और गुज़श्तः वाक़िआत के हालात अगर हमने लोगों से सुनके और औराक़ेतारीख़ में पढ़के बयान किये हैं तो आइन्दः अक्सर चश्मदीद[५] हालात बयान करेंगे।

कलकत्ते से तीन चार मील की मसाफ़त[६] पर जुनूव की तरफ़, दरियाए भागीरथी (हुगली) के किनारे "गार्डेन यच" नाम एक ख़ामोश मुहल्ला है और चूँकि वहाँ एक मिट्टी का तोदः सा था, इसलिए आम लोग उसे "मटिया बुर्ज" कहते थे। यहाँ कई आलीशान कोठियाँ थीं जिनकी ज़मीन दरिया के किनारे-किनारे तक़रीवन दो-ढाई मील तक चली गई है। जव वाजिदअली शाह कलकत्ते में पहुँचे तो गवर्मेंट आफ़ इन्डिया ने यह कोठियाँ उन्हें दे दीं। दो ख़ास वादशाह के लिए, एक नव्वाव ख़ासमहल के वास्ते। और एक अलीनक़ी ख़ाँ की सुकूनत[७] के लिए, जो वादशाह के साथ थे। और उनके गिर्द ज़मीन का एक वड़ा क़ितअ[८] जो अर्ज़ में दरिया किनारे से तक़रीवन डेढ़ मील तक चला गया था और उसका हल्क़ा छः सात मील से कम न होगा, वादशाह को अपने और अपने मुलाज़िमीन के क़ियाम के लिए दिया गया। म्यूनिसिपैलटी की सड़क इस रक़वे को तूलन[९] क़ितअ करती थी। वह दो कोठियाँ जो वादशाह को दी गई थीं उनके नाम वादशाह ने सुल्तानख़ानः और असदमंज़िल क़रार दिए और नव्वाव ख़ासमहल की कोठी पर भी जव वादशाह ने क़ब्ज़ः कर लिया तो उसका नाम मुरस्सअ-मंज़िल रखा। और अलीनक़ी ख़ाँ की कोठी आख़िर तक उन्हीं के क़ब्ज़े में रही। और उनके वाद उनकी औलाद ख़ुसूसन नव्वाव अख़्तरमहल के क़ब्ज़े में रही, जो अलीनक़ी ख़ाँ की वेटी और वादशाह की मुमताज़ वीवी वल्कि उनके दूसरे वली अहद मिर्ज़ा ख़ुशवख़्त वहादुर की माँ थीं।

ग़दर के ज़माने में अंग्रेज़ी फ़ौज के वाग़ी अफ़्सरों ने इरादः किया कि अगर वादशाह उनके हुक्मराँ वनें तो वह कलकत्ते में भी ग़दर कर दें। मगर वादशाह ने गवर्मेन्ट आफ़ इन्डिया के वारे में यह रविश न तख़्त व ताज से जुदा होते वक़्त इख़्तियार की थी और न अव पसन्द की। वल्कि लाट साहव को उन लोगों के इरादे की इत्तिला कर दी। जिस पर उनका शुक्रिया अदा किया गया। मगर दो ही चार रोज़ वाद मुनासिव समझा गया कि वादशाह को क़िलए फ़ोर्ट विलियम में रखा जाये ताकि फिर

---

१ वचीखुची, २ पाठकों ३ पूर्ति ४ छत्रछाया ५ आँखों देखी ६ दूरी ७ निवास ८ पृथक् टुकड़ा ९ लम्वाई से पार।

कभी वाग़ियों की उन तक रसाई[१] न हो सके। लन्दन में उनकी जानिव से जो मुक़द्दमा पेश था, वह इस विना पर मुल्तवी[२] कर दिया गया कि जिस मुल्क पर यह दावा है वह अव हमारे क़ब्ज़े ही में नहीं। जब उस पर फिर दौलतेवर्तानिया का क़ब्ज़ा हो लेगा, तव देखा जायेगा।

वादशाह इस हिरासत ही में थे कि लखनऊ का ग़दर फ़ुरू[३] हो गया और मसीहउद्दीन ख़ाँ ने, जो लन्दन में वादशाह के मुख्तारेआम थे, फिर अपना दावा पेश किया। उन्हें वदिअुन्नज़र[४] में कामियावी और इस्तिर्दादेसल्तनत[५] की पूरी उम्मीद थी। मगर वदक़िस्मती से उन लोगों में, जो क़िले में वादशाह के मुशीर और मुसाहिव थे, ख्वाह किसी वैरूनी तहरीक से, या खुद अपने नफ़े के खयाल से, एक साज़िश हुई। इन लोगों ने खयाल किया कि अगर मसीहउद्दीन ख़ाँ मुक़द्दमा जीत गए तो हमारा वाज़ार सर्द पड़ जायेगा और वही वह रह जायेंगे; लिहाज़: सवने वादशाह को समझाना शुरू किया कि "जहाँपनाह! भला किसी ने मुल्क लेके दिया है? मसीहउद्दीन ख़ाँ ने हुज़ूर को धोके में डाल रखा है। होना हौआना कुछ नहीं है और जहाँपनाह मुफ़्त में तकलीफ़ उठा रहे हैं। डेढ़ दो साल से तनख्वाह नहीं ली है, हर वात की तंगी है और हम मुलाज़िमानेदौलत भी पैसे-पैसे को मुहताज हैं। मुनासिव यह है कि हुज़ूर गवर्मेन्ट अंग्रेज़ी की तजवीज़ों को क़ुवूल कर लें और तनख्वाह वसूल करके, इत्मीनान व फ़ारिग़ुलवाली से अपने महल्लाते आलियात और आस्ताँ वोस्ताँने दौलत के साथ वसर फ़रमाएँ"।

वादशाह को खर्च की तंगी थी और वादशाह से ज़ियादः उनके रुफ़क़ा[६] परेशान थे। मुसाहिवों ने जव वार-वार तजवीज़[७] पेश की तो विला तकल्लुफ़ हुज़ूर वायसराय की खिदमत में लिख भेजा "मुझे सरकार अंग्रेज़ी के मुजव्वज़:[८] माहवार लेना मंज़ूर है, लिहाज़: मेरी इस वक़्त तक की तनख्वाह दी जाये और मुक़द्दमा जो लन्दन में दायर है खारिज किया जाये"। जवाव मिला "अव आपकी अव्वल तो गुज़श्तः अय्याम की माहवार न दी जाएगी, सिर्फ़ इसी वक़्त से यह माहवार जारी होगी। दूसरे फ़क़त वारह लाख रुपये सालाना दिए जायेंगे और जो तीन लाख रुपये सालाना आपके मुलाजिमीन के लिए तजवीज़ किए गये थे अव उनके देने की ज़रूरत नहीं समझी जाती"।

वज़्नेग़ालिव[९] वादशाह इस नुक़सान को गवारा न करते मगर मुसाहिवों ने इस पर भी राज़ी कर दिया और गवर्मेन्ट आफ़ इन्डिया ने इंग्लिस्तान में इत्तिला दी कि वाजिदअली शाह ने गवर्मेन्ट की तजवीज़ को मंज़ूर कर लिया, लिहाज़: उनका मुक़द्दमा खारिज किया जाये। यह वाक़ियात मैंने खुद अपने नाना मुन्शी क़मरुद्दीन साहव की ज़वान से सुने हैं जो जनावे आलियः के हमराही, दफ़्तर के मीर मुन्शी और मौलवी मसीहउद्दीन ख़ाँ के नायवेखास थे और कुल कार्रवाइयाँ उन्हीं के हाथ से अमल में

१ पहुँच, पैठ २ स्थगित ३ समाप्त ४ ज़ाहिर ५ सल्तनत की वापसी ६ साथी ७ प्रस्ताव ८ तय किया हुआ ९ सच तो यह समझा जाय।

आयी थीं। बादशाह के माहवार पर राज़ी हो जाने की खबर जैसे ही लन्दन में पहुँची, मसीहउद्दीन ख़ाँ के हवास जाते रहे। बादशाह की माँ, उनके भाई और वलीअहद ने सर पीट लिया और हैरान थे कि यह क्या ग़ज़ब हो गया। अफ़सोस इस वक़्त तक का सब किया धरा ख़ाक में मिल जाता है। आखिर मसीहउद्दीन ख़ाँ ने सोचते-सोचते एक बात पैदा की और पार्लीमेन्ट में यह क़ानूनी उज़्र पेश किया कि "बादशाह फ़िलहाल गवर्मेन्ट आफ़ इन्डिया की हिरासत में है और ऐसी हालत में उनकी कोई तहरीर पाय-ए-एतिबार को नहीं पहुँच सकती"।

उज़्र माक़ूल था तस्लीम[1] किया गया और गवर्मेन्ट आफ़ इन्डिया को बादशाह के मुख़्तार की उज़्रदारी से मुत्तिला किया गया। साथ में मसीहउद्दीन ख़ाँ और तमाम अर्कानेख़ानदानेशाही ने बादशाह को लिखा कि "यह आप क्या ग़ज़ब कर रहे हैं, हमें मुल्कैअवध के वापस मिलने की पूरी उम्मीद है" अब ग़दर फ़ुरू[2] हो चुका था, गवर्मेन्ट ने बादशाह को छोड़ दिया और वह ख़ुशी-ख़ुशी क़िले से निकलकर मटिया बुर्ज में आये और आज़ादी हासिल हुई ही थी कि मुसाहिबों ने अर्ज़ किया "हुज़ूर मसीहउद्दीन ख़ाँ लन्दन में कह रहे हैं कि जहाँपनाह ने तन्ख्वाह लेने को सिर्फ़ क़ैद होने की वजह से मंजूर कर लिया है"। यह सुनते ही बादशाह ने बरअफ़रोख़्त:[3] होके उसी वक़्त लिख भेजा कि "हमने आज़ादी बरज़ा व रग़बत गवर्मेन्ट की तजवीज़ को मंजूर किया है और मसीहउद्दीन ख़ाँ का यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि हमने क़ैद में होने या किसी जब्र व कराह की वजह से मंजूरी दी है। लिहाज़: हम आइन्दा के लिए इस मुख़्तारनामे ही को मंसूख़ किये देते हैं जिसकी रू से वह हमारे मुख़्तारेआम बनाये गये हैं।

अब क्या था सारी कार्रवाई ख़त्म हो गई। बादशाह मटिया बुर्ज में रंगरेलियाँ मनाने लगे, मुसाहिबों के घरों में हुन बरसने लगा और शाही ख़ानदान का शिकस्ताहाल क़ाफ़िला जो इंगलिस्तान में पड़ा हुआ था, क़रीब-क़रीब वहीं तबाह हो गया। अक्सर हमराहियों ने साथ छोड़ दिया। बादशाह की माँ जनाबे आलिया इस सदमे से बीमार हो गयीं और उसी बीमारी में चलीं कि मुल्क फ़्राँस से होती हुई मक़ामातेमुतबर्रक: में जायें और उनकी ज़ियारत से शर्फ़याब होके कलकत्ते पहुँचे, मगर मौत ने पैरिस से आगे क़दम न बढ़ाने दिया, वहीं इन्तिक़ाल किया और उस्मानी सिफ़ारत ख़ानए-फ़्राँस की मस्जिद के मुत्तसिल[4] मुसलमानों का एक क़ब्रिस्तान है, उसी में दफ़्न हुईं। मिर्ज़ा सिकन्दर हश्मत को माँ के मरने का इस क़दर सदम: हुआ कि माँ के मरते ही ख़ुद बीमार पड़ गये और माँ के चौदह पन्द्रह रोज बाद वह भी माँ के बराबर यौमेजज़ा[5] का इन्तिज़ार करने के लिए लिटा दिये गए। अकेले मिर्ज़ा वलीअहद बहादुर कलकत्ते वापस आके माँ-बाप से मिले।

---

१ स्वीकार २ समाप्त ३ क्रोधित ४ मिला हुआ ५ निर्णय के दिन।

कहते हैं कि इब्तिदाअन मटिया बुर्ज में भी बादशाह की ज़िन्दगी, निहायत ही बेदारमग़ज़ी और होशियारी की थी। यह हालत देखकर गर्दोपेश के लोगों ने चन्द आलातेमौसीक़ी[1] फ़राहम कर दिये। फ़ौरन सुरुद बमस्तान याद दहानीदन का पूरा-पूरा मज़मून सादिक़ आ गया और अरबाबेनिशात[2] का गिरोह वहाँ भी जमा होने लगा। हिन्दोस्तान के अच्छे-अच्छे गवय्ये आकर मुलाज़िम हुये और मटिया बुर्ज में मौसीक़ीदानों का ऐसा मजमअ् हो गया था कि किसी और जगह न था।

ख़ूबसूरत औरतों के जमा करने और हुस्न व इश्क़ के करश्मों में फँसे रहने का वहाँ भी वैसा ही शौक़ था जैसा कि लखनऊ में सुना जाता है। मगर मटिया बुर्ज में इस शौक़ में मज़हबी एहतियात का पूरा लिहाज़ रहता। बादशाह शीआ् थे और शीओं में मुताअ् बग़ैर किसी तहदीद[3] और रोक के जायज़ है। इस मज़हबी आज़ादी से फ़ायदः उठा के, बादशाह जी भर के अपना शौक़ पूरा कर लेते। और क़ायदः था कि ग़ैर-ममतूअ्:[4] औरत की सूरत तक देखना गवारह न करते। यह एहतियात इस हद तक बढ़ी हुई थी कि एक जवान भिश्तन जो बादशाह के सामने ज़नाने में पानी लाती उससे भी मुताअ् करके, उसे नव्वाब आबेरसाँ का ख़िताब दे दिया। एक जवान ख़ाक रोबन जिसकी हुज़ूरी में आमद व रफ़्त रहती वह भी ममतूआत में दाख़िल होके नव्वाब मुसफ़्फ़ा बेगम के ख़िताब से सर्फ़राज़ हुई। इसी तरह मौसीक़ी का शौक़ भी ममतूआत ही तक महदूद रहता। शायद शाज़ोनादर ही इसका इत्तिफ़ाक़ हुआ होगा कि बादशाह ने कभी किसी बाज़ारी तवायफ़ का मुजरा देखा हो। ख़ुद ममतूआत की मुख़तलिफ़ पार्टियाँ बना दी गयीं थीं जिनको मुख़तलिफ़ तर्ज़ पर रक़्स व सुरूद[5] की तालीमें दी जातीं। एक राधा मंज़िल वालियाँ, एक झूमर वालियाँ, एक लटकन वालियाँ, एक सारधामंज़िल वालियाँ, एक नथ वालियाँ, एक घूँघट वालियाँ, एक रहस वालियाँ, एक नक़्ल वालियाँ, और इसी तरह के बीसियों गिरोह थे जिनको रक़्स व सुरूद की आला तालीम दी गयी थी और उन्हीं के नाच गाने से उनका दिल बहलता। जिन सबसे मुताअ् हो गया था, बेगमें कहलाती थीं और दो एक गिरोहों में अगर चन्द कमसिन लड़कियाँ ग़ैरममतूअ्: थीं तो इसलिए थीं कि बाद बुलूग़ दाख़िलेममतूआत कर ली जायेंगी। इनमें से अक्सर ख़ुद बादशाह के क़रीब ख़ास सुल्तानखाने में रहतीं और बाज़ को दूसरी कोठियों में जुदा महलसरायें मिली थीं। इन ममतूआत में से जो साहिबेऔलाद हो जातीं उनको महल का ख़िताब दिया जाता। रहने को जुदागानः महलसरा मिलती और उनकी तनख़्वाह व इज़्ज़त बढ़ जाती।

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि मौसीक़ी[6] के सिवा और तमाम हैसियतों से बादशाह बड़े मुत्तक़ी व परहेज़गार और पाबन्देशरअ् थे। नमाज़ कभी क़ज़ा न होती थी।

---

१ संगीत के यन्त्र २ ऐश परस्ती ३ झिझक ४ मुताअ् न की हुई ५ एक प्रकार का बाजा ६ संगीत।

तीसो रोज़े रखते थे। अफ़यून, शराब, फ़लकसैर या किसी क़िस्म के नशे से ज़िन्दगी भर एहतिराज़ रहा। और मुहर्रम की अज़ादारी निहायत ही ख़ुलूसेअक़ीदत से बजा लाते थे।

तीसरा शौक़ इन्हें इमारत का था। सुल्तानख़ाने के गिर्द बीसियों महलसरायें तामीर हो गयीं। और बहुत सी नई कोठियाँ और उनमें महलसरायें बनीं। गवर्मेन्ट से सिर्फ़ सुल्तानख़ानः असद मंज़िल और मुरस्सअ़ मंज़िल मिली थीं। मगर बादशाह के शौक़ ने चन्द ही रोज में बीसियों कोठियाँ तामीर करा दीं। जिनके गिर्द निहायत ही पुरफ़िज़ा बाग़ और फ़रहतबख़्श चमन थे। जिस वक़्त मैंने देखा है, बादशाह के क़ब्ज़े में मुन्दर्जएज़ैल आलीशान कोठियाँ थीं जो जुनूब से शिमाल तक तर्तीबवार चली गयीं थीं। सुल्तानख़ानः, क़सरुलबैज़ा गोशए सुल्तानी, शहनशाहमंज़िल, मुरस्सअ़ मंज़िल, असद मंज़िल, शाह मंज़िल, नूरमंज़िल, हद्देसुल्तानी सद्देसुल्तानी, अदालत मंज़िल। इनके अलावा और भी कई कोठियाँ थीं, जिनके नाम मुझे याद नहीं रहे।

इनके मासिवा बाग़ों के अन्दर तालाबों के किनारे बहुत से कमरे, बँगले और छोटी-छोटी कोशिकें थीं। इन तमाम कोठियों, मुतफ़र्रिक़ कमरों, बँगलों और कोशिकों में साफ़-सुथरा पुर्तकल्लुफ़ फ़र्श बिछा रहता। चाँदी के पलंग, बिछौनों और तकियों से मुकम्मल रहते। तस्वीरें और तरह-तरह का फ़र्नीचर आरास्तः होता। और महज़ परवरिश के ख़्याल से, ज़रूरत से जियादह मकानदार मुक़र्रर थे जो रोज़ झाड़ते और हर चीज़ को सफ़ाई और क़रीने से आरास्तः रखते। ग़रज़ हर कोठी बजायख़ुद इस क़दर आरास्तः व पैरास्तः नज़र आती कि इन्सान अ़श्-अ़श् कर जाता। कोठियों के गिर्द के बाग़ और चमन ऐसी हिंदसी तर्तीबों और उक़्लैदिस[1] की शक्लों के मुताबिक बनाये गये थे कि देखनेवालों को बादशाह की मुनासिबते तबअ़ी पर तअ़ज्जुब होता।

लखनऊ में तो बादशाह ने सिर्फ़ क़ैसरबाग़ और उसके पास की चन्द इमारतें या अपने वालिद मर्हूम का इमामबाड़ा और मक़बरः ही तामीर किया था। मगर मटिया बुर्ज में नफ़ीस और आला इमारतों का एक ख़ूबसूरत शहर बसा दिया था। दरिया के उस पार, मटिया बुर्ज के ऐन मुक़ाबिल कलकत्ते का मशहूर बाटेनिकल गार्डेन है, मगर वह मटिया बुर्ज की दुनयवी जन्नत और उसके दिलकश अजायबात के सामने मिट गया था। इन इमारतों, चमनों, कुंजों और वसीअ़ व नुज़हतबख़्श मुर्ग़ज़ारों के गिर्द, बलन्द दीवारों का अहाता[2] था। मगर म्यूनिस्पलटी की शाहराहेआ़म के किनारे-किनारे तक़रीबन एक मील तक शानदार दुकानें थीं और उनमें वही अदना दर्जे के मुलाज़िमीन रहने पाते थे जिनको अपने फ़रायज़ के लिहाज़ से वहाँ रहने की ज़रूरत थी। मगर अन्दर जाने का रास्ता सिवा फाटकों के, जिनपर पहरा रहता,

---

१ वृत्ताकार, ज्यामिट्री जैसी २ परकोटा।

किसी दुकान में से नहीं रखा गया था। खास सुल्तानखाने के फाटक पर निहायत आलीशान नौबतखानः था। नक़्क़ारची नौबत बजाते और पुराने पहरों और घड़ियों ही के हिसाब से शबोरोज़ घड़ियाल बजा करता।

दुनिया में इमारत के शौक़ीन हज़ारों बादशाह गुज़रे हैं, मगर ग़ालिबन अपनी ज़ात से किसी ताजदार ने इतनी इमारतें और इतने बाग़ न बनवाये होंगे जितने कि वाजिदअली शाह ने अपनी नाकाम ज़िन्दगी और बरायेनाम शाही के मुख़्तसर ज़माने में बनाये। शाहजहाँ के बाद इस बारएख़ास में अगर किसी का नाम लिया जा सकता है तो वह इसी सितमज़दः शाहेअवध का नाम है। यह और बात है कि कोई खास इमारत सैकड़ों हज़ारों साल तक बाक़ी रही और किसी की सदहा इमारतें ज़माने ने चन्द ही रोज़ में मिटाकर रख दीं।

इमारत के अलावा बादशाह को जानवरों का शौक़ था और इस शौक़ को भी उन्होंने इस दर्जे तक पहुँचा दिया कि दुनिया इसकी नज़ीर पेश करने से आजिज़ है। और शायद कोई शख्सी कोशिश आज तक इसके निस्फ़ दर्जे को भी न पहुँच सकी होगी।

नूरमंज़िल के सामने खुशनुमा आहिनी कटहरे से घेर के एक वसीअ रमना बनाया गया था जिसमें सद्हा चीतल, हिरन और वहशी चौपाये छूटे फिरते थे। इसी के दर्मियान संगेमरमर का एक पुख्ता तालाब था जो हर वक़्त मुलब्बब[1] रहता और उसमें शुतुर्मुर्ग़, किशवरी, फ़ीलमुर्ग़, सारस, क़ाज़ें, बगले, कुरकुरें, हंस, मोर, चकोर और सद्हा क़िस्म के तुयूर[2] और कछुए छोड़ दिये गये थे। सफ़ाई का इस क़दर एहतिमाम था कि मजाल क्या कि जो कहीं बीट या किसी जानवर का पर भी नज़र आ जाये। एक तरफ़ तालाब के किनारे कटहरों में शेर थे और उस रमने के पास ही से लकड़ी के सलाखोंदार बड़े-बड़े खानों का एक सिलसिलः शुरू हो गया था, जिसमें बीसियों तरह के और ख़ुदा जाने कहाँ-कहाँ के बन्दर लाके जमा किये गये थे जो अजीब-अजीब हरकतें करते और इन्सान को बग़ैर अपना तमाशा दिखाये आगे न बढ़ने देते।

मुख्तलिफ़ जगह हौज़ों में मछलियाँ पाली गयी थीं जो इशारे पर जमा हो जातीं और कोई खाने की चीज डालिये तो अपनी उछल-कूद से खूब बहार दिखातीं। सब पर तुर्रः यह कि शहनशाह मंज़िल के सामने एक बड़ा सा लम्बा और गहरा हौज़ क़ायम करके और उसके किनारों को चारों तरफ़ से खूब चिकना करके और आगे की तरफ़ झुका के, उसके बीच में एक मस्नवी[3] पहाड़ बनाया गया था जिसके अन्दर सैकड़ों नालियाँ दौड़ाई गयीं थीं और ऊपर से दो एक जगह काट के, पानी का चश्मा भी बहा दिया गया था। इस पहाड़ में हज़ारों बड़े-बड़े दो-दो, तीन-तीन गज़ के लम्बे साँप छोड़ दिये गये थे जो बराबर दौड़ते और रेंगते फिरते। पहाड़ की चोटी

---

१ ऊपर तक भरा हुआ २ पक्षी ३ बनावटी।

तक चढ़ जाते और फिर नीचे उतर आते। मेढकें छोड़ी जातीं उन्हें दौड़-दौड़ के पकड़ते। पहाड़ के गिर्दागिर्द नहर की शान से एक नाली थी। इसमें साँप लहरा-लहरा के दौड़ते और मेढ़कों का तआक़ुब करते और लोग विना किसी ख़ौफ़ के पास खड़े सैर देखा करते। इस पहाड़ के नीचे भी दो कटहरे थे, जिनमें दो वड़ी चीतें रखी गयी थीं। यूँ तो खामोश पड़ी रहतीं लेकिन जिस वक़्त मुर्ग़ लाके छोड़ा जाता उसे झपट के पकड़तीं और मुसल्लम निगल जातीं। साँपों के रखने का इन्तिज़ाम इससे पहले शायद कभी न किया गया होगा और यह खास वाजिदअली शाह की ईजाद थी जिसको यूरोप के सय्याह हैरत से देखते और उसकी तसवीरें और मुशर्रह[1] कैफ़ियत क़लमवन्द कर ले जाते थे। मज़्कूर: जानवरों के अलावा हज़ारहा तुयूर[2] चमकते हुए विरंजी पिंजरे खास सुल्तानखाने के अन्दर थे। वीसियों वड़े-वड़े हाल थे जो लोहे के जाल से महफ़ूज़ कर दिये गये थे और कुंज कहलाते थे। उनमें क़िस्म-क़िस्म के तुयूर कसरत से लाके छोड़ दिये गये थे और उनके रहने और नशोनुमा पाने का पूरा सामान फ़राहम किया गया था। वादशाह की कोशिश थी कि चरिन्द व परिन्द में से जितनी क़िस्म के जानवर दस्तयाव[3] हो सकें सव जमा कर लिये जायें और वाक़ियी ऐसा मुकम्मल ज़िन्द: अजायवखाना शायद रूयेज़मीन पर कहीं मौजूद न होगा। इन जानवरों की फ़राहमी में वेरोक रुपया सर्फ़ किया जाता और कोई शख्स नया जानवर लाये तो मुँह माँगे दाम पाता। कहते हैं कि वादशाह ने रेशमपरे कवूतरों का जोड़ा चौवीस हज़ार रुपये को और सफ़ेद मोर का जोड़ा ग्यारह हज़ार रूपये को लिया था। ज़ुराफ़: जो अफ़्रीक़ा का वहुत वड़ा और निहायत अजीव जानवर है उसका भी एक जोड़ा मौजूद था। दो कोहान के वग़दादी ऊँट हिन्दोस्तान में कहीं नज़र नहीं आते और वादशाह के वहाँ थे। कलकत्ते में हाथी मुतलक़ नहीं हैं। मगर वादशाह के इस ज़िन्द: नेचुरल हिस्ट्री म्यूज़ियम में एक हाथी भी था। महज़ इस ख्याल से कि कोई जानवर रह न जाये दो गधे भी रमने में लाकर छोड़ दिये गये थे। दरिन्दों में से शेर ववर, देसी शेर, चीते, तेन्दुवे, रीछ, स्याहगोश, चरग़, भेड़िये सव कटहरों में वन्द थे और वड़ी खातिरदाश्त से रखे जाते थे। कवूतरों का इन्तिज़ाम दीगर जानवरों से अलग था। वादशाह की मुख्तलिफ़ कोठियों में सव मिलाके चौवीस, पच्चीस हज़ार कवूतर थे जिनके उड़ाने में कवूतरवाज़ों ने वड़े-वड़े कमालात दिखाये थे।

जानवरों पर जो सर्फ़ हो रहा था उसका नाक़िस अंदाज़ा इससे हो सकता है कि आठ सौ से ज़ियाद: जानवरवाज़ थे। तीन सौ के क़रीव कवूतरवाज़ थे। अस्सी के क़रीव माहीपरवर[4] थे और तीस-चालीस मारपरवर[5] जिनको दस रुपये माहवार से लेकर छ: रुपये माहवार तक तनख्वाहें मिलती थीं। अफ़सरों की तनख्वाहें तीस

---

१ विस्तारपूर्वक २ पक्षी ३ प्राप्त ४ मछेरे ५ सँपेरे।

से वीस रुपये तक थीं और कवूतरों, साँपों और मछलियों के अलावा दीगर जानवरों की खूराक में कुछ कम नौ हज़ार माहवार सर्फ़ होते थे।

इमारत का काम ज़ियादःतर मूनिसुद्दौला और रैहानुद्दौला के सिपुर्द रहा। जिनको इमारत की मद में तक़रीवन पच्चीस हज़ार माहवार मिला करते थे।

हज़ार के क़रीव पहरे के सिपाही थे जिनकी तनख्वाहें अमूमन छः रुपया माहवार थी। वाज़ आठ या दस रुपये भी पाते। यही तनख्वाह मकानदारों की थी जिनका शुमार पाँच सौ से ज़ियादः था। मालियों की भी यही तनख्वाह थी और उनका शुमार भी पाँच सौ से ज़ियादः था। तक़रीवन अस्सी अहलेक़लम यानी मुहर्रिर थे, जो तीस से दस रुपये माहवार तक तनख्वाह पाते थे। मुअज्ज़िज़ मुसाहिवों और आला ओहदेदारों का शुमार चालीस-पचास से कम न होगा जो अठ्ठासी रुपये माहवार पाते थे, सौ से ज़ियादह कहार थे।

इनके अलावा वीसियों छोटे-छोटे महकमे थे। वावर्चीखानः, आवदारखानः, भिन्डीखानः, खसखानः, और खुदा जाने क्या-क्या था। फिर एक मद लवाहिक़े-वेगमात यानी ममतूआत के रिश्तेदारों और भाई-वन्दों की थी जिन्हें हस्वेहैसियत[1] तनख्वाहें मिलती थीं।

इन सव लोगों ने कोठियों के रक़वे से वाहर ज़ियादहतर उसी ज़मीन पर जो वादशाह को दी गयी थी और वहुतों ने पास की दूसरी ज़मीनों पर मकान वना लिये थे और एक शहर वस गया था जिसकी मर्दुमशुमारी[2] चालीस हज़ार से ज़ियादह थी। इन सव की ज़िन्दगी वादशाह की तनख्वाह के एक लाख रुपये माहवार से वावस्तः थी और किसी की समझ में न आता था कि इतनी खिल्क़तेअज़ीम[3] इस थोड़ी सी रक़म में क्योंकर ज़िन्दगी वसर कर लेती है। वंगाले के अवाम में यह मशहूर था कि वादशाह के पास पारस पत्थर है। जव ज़रूरत होती है लोहे या ताँवे को रगड़ कर सोना वना लेते हैं।

हक़ीक़तेहाल यह है कि वादशाह के क़ियाम से कलकत्ते के पड़ोस में एक दूसरा लखनऊ आवाद हो गया था। असल लखनऊ मिट गया था और उसकी मुनतखव सुहवत मटिया वुर्ज में चली गयी थी। वल्कि सच तो यह है कि उन दिनों लखनऊ, लखनऊ नहीं रहा था, मटिया वुर्ज लखनऊ था। यही चहल-पहल थी, यही ज़वान थी, यही शायरी थी, यही सुहवतें और विज़लः संजियाँ[4] यही उलमा व अत्क़िया[5] थे, यहीं के उमरा व रुअसा[6] थे और यहीं के अवाम[7] थे। किसी को नज़र ही न आता था कि हम वंगाले में हैं। यही पतंगवाज़ियाँ थीं, यही मुर्ग़वाज़ियाँ थीं, यही वटेरवाज़ियाँ थीं, यही अफ़यूनी थे, यही दास्तानगोई थी, यही ताज़ियेदारी थी, यही मर्सियाख्वानी व नोहःख्वानी थी, यही इमामवाड़े थे और यही कर्वला थी। वल्कि जिस जुलूस

---

१ हैसियत के अनुसार २ जनगणना ३ महान संख्या ४ योग्यता के विचार ५ परहेज़गार ६ रईस (धनी) ७ जनता।

और शान व शौकत से वादशाह की ज़रीह उठती थी लखनऊ में अह्देशाही में शायद उठ सकी हो। ग़दर के वाद तो कभी कोई ताज़िय: नहीं उठ सका। कलकत्ते की हज़ारहा खिलक़त और अंग्रेज़ तक ज़ियारत को मटिया वुर्ज में आ जाते थे।

वादशाह अगरचि शीअ: थे मगर मिज़ाज में मुतलक़ तअस्सुव न था। उनका पुराना मक़ूल: था कि "मेरी दो आखों में से एक शीअ: है और एक सुन्नी है"। एक वार दो शख्सों में मज़्हवी इख्तिलाफ़ पर मारपीट हो गयी वादशाह ने दोनों को माज़ूली[1] का हुक्म दे दिया, वल्कि अपने यहाँ ममनूअुलमुलाज़िमत[2] कर दिया और फ़रमाया "ऐसे लोगों का मेरे यहाँ गुज़र नहीं हो सकता।" आखिर में वादशाह की एक किताव में वाज़ ऐसे नागवार अल्फ़ाज़ छप गये थे जिसपर कलकत्ते के सुन्नियों में वड़ी शोरिश हुई मगर इससे लोग वाक़िफ़ नहीं हैं कि वह अल्फ़ाज़ असल किताव में नहीं वल्कि दूसरों की तारीख या तक़रीज़ में थे और वादशाह को जैसे ही इत्तिला मिली वग़ैर किसी तहरीक के माफ़ी माँगने को तैयार हो गये। वेतअस्सुवी का इससे ज़ियाद: सुवूत क्या होगा कि सारा इन्तिज़ामी कारोवार सुन्नियों ही के हाथ में था। वज़ीरे-आज़म मुनसरिमुद्दौला वहादुर, सुन्नी थे। मुंशियुस्सुल्तान, जो एक ज़माने में सवसे ज़ियादह मुक़र्रव[3] और सारे जानवरखाने, कुल अहलेक़लम और कई और महकमों के अफ़सरेआला था, सुन्नी थे। वख्शी अमानतुद्दौल: वहादुर, जिनके हाथ से कुल मुलाज़िमों हत्ताकि महलों और शाहज़ादों तक को तनख्वाह मिलती थी, सुन्नी थे। अतारिदुद्दौलह और दारोग़: मुअ्तवरअली खाँ जो आखिर में सवसे वड़े ओहदेदार और कुल कारोवार के मालिक थे दोनों सुन्नी थे। इससे वढ़कर क्या होगा कि इमामवाड़ा सिव्तैनावाद का और महल के खास इमामवाड़े वैतुलवका[4] का इन्तिज़ाम और मजलिसों और मज़हवी तक़रीवों के वजा लाने का इन्सिराम[5] भी सुन्नियों ही के हाथ में था। वहाँ कभी किसी ने इसको महसूस ही नहीं किया कि कौन सुन्नी है और कौन शीअ: है। मटिया वुर्ज के दुकानदार और महाजन तक लखनऊ के थे और लखनऊ की कोई चीज़ न थी जो मुकम्मलतरीन सूरत में वहाँ मौजूद न हो। जिधर गुज़र जाइये एक अजीव रौनक़ और चहल-पहल नज़र आती और इस लुत्फ़ में लोग इस तरह महो[6] और मस्त व अज़्खुदरफ़्त:[7] हो रहे थे कि किसी को अंजाम की खवर ही न थी। इमारातेशाही और रमने वग़ैर: के अन्दर जाने की अहलेलखनऊ, जुमल: मुलाज़िमीन वल्कि साकिनीने[8] मटिया वुर्ज को आम आज़ादी थी। वाग़ों में फिरिये तो उससे ज़ियाद: पुरफ़िज़ा मक़ाम कहीं नसीव न हो सकता। दरिया के किनारे खड़े हो जाइये तो अजीव लुत्फ़ नज़र आता। कलकत्ते को आने-जाने वाले जहाज़ सामने से होकर गुज़रते जो फ़ोर्ट विलियम की सलामी के लिए यहीं से अपनी झंडियाँ

---

१ त्यागपत्र   २ मुलाज़िमत से निकलने का हुक्म   ३ निकट   ४ कोपभवन।
५ प्रवन्ध   ६ मग्न   ७ खोये हुए   ८ निवासी।

उतारना शुरू कर देते और लोग समझते कि बादशाह की सलामी ले रहे हैं। महलात की ड्योढ़ियों और महलसराओं के दरवाज़ों पर खड़े हो जाइये तो अजब लुत्फ़ की धूम-धाम में कभी-कभी ऐसी सूरतें नज़र आ जाती और ऐसी फ़सीह व दिलकश ज़बान, व ऐसी मज़े-मज़े की प्यारी बातें सुनने में आ जातीं कि इन्सान मुद्दतों बल्कि ज़िन्दगी भर मज़े लिया करता।

आह! यह ख़ूबसूरत और दिलफ़रेब नक़्शा तो मिटने के क़ाबिल न था मगर हाये! ज़माने ने मिटा ही दिया और ऐसा मिटाया कि गोया था ही नहीं। सन् १३१६ मुहम्मदी (सन् १८८७ ई०) में यकायक बादशाह की आँख बन्द हो गयी और मालूम हुआ कि ख़्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था। सब बातें ख़्वाब व ख़्याल थीं। एक तिलिस्म[1] था कि यकायक टूट गया और वह ख़ूबसूरत बुक़्क़अ:[2] जिसकी ज़ियारत की तमन्ना यूरोप के सलातीन[3] और हिन्दोस्तान के वालियानेमुल्क को रहा करती थी आज एक वहशतिस्तानेफ़ना[4] और इबरतकद:[5] है, जहाँ कुछ भी नहीं। जिसने उसके अगले रंग को कभी देखा था, अब वहाँ के सन्नाटे को देखकर सिवा इसके कि कमालेहसरत व अन्दोह[6] के साथ एक ठंडी साँस भरके कहे? —रहे नाम अल्लाह का! और क्या कर सकता है?

दौरे नव्वाबी में उर्दू-फ़ारसी शाइरी का अ़ुरूज

इस दरबार के फ़रमाँरवाओं की तारीख़ में से अब सिर्फ़ इस क़दर बताना बाक़ी है कि मिर्ज़ा बिरजीसक़द्र बहादुर लखनऊ से भागे तो सरहदेनैपाल पर दम लिया। हमराहेरकाब तक़रीबन एक लाख आदमियों का मजमा था। उन लोगों ने इरादा किया कि हिमालया की घाटियों में पनाहगुज़ीं हो जायें। और जब मौक़ा मिले निकलकर अंग्रेजों पर हमला करें। फ़तह हो तो अपने वतन पहुँचे। शिकस्त हो तो फिर भाग कर पहाड़ों में हो रहें। मगर यह निभनेवाली सूरत न थी। रियासतेनैपाल न इतने लोगों को अपने यहाँ पनाह दे सकती थी और न उनके लिए अंग्रेज़ों से लड़ सकती थी। उसमें इतनी क़ुव्वत ही न थी कि अंग्रेज़ों का मुक़ाबला करती। लिहाज़: हुकूमतेनैपाल ने सिर्फ़ मिर्ज़ा बिरजीसक़द्र और उनकी माँ को तो पनाह दे दी मगर उनके हमराही तूफ़ानेबेतमीज़ी को क़तई हुक्म दे दिया कि फ़ौरन वापस जायें और न जायें तो मार कर निकाल दिये जायें। नैपाल की क़लमरौ फ़ौरन उनसे ख़ाली करा ली जाये। नतीजा यह हुआ कि सबके सब वहाँ से निकल-निकल कर भागे। बहुत से मारे गये और बहुत से भेस बदल के किसी तरफ़ निकल गये। और मिर्ज़ा बिरजीसक़द्र मै अपनी वालिद: के ख़ास नेपाल में जाके सुकूनतपज़ीर[7] हो गये। दरबारेनैपाल से उनके लिए कुछ मामूली वज़ीफ़ा मुक़र्रर हो गया। और

---

१ जादू २ स्थान ३ बादशाह ४ समशान ५ सीख देनेवाली ६ दुःख ७ निवासी।

कहते हैं, उनके पास जिस क़दर जवाहरात था सब दौलतेनैपाल की नज़र हुआ। आख़िर हज़रतमहल वहीं पेवन्देज़मीन हुईं और उनके बाद मलकएविक्टोरिया की जुबली के मौक़े पर दौलतेबर्तानिया ने मिर्ज़ा बिरजीसक़द्र का क़ुसूर माफ़ कर दिया। उन्हें वापस आने की इजाज़त मिली तो बग़ैर किसी को इत्तिला दिये नैपाल से भाग के कलकत्ते पहुँचे। यहाँ वाजिदअलीशाह का इन्तिक़ाल हो चुका था और बहैसिय्यते-औलादेअक्बर मिर्ज़ा क़मरक़द्र सबसे ज़ियादः तनख्वाह पा रहे थे। बिरजीसक़द्र ने दावा किया कि बादशाह के तमाम बेटों से ज़ियादः मुअ़ज़्ज़ज़ व मुस्तहिक़[१] मैं हूँ। अज़्रूऐक़ानूनेपेनशन, बादशाह की पेनशन में से एक सुलुस[२] घटा के बाक़ी तनख्वाह मुझ पर जारी की जाये और उनके तमाम वुरसा[३] और वाबस्तगानेदामन[४] की ख़बरगीरी मेरे ज़िम्मे की जाये। इसकी पैरवी में वह इंगलिस्तान में जाने की तैयारियाँ कर ही रहे थे कि उनके ख़ानदान वालों ही में से किसी ने दावत की। दावत से वापस आये तो क़ै व दस्त जारी हो गये। आनन-फ़ानन हालत ख़राब हो गयी और एक ही दिन में वह, उनकी बीवी और उनके कई फ़र्ज़न्द, सबकी ज़िन्दगी का ख़ातिमा हो गया और दुनिया इस ख़ानदान की उन तमाम यादगारों से ख़ाली हो गयीं जिन्होंने कभी तख़्त व ताज की सूरत देखी थी।

ताहम मटियाबुर्ज की चहल-पहल और उस नई बस्ती की रौनक़ व आबादी ने ऐसी सूरत पैदा कर ली थी कि अगर चश्मेज़ख़्मेहवादिस[५] से बच जाता तो मुद्दतों तक याद दिलाता रहता कि उस बख़्ते बरगश्तः[६] बादशाह के दरबार और उनके वाबस्तगानेदामन की क्या वज़अ़-क़तअ़ थी और उनका क्या मज़ाक़ था। मगर ब्रिटिश गवर्नमेन्ट की अदालतगुस्तरी[७] ने वाजिदअलीशाह का तर्कः तक़सीम करने और उनके वुरसा की दादरसी में यह शानेअदालत दिखाई कि सारी जायदाद और सारा घर बार बेच के हिस्स-ए-रसदी सबमें तक़सीम कर दिया जाये और जो कुछ है नक़्द रुपये की सूरत में कर लिया जाए।

इसका लाज़िमी नतीजा था कि मटियाबुर्ज की ईंट से ईंट बज गयी। लाखों का सामान कौड़ियों का बिक गया और वही बुक़्क़अ़ः[८] जो चन्द रोज़ में बाग़ेइरम[९] बन गया था हज़ीज़ेइद्बार[१०] का जहन्नम हो के रह गया। अब तुम वहाँ जाके ख़ाक उड़ाओ, कुछ न नज़र आयेगा। अगर आखें अगली रौनक़ और चहल-पहल ढूढ़ती हों तो किसी इमरउल्क़ैस@ को बुलाओ जो आँसू बहाता जाये और बताता जाये कि यहाँ मुरस्सअ़ मंज़िल थी और यहाँ नूर मंज़िल थी, यहाँ सुल्तानख़ानः था और यहाँ असद

---

१ अधिकारी २ तिहाई ३ वारिस ४ सम्बन्धितों ५ काल की दृष्टि ६ प्रतिकूल भाग्य ७ इंसाफ़ ८ स्थान ९ जन्नते शद्दाद १० पतन।

@ जाहिलिय्यते अदब का एक निहायत मशहूर शायर जिसने अपने क़दीम इशरत-कदे की वीरानी और तबाही की तस्वीर निहायत ही सूज़ोगुदाज़ के अलफ़ाज़ में दिखाई है।

मंज़िल थी। वहाँ मुशाअरे[1] होते थे, वहाँ उलमाए बाकमाल की मजलिस थी, वहाँ यारानेबासफ़ा की बज़्ल:सजियाँ थीं और वहाँ फ़ुसहाओं[2] जादू बयान की सहर तराज़ियाँ[3] थीं। इस मक़ाम पर मुनतख़ब हसीनाने जहाँ का झुर्मुट था, इस मक़ाम पर रक़्स व सुरूद[4] की महफ़िल गर्म थी, इस मक़ाम पर हूरवशमहजबीनों[5] की गाने-नाचने की तालीम होती थी और इस मक़ाम पर जहाँपनाह नाज़ आफ़रीं ममतूआत के बीच में बैठ कर जश्न मनाया करते थे। इस जगह अफ़्यूनियों के मजमे में दास्तान होती थी। उस जगह बटेरियों की पालियाँ होती थीं, इस जगह कबूतर उड़ते थे, और इस जगह कनकव्वे के मैदान बदे जाते थे, इस ड्योढ़ी पर माहवश[6] जादू निगाहें पर्दे से सर निकाले झाँकती नज़र आती थीं। इस ड्योढ़ी पर मामा-असीलों[7] की आमदोरफ़्त से हर वक़्त एक अजीब जोशोख़रोश नुमायाँ रहता था। इस ड्योढ़ी पर ख़ास शुअ़रा हाज़िर रहते इसलिए कि महलसरा वाली को फ़न्नेशिअ़्र[8] से दिलचस्पी थी, और इस ड्योढ़ी पर रोज़ रंगीन इबारत लिखनेवाले जवाँमिज़ाज अदीबों की तलाश रहती थी, इसलिए कि दूसरे-तीसरे यहाँ एक नये रंग का तवद्दुद्नाम:† जाके बादशाह के मुलाहिज़े में पेश होता।

लेकिन मटियाबुर्ज के मिट जाने पर भी उस मर्हूम दरबार की हज़ारों यादगारें बाक़ी हैं। ख़ुद शहरेलखनऊ और उसकी सोसाइटी उस दरबारे दुरबार[9] की याद दिला रही है और अवध की सरज़मीन का चप्पा-चप्पा उसकी अज़मत की यादगार है। इसलिए कि उस पर जा-बजा सल्तनतेमाज़िय: के मारिके बने हुए हैं। अहले लखनऊ की हर हरकत और अदा अगले अर्कानेदरबार की ज़िन्द: तारीख़ है और उनकी चाल देख के बेइख़्तियार ज़बान से निकल जाता है—"ऐ गुल-बतोख़ुर्सन्दम तू बूये कसेदारी"। लिहाज: इन देरपा आसारे सलफ़[10] की याद ताज: करने की ग़रज़ से अब हम यह बताना चाहते हैं कि उस दरबार के क़ायम होने से लखनऊ में जो सोसाइटी पैदा हो गयी थी वह क्या थी? कैसी थी? और उसने किस उनवान से हिन्दोस्तान की मुआ़शरत[11] पर असर डाल रखा था।

हिन्दोस्तान में उन दिनों फ़ारसी ज़बान कोर्ट लैंगुएज (दरबारी ज़बान) थी और अहलेहिन्दोस्तान की बेहतरीन मुआ़शरत ईरानी तहज़ीब से माख़ूज़ थी। दौलते-सफ़वीय: के अहद में ईरानियों का आम मज़हब शीअ: इसना अशरी हो गया था और हिन्दोस्तान का हुक्मराँ ख़ानदाने मुग़्लिय: चुग़ताइय: मज़हब अहलेसुन्नत का पैरौ[12] था, मगर मुआ़शरत पर फ़ारसीयत का सिक्का जारी होने का यह असर था कि बावजूद

१ कवि-सम्मेलन २ अच्छे वक्ताओं ३ आकर्षक भाषण ४ नाच-गाना-बजाना ५ हूरें (अप्सराओं) जैसी सुन्दरियाँ ६ चाँद जैसी ७ कुलीन वंशवाली ८ कविता ९ मोती बरसानेवाला १० पूर्वजों के चिह्न ११ रहन सहन १२ अनुगामी।

† तवद्दुद्नाम: उन ख़ुतूत को कहते थे जो बेगमात व महिल्लातें जहाँपनाह की ख़िदमत में भेजतीं जो अमूमन आशिक़ान: रंग में होते।

इख़्तिलाफ़ेमज़हव के जो अ़जमी यहाँ आते, अदव के हाथों से लिये जाते थे। इसी अख़लाक़ी रुजहान ने नूरजहाँ वेगम को जहाँगीर के तख़्तोताज का मालिक वना दिया। इसी की वदौलत देहली के अक्सर मुअ़ज़्ज़ज़ ओहदेदार आख़िर अहद में शीअ़: थे। और इसी की वजह से अमीनुद्दीन ख़ाँ नेशापुरी यहाँ पहुँचते ही, नव्वाव वुर्हानुल्मुल्क वन के वादिये-गंगा के सारे वसीअ़ इलाक़े के मालिक हो गये। वुर्हानुल्मुल्क का असर और इक़्तिदार जिस क़दर वढ़ता और तरक़्क़ी करता गया। उसी क़दर ज़ियाद: वह वाकमालाने देहली के मर्जअ़[१] व मावा[२] वनते गये; वावजूद इसके उनकी और नव्वाव सफ़दरजंग की ज़िन्दगी चूँकि एक नई सल्तनत की दाग़वेल डालने में सर्फ़ हुई, इस वजह से सिवाय वहादुर सिपहगरों की क़द्रदानी के उन्हें क़ौमी तमद्दुन और मुआ़शरती उमूर की तरफ़ मुतवज्ज: होने की वहुत ही कम मुहलत मिली। क्योंकि इन वातों को वमुक़ाविल फ़ौजकशी व फ़तूहमन्दी के, अम्न व अमान के पुरऐश ज़माने से ज़ियाद: तअ़ल्लुक़ हुआ करता है।

लेकिन जव शुजाउद्दौल: ने वक्सर की लड़ाई में हिम्मत हारने के वाद अंग्रेज़ों से नया मुआ़हिद: किया और मजवूर होके फ़ैज़ावाद में ख़ामोश वैठे तो सरज़मीने अवध में एक नये तमद्दुन[३] की वुन्याद पड़ गई। इस मज़मून के आग़ाज़[४] में हम वता चुके हैं कि शुजाउद्दौला के ज़माने में किस कसरत से वाकमालाने देहली वतन छोड़-छोड़ के यहाँ आने लगे थे। देहली से फ़ैज़ावाद तक हर पेशे और हर तवक़े के लोगों के आने का कैसा ताँता वँध गया था और सिर्फ़ नौ साल की मुद्दत में फ़ैज़ावाद क्या से क्या हो गया था? शुजाउद्दौला के वाद नव्वाव आसिफ़ुद्दौला ने जव लखनऊ में क़ियाम किया तो फ़ैज़ावाद का जमा-जमाया अखाड़ा एक वारगी फ़ैज़ावाद से उखड़ के लखनऊ में आ गया और देहली के आला ख़ानदानों और वाकमालों का जो सैलाव फ़ैज़ावाद को जा रहा था लखनऊ ही में रोक लिया गया जो कि ऐन सरेराह वाक़िअ़ हुआ था और आख़िर में चन्द शुरफ़ा व साहिवेहुनर जो फ़ैज़ावाद में वेगमों की सरकारों में उलझे रह गये थे रफ़्त: रफ़्त: वह भी लखनऊ में आ गये; इसलिए कि आसिफ़ुद्दौला ने यहाँ दौलत की ऐसी गंगा नहीं वहा रखी थी कि कोई सुनता और सेराव[५] होने के शौक़ में वेइख़्तियार न दौड़ पड़ता।

उन दिनों यूँ तो वहुत सी हिन्दू रियासतें मौजूद थीं मगर मुहज़्ज़व और शायस्त: दरवार मुसलमान हुक्मरानों ही के समझे जाते थे और हिन्दू लोग ख़ुद मुअ़्तरिफ़ थे कि तमद्दुन और मुआ़शरत में हम मुसलमान दरवारों का मुक़ावला नहीं कर सकते। क्योंकि अपनी क़दीम तहज़ीव को ज़िन्द: करके अपने लिए नया तमद्दुन और नया लिट्रेचर पैदा करने का ख़्याल अभी उनमें अंग्रेज़ी तालीम ने नहीं पैदा किया था। इसका नतीजा यह था कि अगर कोई वाकमाल आलिम, शाइ़र या सिपाही मुसलमान

१ आकर्षणकेन्द्र २ पनाह की जगह ३ सभ्यता ४ आरंभ ५ तृप्त।

उमरा से बर्खास्त होकर हिन्दू उमरा के इलाक़े में पहुँच जाता तो हाथों हाथ लिया जाता और देवताओं की तरह उसकी क़द्र व मंज़िलत[१] की जाती।

मुसलमान दरबार उन दिनों चन्द गिन्ती के थे। सबसे पहले तो देहली का दरबार मुग़लियः था और उसकी क़दामत[२] और गुज़श्तः शौकत की वजह से हर क़िस्म के बाकमालों और मुस्तनद खानदानी शुरफ़ा की कान देहली बनी हुई थी और उसी ज़मीन के मुन्तशिर[३] रोड़े थे जिन्होंने दूरोंदराज़ सूबों में जाके नये-नये दरबार क़ायम किये थे जिनमें से दकन[४] में आसिफ़जाह का दरबार था, वहाँ से आगे बढ़के टीपू सुल्तान और नव्वाब अर्काट के दरबार थे। शिमाल में देहली से चलिये तो पहले रुहेलखण्ड के बहादुर खवानीन की क़लम रौ मिलती। इसके बाद यह अवध का दरबार था। फिर इससे आगे मुर्शिदाबाद में नव्वाब नाज़िम बंगालः का दरबार था। मज़कूरः इस्लामी दरबारों से दकन के दरबार निहायत ही दूर थे। उनका रास्ता अव्वल तो जंगलों और पहाड़ों की वजह से निहायत ही दुश्वार गुज़ार था, उस पर भी जुर्अत करके कोई चल खड़ा होता तो ठग और डाकू जो सारे मुल्क में फैले हुए थे रास्ते ही में उनकी ज़िन्दगी का खात्मा कर देते। टीपू सुल्तान और नव्वाब कर्नाटक की क़लमरौ तक जाना दरकिनार किसी को निज़ाम हैदराबाद की ममलिकत तक पहुँचना भी मुश्किल से नसीब होता। इसलिए जब देहली बिगड़ना शुरू हुई और ताजदारे-मुग़लियः की हालत खराब होने से क़द्रदानी का बाज़ार वहाँ सर्द पड़ा तो लोगों ने उमूमन शिमाली हिन्दोस्तान का रुख किया। इसमें शक नहीं कि रुहेलखण्ड बहुत क़रीब था। यहाँ के खवानीन अगर क़द्रदानी करते तो उनसे ज़ियादः मौक़ा किसी को नहीं हासिल था। मगर उनमें दीनदारी थी, शुजाअत थी और बहुत सी खूबियाँ थीं, मगर इल्मी मज़ाक़ और मुआशरती रंगीनियों से वह लोग बिल्कुल मुअर्रा[५] थे। उनकी हालत का सही अंदाज़ा कीजिए तो मालूम होता है कि खालिस फ़ौज़ी मज़ाक़ के लोग थे जिन्हें अपने हमवतनों के जमा करने और अपने जर्गों[६] की तादाद बढ़ा के अपनी जंगी क़ुव्वत को तरक़्क़ी देने के सिवा और किसी बात का शौक़ न था। मुआशरत के रसीलेपन और तमद्दुनी ज़िन्दगी के आदाब व अखलाक़ के लिहाज़ से देखिए तो उनकी हालत बिल्कुल वहशी गँवारों की सी थी। ऐसे लोग भला शाअिरों, अदीबों और दीगर क़िस्म के बाकमालों की क्या क़द्र कर सकते थे? लिहाज़ः उनकी सरज़मीन में जो दाखिल हुआ, क़दम बढ़ाता हुआ आगे निकल गया। चार-पाँच मंज़िलें तय करके लखनऊ में पहुँचा तो देखा कि रईस से लेके अदना तबक़े वाले तक इस्तिक़बाल में आँखें बिछा रहे हैं और हर तरह खिदमतगुज़ारी को तैयार हैं। ऐसी जगह पहुँच के फिर भला कौन वापस आ सकता है? जो गया वहीं का हो गया और देहली का हर खानाबरबाद यहाँ आते ही पाँव तोड़के बैठ गया। न वतन ही

---

१ आदर-सत्कार २ प्राचीनता ३ बिखरे हुए ४ दक्षिण ५ रिक्त, खाली ६ जत्थों, क़ौम या दल के लोगों।

याद रहा और न किसी और दरबार के देखने की हवस ही दिल में बाक़ी रही। चन्द लोग यहाँ से आगे बढ़के नव्वाब नाज़िमेबंगाल: तक भी पहुँच गये, मगर वह वही थे जिनकी क़द्र लखनऊ न कर सका। मगर ऐसे चन्द गिन्ती ही के लोग थे। वर्ना देहली से जितने बाकमाल आये, सब लखनऊ ही में खपते चले गये, थोड़े ही ज़माने के अन्दर यह हालत हो गई कि उस दौर की मुहज़्ज़बतरीन सोसाइटी के जितने मशहूर और नामवर बुज़ुर्ग थे, सब लखनऊ के अन्दर जमा थे। फ़क़त एक चीज़ लखनऊ में इस दरबार के क़ायम होने से पहले मौजूद थी और वह अ़रबी का अ़िल्म व फ़ज़्ल था, जिसकी बुन्याद उस वक़्त पड़ गई थी जब शहनशाह औरंगज़ेब ने फ़िरंगीमहल के मकानात मुल्ला निज़ामउद्दीन सहालवी को अ़ता किये थे। मुल्ला साहब ममदूह[1] और उनके ख़ानदान के क़ियाम ने चन्द ही रोज़ में फ़िरंगीमहल को हिन्दोस्तान की एक ऐसी आलातरीन यूनीवर्सिटी बना दिया कि सारे हिन्दोस्तान के उलमा व फ़ुज़ला का मर्कज़ लखनऊ का यही छोटा सा मुहल्ला क़रार पाया। शेख़ अब्दुलहक़ देहलवी के बाद देहली में भी कोई नुमूद[2] का आलिम नहीं पैदा हो सका था। आख़िर में शाह वलीयुल्लाह साहब के ख़ानदान ने अलबत्ता बहुत बड़ा उरूज हासिल किया। मगर उनकी शुहरत अ़िल्मेहदीस तक महदूद थी। मगर हदीस के अलावा और जितने उ़लूम हैं, उन सब की यूनीवर्सिटी लखनऊ ही था। उन दिनों लखनऊ एक गुमनाम शहर था। मगर ऐसे एक गुमनाम मक़ाम का इतनी बड़ी यूनीवर्सिटी बन जाना कि हिन्दोस्तान दरकिनार, बुख़ारा, ख़्वारज़म[3] और हिरात व काबुल, उसके आगे सर झुका दें, बहुत ही हैरत के क़ाबिल है! सारी इस्लामी दुनिया यहीं की शागिर्दी पर फ़ख़् कर रही थी और यहीं के मुन्तख़ब किए हुए निसाबेतालीम यानी सिलसिल-ए-निज़ामिय: की पैरौ[4] थी। ग़रज़ उ़लमाओं फ़िरंगीमहल की बदौलत इस नये दरबार के क़ायम होने से पहले ही लखनऊ हिक्मत व फ़लसफ़:, मंतिक़ व कलाम, फ़िक़्ह व उसूलेफ़िक़: और दीगर मुख़्तलिफ़ उ़लूम का मअ़दन व मर्जअ़[5] बन चुका था। लिहाज़: इस चीज़ में तो लखनऊ इस नये दरबार का ज़ेरबारे एहसान नहीं है। बाक़ी और तमाम तरक़्क़ियाँ इस सल्तनत के क़ायम होने ही से पैदा हुई।

अब हम जुदा-जुदा बयान करना चाहते हैं कि देहली से लखनऊ में कौन-कौन सी चीज़ें आयीं और यहाँ आके उन्होंने क्या रंग पकड़ा। सबसे मुक़द्दम उर्दू ज़बान है जो देहली के उन शुरफ़ा और सरदारानेफ़ौज की ज़बान थी जो अब बुर्हानुलमुल्क बहादुर के साथ लखनऊ में आये थे। यह ज़बान देहली में पैदा हुई और उसकी शायरी का आग़ाज़ दकन से हुआ। वली गुजराती ने देहली में आके अपना दीवान पेश किया और अपने नग़म-ए-दिलकश से अहलेज़बान को ख़्वाबेग़फ़लत से जगाया। इस नग़मे में कुछ ऐसा जादू था कि सुनते ही सबकी ज़बान पर यही नग़मा जारी हो गया और देहली में उर्दू शाअ़िरी शुरू हो गयी।

---

१ प्रशंनीय २ ख्याति ३ एक विदेशी प्रसिद्ध नगर ४ अनुवर्ती ५ खान

इब्तिदाअन् चन्द ही बुज़ुर्ग थे जिन्होंने उस्तादी की शान से देहली में दादेसुखन[1] देना शुरू की। मगर उस ज़माने को अगर उर्दू ज़बान की तिफ़्ली नहीं तो उर्दू ज़बान का बचपन कहना चाहिए। दुनियाए-उर्दू के उन साबिक़ीनुलअव्वलीन[2] में सबसे ज़ियादः साहिबेइल्मोफ़ज़्ल और सबसे ज़ियादः बाकमाल खानेआरज़ू थे, जिन्हें मौलाना आज़ाद मर्हूम ने दूसरे दौरेशाअिरी में रखा है। ज़मानए मा बाद[3] के बड़े-बड़े बाकमाल जिनमें सौदा, मीर, मिर्ज़ा, मज़हर जानेजानाँ और ख्वाजा मीर दर्द शामिल हैं, सब इनके शागिर्द थे। शायरी और कमालेज़बाँदानी के लखनऊ में आने की बुनियाद इन्हीं उस्तादेअव्वल खानेआरज़ू से पड़ी। नवाब शुजाउद्दौला के मामूँ सालारेजंग ने कमाल क़द्रदानी से इन्हें लखनऊ बुलवाया। और एक ज़माने तक अवध में इक़ामतगुज़ीं रहके वह शुजाउद्दौला की मसनदनशीनी के दो बरस बाद सन् ११६५ हिजरी (सन् ११८४ मुहम्मदी मुताबिक़ सन् १७५२ ईसवी) में खास लखनऊ के अन्दर रहगिराएआखिरत[4] हुए। वही पहले उस्ताद उर्दू शाअिरी के थे और इन्हीं से उर्दू शेअ़रोसुखन के लखनऊ में आने की बुनियाद पड़ी। मगर अफ़सोस कि उनकी हड्डियाँ, सरज़मीनेलखनऊ के दामनेशौक़ से छीन के, खाक देहली को सौंपी गयीं। इसके बाद उसी दौर के नामी उस्ताद उस्तादेसुखन अशरफ़अली खाँ फ़ुग़ाँ ने, जो अहमदशाह बादशाह के कूक:[5] थे, क़द्रदानी की तलाश में लखनऊ की राह ली। शुजाउद्दौला ने निहायत ही ताज़ीम व तकरीम की। हाथों हाथ लिया और एक ज़माने तक अपने दरबार में रखा। मगर शुअ़रा नाज़ुक ख्याल से ज़ियादः नाज़ुक दिमाग़ हुआ करते हैं, किसी खफ़ीफ़ सी बात पर रूठ के अज़ीमाबाद चले गए और शुजाउद्दौला की वफ़ात से दो बरस पहले वहीं पैवन्देज़मीन हो गए।

अब मौलाना आज़ाद का मुक़र्रर किया हुआ तीसरा दौरेशाअिरी शुरू हुआ, जबकि खानेआरज़ू के शागिर्द नज़्मेउर्दू पर हुकूमत कर रहे थे। उस ज़माने की हालत देखने से नज़र आता है कि देहली अपने बाकमालों को अपने आग़ोश में सम्भाल नहीं सकती। हर तरह के साहिबानेकमाल उसके सवाद से निकलते चले जाते हैं, और जो जाता है फिर नहीं आता। इसके मुक़ाबिल लखनऊ की यह हालत है कि जो साहिबेफ़न नज़र आता है, चाहे कहीं का हो यहीं का हो जाता है। मिर्ज़ा रफ़ीअ़, सौदा, मीर तक़ी मीर सय्यद मुहम्मद मीर सोज़ जो इस तीसरे दौर के पयम्बरानेसुखन[6] हैं। सब देहली छोड़-छोड़ के लखनऊ में आये और यहीं पैवन्देज़मीं हो गये। इनके अलावः जो बाकमालानेसुखन[7] उस ज़माने में वारिदेलखनऊ हुए और यहीं के हो गये; मिर्ज़ा जाफ़रअली हसरत, मीर हैदरअली हैराँ, ख्वाज: हसन—हसन, मिर्ज़ा फ़ाखिरमकीं, मीर ज़ाहिक़, वक़ाउल्लाह खाँ—वक़ा, मीर हसन देहलवी, मीर ज़ाहिक़ के फ़र्ज़न्द

---

१ सराहना २ पहिल करनेवाले ३ बाद के ज़माने के ४ स्वर्गवासी ५ दूध-शरीक भाई ६ संदेश लानेवाले ७ काव्य-प्रवीण।

(साहिबेमसनवी) और इन्हीं के ऐसे बीसियों शुअ़रा हैं। मीर क़मरउद्दीन मिन्नत, मीर ज़ियाउद्दीन ज़िया, अशरफ़अली खा फ़ुग़ाँ, देहली से लखनऊ में आके एक मुद्दत तक रहे और यहीं चमके। मगर आख़िर में बेरूनी क़द्रदानों की कोशिश से कलकत्ते और अज़ीमाबाद में जाके नज़रेअजल[1] हुए। शेख़ मुहम्मद क़ायम—क़ायम का इन्तिक़ाल अगरचि: उनके वतन नगीने में हुआ, मगर वह भी एक मुद्दत तक इसी लखनऊ की सभा के एक ऐक्टर थे।

सिर्फ़ मिर्ज़ा मज़हर जानेजानाँ और ख़्वाजा मीरदर्द के ऐसे चन्द बुज़ुर्ग देहली में पड़े रह गये, जिनको फ़क़ीराना क़नाअ़त और मर्जअ़ीयत[2] की वजह से देहली में क़दम जमाने का मौक़ा मिल गया था और सज्जाद:नशीनी की वजह से अपनी मसनदेदुर्वेशी को न छोड़ सकते थे। ग़रज़ शाअ़िरी का यह तीसरा दौर वह ज़माना है जबकि देहली की सभा वहाँ से उखड़ के लखनऊ में जम रही थी और लखनऊ में एक जोशेक़द्रदानी था जिससे हिन्दोस्तान की तारीख़ ख़ाली है।

अब चौथा दौर शुरू हुआ। इसके अर्कान भी अगरचि: देहली व अकबराबाद वग़ैर: की ख़ाक से पैदा हुए थे मगर सबकी शाअ़िरी लखनऊ ही में चमकी। यहीं से उनका नाम मशहूर हुआ। यहीं के मुशाअ़रों के मीरे मजलिस थे। यह लोग अ़ललउमूम[3] यहीं से निकले, यहीं रहे, यहीं उरूज पाया और यहीं मर-खप गये। उस दौर के रुक्नेरकीन[4], जुर्अत, सय्यद इंशा, मुसहफ़ी, क़तील और रंगीन वग़ैर: थे। यह लोग अपने अहद में ज़बान पर हुकूमत कर रहे थे और उनकी शाअ़िरी का ग़लग़ल: इस क़द्र बलन्द था कि उनके सामने किसी उर्दू शाअ़िर का नाम चमक ही न सका। इन सबकी हड्डियाँ कहाँ हैं? लखनऊ की ख़ाक में।

उस ज़माने में देहली के साहिबानेमज़ाक़, जिस कसरत से लखनऊ आ रहे थे, इसका अंदाज़ा सय्यद इंशा की एक रिवायत से हो सकता है जिसमें उन्होंने उस अ़ह्द के एक शरीफ़ वज़अ़दार बुड्ढे और नूरन नाम एक कसबी की गुफ़तगू नक़ल की है। वह बुज़ुर्ग और कसबी दोनो देहली के हैं मगर दोनो लखनऊ में बातें कर रहे हैं। बी नूरन कहती हैं :—

"अजी आओ मीर साहब! तुम तो ईद का चाँद हो गये, दिल्ली में आते थे, दो-दो पहर रात तक बैठते थे, लखनऊ में तुम्हें क्या हो गया कि कभी सूरत भी नहीं दिखाते। अबकी कर्बला में किनना मैंने ढूँढा, कहीं तुम्हारा असरआसार मालूम न हुआ। ऐसा न कीजिओ कि आठों में भी न चलो। तुम्हें अली की क़सम, आठों में मुक़र्रर चलियो"।

इसका जवाब जो मीर साहब ने दिया है। वह अगरचि: निहायत ही दिलचस्प है मगर हम तत्वील[5] से बचने के ख़्याल से उसे छोड़े देते हैं। उन्होंने देहली व

१ स्वर्गवासी २ अनुराग ३ आम तौर पर ४ महान् रचनाकार ५ विस्तार।

लखनऊ के मौजूदः रंग पर एतिराज़ात किये हैं और मआसिर शुअ़रा पर नुक्तःचीनियाँ की हैं, जिससे हमें बहस नहीं। हमें सिर्फ़ यह बताना है कि उस ज़माने में शुरफ़ा व कुमला (कामिल लोग) दरकिनार, रंडियाँ तक आ आके लखनऊ में बसती जाती थीं। और जो लोग देहली में फूलवालों की सैर के रसिया थे, अब कर्बला और आठों के मेले में अपना दिल बहलाते थे।

शमसुल्उलमा मौलाना आजाद मर्हूम ने बाद के तमाम शुअ़राए-देहली व लखनऊ को बिला लिहाज़ेइम्तियाज़ व अ़हद, एक जगह जमा करके और ज़माने की तनावें[1] खींच के पाँचवाँ दौर बना दिया है, लेकिन यह नाइन्साफ़ी है, असल पाँचवाँ दौर सिर्फ़ नासिख़ व आतश का था, जिसमें ज़बान ने नई वज़अ़ इख़्तियार की, बहुत से पुराने मुहावरात तर्क हो गये, नई बन्दिशें पैदा हुईं और उस ज़बान की बुनियाद पड़ी जो बाद के शुअ़रा-ए-देहली, लखनऊ में यकसाँ तौर पर मक़बूल हुई और क़रीब-क़रीब वह ज़बान बन गई जो हिन्दोस्तान में मुस्तनद है और यही वह ज़माना था जब शायरी की क़लमरौ में पहले-पहल लखनऊ का सिक्का जारी हुआ।

इसके बाद छठा दौर वह था जब लखनऊ में वज़ीर, सबा, रिन्द, गोया, रश्क, नसीम दहलवी, असीर, नव्वाब मिर्ज़ा शौक़, और पंडित दयाशंकर नसीम साहिबाने-मसनवी देहली में मोमिन, जौक़, ग़ालिब, नग़म-ए-शाअ़िरानः सुना रहे थे। इस दौर ने, सच यह है कि ज़बान को बलिहाज़ेख़्यालात सबसे ज़ियादः तरक़्क़ी पर पहुँचा दिया।

इसके बाद सातवाँ दौर अमीर, दाग़, मुनीर, तस्लीम, मजरूह, जलाल, लताफ़त अफ़ज़ल और हकीम वग़ैरः का था।

इन आख़िरी दौरों पर ग़ायर नज़र डालने से साफ़ नज़र आ जाता है कि फ़साहतेज़बान और शाअ़िरी ने लखनऊ में कैसी मज़बूत जगह पकड़ ली थी। चन्द ही रोज़ में शेअ़र कहना, लखनऊ में एक वज़अ़दारी बन गयी और शुअ़रा की यहाँ इस क़द्र कसरत हो गयी कि शायद कहीं किसी ज़बान में न हुई होगी। औरतों तक में शेअ़रोसुख़न का चर्चा हुआ। और जुहला के कलाम में भी शाअ़िराना ख़याल आफ़रीनियों, तश्बीहों[2] और इस्तिआ़रों[3] की झलक नज़र आने लगी।

फलने-फूलनेवाली शाअ़िरी की तवारीख़

फ़ारसी शायरी का असली उठान मसनवी से हुआ है और यह सिनफ़ेशाअ़िरी हमेशा सबसे ज़ियादः अहम और बावक़अ़त समझी गयी। इब्तिदा फ़िरदौसी से रज़मियः[4] शाहनामे से पड़ी। फिर निज़ामी, सादी, मौलाना-ए-राम खुसरु, जामी, और हातफ़ी वग़ैरः ने इसमें आलातरीन शुहरत व नामवरी हासिल की। उर्दू में मीर तक़ी मीर ने छोटी-छोटी बहुत सी मसनवियाँ देहली व लखनऊ के क़ियाम के ज़माने में लिखी

---

१ रस्सियाँ, डोरियाँ २ उदाहरणों ३ न दिखाई देनेवाली चीज़ को साकार बनाना, जैसे 'आखों से तीर' ४ वीर-गाथा।

थीं। मगर वह इस क़द्र मुख़्तसर और मामूली है कि मसनवियों के तज़किरे में उनका ज़िक्र भी बेमहल सा मालूम होता है।

मसनवी लिखने का आग़ाज़ उर्दू में मीर ज़ाहिक के बेटे मीर ग़ुलाम हसन—हसन से हुआ जो बचपन ही में अपने पिदरें बुज़ुर्गवार के साथ लखनऊ चले आये थे। यहीं की सुहबत में उनका नशोनुमा हुआ था, यहीं परवरिश पायी थी और यहीं की आबोहवा के आग़ोश में उनकी शाअ़िरी पली थी। क्योंकि जिस तालीम और जिस सोसाइटी ने उनकी मसनवी बेनज़ीर व बद्रेंमुनीर लिखवायी, वह ख़ालिस लखनऊ की थी। उसी ज़माने में मिर्ज़ा मुहम्मद तक़ी ख़ाँ हवस ने मसनवी 'लैला मजनू' लिखी और लखनऊ में मसनविय्यत का मज़ाक़ बढ़ना शुरू हुआ। आतश व नासिख़ के ज़माने में तो ज़रा ख़ामोशी रही। मगर फिर तो जो यह मज़ाक़ उभरा तो पंडित दयाशंकर नसीम ने गुलज़ारें नसीम, आफ़ताबुद्दौला क़लक़ ने तिलिस्मेंउलफ़त और नव्वाब मिर्ज़ा शौक़ ने बहारेंइश्क़, ज़हरेंइश्क़ और फ़रबेंइश्क़ लिखीं। और उन्हें इस क़द्र आम नुमूदो-शुहरत और आलमगीर मक़बूलियत हासिल हुई कि हर अद्ना व आला की ज़बान पर इन मसनवियों के अश्आ़र चढ़ गए। इससे पेशतर के ज़माने में किसी साहब ने मसनवी मीर हसन के जवाब में लज़्ज़तेंइश्क़ नाम की एक मसनवी लिखी थी, वह नवाब मिर्ज़ा शौक़ की मसनवियों के साथ शाया होने की वजह से उन्हीं की जानिब मंसूब हो गयी। लेकिन हक़ीक़त में न वह उनकी है और न उनके ज़माने की है।

इन सब मसनवियों के देखते, मसनवी गुलज़ारेंनसीम बावजूद आम मक़बूलीयत के, सदहा ग़लतियों से ममलू है। देखने से मालूम होता है कि एक नाज़ुक ख़याल नौ-मश्क़[1] है जो हर क़िस्म की शाअ़िराना ख़ूबियाँ अपने कलाम में पैदा करना चाहता है, मगर क़ादिरुल्कलामी[2] के न होने से क़दम-क़दम पर ठोकरें खाता है और किसी जगह अपने मक़सद को नहीं हासिल कर सकता। इसके जवाब में आग़ा अली शम्स ने जो एक बहुत ही कुहनः[3] मश्क़ शाअ़िर थे, उसी बहर में एक मसनवी लिखी थी, जिसमें ग़लतियों से पाक रहके तश्बीहात, इस्तिआ़रात और रिआ़यतेंलफ़्ज़ी के कमालात दिखाये थे। मगर अफ़सोस, वह मसनवी मिट गयी और गुलज़ारेंनसीम को जो शुहरत हासिल हो चुकी थी, उस पर ग़ालिब न आ सकी। देहली में उन दिनों मोमिन ख़ाँ ने चन्द छोटी-छोटी बेमिस्ल मसनवियाँ लिखीं जो बहुत ही मक़बूल और मशहूर हुईं।

मोमिन ख़ाँ के मज़ाक़ेंशाअ़िरी में नाज़ुक ख़याली बढ़ी हुई थी। ख़याली तश्बीहों और इस्तिआ़रों पर वह अपनी सुख़न आफ़रीनी की इमारत क़ायम करते थे। मसनवियों में वह ज़ियादःतर ख़याली जज़्बात व सिफ़ात को मुशख़्ख़स[4] करके अपने कलाम में एक ख़ास लुत्फ़ पैदा किया करते थे। मोमिन ख़ाँ के एक शागिर्द नसीम

---

१ नया अभ्यासी, नवसिखिया २ कलाम पर अधिकार ३ प्रवीण (पुराने) ४ मुक़र्रर।

देहलवी, लखनऊ में आये और यहाँ के मुशाअ़रों में अपना रंग ऐसा जमाया कि बहुत से लोग उनके शागिर्द हो गये। नसीम देहलवी ने लखनऊ में अपने उस्ताद के रंग को ख़ूब चमकाया और उनके शागिर्द तस्लीम लखनवी ने उर्दू मसनवी में नज़ीरी व अ़ुरफ़ी व साइब की खयालआराइयाँ दिखा दीं और नज़्मेउर्दू में जीते-जागते फ़ैज़ी व ग़नीमत लाके खड़े कर दिये। इधर आख़िर ज़माने में मौलवी मीर अ़ली हैदर तबा-तबाई नज़्म लखनवी ने शराब की मज़म्मत में साक़ी नाम-ए-शक़शक़िय्या के नाम से एक ऐसी बेनज़ीर अख़लाक़ी नज़्म उर्दू पब्लिक के सामने पेश कर दी कि उसका जवाब नहीं हो सकता। ग़रज़ कि मोमिन ख़ाँ की चन्द मुख़तसर मसनवियों से अगर क़तअ़नज़र कर ली जाये तो उर्दू मसनवीगोई का आग़ाज़[1] भी लखनऊ में हुआ और तरक़्क़ी भी यहीं हुई।

बाज़ हज़रात मसनवी मीर हसन और गुलज़ारे नसीम के ज़रीये से देहली और लखनऊ की ज़बान का मुक़ाबला व मुवाज़नः[2] किया करते हैं, जिस ख़याल को मौलवी मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद ने और ज़ियादः क़ुव्वत दे दी। लेकिन अव्वल तो गुलज़ारेनसीम को नज़ीर अकबराबादी के बंजारानामे की तरह अगर शुहरत हो भी गयी तो उसे मसनवी मीर हसन के मुक़ाबले में रखना, उर्दू शाअ़िरी की सख़्त तज़्लील[3] व तौहीन है। सही मुक़ाबला हो सकता है तो मसनवी मीर हसन और मसनवी तिलिस्मे उलफ़त का। और अगर गुलज़ारेनसीम की ज़बान ज़बर्दस्ती लखनऊ की ज़बान मान भी ली जाये तो मसनवी मीर हसन और गुलज़ारनसीम का मुक़ाबला देहली और लखनऊ की शाअ़िरी का नहीं बल्कि ख़ुद लखनऊ की अगली-पिछली ज़बानों का मुक़ाबला है। इसलिए कि मसनवी मीर हसन, लखनऊ की पहली ज़बान का नमूना है और यह आख़िरी ज़बान का।

शाअ़िरी की एक अहम और क़दीमतरीन सिन्फ़् मर्सियःख्वानी है। क़दीम अरबी शाअ़िरी में ज़ियादःतर मर्सिये और रज्ज़ ही शेअ़रोसुख़न में इज़हारेकमाल का ज़रीअ़ः थे। फ़ारसी में मर्सियःख्वानी कमज़ोर पड़ गयी थी। लेकिन बअ़हदेसलातीने-सफ़वीयः, ईरान में मज़हबेशीअ़ः को फ़रोग़ हासिल हुआ तो मसाइबे[4]-अहलेबैते-रिसालत की याद ताज़ा करने के लिए शुअ़रा को मर्सियःख्वानी की तरफ़ तवज्जुह हुई। मौलाना मुहतशिम काशी ने चन्द बन्दों का एक बेमिस्ल मर्सियः लिखा था जो उमूमन मक़बूल हुआ। इसके बाद से रिवाज था कि शुअ़रा कभी-कभी मातमेहुसैन में दो एक मर्सिये भी मौज़ूं कर दिया करते। लेकिन शेअ़रोसुख़न की दुनिया में मर्सियःगोई की वक़अ़त इस क़द्र कम थी कि मशहूर था "बिगड़ा शाअ़िर मर्सियःगो" फिर जब मज़हबी एतिबार से दौलतेसफ़्वियएमर्हूमः की जानशीन, अवध की सल्तनत क़रार पायी तो लखनऊ में मजालिस की तरक़्क़ी व अ़ज़ादारी के जोशोख़रोश ने मर्सियःगोई की ऐसी क़द्रदानी की कि इस फ़न को ग़ैर मामूली उरूज हासिल होना

१ आरम्भ, उदय २ समानता व तुलना ३ अपमान ४ मुसीबत।

शुरू हुआ और दरअसल लखनऊ के उरूज का सारा राज़ इसी तारीख़ी वाक़िअे में मुस्तिर है। हिन्दोस्तान में मुग़लों की सल्तनत थी जिन्होंने फ़ारसी ज़बान को दरबारी ज़बान क़रार दिया और फ़ारसी मुआशरत उनकी अमीराना ज़िन्दगी और उनके तमाम कमालात का मर्कज़ थी। नतीजा यह था कि हर ईरानी हिन्दोस्तान में आते ही आखों पर बिठाया जाता और उसकी हर हरकत और हर वज़अ मक़बूलीयत की निगाहों से देखी जाती। देहली की सल्तनत में शाहों का मज़हब सुन्नी होने की वजह से, ईरानी अपनी बहुत सी बातों को छुपाते और वहाँ की महफ़िलों में इसक़द्र शिगुफ़्तः न होने पाते जिस क़द्र कि वह अस्ल में थे। अवध का दरबार शीअः था और यहाँ का खानदाने हुक्मरानी खास खुरासान से आया था, इसलिए ईरानी यहाँ बिल्कुल खुल गये। और अपने असली रंग में नुमायाँ होने की वजह से वह जिस क़द्र शिगुफ़्तः हुए उसी क़द्र ज़ियादः हममज़हबी के बाअिस यहाँ के अहलेदरबार ने उनके औज़ाअ् व अतवार[1] को हासिल करना शुरू किया और ईरानियत जो दरअस्ल सासानी और अब्बासी शानोशौकत के आग़ोश में पली हुई थी, चन्द ही रोज़ के अन्दर लखनऊ की मुआशरत में सरायत कर गयी।

ग़रज़् सौदा, मीर के ज़माने में मियाँ सिकन्दर, गदा, मिस्कीन और अफ़सुर्दः मर्सियःगो थे जो छोटी-छोटी नज़्में शहादते इमाम हुसैन के बयान में तस्नीफ़ करके मजलिसों में सुना दिया करते। उनके बाद मीर खलीक़ और मीर ज़मीर ने मर्सियःगोई को बहुत तरक़्क़ी दी और मर्सियों की मौजूदः वज़अ् भी इन्हीं के ज़माने में ईजाद हुई। यहाँ तक कि ज़माना, मीर ज़मीर के शागिद मिर्ज़ा दबीर और मीर खलीक़ के साहबज़ादे मीर अनीस को नामवरी के शहनशीन पर लाया। और इन दोनों बुज़ुर्गों ने मर्सियःख्वानी में ऐसे-ऐसे कमालातेशाअिरी दिखाये कि शेअ्रो-सुखन के आसमान पर आफ़ताबोमहताब बन के चमके। वही मुक़ाबला जो मीर व सौदा और आतश व नासिख में रहा था अब मीर अनीस और मिर्जा दबीर में क़ायम हुआ। मिर्ज़ा दबीर में शौकतेअल्फ़ाज़् थी, बलन्द खयाली थी और इल्म व फ़ज़्ल का ज़ोर था। मीर अनीस में सादी, बेतकल्लुफ़ और जज़बातेइन्सानी पर हुकूमत करनेवाली ज़बान की वह खूबियाँ थीं जो सिवा मबदएफ़य्याज़[2] की इनायत के सीखने से नहीं आ सकतीं। इन दोनों बुज़ुर्गों ने फ़न्ने मर्सियःगोई को शायरी की और तमाम अस्नाफ़् से बढ़ा दिया, और उर्दू अदब में वह नई चीज़ें पैदा कर दीं जिनको अंग्रेज़ी तालीम के असर से तबिअ्तें ढूँढ़ने लगीं थीं। अनीस व दबीर ने मर्सियःगोई को उस दर्जेए-कमाल पर पहुँचा दिया था कि अब मर्सियःगोई बजाये मायूब होने के सबसे बड़ा शाअिरानः हुनर बन गई थी। तमाम अहलेलखनऊ इन दोनो बुज़ुर्गों के इस क़द्र मुअ्तरिफ़्[3] व मद्दाह हुए कि सारा शहर दो ग्रोहों में बटा हुआ था और हर सुखनसंज[4] या अनीसिया था या दबीरिया और इन दोनों गरोहों में हमेशा बाहमी मुखालिफ़त रहती।

---

१ तौरो तरीक़ः २ खुदा ३ तारीफ़ करनेवाले ४ शाअिर।

मीर अनीस ने मर्सियःगोई के साथ मर्सियःख़्वानी को भी एक फ़न बना दिया। यूनानियों के वाज़ मुक़र्रिरों और ख़तीबों की निस्बत सुना जाता है कि उन्होंने अपनी तक़रीरों में असर पैदा करने के लिए ख़ास-ख़ास कोशिशें की थीं और आवाज़ के नशेबोफ़राज़[1] और औज़ाअ् व अतवार के तग़य्युरात से गुफ़्तुगू में असर पैदा करते थे। इस्लाम की इस तूलानी उम्र में इस निहायत ज़रूरी फ़न को उसूल के साथ ख़ास मीर अनीस ने ज़िन्दः किया। अलफ़ाज़ के मुनासिब आवाज़ के तग़य्युरात और मज़ामीन के मुवाफ़िक़ चेहरा बना लेने, कलाम को आज़ा व जवारेह[2] के मुनासिब हरकात और ख़तोखाल के इशारात से क़ुव्वत देने का फ़न ख़ास लखनऊ की और वह भी मीर अनीस के घराने की ईजाद है। जिसकी तरक़्क़ी में अब तक कोशिशें जारी हैं और हमारे स्पीकर अपनी फ़सीहुल्बयानी में असर पैदा करने के लिए अगर इन बाकमालों की शागिर्दी करें तो निहायत ही कामियाब स्पीकर साबित हों।

ड्रामा का फ़न्नेसुख़न जो मग़रिबी[3] शाअ़िरी की जान है, उससे अरबी व फ़ारसी का अदब मुतलक़न ख़ाली था और फ़ारसी की शागिर्दी की वजह से उर्दू में भी इसकी तरफ़ कभी तवज्जुह नहीं की गई। संस्कृत में आला दर्जे के ड्रामा थे मगर उनसे हिन्दोस्तान की आख़िरी सोसायटी बिल्कुल नाआशना हो चुकी थी। रामचन्द्रजी और श्रीकृष्णजी के कारनामे अलबत्ता हिन्दुओं में मज़हबी आदाब के साथ दिखाए जाते थे मगर उर्दू शाअ़िरी को उनसे किसी क़िस्म का तअल्लुक़ न था। रामचन्द्रजी के हालात इंगलिस्तान के उलम्पिया की तरह खुले मैदानों में रज़्मियः नक़्क़ालियों की शान से दिखाए जाते और श्रीकृष्णजी के हालात रक़्स व सुरूद और मूसीक़ी[4] के पैराए में मज़हबी स्टेजों पर बअ़ीनः उपैरा के तरीक़े से नज़र आते जो 'रहस' कहलाते। वाजिदअलीशाह को 'रहस' से ख़ास दिलचस्पी पैदा हो गई और 'रहस' के प्लाट से माख़ूज़ करके उन्होंने एक ड्रामा तैयार किया जिनमें वह कन्हैय्या जी बनते या इश्क़ के सताए हुए जोगी बन के धूनी रमाते और बहुत सी औरतें, परियाँ और आशिक़मिज़ाज गोपियाँ बनके उन्हें ढूँढ़ती फिरतीं। फिर जब क़ैसरबाग़ के मेलों का दरवाज़ा अवामुन्नास के लिए भी खुल गया तो सारे शहर के शौक़ीनों में ड्रामः का फ़न ख़ुद बख़ुद तरक़्क़ी करने लगा। और चन्द ही रोज़ में इस शौक़ को इस क़द्र तरक़्क़ी हुई कि बाज़ मशहूर शुअ़रा भी उस ज़माने के मज़ाक़ के मुताबिक़ तबअ् आज़माइयाँ करने और ड्रामः लिखने लगे। चुनांचिः वाजिदअली शाह के शौक़ के साथ ही, मियाँ अमानत ने जो एक मशहूर मश्शाक़ शाअ़िर थे इन्द्रसभा लिखी और मौजूदा अह्द की कम्पनियों की तरह शहर में जा बजा मुख़्तलिफ़ जमाअ़तें उनकी "इन्द्रसभा" को स्टेज पर खेलने लगीं, जिनमें कहीं औरतें और कहीं लड़के एक्ट करते। इस इन्द्रसभा में उसूलेमूसीक़ी के मुताबिक़ दिलकश धुनें क़ायम की गईं और सारा शहर इन्द्रसभा के जलसे देखने का मुश्ताक़ था। मियाँ अमानत की इन्द्रसभा की कामियाबियाँ देख के और लोगों को भी शौक़ हुआ और इस क़िस्म के बहुत से ड्रामे ईजाद हो गए। और सबका

१ उतार-चढ़ाव २ अंग ३ पच्छिमी ४ गाने-बजानेवाले।

नाम "सभा" क़रार पा गया। चुनांचि: शहर में मदारीलाल वग़ैर: की बहुत सी सभायें क़ायम हो गईं जिनके प्लाट बदले हुए थे।

सभा के नए रंग ने शहर में ऐसी ज़िन्द:दिली पैदा कर दी कि सिवा इन्द्रसभा के लोग किसी और क़िस्म का नाच-गाना पसन्द ही न करते थे। हर तरफ़ सभाओं की धूम थी और इसकी बुनियाद पड़ गई कि सोसायटी के मज़ाक़ के मुताबिक़ अगले आशिक़ान: क़िस्से नक़्ल के तौर पर अच्छी नज़्मों में और दिलकश मज़मून के साथ पब्लिक के सामने पेश किए जायें। इसमें शक नहीं कि पारसी थेटिरों ने अपनी इन्तिज़ामी ख़ूबियों और नुमायशी दिलफ़रेबियों की वजह से सभाओं का रंग फीका कर दिया, लेकिन यह न समझो की ड्रामा का वह पुराना मज़ाक़ जो लखनऊ में ईजाद होके मुरव्वज[१] हुआ था मिट गया। अव्वल तो पारसियों ने भी इस चीज़ को लखनऊ से लिया। उनका पहला आम खेल, अमानत की इन्द्रसभा था, और बावजूद इसके कि, लखनऊ में तमाम क़ौमी जलसों में आज तक सपेरे, हरीशचन्द्र वग़ैर: के ऐसे बीसियों परफ़ार्मेन्स[२] हो रहे हैं और इस मज़ाक़ के एक्टरों का एक मुस्तक़िल गरोह पैदा हो गया है जो शुरफ़ा में से क़ौमी मज़ाक़ उठ जाने पर भी अवाम को महज़ूज़[३] करता है। बहर तक़दीर, इसमें शक नहीं किया जा सकता कि उर्दू ड्रामा की बुनियाद खास लखनऊ ही में पड़ी और यहीं से सारे हिन्दोस्तान में इसका रवाज हुआ।

उर्दू शाअ़िरी की एक क़िस्म वासोख़्त हैं। यह खास क़िस्म के आशिक़ान: मुसद्दस[२] होते हैं और इनका मज़मून उमूमन् यह होता है कि पहले अपने इश्क़ का इज़्हार, उसके बाद माशूक़ का सरापा, उसकी बेवफ़ाइयाँ, फिर उससे रूठ के, उसे यह बावर कराना कि हम किसी और माशूक़ पर आशिक़ हो गए, उस फ़र्ज़ी माशूक़ के हुस्नोजमाल की तारीफ़ करके माशूक़ को जलाना, छेड़ना, जली-कटी सुनाना और यूँ उसका ग़ुरूर तोड़के फिर मिलाप कर लेना। नज़्मे उर्दू की यह क़िस्म लखनऊ ही से शुरू हुई। ज़मानए वस्त के क़रीब-क़रीब तमाम शाअ़िरों ने वासोख़्त लिखे हैं और उनमें बड़े-बड़े लुत्फ़ पैदा किए हैं। देहली में भी बाद के ज़माने में मुख़्तलिफ़ वासोख़्त लिखे गये, खुसूसन मोमिन खाँ ने कई अच्छे वासोख़्त लिखे, मगर आग़ाज़ लखनऊ ही से हुआ। उमरा की अय्याशान: तबीअ़तों ने शाअ़िरी की कई और सिनफ़ों को पैदा कर दिया जिनका आग़ाज़ देहली ही से हुआ था। उनमें सबसे ज़ियाद: मुहमल हज़्लगोई है और किसी क़द्र पुरलुत्फ़ रेख़ती है। हज़्लगोई का आग़ाज़ देहली जाफ़र ज़टल्ली से हुआ जो ग़ालिबन मुहम्मद शाह के ज़माने में थे। उनके कलाम को मैंने अव्वल से आखिर तक देखा है। सिवाये फ़ुहशगोई और हद से गुज़री हुई बेहयाई के, न कोई शाअ़िरान: खूबी नज़र आती है और न ज़बान का कोई लुत्फ़

---

१ प्रचलित २ स्वांग ३ खुश।

है। इसके वाद देहली ही की ख़ाक से साहिबक़िराँ[1] तख़ल्लुस बिलगिराम के एक हज़्लगो लखनऊ में आए और यहीं चमके। उनका नाम सैय्यद इमामअली था और आसिफ़ुद्दौल: के ज़माने में वारिदेलखनऊ हुए थे। मालूम होता है कि लखनऊ के मुव्तज़ल[2] मज़ाक़ वाले रईस ज़ादों में उनका नश्वनुमा हुआ। उनका दीवान मिलता है और गो कि कलाम फ़ुहश और तहज़ीव से कोसों दूर है, मगर फिर भी उसमें एक वात है। शाअ़िरान: ख़ूवियों के साथ ज़वान और मुहावरों का पूरा लुत्फ़ है। लेकिन इस फ़न को लखनऊ के आख़िरी दौर में मियाँ मुशीर ने जो मिर्ज़ा दवीर के शार्गिद थे, कमाल के दर्जे को पहुँचा दिया।

मुझे इस मौक़े पर विला लिहाज़ इसके कि शीओं और सुन्नियों के मुतअ़स्सिवान: जज़्वात का लिहाज़ करूँ, यह वता देना ज़रूरी है कि लखनऊ में जव शिअ़: सल्तनत क़ायम हुई तो शीअ़त ने अपने असली रंग को क़ायम रखके, कमाल आज़ादी के साथ अपने हर उसूल में तरक़्क़ी शुरू की। मज़हवेशिअ़: की वुनियाद दो चीज़ों पर है, एक तवल्ला यानी अहलेवैतेकिराम और खानदानेनुवुव्वत के साथ इज़हारेमहव्वत और दूसरा तवर्रा, यानी इस ख़ानदानेमुहतरम के दुश्मनों से अपनी वराअत् ज़ाहिर करना, जिसने वाहमी रक़ावत व तअ़स्सुव के वढ़ने से सव्वोशत्म[3] की सूरत इख़्तियार कर ली। उसूलन इस अक़ीदे में सुन्नी भी उनके साथ शरीक हैं। मगर फ़र्क़ यह आ पड़ा कि पहले तीनों जानशीनानेरिसालत को अहलेसुन्नत अफ़्ज़लुन्नासि वऽद अम्वियाअि व रुसुल, और सच्चे जानशीनाने रिसालत मानते हैं और शीअ़: उनको ग़ासिवोज़ालिम[4] वताते हैं। और जव यह वुज़ुर्ग भी इनके अक़ायद में ख़ानदानेरिसालत के दुश्मन क़रार पाये तो उनसे भी तवर्रा वाजिव हो गया। जिसको मुहज़्ज़व और साहिवेइल्म लोगों ने अगर हर्फ़े वराअत के सही मानों की हद तक रखा तो अवाम शीअ़: अपने मज़ाक़ के मुताविक उन पर ज़वाने सव्वोशत्म दराज़ करने लगे और यही चीज़ सुन्नी (और) शीओं के वाहमी तअ़स्सुव की विना क़रार पा गई।

इन दोनो मज़हवी चीज़ों ने लखनऊ की शाअ़िरी पर निहायत ही मुनासिव और उम्द: असर डाला। तवल्ला ने मर्सिय:गोई के फ़न को अपने आग़ोश में लेके जुम्ल: असनाफ़े शाअ़िरी से वढ़ा दिया तो दुश्मनानेख़ानदाने नुवुव्वत से तवर्रा करने के जोश ने पुरानी हज्वगोई की इख़्तियार करके उसे "हज्जिय:गोई" के नाम से तरक़्क़ी दी। इस फ़न के मुतअ़द्दिद् वाकमाल लखनऊ में मशहूर हुए, मगर अफ़सोस यह चीज़ विलख़सीस[4] अहलेसुन्नत को नागवार गुज़रने वाली थी। अहदेशाही में इस पर तलवारें निकल पड़ा करती थीं और अंग्रेज़ी में भी आज तक कभी-कभी फ़ौजदारियाँ और मुक़द्दमेवाज़ियाँ हो जाया करती हैं जिसका नतीजा यह था कि हज्जिय:गोई व हज्जिय:ख़्वानी को मकानों की चार दवारी से वाहर निकलने की जुर्अत न हो सकी

---

१ ख़ुशक़िस्मत २ कमीना, गिरा हुआ ३ बुरा भला कहना ४ खास तौर पर।

अगर हज़ियःगोई का आम सबजेक्ट ऐसा महदूद और बाबुन्निज़ाअ[1] न होता तो ज़माना माबिहिन्निज़ाअ देखता कि लखनऊ के हज़ियःगोइयों ने अपने बेहूदःगोइयों और फ़ुहूहाशियों में कैसे-कैसे कमालात दिखाए हैं।

इस फ़न में सबसे ज़ियादः शुहरत मिर्ज़ा दबीर के शागिर्द मियाँ मुशीर को हासिल हुई। हज्वगोई और फ़ुहूहाशी पहले भी थी मगर मुशीर ने जिस क़िस्म के मुहावरात से काम लिया, बन्दिशेअल्फ़ाज़ तर्ज़ेअदा, और इस्तेमाले तश्बीहात में जैसी मज़हकःखेज़ी पैदा की और सुहबत को मारे हँसी के लोटा देने और सामईन के पेट में बल डाल देने के लिए जो ज़बान और जैसा असलूबेसुखन इख्तियार किया, उसकी खूबियाँ और जिद्दतें बयान से बाहर हैं इब्तिज़ाल[2] में भी लुत्फ़ पैदा करके, उसे शायस्तः लोगों के सामने पेश करने के क़ाबिल बना देना, उनका खास जौहर था जो उनसे पहले और उनके बाद किसी को नसीब नहीं हुआ।

हज़्लगोई के सिलसिले में मियाँ चिर्कीन का नाम भी लेना चाहिए। लखनऊ के ज़मानए-वुस्ता[3] में आशूरअली खाँ एक ज़िन्दःदिल और निहायत ही क़ाबिलो-बामज़ाक़ रईस थे, उनके वहाँ की सुहबत उस वक़्त की सोसायटी का एक मुकम्मल तरीन नमूना थी। उन्हीं ने जान साहब और चिर्कीन को पैदा किया और बाज़ लोग कहते हैं कि उन्हीं की सुहबत में साहिबक़िराँ का भी नश्वनुमा हुआ था। चिर्कीन अपने हर शेअ्र में पेशाब पैखाने की रिआयत रखते और उनके अश्आर से ऐसी तअफ़्फ़ुन[4] आती है कि नाम आते ही हमारे नाज़िरीन[5] के दिमाग़ सड़ गए होंगे। मगर चूँकि उनको एक क़िस्म की खुसूसियत थी, हमने उनका ज़िक्र कर दिया, उनके कलाम में बऽज़ शाअ़िरानः खूबियाँ और अच्छी तश्बीहें भी हैं। मगर उनके मज़ाक़ ने इन खूबियों को भी गन्दा और पलीद कर दिया है।

लेकिन रीख़ती का फ़न बावजूद ग़ैर मुहज़्ज़ब होने के दिलचस्प है और चिर्कीन की शाअ़िरी की तरह अज़ीयतरसाँ नहीं। मर्दों और औरतों के मुहावरों और लहजों में थोड़ा बहुत फ़र्क़ हर ज़बान में हुआ करता है। मगर इतना नहीं जितना हमें अपनी ज़बान में नज़र आता है। फ़ारसी अरबी सब ज़बानों में यह इम्तियाज़ मौजूद है। मगर उर्दू इस खुसूसियत में बढ़ी हुई है। फ़ारसी और अरबी का पुराना मज़ाक़ था कि औरतें शेअ्र कहतीं तो अपनी ज़बान में कहतीं और मर्द कभी औरतों की ज़बान से कोई खयाल अदा कराते हैं तो ज़बान में लुत्फ़ पैदा करने के लिए उनकी ज़बान इख्तियार कर लेते हैं। यही हाल अंग्रेज़ी का है। उर्दू शाअ़िरी हमेशा से सिर्फ़ मर्दों की ज़बान में रही यहाँ तक कि उसमें औरतें कहती भी हैं तो मर्द बनके कहती हैं, मर्दों ही की ज़बान इख्तियार करती हैं और अपने लिए ज़मीरें तक मुज़क्कर इस्तेमाल करती हैं। अगर शाअ़िर का नाम न मालूम हो तो कोई नहीं पहचान सकता कि यह किसी मर्द का कलाम है या औरत का।

---

१ झगड़े का कारण २ कमीनापन ३ मध्यकालीन ४ बदबू (दुर्गन्ध) ५ देखने-पढ़नेवाले।

उर्दू शाअ़िरी का तीसरा या चौथा ही दौर था कि शोख़ तवअ् जवानों में ख़याल पैदा हुआ कि रीख़ता की जगह एक रीख़ती ईजाद की जाय। मीर हसन ने अपनी मसनवी में ज़रूरत के मौक़ों पर यह ज़बान मौज़ूँ की थी। मगर वहाँ तक मुज़ायक़ः न था। मियाँ रंगीन ने इस रंग को मुस्तक़िल तौर पर इख़्तियार किया, जो देहली के रहने वाले थे और लखनऊ की सुहवतों में शरीक रहा करते थे। इब्तिदाअन मुहज़्ज़ब लोगों की सुहवत ने इस रंग को बेशर्मी और ख़िलाफ़ेतहज़ीब जाना। चुनांचि सैय्यद इंशा की ज़बानी हमने लखनऊ में देहली के जिन मुहज़्ज़ब सिनरसीदः बुज़ुर्ग और वहीं की एक रंडी नूरन की गुफ़्तुगू लिखी है। उसमें वह बुज़ुर्ग फ़रमाते हैं—और सबसे ज़ियादः एक और सुनिए कि सआ़दत यार तुह्मासिप का बेटा अनवरीये रीख़तः अपने को जानता है। रंगीन तख़ल्लुस है। एक क़िस्सा कहा है, उस मसनवी का नाम दिलपज़ीर रखा है। रंडियों की बोली उसमें बाँधी है। मीर हसन पर ज़हर खाया है। हर चन्द उस मर्हूम को भी कुछ शअ़ूर न था बदरेमुनीर की मसनवी नहीं कही गोया साँडे का तेल बेचते हैं। भला इसको शेअ़्र क्योंकर कहिए? सारे लोग दिल्ली, लखनऊ, के रंडी से लेके मर्द तक पढ़ते हैं।

चलीं वाँ से दामन उठाती हुई,
कड़े से कड़े को बजाती हुई।

सो उस बेचारे रंगीन ने भी इसी तौर पर क़िस्सा कहा है। कोई पूछे कि भाई तेरा बाप रिसालदार मुसल्लम लेकिन बेचारा बर्छी-भाले का हिलानेवाला, तेग़े का चलानेवाला था, तू ऐसा क़ाबिल कहाँ से हुआ? और शुह्दापन मिज़ाज् में रंडीबाज़ी से आ गया है तो रीख़तः के तईं छोड़कर एक रीख़ती ईजाद की है। इस वास्ते कि भले आदमियों की बहू-बेटियाँ पढ़कर मुश्ताक़ हों, और उनके साथ अपना मुँह काला करें, भला यह कलाम क्या है? :—

ज़रा घर को रंगी के तहक़ीक़ कर लो,
यहाँ से हैं कै पैसे डोली कहारो।

—मर्द होकर कहता है कहीं ऐसा न हो कि कम्बख़्त मैं मारी जाऊँ। और एक किताब बनाई है उसमें रंडियों की बोली लिखी है। जिसमें ऊपर वालियाँ, चीलें, ऊपर वाला चाँद, उजली धोवन वग़ैरः वग़ैरः।

मगर मुहज़्ज़ब बुड्ढे शिकायत करते-करते मर गए, नौजवानों की रंगीनी ने रंगीन के मज़ाक़ को तरक़्क़ी दे ही के छोड़ा और रीख़ती उर्दू का एक फ़न हो गया। जिसकी ईजाद गो एक देहली ही के शाअ़िर से हुई थी मगर हुई लखनऊ में और यहीं इसे फ़रोग़[1] हुआ। क़िस्से के सिलसिले में इस ज़बान को मीर हसन के बाद नव्वाब मिर्ज़ा शौक़ ने जिस आला दर्जे-ए-कमाल को पहुँचा दिया, तारीफ़ नहीं हो सकती। सफ़हे के सफ़हे पढ़ते चले जाइए। यही नहीं पता चलता कि मौज़ूँ करने में शाअ़िरानः

१ उन्नति, चमक।

ज़रूरतों ने बोलने की ज़बान पर कहीं कुछ तसर्रुफ़[1] भी किया है या नहीं। लेकिन ग़ज़लगोई में रंगीन की जानशीनी जान साहब ने की, जो लखनऊ के एक मामूली शख़्स थे और आशूर अली ख़ाँ की ख़राद[2] पर चढ़ के तैयार हुए थे। गो कि जान साहब के बाद और रीख़ती-गो भी लखनऊ में पैदा हुए, मगर जान साहब पर कमाल और शुहरत का ख़ातिमा हो गया। उन्होंने ग़ज़लें कहीं, वासोख़्ती कहीं, और और भी कई नज़्में कहीं।

रीख़ती में अगर फ़ुहश और बदकारी के मज़ाक़ से परहेज़ करके, पाकदामनी के जज़्बात इख़्तियार किए जाते तो यह फ़न एक हद तक क़ाबिलेतरक़्क़ी होता। मगर ख़राबी यह हुई कि उसकी बुनियाद ही बदकारी के जज़्बात और बेअिस्मती[3] के ख़यालात पर थी, इसलिए रीख़ती गवइय्यों का क़दम हमेशः जाद-ए-तहज़ीब[4] व एतिदाल[5] से बाहर हो गया। और इससे ज़बान को चाहे किसी हद तक फ़ायदा हुआ हो, मगर अख़लाक़[6] को नुक़सान पहुँचा।

उर्दू की इंशा परदाज़ी (गद्य-लेखन)

नस्रे उर्दू[7] की उम्र, नज़्म[8] के देखते कम है। मुद्दत तक तालीमयाफ़्ता लोगों की यह वज़अ् रही कि अगरचि बाज़ लोग फ़ारसी में भी शेअ्र कहते थे, मगर आम रुजहान और मैलानेउर्दू[9] ग़ज़ल-सराई की तरफ़ था। और हिन्दोस्तान में उर्दू शाअ़िरों की तादाद फ़ारसी शाअ़िरों से बहुत ज़ियादः थी। मगर नस्र में सारे मुल्क को फ़ारसी ही में लिखने पढ़ने का शौक़ था। उलूमोफ़नून[10] की किताबें फ़ारसी में लिखी जातीं, दीनोमज़हब की किताबें फ़ारसी में तसनीफ़ होतीं, यहाँ तक कि बूढ़े से लेके बच्चे तक सब फ़ारसी ही में ख़त व क़िताबत करते। बच्चों को मकतब में फ़ारसी ही की इंशाएँ पढ़ाई जातीं और फ़ारसी ही में ख़त लिखना उन्हें सिखाया जाता। नतीजा यह था कि बोलचाल में उर्दू ज़बान चाहे कैसी ही शीरीं व फ़सीह हो गई हो, लिखने की ज़रूरत पेश न आई, और सब गूंगे हो गए।

पहले पहल उर्दू में मीर अम्मन देहलवी ने अंग्रेज़ों की हौसिला अफ़ज़ाई व हिदायत से अपनी क़िताब 'चार दर्वेश' लिखी। उसी ज़माने में मिर्ज़ा अली लुत्फ़ ने अपना 'तज़किर-ए-शुअ्र-ए-उर्दू' तसनीफ़ किया, जो अब्दुल्लाह ख़ाँ साहब मुक़ीमे हैदराबाद की कोशिश से छप गया है। उसी ज़माने के क़रीब मौलवी इस्माईल साहब शहीद ने तौहीद व इत्तिबाअ़े सुन्नत पर अपनी किताब 'तक़वीयतुलईमान' तहरीर फ़रमाई। यह किताबें अब चाहे जिस नज़र से देखी जाएँ उन दिनों अदबी कमाल दिखाने के लिए नहीं लिखी गई थीं। इनकी तसनीफ़ से सिर्फ़ मक़सूद यह था कि बेतकल्लुफ़ और सीधी-साधी ज़बान में मतलब अदा कर दिया जाए और अवाम फ़ायदः

---

१ चमत्कार २ सान, धार ३ चरित्रहीनता ४ सभ्यता की राह ५ संयम, संतुलन ६ शिष्टाचार ७ उर्दू गद्य ८ पद्य ९ उर्दू का झुकाव १० विद्या और कला।

उठा सकें। मज़कूर-ए-बाला[1] बुज़ुर्गों को अगर अदव उर्दू का कमाल दिखाना होता तो उस ज़माने की इंशा परदाज़ी[2] के मुताविक़ ज़हूरी व निअ़मत ख़ाँ आली और अवुलफ़ज़ल व ताहिर वहीदा का रंग इख्तियार करते जो उस वक़्त अदवी दुनिया पर हुकूमत कर रहा था; और जिसके बग़ैर क़ोई तहरीर मुल्क में क़ाविलेदाद न तसव्वुर की जाती। तहरीर ही नहीं गुफ़्तगू में भी अगर ज़ियादः तहज़ीव व शाइस्तगी मलहूज़ेख़ातिर[3] होती तो वही अन्दाज़ इख्तियार कर लिया जाता, जैसा कि इंशा ने मिर्ज़ा मज़हर जानेजानाँ क़ी तक़रीर के चन्द अलफ़ाज़ नक़्ल करके वता दिया है।

सच पूछिए तो उर्दू की नस्सारी[4] लखनऊ ही से शुरू हुई, जबकि पहले मिर्ज़ा रजव अली वेग सुरूर ने 'फ़सान-ए-अ़जायव' और अपनी दूसरी किताबों को शायअ़ किया। उसी ज़माने में नौरतन भी लखनऊ में लिखी गई, जिसके मुसन्निफ मुहम्मद वख्श महजूर शागिद ज़ुर्अत लखनऊ ही की सुहवत के साख्तः व परदाख्तः[5] थे।

रजव अली वेग सुरूर ने सच यह है कि इंशा परदाज़ी का आला कमाल दिखाया है और जिस वक़्त वह किताव शायअ़ हुई है, उर्दू सुहवतों में हैरत के साथ देखी गई। मगर वदक़िस्मती से उन्होंने दीवाचे में मीर अम्मन पर हमला कर दिया था, जिसकी वजह से उनके तमाम कमालात अह्लेदेहली के नज़दीक ख़ाक में मिल गए। यहाँ तक कि मीर मुहम्मद हुसैन आज़ाद के से मुहज़्ज़व बुज़ुर्ग भी उन्हें "लखनऊ का शुह्दा" फ़रमाते हैं। और मालूम नहीं रजव अली वेग मर्हूम से इस गुस्ताखी का इन्तिक़ाम कव तक लिया जायेगा? मीर अम्मन का हुनरे-इंशा-परदाज़ी अंग्रेज़ों को उन दिनों चाहे नज़र आ गया हो मगर हिन्दोस्तान के अह्लेज़वान में से किसी को न नज़र आया था और न नज़र आ सकता था, इसलिए कि अंग्रेज़ी तालीम के असर ने उस वक़्त तक मुल्की लिट्रेचर का मज़ाक़ नहीं वदला था और मश्‌रिक़ी[6] अदव ख़यालों और दिमाग़ों में वसा हुआ था।

अदवी रंग के मुताविक़ मैंने कई वार लिखा है और फिर लिखता हूँ कि वह विल्कुल तालीम और मज़ाक़ की परवरिश से वावस्तः होता है। जिस तरह गिज़ाओं खुशवूओं और रंगों और दीगर तमाम चीज़ों के गिर्द की मुआ़शरत[7] पसन्दीदः वनाया करती है और मुख्तलिफ़ क़ौमों और मुल्कों में इस क़द्र इख्तिलाफ़ रहता है कि एक लज़ीज़तरीन[8] और महवूवतरीन[9] दूसरे के नज़दीक निहायत ही वदमज़ा और सख़्त क़ाविले नफ़रत होती है। वैसे ही अदव और लिट्रेरी मज़ाक़ का हाल है कि जो रंग एक क़ौम में परवरिश पाके दिमाग़ों और ज़वानों पर चढ़ जाता है, दूसरी क़ौम के नज़दीक, वेहूदः वेलुत्फ़ और वदमज़ा होता है और सही फ़ैसला कोई नहीं कर सकता कि कौन अच्छा है और कौन वुरा है।

---

१ उपर्युक्त २ गद्यलेखन ३ ध्यान में लाने योग्य ४ गद्य-लेखन ५ वने-सवाँरे ६ पूर्वी ७ रहन-सहन, परिवेश ७ रुचितम ९ प्रियतम।

जाहिलीयतें अ़रब में फ़साहत[1] व बलाग़त[2] का रंग यह था कि मुक़फ़्फ़ा[3] फ़िक़रे लाए जायें। इबारत में मुतनासिब[4] व मुतदाविल[5] अल्फ़ाज़े मुतरादिफ़[6] आएं। और एक ही मतलब बार-बार अदा करके मुअस्सिर[7] और दिलचस्प बनाया जाए। इसी मज़ाक़ को क़ुर्आन ने, चूँकि वह लिसानेक़ौम[8] में था, निहायत मुअ़्जिज़नुमा तर्ज़[9] से तकमील को पहुँचाया। फिर वही मज़ाक़ अदबे अरबी का उ़न्सुरेआज़म[10] बन गया। आज कल के मेयार से देखा जाए तो अ़रबी की फ़सीहतरीन किताबें मक़ामाते-हुरैरी व तारीख़ेतैमूरी वग़ैरः में क़ाफ़िय:पैमाई, तत्वीलें बेजा[11] और बेज़रूरत अल्फ़ाज़ लाने के सिवा कुछ नहीं है, जिसका मुद्दतों और सद्यों तक एक दुनिया मज़ा लेती रही है। यही रंग फ़ारसी के अदीबों ने इख़्तियार किया। और जूँ-जूँ अदबी तरक़्क़ी होती गई, वही रंग पुख़्तः और गहरा होता गया। और इस मज़ाक़ के दिमाग़ों में बसे होने की वजह से वही रंग उर्दू के उदबा-ए-अव्वलीन ने इख़्तियार किया और दुनिया से दाद पाई। लिहाज़ः यह ख़याल करना कि चार दरवेश जिन दिनों लिखी गई है, उन दिनों वह सिवा अंग्रेज़ों को पसन्द होने के, जो उर्दू को जानते ही न थे, हिन्दोस्तान के अहलेअ़िल्म में कोई अदबी कमाल तसव्वुर की गई होगी, बिल्कुल बेअसल है।

अब अंग्रेज़ी के असर से बेशक ऐसा ज़माना आ गया है जब उर्दू को पुराने लिट्रेचर ने जो ज़ेवर और लिबास पहनाया था, उतार लिया गया और नये मग़रिबी[12] कपड़े पहनाए गये। चार दर्वेश और उसकी सी दूसरी किताबें चूँकि पुराने अदबी ज़ेवर व लिबास से मुअ़र्रा[13] थीं, इस लिए लोगों को पसन्द आईं। इस लिए नहीं कि उनमें कोई खास ख़ूबी थी बल्कि इस लिए कि उस पुराने मक़बूलेअ़िल्म क़ौमी लिट्रेचर के रंग से मुअ़र्रा थीं जो मौजूदह लोगों को नापसन्द है।

उसी ज़माने में लखनऊ में मौलवी ग़ुलाम इमाम शहीद ने अपना मशहूर मौलुद§ शरीफ़ लिखा। जो उस वक़्त के अदबी मज़ाक़ में इस क़द्र डूबा हुआ था कि लोगों को बहुत पसन्द आया, और मज़हबी मक़बूलियत की वजह से आज तक बहुत पसन्द है।

मगर मौजूदः नस्रेउर्दू अस्ल में देहली ही से निकली और हमेशा देहली के ज़ेरबारे इहसान रहेगी। मिर्ज़ा ग़ालिब ने उर्दू इंशा में बेतकल्लुफ़ी का रंग इख़्तियार किया जो मौजूदः मज़ाक़ से बहुत ही क़रीब है। अगरचि वह भी कभी-कभी क़ाफ़िय: बन्दी की रिआ़यत कर जाते हैं, लेकिन इस बेतकल्लुफ़ी के साथ कि पढ़ने वाले को क़ाफ़िये का ख़याल भी ग़ौर करने से (ही) आता है। मौजूदः तालीम ने लोगों को इस रंग को क़बूल करने के लिए ख़ूब तैयार कर दिया था। हर सुहबत में वाह-वाह

---

१ सरलता २ अलंकारमय शैली ३ तुकान्त ४ अनुकल ५ प्रचलित ६ लगातार, एक के बाद एक ७ प्रभावशाली ८ क़ौमी ज़बान ९ प्रतिष्ठित स्तर पर १० प्रमुख तत्व ११ अनुचित विचार १२ पश्चिमी १३ ख़ाली।

§ यह शब्द मौलिद है पर बोला मौलुद जाता है, मौलूद भी सही है।

होने लगी। उनके बाद सर सैय्यद ने उस सादगी में मतानत[1] पैदा की मगर इस कोशिश के साथ कि ज़बान दक़ीक़[2] न होने पाए और ऐसी रहे कि हर अद्‌ना व आला उसे समझ ले। मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने इसमें मतानत के साथ और लुत्फ़ पैदा कर दिया, जब कि लखनऊ के लोग अंग्रेज़ी के असर से दूर होने के बाअ़िस हनोज़[3] पुराने ही रंग के दीवाने थे। यहाँ वाजिदअली शाह के आख़िर अय्यामें-ज़िन्दगी तक रंगीन और मुक़फ़्फ़ा इबारत लिखी जाती थी और लोगों को इस सादगी का मज़ा नहीं मिलने पाया था।

अब अलीगढ़ से 'तहज़ीबुल्अख़लाक़,' आगरे से 'तेरहवीं सदी' और लखनऊ से 'अवधपंच' निकल रहे थे। जिनमें से हर एक नस्र उर्दू की एक मुमताज़ शान रखता था। तहज़ीबुल्अख़लाक़ में मतानत और आलिमान: वक़ार के साथ क़ौमी दर्द का सोज़ोगुदाज़[4] था, सुलझी हुई साफ़ ज़बान थी, और नए मग़रिबी फ़लसफ़: व अदब से लिए हुए ख़यालात और असर डालनेवाले मज़ामीन व ख़ुतबात थे। तेरहवीं सदी में आला मुंशियान: क़ाबिलीयत के साथ क़दीम अदबी मज़ाक़ की निगहदाश्त नई ख़याल-आराइयों और जिद्दतों के साथ की जाती थी। और पुराना मश्रिक़ी लिट्रेचर कुछ ऐसी जिद्दत-तराज़ियों[5] के साथ नए लिबास में ज़ाहिर किया जाता था कि नए और पुराने दोनों गरोहों से बेइख़्तियार "वाह वाह" के नारे बलन्द होते थे।

अवध पंच में ज़बान अपनी असली ज़बान में दिखाई जाती थी जिसमें मज़ाक़ का पहलू ग़ालिब रहता। इसमें मुख़तलिफ़ लिखनेवाले थे और हर एक का मज़ाक़ ख़ास लुत्फ़ और ख़ास ख़ूबियाँ रखता था। मुंशी सज्जाद हुसैन एडीटर की शोख़ियाँ, मिर्ज़ा मच्छू बेग साहब की कौसर की धोई हुई ज़बान, मुन्शी अहमदअली कसमन्डवी की फ़ारसीयत की आलाअदबी और शाअ़िरान: दिलचस्पियाँ ज़ाहिर करनेवाला रंग। पंडित त्रिभुवन नाथ हिज्र की हिन्दी नज़्में और उनकी ख़ूबियों को निहायत दिलचस्पी के साथ ज़ाहिर करनेवाले मज़ामीन, उर्दू नस्र में एक अ़जीब ज़िन्दगी व शिगुफ़्तगी[6] पैदा कर रहे थे।

इसी असूना में अवध अख़बार के साथ पंडित रतननाथ का नाविल "फ़सानए आज़ाद" शाया होना शुरू हुआ, जिसने मुल्क पर बहुत बड़ा असर डाला। और उर्दू दुनिया नाविल-नवीसी के मज़ाक़ से आशना हो के उसकी बेइन्तिहा फ़रेफ़्ता हो गई। फ़सानए-आज़ाद में, जहाँ मुसन्निफ़ ने अपने क़लम से कोई सीन दिखाया है या कोई वाक़िअ: लिखा है, वहीं फ़सान-ए-अजायब का पुराना रंग तरक़्क़ियों के साथ इख़्तियार किया है, और जहाँ दूसरों की ज़बान से तरक़्क़ी कराई है, बहुत ही सादी और बेतकल्लुफ़ ज़बान रखी है। ख़ुसूसन औरतों की ज़बान बहुत ही पाकीज़: है, गोकि जा बजा ग़लतियाँ भी हो गई हैं मगर सच यह है कि अपनी कोशिश में वह जिस दर्जे तक पहुँच गए हैं, उनसे पहले कोई नहीं पहुँचा था।

---

१ गंभीरता, संजीदगी २ कठिन, क्लिष्ट ३ अब तक भी ४ तड़पन-घुलन ५ नई बातें निकालना, (नये चमत्कार) ६ ख़ुशदिली, उल्लास।

यही ज़मानः है जब कि मौलवी नज़ीर अहमद साहब ने गवर्मेन्ट की फ़रमाइश से ताजीरातेहिन्द का तर्जुमः किया और अपनी किताबों के ज़रीए से एक ऐसी ज़बान मुल्क के सामने पेश की जो कहीं रवानी[1] और सफ़ाई[2] में बेनज़ीर है और कहीं लुग़ाते अ़रबी से ममलू होने के बाअ़िस सख़्त दक़ीक़[3] व बलीग़[4]। और उसी अ़हद में मौलवी मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद का लिट्रेचर एक बहुत ही पसन्दीदः रंग पेश कर रहा था। ख़ुसूसन उन्होंने ज़बानें उर्दू की तारीख़ और तज़क़िर-ए-शुअ़रा-ए-उर्दू लिख के, अदबें-उर्दू में ख़ास नामवरी हासिल की। उसी ज़माने में सन् १८८२ ई० में 'महशर' नाम एक हफ़्तेवार रिसाला मैंने मौलवी मुहम्मद अब्दुल बासित साहब महशर के नाम से निकाला, जिसके ज़रीए से एडीसन का रंग उर्दू में ऐसे दिलकश उनवान[5] और मौज़ूँ व मुनासिब अल्फ़ाज़ोख़यालात में पेश किया गया कि मुल्क यक-बयक चौंक सा पड़ा। साथ ही मेरे मज़ामीन अवध अख़बार के कालमों में शायअ़ होना शुरू हुए जिन्होंने मुल्क के सामने एक नया लिट्रेचर पेश किया जो इस क़द्र मक़बूल हुआ कि हर तरफ़ से मर्हबा की सदाँए सुनाई देने लगीं। यकायक नज़र आया कि अक्सर मज़मून-निगार इसी रंग को इख़्तियार कर रहे हैं और मुल्क का आ़म रुजहान इसी तरफ़ है। इसी दर्मियान मैंने अपना नाविल दिलचस्प और मुअस्सिर[6] ड्रामा 'शहीदे वफ़ा' मुल्क के सामने पेश किया और हर तरफ़ से हौसलः अफ़ज़ाई होने लगी।

आख़िर मुल्क का इसरार व तक़ाज़ा देख के आग़ाज़े[7] सन् १८८७ ई० से मैंने रिसाला दिलगुदाज़ जारी किया जिसका लिट्रेचर अंग्रेज़दानों और पुराने मज़ाक़ के लोगों, दोनों में मक़बूल हुआ। फिर सन् १८८८ ई० से इसके साथ तारीख़ी नाविलों का सिलसिला जारी किया गया। जिनमें सबसे पहला नाविल मलिकुलअ़ज़ीज़ वर्जिना है। इन नाविलों को मुल्क ने जिस शौक़ से लिया उसके बयान करने की तो ज़रूरत नहीं है। मगर इतना अर्ज़ कर देना ज़रूरी है कि इन्हीं नाविलों की वजह से वाक़िआ़त के मालूम करने और किताबों के मुतालअ़ का शौक़ बढ़ने की बुनियाद पड़ी। इन्हीं नाविलों के ज़रीए से मुल्क में तारीख़ के पढ़ने और वाक़िआ़तेआ़लम से दिलचस्पी हासिल करने का शौक़ पैदा हुआ और इन्हीं नाविलों और दिलगुदाज़[8] के सफ़्हों ने वह रंग पैदा किया जिस पर मौजूदः अदबें उर्दू की बुनियाद क़ायम है।

बहरहाल नस्रे उर्दू का तअ़ल्लुक़ जहाँ तक पुराने अदबी रंग से है, उसकी बुनियाद लखनऊ में पड़ी। हाँ जदीद रंग का आग़ाज़[9] देहली से हुआ। मगर इस कोशिश में जहाँ तक मुमकिन हुआ, लखनऊ ने देहली की रिफ़ाक़त की[10]। ख़ुसूसन ज़राफ़त[11] का मज़ाक़ तो लखनऊ ही से पैदा हुआ और लखनऊ में तक्मील को पहुँचा।

---

१ प्रवाह २ स्वच्छता, प्राञ्जलय ३ क्लिष्ट, गूढ़ ४ अलंकारिक ५ शीर्षक ६ प्रभावकारी ७ आरम्भ ८ दिल पिघलानेवाले ९ प्रारम्भ १० साथ दिया ११ व्यंग्य-हास्य।

उर्दू नस्र नाविल, दास्ताँगोई, फ़ब्ती, आवाज़ःकशी, ज़िलअ, तुकबन्दी, ख़यालबाज़ी, आदि नई ख़ूबियाँ

लेकिन ज़बानेउर्दू को जो तरक़्क़ियाँ लखनऊ में हासिल हुईं, वह शाअ़िरों, अदीबों, नस्सारों[1] और मुसन्निफ़ों ही तक महदूद नहीं हैं, मुख़्तलिफ़ सोसाइटियों और तबक़ों में तरक़्क़ी व वुसअ़तेज़बान[2] की नई-नई सूरतें पैदा हुईं। जिन्होंने हर गिरोहवालों के लिए ख़ास दिलचस्पियाँ पैदा कीं।

इनमें सबसे ज़ियादः क़ाबिले तवज्जुह दास्तानगोई[3] है, जो दरअस्ल फ़िलबदीह[4] तसनीफ़ करने का नाम है। यह फ़न अस्ल में अरबों का है, जहाँ अहदेजाहिलीयत[5] में भी दास्तानगोई की सुहबतें मुरत्तब हुआ करती थीं। लेकिन हिन्दोस्तान की निस्बत हम नहीं जानते कि अरब की क़िस्सःख़्वानी से उनका कोई रिश्ता है या नहीं। अमीर हमज़ः की दास्तान जो दास्तान-गोयों की अस्ली और हक़ीक़ी जौलानगाह[6] है, वह दर अस्ल फ़ारसी में थी। और कहते हैं कि शहनशाह अकबर के ज़माने में अमीर ख़ुसरू नाम एक क़ाबिल शख़्स ने उसे तसनीफ़ किया। तारीख़ से साबित है कि मुलूके-तुग़लक़[7] के अहद में दास्ताने अमीर हमज़ः मौजूद थी।

देहली के मशहूर दास्ताँगो लखनऊ में आना शुरू हुए। यहाँ अफ़यूनियों ने उनकी यहाँ तक क़द्र की कि दास्तान सुनने को अपनी सुहबतों का एक उनसुरे आज़म[8] क़रार दे लिया। चन्द ही रोज़ में लखनऊ के अन्दर उसको इस क़द्र फ़रोग़ हो गया कि कोई दौलतमन्द न था कि जिसकी सरकार में कोई दास्ताँगो न मुक़र्रर हो। सैकड़ों दास्ताँगो पैदा हो गए। सच तो यह कि हमारे आज कल के मक़बूल से मक़बूल स्पीकरों में से अब तक किसी को फ़सीहुलबयानी[9] में वह दर्जा नहीं नसीब हो सका है जो क़दिरुल् कलाम[10] दास्तानगोइयों को हासिल था। देहली में भी दो एक साहिबे कलाम दास्ताँगो आज तक पड़े हैं, मगर लखनऊ में उनका शुमार बहुत ज़ियादः है। और उनके तर्ज़े-तक़रीर का असर अवामे शहर की ज़बानों पर बेहद पड़ गया है। नाविलों का ज़ौक़ पैदा होने के बाद जब इस बात की कोशिश की गई कि दास्ताँगोइयों ही की ज़बान में क़लमबन्द करा लिया जाए तो लखनऊ ही ऐसे बाकमाल दास्ताँगो पेश कर सका जिन्होंने ज़ख़ीम[11] जिल्दें लिख के उर्दू-दाँ पब्लिक में फैला दीं। चुनांचि जाह और क़मर के तसानीफ़[12] मुल्क में बड़ी क़द्र की निगाहों से देखे जाते हैं।

दास्तान के चार फ़न क़रार पाए गए हैं, रज़्म[13], बज़्म[14], हुस्नोइश्क़ और अय्यारी। इन चारों फ़नों में लखनऊ के दास्ताँगोइयों ने ऐसे-ऐसे कमाल दिखाए

---

१ लेखकों २ भाषा-विस्तार ३ क़िस्से सुनाने का काम (जीविका) ४ बिना पहले की बुनियाद धारावाहिक कहते जाना ५ अज्ञानकाल (याने इस्लाम से पूर्व) ६ अभ्यास का क्षेत्र या आधार ७ तुग़लक़ बादशाहों ८ प्रधान अंग ९ सरल-स्पष्ट वक्तृता १० वाक्पटुता ११ बृहत्, मोटी १२ रचनाएँ १३ युद्ध, वीररस १४ गोष्ठी, सम्मेलन।

हैं जिनका अन्दाज़ा बग़ैर देखे और सुने नहीं हो सकता। अलफ़ाज़ में तस्वीर खींचना और तस्वीरों का निहायत ही गहरा देरपा असर सामअ़ीन[१] के दिलों पर डाल देना उन लोगों का खास कमाल है।

सोशल तफ़न्नुन् मज़ाक़, ज़राफ़त और दिल्लगी के उनवान से भी लखनऊ में अ़िल्मेज़बान के कई फ़न पैदा हो गए, जिनमें कोई मक़ाम लखनऊ का मुक़ाबला नहीं कर सकता। इन्हीं में से एक फ़न फ़बती कहना[२] है। इसको दरअस्ल शाअ़िरानः तश्बीह व इस्तिआरे से तअ़ल्लुक़ है। लेकिन इसमें इतनी खुसूसीयत है कि यह किसी को बिगाड़ के दिखाने, उसके ऐब के नुमायाँ करने, और बर्जस्तः कोई अनोखी हँसानेवाली और ऐबो नुक़सान ज़ाहिर करनेवाली तश्बीह पेश कर देने तक महदूद है। लखनऊ के अद्‌ना-अद्‌ना लड़के, बाज़ारी औरतें, जाहिल दुकानदार, अदना तबक़ों के अहले हर्फ़ तक ऐसी बर्जस्तः फब्तियाँ कह जाते हैं कि बाहर वालों को हैरत हो जाती है। एक साहब करबला-ए-मुअ़ल्ला की ज़ियारत करके वापस आए और बुर्राक़ कपड़े पहन के दोस्तों में आके बैठे ही थे कि एक लौंडे ने कहा "ऐं, यह फ़ुरात[३] का बगुला कहाँ से आ गया?" एक बूढ़े दूल्हा खिज़ाब करके दुल्हन ब्याहने को आए और बड़ी धूम की बरात लाए। ज़नाने से निकल के वह महफ़िल में आ रहे थे। जूता उतारने के लिए झुके और चन्द क़दम फ़र्श पर घुटने टेक के चले। किसी के ज़बान से निकला; दूल्हा कहाँ हैं? शोख़-मिज़ाज रंडी जो खड़ी मुजरा कर रही थी, हँस के बोली; ऐ वह 'मैंयों-मैंयों' चला तो आता है। एक कबड़िया चौक में पौंडे बेच रहा था, सदा[४] यह थी कि—अरे भई, यह कनकव्वे कौन लूटेगा? क्या इससे ज़ियादः बामज़ाक़ कोई इस्तिअ़ारः[५] हो सकता है? नाज़ुक तरीन इस्तिअ़ारः वह है जिसमें मुशब्बः और मुशब्बह-बिही[६] दोनों का नाम न लिया जाए, सिर्फ़ मुशब्बह की कोई खुसूसियत बता के कलाम में लुत्फ़ पैदा कर दिया जाए। इसकी इससे बेहतर मिसाल कौन हो सकती है कि न पौंडे का नाम लिया, न लग्गे का जिससे कनकव्वे लूटे जाते हैं, और फिर इतना कहके "कनकव्वे कौन लूटेगा?" यह बता दिया कि यह पौंडे लग्गों के बराबर हैं, जिनसे कनकव्वे लूटे जाते हैं। और फिर इससे ज़ियादः मुनासिब और बाज़ारी लोगों के मज़ाक़ की कोई तश्बीह[७] नहीं हो सकती। इसी तरह की सद्‌हा हज़ारहा मिसालें हैं जो यहाँ की सुहबतों में उठते-बैठते हर वक़्त सुनी जाती हैं।

दूसरा "ज़िलअ़"[८] है यह दरअस्ल शाअ़िरानः रिआ़यत है जिसने अ़वाम की बात-चीत और मज़ाक़ की गुफ़्तगू में आके खास रंग पैदा कर लिया है। ज़िलअ़ में कोशिश की जाती है कि जिस चीज़ का तज़्किरः आ जाए उसके तमाम मुतअ़ल्लिकात[९]

---

१ श्रोतागण २ चुटकी लेना, व्यंग्य-विनोद ३ इराक की एक नदी जिसके किनारे हज़्रत इमामहुसैन शहीद किये गये थे। ४ आवाज़ ५ एक वस्तु कह कर दूसरी वस्तु को मूर्तिमान करना ६ उपमेय और उपमान ७ अर्थालंकार, मिलान ८ ज़ूमानिया, दो माने के शब्द या वाक्य कहकर विनोद करना ९ सम्बन्धित।

किसी न किसी पहलू से बातों में ले आए जाएँ। आज़ाद फ़क़ीर जो एक खास वज़अ़ रखते थे, ज़िलअ़ बोलने में बाकमाल माने जाते थे। अमानत ने अपनी शाअ़िरी में रिआ़यत की इस क़द्र कोशिश की कि तमाम शाअ़िरानः खूबियों से क़तअ़ नजर करके रिआ़यत ही को अपना मक़सद क़रार दे लिया। नतीजा यह हुआ कि उनका कलाम शाअ़िरी के दर्जे से निकल के ज़िलअ़ बोलने के हक़ में दाखिल हो गया। मगर लखनऊ के अक्सर अ़वाम ने अपनी बेतकल्लुफ़ी की सुहबतों में इस फ़न को इस क़द्र बढ़ा दिया है कि अमानत की शाअ़िरी पीछे पड़ गई। सच यह है कि किसी जगह लोग ज़िलअ़ बोलने में, अहले लखनऊ के उ़श्रे अ़शीर[1] दर्जे को भी नहीं पहुँच सकते। इस फ़न में एक किताब भी शायअ़ हो गई (है)।

तीसरा फ़न तुकबन्दी है। यह शाअ़िरी की क़ाफ़ियः पैमाई है। बहुत से जाहिल जब इधर तवज्जुह करते हैं तो जवाब सवाल में इस तरह फ़िलबदीह क़ाफ़ियः इस्तिमाल करते हैं कि बड़े-बड़े शुअ़रा को हैरत हो जाती है। हमने अपने तालिबे-इल्मी के ज़माने में एक हिन्दू 'बुढ़िया के काते'[2] वाला देखा था जो सुबह को ख्वानचः[3] लगाके निकलता। सूरत देखते ही सद्हा बाज़ारी लौंडे उसे घेर लेते और वह सरे राह ख्वानचः रख के बैठ जाता। फ़ौरन लौंडों से उससे तुकबन्दी का मुक़ाबिला शुरू हो जाता। सारा मज्मा एक तरफ़ होता। फ़रीक़ैन में गालियों की बौछार होती मगर शर्त थी कि कोई गाली तुक से बाहर न हो और कोई क़ाफ़ियः रह न जाए। हमने उसे बीसियों बार देखा। घंटों उससे मुक़ाबला रहता मगर हमने कभी नहीं देखा कि वह जवाब में आजिज़ रहा हो, कोई न कोई क़ाफ़ियः ढूँढ़ के पेश ही कर देता।

इसी मज़ाक़ और गुफ़्तगू में तरह-तरह की ख़याल-आफ़रीनियाँ होती थीं। और जाहिल अ़वाम बाज़ वक़्त ऐसे खयालात पेश कर दिया करते थे कि बड़े-बड़े शुअ़रा हैरत में रह जाते। यह ज़मानः दरअस्ल लखनऊ का गोल्डेन एज (स्वर्णयुग) था शाअ़िरी और अदबी ख़ूबियाँ लोगों के रगोपै में सरायत कर गई थीं। हर शख्स जो मामूली तौर पर पढ़ने में शुद-बुद हो जाता, तबअ़ आज़माई शुरू कर देता। जुहला[4] व अ़वाम, अदना तबक़े के लोगों और घर की बैठनेवाली औरतों तक में शाअ़िरानः लोच और अदबी नज़ाकतें पैदा हो गई थीं। अनपढ़ कबड़िए शाअ़िर थे और जुहला की ज़बान भी इस क़द्र शुस्तः व रफ़्तः, अख्लाक़ी हिफ़्ज़े मरातिब व अल्फ़ाज़ से मामलू और तमद्दुनी आदाब से लबरेज़ थी कि अक्सर साहिबे अ़िल्म उनकी गुफ़्तगू सुन के शश्दर[5] रह जाते और किसी को उन पर जाहिल होने का गुमान भी न होता। सौदा बेचनेवालों की सदाएँ, शाअ़िरानः निकात और फ़साहत व बलाग़त के ग़वामिज़[6] से इस क़द्र आरास्तः व पैरास्तः[7] थीं की औरों को समझना भी दुश्वार था।

---

१ शतांश २ एक प्रकार की मिठाई जिसकी शक्ल बुढ़िया के बालों जैसी होती है। ३ खोंचा, थाल ४ अशिक्षित ५ चकित, स्तब्ध ६ मुश्किलात, जटिलताओं ७ सजी-सवांरी।

अदना तबक़े वालों ने भी अपने मज़ाक़ के मुताबिक़ खास अदबी दिलचस्पियाँ पैदा कर ली थीं। मसलन एक फ़न खयाल का पैदा हो गया। लोग फ़िलबदीह अश्आर तस्नीफ़ करके दायरे पर गाते। इसका नाम खयाल इसलिए रखा गया कि हर शख्स अपनी तखईल[1] का जौहर दिखाए और कोई नई बात पैदा करे। इस फ़न में यहाँ बहुत से बाकमाल पैदा हुए, जिनको आला सोसायटी और तअ्लीमयाफ़्तः लोगों की सुहबतों से गो कोई तअ्ल्लुक़ न था, मगर यह बजायखुद अगर ग़ौर कीजिए तो वह अस्ली और फ़ितरी शाअि्री थी और इस वज़अ् की शाअि्री जैसी की अह्देजाहिलीयत[2] अरब में थी।

इसी तरह एक गिरोह डंडेवालों का पैदा हो गया। उन लोगों की यह शान थी कि क़रीब के ज़माने के अहम और मशहूर वाक़िआत को कमाल आज़ादी के साथ मौज़ूँ करते। जो जैसा होता चाहे वह कितना ही साहिबे असर और दौलतमन्द हो, उसे वैसा ही बड़ी बेबाकी के दिखाते और साबित करते कि मुल्कोक़ौम को इससे क्या फ़ायदः हुआ या कितना बड़ा ज़रर[3] पहुँचा। फिर अपनी उन नज़्मों को एक शेअ्र-ख्वानी की खास वज़अ् में डंडे बजा-बजा के सुनाते।

औरतों की ज़बान मर्दों के मुक़ाबिल हर मुल्क और क़ौम में ज़ियादः शुस्तः और दिलकश होती है। मगर लखनऊ में यह खास बात थी कि महल्लात और मुहतरम खानदान की मुअज़्ज़ज़ बेगमों की ज़बान में अलावः निसाई[4] दिल-फ़रेबियों के, अदबी और शाअि्रानः नज़ाकतें पैदा हो गई थीं। बातें करतीं तो मालूम होता कि मुँह से फूल झड़ रहे हैं। और ग़ौर कीजिए तो सिहतें अल्फ़ाज़, प्यारी बन्दिशें और तर्ज़े अदा की नज़ाकतें बतातीं कि ज़बान की खूबियाँ इस सरज़मीन में किस आला कमाल को पहुँच गई हैं।

अि्ल्मोफ़ज़्ल

ज़बान और शाअि्री के कमालात के साथ लखनऊ ने अि्ल्मोफ़ज़्ल में भी हिन्दोस्तान के तमाम शहरों से ज़ियादः तरक़्क़ी की। अगर सच पूछिए तो उ्लूम के एतिबार से लखनऊ, हिन्दोस्तान का बग़दाद व क़ुर्तबः और अक़्साए मश्रिक़ का नेशापुर व बुखारा था।

यहाँ के अि्ल्मोफ़ज़्ल का आग़ाज़ उ्लमा-ए-फिरंगीमहल से हुआ, जिनके हालात की तरफ़ इस मज़मून के आग़ाज़ में इशारा किया जा चुका है। अि्ल्म बेशक यहाँ देहली ही से आया होगा। लेकिन पुराने ज़माने में उ्लमा-ए-देहली में से सिर्फ़ एक शेख अब्दुलहक़ नज़र आते हैं, जिन्होंने हदीस और उ्लूमे दीनियः में शुहरतें-दवाम[5] हासिल की। फ़िरंगीमहल के से दारुलउ्लूम का वहाँ किसी ज़माने में पता नहीं लगता। हाँ फ़िरंगीमहल के मश्हूर हो जाने के बाद देहली में शाह वलीउल्लाह साहब

---

१ खयाल लाना, कल्पनाशक्ति २ अज्ञानकाल ३ हानि ४ स्त्रीसुलभ ५ स्थायी ख्याति।

का खानदान अलबत्ता बहुत मशहूर हुआ, जिनके फ़ैज़ व बर्कत से आज हिन्दोस्तान के तमाम शहरों में अ़िल्मे हदीस की तअ़लीम जारी हुई। लेकिन अगर अ़िल्मे हदीस की तअ़लीम इस नामवर खानदाने देहली की यादगार है, तो इसके साथ ही सर्फ़, नह्व, मंतिक़ो हिकमत, और मआ़नी व बयान और दीगर फ़ुनूने दर्सियः की तअ़लीम लखनऊ की नामवर यूनिवर्सिटी फ़िरंगीमहल की यादगार है।

ग़ायर नज़र डालने और जुस्तुजू से साफ़ पता चलता है कि जैसे मऽक़ूली-उ़लमा लखनऊ और खास फ़िरंगीमहल में पैदा हुए, कभी किसी ज़माने में और किसी जगह हिन्दोस्तान में नहीं पैदा हो सके थे। इसका क़तई सुबूत यह है कि सिलसिल-ए-दर्स[1] में जो किताबें जारी हैं वह या तो सलफ़ के नाम वराने अजम की तस्नीफ़ हैं या फ़िरंगीमहल वालों की। या उन लोगों की जिन्होंने फ़िरंगीमहल से फ़ैज़ हासिल किया था।

मुज्तहिदीने शीअ़: का आग़ाज भी फ़िरंगीमहल ही से हुआ। लखनऊ के पहले मुज्तहिद मौलवी दिलदार अली साहब ने भी इब्तिदाअन् कुतुबे दर्सियः फ़िरंगीमहल ही में पढ़ी थीं। फिर इराक़ में जाके उ़लमा-ए-कर्बला व नजफ़ के सामने ज़ानूए शागिर्दी तह किया। और वापस आके खुद फ़िरंगीमहल वालों की तस्दीक़ व तक़रीब से मुजतहिद और शीअ़: फ़रमाँ खायाने वक़्त के मुक़्तदा[2] क़रार पाए। उन्होंने चूँकि इराक़ में तअ़लीम पायी थी, लिहाज़ः अरबी का नया अदबी ज़ौक़ अपने साथ लाए। और अदबीयत में खानदाने इज्तिहाद और लखनऊ के शीअ़: उ़लमा को फ़िरंगीमहल वालों पर हमेशः फ़ौक़ियत[3] हासिल रही और आज तक हासिल है।

उ़लमाए शीअ़: के अदबी मज़ाक़ ने लखनऊ को अदब की तअ़लीम का आला तरीन मर्कज़ बना दिया, जिसने मुफ़्ती मीर अ़ब्बास साहब का ऐसा अदीबेगराँ पायः पैदा किया।

उ़लूमेदीनियः में से फ़िक़:, उसूले फ़िक़:, कलाम, और अ़काइद में, उ़लूमे अदबीयः में से नह्व व सर्फ़ और मआ़नी व बयान में, उ़लूमे अ़क़लीयः में से मन्तिक़, फ़लसफ़ः, तबीअ़ीयात व इलाहीयात में, और उ़लूमे रियाज़ी में से उक़्लैदिस[4] और हैअत में उ़लमा-ए-फ़िरंगीमहल को खास नामवरी हासिल थी और सारे हिन्दोस्तान में इन उलूम की तअ़लीम का मर्कज़े अस्ली लखनऊ था। अदब, शाअ़िरी और अरूज़ेअरबी को उ़लमा-ए-शीअ़: व मुज्तहिदीने लखनऊ ने अपना लिया था।

मुनाज़िरः, जिससे हमारी मुराद यहाँ खास कलामी मुबाहिस और शीअ़: व सुन्नी का बाहमी रद्दो क़द्ह[5] है, इस फ़न का आग़ाज़ हिन्दोस्तान में नूरुल्लाह शोस्त्री से हुआ, जो ईरान से इसलिए आए थे कि सुन्नियों की तर्दीद[6] करें। जब ही से यहाँ शीअ़: व

१ पाठ्यक्रम २ अनुकरणीय ३ वरीयता, श्रेष्ठता ४ रेखा गणित ५ शास्त्रार्थ ६ खण्डन।

सुन्नी में झगड़े पैदा हो गए। और आख़िर क़ाज़ी साहब के एक मुद्दत के बाद शाह अब्दुल अज़ीज़ मुहद्दिस देहलवी ने शीओं की रद में तुहफ़-ए-इस्ना अश्रियः लिखी। मौलवी दिलदार अली साहब ने इसके बाज़ अबवाब की तर्दीद में कुछ लिखा। फिर मौलाना हैदर अली पैदा हुए, जो अस्ल में रहनेवाले तो फ़ैज़ाबाद के थे, मगर उनका नाम लखनऊ ही से चमका। उन्होंने मुन्तहीयुल्कलाम लिखी जो शीओं की तर्दीद में आला तरीन किताब समझी जाती थी। इसी ज़माने में मौलवी लुत्फ़ुल्लाह साहब ने जो लखनऊ में तहसीले अिल्म करके यहीं के हो गए थे, अपनी कई किताबें लिखीं जिनमें तहक़ीक़ व तर्दीद के अलावः शोख़िये-बयान भी थी। मियाँ मुशीर ने उनकी तर्दीद बड़े ज़ोरोशोर से की। लेकिन सच यह है कि उनकी किताब, तर्दीद के दर्जे से गुज़र के हज़्ल गोई व हज्व की सरहद में दाख़िल हो गई। आख़िर में मौलवी हामिद हुसैन ने सुन्नियों के मज़्हब की तर्दीद की है। और अब हम देखते हैं कि मौलवी अब्दुश्शकूर साहब भी इस फ़न में अह्लेसुन्नत की तरफ़ से नमूद हासिल कर रहे हैं।

हमारे मज़ाक़ में मज़हबी रद्दोक़द्ह चाहे किसी फ़रीक़ के लोगों को ख़ुश कर दे, मगर बिल्कुल बेनतीजा चीज़ है। और इसके नफ़े से मज़रत बढ़ी हुई है। मगर इस मौक़े पर हमें सिर्फ़ यह दिखाना है कि इस फ़न में भी लखनऊ ने जो उरूज हासिल किया है, इससे पहले कभी किसी शहर को नहीं नसीब हो सका था।

उलूमे दीनियः में से लखनऊ में तफ़सीर, हदीस, रिजाल और तारीख़ की कमी थी। इनमें तफ़सीर का फ़न एक मामूली दर्जे तक लखनऊ में मौजूद था और जितना था उससे ज़ियादः और भी कहीं नहीं था। ताहम बाज़ शहरों में बाज़ नामवर मुफ़स्सिर गुज़रे हैं मगर उनका तजर्रुद[1] व कमाल उन्हीं तक महदूद रहा और उन्हीं पर ख़त्म हो गया। हदीस को देहली ही के साथ ख़ुसीसीयत रही। आख़िर अहद में मौलाना अब्दुल हयी मर्हूम मक्कः मुअज़्ज़मः के शुयूख़े हदीस से दर्स व ख़ायते हदीस की सनद हासिल करके आए और सिलसिल-ए-दर्स भी जारी कर दिया, मगर इस फ़न को यहाँ अच्छा नश्वुनमा[2] नहीं होने पाया। रिजाल का फ़न हदीस के ताबेअ है, हदीस में जिस क़दर तवग़्ग़ुल[3] बढ़ता है, उसी क़दर फ़न्ने रिजाल में इंसान की बसीरत[4] बढ़ती जाती है, लिहाज़ः उलमा-ए-लखनऊ जिस क़दर हदीस के फ़न में नाक़िस थे, उसी क़दर रिजाल के फ़न में भी नाक़िस रह गए। बाक़ी रही तारीख़, इस फ़न को हिन्दोस्तान में कभी उरुज नहीं हासिल था। इसमें शक नहीं कि सोसायटी की ज़रूरत से फ़ारसी-दानों में तारीख़ का बहुत कुछ मज़ाक़ था, मगर उलमा-ए-हिन्द ने इस फ़न को अफ़सानाख़्वानी से ज़ियादः वक़अत कभी न दी जिसकी वजह से उमूमन उलमा में एक बहुत बड़ा नुक़्स रह जाता था। और यही चीज़ थी जिसने हिन्दोस्तान

---

१ अद्वितीयता २ पालन-पोषण ३ ज्ञानवृद्धि ४ कुशलता।

के वच्चे-वच्चे के ज़िह्न में यह ख़याल पैदा कर दिया कि "आ़लिमों को ज़मान: शिनासी[1] से क्या काम ? वह लोग तो सीधे-साधे जन्नती होते हैं ।"

लेकिन ज़माने की ज़रूरतें देख के, दोनो फ़रीक़ के उ़लमा ने अपने निसाबों में मुनासिव इज़ाफ़: शुरू कर दिया है । और दूसरी तरफ़ नदवतुल् उ़लमा का दारुल-उलूम क़ायम है, जो उन ज़रूरी उ़लूम की तरफ़ ख़ास तवज्जुह कर रहा है, जो इस वक़्त तक मतरूक थे; लेकिन इन नुक़्सानात के साथ भी लखनऊ में जो कुछ हुआ, दीगर मक़ामात से बहुत ज़ियाद: है ।

तिब्बे-यूनानी

हम यह वता चुके हैं कि शीअ़: ख़ानदानें इजतिहाद और फ़िरंगीमहल के उ़लम-ए-अहले सुन्नत की वरकत से इस आख़िरी दरवार के अहद में अ़िल्मो फ़ज़ल ने लखनऊ में कैसा उ़रुज हासिल किया और अपनी सवाद में कैसी अ़िल्मी कशिश और मर्जअ़ीयत पैदा करा दी । लेकिन अभी हमें तिव्वें यूनानी से वहस करना वाक़ी है ।

यह शरीफ़तरीन फ़न, जिसको आ़लमें इंसानी के महफ़ूज़ रखने और नस्लें इंसानी को तरक़्क़ी देने से वास्त: है, गो कि इसका ज़ुहूर हर क़दीम मुल्क में ख़ुद-रो तरीक़े और जुज़्ई तजुर्वात से हुआ है, मगर क़दीमुल्अय्याम में मग़रिव की तरफ़ अहलें यूनान ने इस फ़न में वहुत ही नुमायाँ तरक़्क़ी की थी और मश्रिक़ में हिन्दुओं के नामवरानें सलफ़ ने उसे आला दर्ज-ए-कमाल पर पहुँचा दिया था । मुसलमानों में जब दरवारें ख़िलाफ़त क़ाइम हुआ तो यह फ़न दोनो जगह से आया और दोनो सरज़मीनों के हाज़िक़ अतिव्वा दरवारें वग़दाद के तवीव थे । इब्तिदाअन् दो एक सद्यों तक तमाम मुस्तनद अतिव्वा-ए-दरवारें अ़व्वासी, हिन्दू थे, ईसाई थे, यहूदी थे, मगर मुसलमान न थे । मगर इस दौर के अतिव्वाए वाकमाल चाहे किसी मज़्हव के पैरौ[2] हों, आग़ोशें इस्लाम के परवरद: और आ़लमें इंसानी के मुमताज़ नामवर थे । और उन्हीं के हाथों से फ़न्नें तिव् एक नई शान और नए उ़नवान से मुदव्वन[3] व मुन्ज़वित[4] होना शुरू हुआ; जिसमें थोड़ी इस्लाह और रद्दो वदल के वाद, उसूली तर्तीव तो यूनानियों की वरक़रार रखी गई, मगर तजुर्वात हर मुल्क और हर क़ौम के यकसाँ तौर पर लिए गए ।

इसके चन्द रोज़ वाद मुसलमान अतिव्वा-ए-नामवर पैदा होना शुरू हुए । और उन्होंने फ़न्नें तिव को अपने इजतिहादों और अपने तजुर्वात से अपना वनाना शुरू किया । यहाँ तक कि इब्नि सीना ने क़ानून की सी वेनज़ीर व ला-जवाव किताव लिख के दुनिया के हाथ में दे दी, और उसके आगे मश्रिक़ व मग़्रिव की तमाम क़ौमों ने सर झुका दिया । उधर दरवारें उन्दुलुस ने अ़मलें वालीद और तजुर्वात में मश्रिक़ से भी ज़ियाद: तरक़्क़ी की, और फ़न्नें तिव मुसलमानों का ख़ास फ़न वन गया ।

---

१ सामयिक ज्ञान २ अनुयायी ३ जमा किया हुआ ४ क़ाअ़िदे में लाना ।

जिसके मर्जअ् व मावा हर जगह वही थे। हर क़ौम उसे उन्हीं से हासिल कर रही थी और उसी पर यूरोप की मौजूद: डाक्टरी की इमारत क़ाइम हुई, जिसको ज़ियाद: तअ़ल्लुक़ उन्दुलुस के इस्लामी तिब्बी स्कूल से था।

लेकिन इधर आखिरी सदियों में जब मुसलमानों का ज़वाल शुरू हुआ, तो उसका असर सबसे पहले इनके उ़लूमोफ़नून में और सबमें ज़ियाद: फ़न्ने तिब्ब में नुमायाँ हुआ और अक्सर मुमालिक में उसकी वही हालत हो गई, जो उ़रूजे यूनान के आग़ाज़ में थी। यानी मामूली क़ाबलीयत के लोग, बग़ैर इसके कि फ़न की आलातरीन किताबों पर उनकी नज़र पड़ी हो, अपने जुज़ई तजुर्बों से लोगों का इलाज करते। नतीजा यह हुआ कि चन्द ही रोज़ में मिस्र, अरब, शाम व इराक़, फ़न जाननेवाले तबीबों से ख़ाली हो गए। सिर्फ़ ईरान और हिन्दोस्तान में यह फ़न बाक़ी था। लेकिन इस पिछली सदी में ईरान भी तबीबों से ख़ाली हो गया। और तमाम मुमालिके इस्लाम में अपने इस फ़न्ने क़दीम के मुतअ़ल्लिक़ ऐसी जिहालत थी कि जब यूरोप के फ़्रांसीसी और अंग्रेज़ डाक्टर नमूदार हुए तो अ़वाम व ख्वास[1] सबको एक नेअ़मते-इलाही नज़र आए और किसी को इसकी हिस[2] न थी कि यह असली फ़न हमारा ही था या हमारे यहाँ भी कभी अतिब्बा होते थे।

मुसलमानों के तिब को अगर फ़ना होने से बचाया तो सिर्फ़ हिन्दोस्तान ने, जहाँ आज तक अतिब्बा-ए-यूनानी, यूरोप की जदीद अस्नाफ़े तिब का मुक़ाबला कामियाबी के साथ कर रहे हैं। और बावजूदे कि ख़ैराती हस्पताल गाँव-गाँव मौजूद हैं, मगर फिर भी लोगों को जो एतिबार यूनानी अतिब्बा के इलाज पर है, डाक्टरों पर नहीं।

देहली में अगले दिनों इस फ़न के बहुत से बाकमाल गुज़रे, जिनमें हकीम अर्ज़ानी, हकीम शिफ़ाई ख़ाँ, हकीम अलवी ख़ाँ, हकीम मुहम्मद शरीफ़ ख़ाँ, बहुत आला शुहरतो-कमाल के अतिब्बा गुज़रे हैं। लखनऊ में बुर्हानुल्मुल्क के ज़माने से देहली के हाज़िक़ अतिब्बा सरज़मीने अवध में आना शुरू हो गए। ख़ुसूसन शुजाउद्दौल: के अ़हद में तो देहली के दो एक तबीबों के सिवा, जितने थे, सब यहीं चले आए। फ़ैज़ाबाद की तारीख़ से पता चलता है कि वहाँ जितनी सरकारें थीं, उनमें से हर एक से कोई यूनानी तबीब ज़रूर वाबस्त: था, जिनका बहुत कुछ अदब और पासोलिहाज़ किया जाता। और माहवार तनख्वाह के अलावा रोज़ान: इनाम व इकराम से सरफ़राज़ होते रहते।

असिफ़ुद्दौल: के ज़माने में जब लखनऊ, कमालों की क़द्रदानी का मर्कज़ क़रार पाया, तो देहली के बहुत से ख़ानदानी अतिब्बा ने यहीं तवत्तुन[3] इख्तियार कर लिया और चन्द रोज़ के बाद ज़बान और शाअ़िरी की तरह फ़न्ने तिब भी ख़ास यहीं का फ़न बन गया। चुनाँचि: लखनऊ ने हकीम मसीहुद्दौल:, हकीम शिफ़ाउद्दौल:,

---

१ जनसाधारण और विशिष्ट जन २ अनुभूति ३ निवास।

हकीम मिर्ज़ा मुहम्मद अली, हकीम सय्यद मुहम्मद मर्तअ़श, हकीम मिर्ज़ा कूचक, हकीम बन्ना, हकीम मिर्ज़ा मुहम्मद जाफ़र के ऐसे आलीपाय: व गराँक़द्र तबीब पैदा किए। जो सच यह है कि अपने फ़ुनून के मुजतहिद थे और सलफ़ के सारे सर्माय-ए-अ़िल्मी पर उनकी नज़रें थीं। होते-होते फ़न्ने तिब की यहाँ तक तरक़्क़ी हुई कि लखनऊ का शाज़ोनादिर ही कोई मुहल्ला होगा जिसमें कोई नामवर ख़ानदाने अतिब्बा न मौजूद हो। खास शहर के सद्हा मुहल्लों के अ़लाव: गिर्दोनवाह[1] के गाँव और क़स्बों में भी हज़ारों मतब जारी थे। और हिन्दोस्तान के जिन दरबारों और शहरों में मशहूर और नामवर तबीब थे, सब लखनऊ और अतराफ़े लखनऊ के थे। चुनाँचि: क़स्ब-ए-मोहान के एक तबीब को दरबारे गेकिवाड़ बड़ौदा में वह अ़िज़्ज़त हासिल हुई जो बहुत कम अतिब्बा को हासिल हो सकी होगी। ग़रज़ ऐसे नामवर तबीब ख़ाके लखनऊ ने पैदा किए, जिनकी मसीह् नफ़्सी के कारनामे बच्चे-बच्चे की ज़बान पर हैं।

दरबारे अवध के आख़िर अ़हद में सय्यद मुहम्मद मुर्तअ़श के एक शागिर्द रशीद हकीम मुहम्मद याक़ूब ने अपना मतब जारी करके ऐसी मर्जअ़ीयत आ़म्म: हासिल की कि उनकी ज़ात से एक बहुत बड़े नाम और तिब्बी ख़ानदान की बुनियाद पड़ गई जो आज दुनिया भर में जवाब नहीं रखता। इसी ख़ानदान के मर्हूम नामवरों में हकीम मुहम्मद इब्राहीम, हकीम हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल अ़ली, हकीम मुहम्मद इस्माअ़ील, हकीम मुहम्मद मसीह, हकीम मुहम्मद अब्दुल अज़ीज़, हकीम हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल वली थे। और हकीम अब्दुल हफ़ीज़ साहिब, हकीम अब्दुल रशीद साहिब, और हकीम अब्दुल मुईद साहिब इस वक़्त अपनी मसीहाई के कमालात दिखा रहे हैं। काश यह अपने ख़ानदानी फ़न को छोड़ के दूसरी हविसों में न पड़ते।

देहली में हकीम मुहम्मद शरीफ़ ख़ाँ का ख़ानदान इस वक़्त तक मौजूद है जिसमें हकीम महमूद ख़ाँ और हकीम अब्दुल मजीद ख़ाँ के ऐसे बाकमाल गुज़र चुके और हाज़िक़ुलमुल्क[2] हकीम मुहम्मद अजमल ख़ाँ साहिब बुज़ुर्गों के नाम को अपने ज़ाती कमालात से आज तक ज़ाहिर कर रहे हैं। देहली में हकीम मुहम्मद अजमल ख़ाँ साहिब ने एक मदर्स-ए-तिब्बिय: भी जारी कर दिया है, और तिब्बी वैदिक कांफ्रेंस क़ाइम करके अपने फ़न को बहुत उ़रूज दे रहे हैं। इनके मुक़ाबिल लखनऊ में हकीम अब्दुल अज़ीज़ साहिब ने मदर्स: तक्मीलुत्तिब क़ाइम किया, जिससे हर साल बीसियों अतिब्बा तय्यार हो के अक़तारे अर्ज़[3] में फैलते और लखनऊ की तिब्बी मर्जअ़ीयत का सुबूत देते हैं।

ब़हर तक़दीर, मुसलमानों का बराए नाम यूनानी फ़न्ने तिब आज अगर दुनिया भर में कहीं ज़िन्द: है तो हिन्दोस्तान में और हिन्दोस्तान में उसके मर्कज़ वही शहर

१ आस-पास (क़रीब)। २ देश के प्रवीणजन ३ पृथ्वी।

हैं, देहली और लखनऊ। मगर देहली में सिर्फ़ एक हकीम महमूद ख़ाँ का ख़ानदान है और लखनऊ में ऐसे बीसियों ख़ानदान पड़े हैं। देहली में वाज़ और अतिब्बा भी मतब करते नज़र आते हैं। वह इसी ज़माने के जदीद तबीब[1] हैं जिन्होंने अपने मतब जमा लिए हैं। लखनऊ में गो कि बहुत से नए तबीब हैं, लेकिन ऐसे बहुत से ख़ानदान हैं जिनमें सद्यों से फ़न्ने तिब की तरक़्क़ी रही।

लखनऊ और देहली के अतिब्बा में एक और फ़र्क़ भी है। तिब का मौजूदः निसाबे तअ़लीम, हमें नहीं मालूम अतिब्बा-ए-देहली का मुरत्तब किया हुआ है या अतिब्बा-ए-लखनऊ का; लेकिन इस पर पूरा-पूरा अ़मल जैसा अतिब्बा-ए-लखनऊ ने किया, अतिब्बा-ए-देहली नहीं करते। पढ़ाई वहाँ भी यही किताबें जाती हैं, मगर देहली में तबीबों का मतब एक बड़ी हद तक उनकी मुदव्वनः तिब से अलग हो जाता है। जिसकी वजह यह है कि उन्होंने वैदिक की दवाओं के इख़्तियार कर लेने में इसी क़दर नहीं किया कि उन नए अजज़ा को अपने मतब में दाख़िल कर लिया बल्कि यह बदएहतियाती भी की कि उनके दाख़िल करने में अपने क़दीम मुदव्वनः व मुसल्लिमः उसूल, ख़ुसूसन मिज़ाज के मबाहिस से चश्मपोशी कर ली। और उन अजज़ा को इस्तेमाल करा देते हैं जिनके मिज़ाज और अफ़्आ़ल व ख़वास से वह पूरी तरह वाक़िफ़ नहीं हैं। वहाँ फ़िलहाल सबसे बड़ी शिकायत यह सुनी जाती है कि मदर्स-ए-तिब्बियः देहली के निसाब में तश्रीह के अ़लावः, डाक्टरी के दीगर उसूल भी इस कसरत और बेएहतियाती से इख़्तियार कर लिए गए हैं कि असली फ़न्ने तिब बजाए तरक़्क़ी करने के, बिल्कुल मिटा जाता है। यही बेएहतियाती उन्होंने पहले उसूले वैदिक के इख़्तियार करने में की थी। और यही अब उसूले डाक्टरी के लेने में हो रही है। ऐसी हालत में देहली में हमारे क़दीम फ़न्ने तिब का जो अंजाम होता नज़र आता है, निहायत ख़तरनाक है। बरख़िलाफ़ इसके, लखनऊ के तमाम तिब्बी ख़ानदानों, ख़ुसूसन हकीम याक़ूब मर्हूम के ख़ानदान और तकमीलुत्तिब में असली उसूले तिब्बी के क़ाइम रखने और उनको उन्हीं के दायरे में रख के तरक़्क़ी देने की कोशिश की जाती है। उनके मतब इस वक़्त तक अपने फ़न और अपनी किताबों से ज़रा भी जुदा नहीं है और ऐसी सलामत-रवी के रास्ते पर जा रहे हैं जिससे उम्मीद हो सकती है कि शायद इस्लामी तिब दस्तबुर्दे ज़मानः[2] से बच जाये, अगरचि अस्ली ख़िदमते फ़न से यह लोग भी हनोज़[3] बहुत दूर हैं। तिब की रूह, अ़िल्मे दवासाज़ी है जो हमारे क़दीम अ़िल्मे कीमिया[4] का एक शोअ़बः[5] है। इसी फ़न पर यूरोप के मौजूदः मुअ़जिज़नुमा फ़न कैमिस्ट्री की बुनियाद क़ाइम हुई है। इस फ़न में मुसलमान मुसन्निफ़ीने सलफ़ की किताबें अभी कुल्लीयतन नहीं मिटीं, बल्कि बहुत सी बाक़ी रह गई हैं। असातिज़-ए-तिब[6] का काम है कि बार-बार उनके तिब का मुतालअ़ः[7] करके उनको समझें, उनकी

---

१ नये हकीम २ ज़माने की काट-छाँट ३ अभी तक ४ रसायनशास्त्र ५ विभाग ६ हकीमी के अध्यापक ७ अध्ययन।

ग़ौरोख़ौज़[1] करके हल करें और उन्हें निसाबे तड़लीम में दाखिल करें। फिर उनके उसूल व ज़वाबित[2] में जदीद तजुर्बात से फ़ायद: उठा के, मुजतहिदान:[3] तसर्रुफ़[4] करें, और अपने दवासाज़ी के फ़न को बाज़ाब्त: बना लें, जिसके बग़ैर तिब के तमाम कमालात अक्सर औक़ात बेनतीज: और ग़ैर-सूदमन्द साबित हो जाते हैं। मगर इस कमी के साथ भी लखनऊ ने तिब को जैसी तरक़्क़ी दी और मज़बूत बनाया, देहली से बहुत ज़ियाद: है और दुनिया के और किसी हिस्से में नहीं है।

फ़ारसी ज़बान का उरूज

लेकिन बावजूद इसके कि अुलूमेअ्रबीय: के बड़े-बड़े अुलमाए गराँपाय: लखनऊ की ख़ाक से पैदा हुए, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अ्रबी की तड़लीम, मुक़्तदायाने उम्मत और पेशवायाने मिल्लत तक महदूद थी। हिन्दोस्तान में दरबारी ज़बान फ़ारसी थी। मुलाज़िमत हासिल करने और मुहज़्ज़ब व मुअ्ज़्ज़ज़ सुहबतों में चमकने के लिए यहाँ फ़ारसी की तड़लीम बख़ूबी काफ़ी ख़याल की जाती थी। अवध ही नहीं सारे हिन्दोस्तान में अदबी व अख़लाक़ी तरक़्क़ी का ज़रीअ: सिर्फ़ फ़ारसी क़रार पा गई थी। मुसलमान तो मुसलमान, आला तबक़े के हिन्दुओं का आम रुजहान फ़ारसी अदब व इंशा की तरफ़ था। यहाँ तक कि आला दर्जे की इंशाएँ, हिन्दू मुसन्निफ़ों ही के क़लम से मुरत्तब व मुदव्वन[5] हुई थीं। टेकचन्द बहार ने बहारे अजम की सी लाजवाब किताब तस्नीफ़ कर दी जो मुस्तलहाते ज़बाने फ़ारसी का एक बेअदील व नज़ीर ज़ख़ीर: है। और जिसमें हर मुहावरे की सनद में अहले ज़बान के बेशुमार अश्आर पेश कर दिए गए हैं। लखनऊ के इब्तिदाई अुरूज में मुल्ला फ़ायक़ का, फिर मिर्ज़ा क़तील का नाम मशहूर हुआ जो एक नौमुस्लिम फ़ारसीदाँ थे। वह ख़ुद तो मज़ाक़न कहा करते, "बूए कबाब मरा मुसलमान कर्द"[6]। मगर सच यह है कि फ़ारसी की तड़लीम, उसके शौक़, और कमाले फ़ारसीदानी की आरज़ू ने उन्हें मुसलमान होने पर मजबूर कर दिया। उन्होंने महज़ इसी शौक़ में ईरान का सफ़र किया, बरसों शीराज, व अस्फ़हान और तेहरान व आज़रबाइजान की ख़ाक छानी और अदबे फ़ारसी के उस आला कमाल को पहुँच गए कि ख़ुद अहलेज़बान भी ऐसे बाकमाल ज़बानदाँ पर हसद करें तो तअ्ज्जुब की बात नहीं है।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने जा बजा मिर्ज़ा क़तील पर हमले किए हैं। बेशक मिर्ज़ा ग़ालिब का मज़ाक़े फ़ारसी निहायत आला दर्जे का था। वह इस उसूल पर बार-बार ज़ोर देते थे कि सिवा अहले ज़बान के किसी का कलाम सनद नहीं हो सकता। मगर उनके ज़माने में चूँकि अवध से बंगाले तक लोग क़तील के पैरौ थे और बात-बात पर क़तील का नाम लिया जाता था, इसलिए मिर्ज़ा ग़ालिब को अक्सर तैश[7] आ गया। और जब पैरवाने क़तील ने उनकी ख़बर लेना शुरू की तो कहने लगे—

---

१ विचार २ सिद्धान्त व नियम ३ विवेकपूर्ण ४ परिवर्तन, चमत्कार ५ रचित व संपादित ६ कबाब की सुगन्ध ने मुझको मुसलमान कर दिया ७ आवेश।

फ़ैज़ी अज़् सुह्‌वतें क़तीलम् नेस्त,
रश्कबर शुहरतें क़तीलम् नेस्त,
मगर आनाँकि फ़ारसी दानन्द,
हम वरीं अह्‌दोराय व पैमानन्द,
कि ज़ेअहलें ज़वाँ नवूद क़तील,
हरगिज़ अज़् अस्फ़हान नवूद क़तील,
लाजरम एतिमाद रा न सज़ूद,
गुफ़्त: अश् इस्तिनाद रा न सज़ूद,
कीं ज़बानें खासें अहलें ईरानस्त
मुश्किलें मा व सहलें ईरानस्त
सुखनस्त आश्कारो पिन्हाँ नेस्त
देहली व लखनऊज़े ईराँ नेस्त ।।

मगर इससे यह नहीं निकलता कि क़तील ने फ़ारसीदानी में जो कोशिशें की थीं और इस वाक़िफ़ीयत व कमाल हासिल करने में जो ज़िन्दगी सर्फ़ की थी, वह बिल्कुल वेकार गई। इस वात के मानने में किसी को उज्र् नहीं हो सकता कि क़तील का कोई दावा, जव तक वह अहलें ज़बान की सनद न पेश करें, क़ाबिलें तस्लीम नहीं, और न खुद क़तील के ज़िह्‌न में यह खयाल गुज़रा होगा। लेकिन इसकी खुसूसीयत क़तील ही के साथ नहीं, हिन्दोस्तान का कोई शख्स वजाय खुद सनद नहीं हो सकता। खुद मिर्ज़ा नौश: ग़ालिव भी कोई फ़ारसी का मुहावरा वग़ैर अहलें अजम के सवूत पेश किए, नहीं इस्तेमाल कर सकते। हिन्दोस्तानी फ़ारसीदानों का अगर कुछ विक़ार क़ाइम हो सकता है तो सिर्फ़ इस बिना पर कि कलामें फ़ारसी में उनकी नज़र वसीअ् है और हर-हर लफ़्ज़ के सही महल्लें[1] इस्तेमाल से वाक़िफ़ हैं। और इस हैसियत से सच पूछिए तो ग़ालिव के मुक़ाविले में क़तील का पाय: बहुत वलन्द था। ग़ालिब ज़िन्दगी भर हिन्दोस्तान की खाक छानते रहे और इसके साथ तलवें मआ़श[2] में सरगरदाँ रहे। क़तील को इत्मीनान का ज़माना मिला था और मुद्दतों खाकें पाकें ईरान में रहके गाँव-गाँव की ठोकरें खाते फिरे थे।

वहरतक़्दीर लखनऊ की फ़ारसीदानी का आग़ाज़ क़तील से हुआ और उनसे कुछ पहले मुल्ला फ़ायक़ ने, जिनका खानदान आगरे से आके मज़ाफ़ातें लखनऊ में वस गया था, अदव व इंशाए फ़ारसी और फ़ारसी नज़्मोनस्र में आला दर्जे की वेनज़ीर कितावें तस्नीफ़ कीं। फ़ारसी-गो और फ़ारसी-दाँ हिन्दोस्तान में इनसे पहले भी गुज़रे थे, मगर फ़ारसीदानी के साथ ज़वानें फ़ुर्स[3] के उसूल व ज़वाबित[4] और उसकी सर्फ़ व नह्व के मुदव्वन[5] करने का शौक़ पहले पहल लखनऊ ही में शुरू हुआ और

१ स्थान २ रोज़ी तलाश करना ३ ईरान ४ नियम ५ मुरत्तव, संकलन, संपादन।

वह इन्हीं के क़लम से ज़ाहिर हुआ। इनकी किताबें अगर सच पूछिए तो बेमिसाल व लाजवाब हैं।

इसके बाद फ़ारसी यहाँ की आम तऽलीम में दाखिल रही और निसाबे फ़ारसी ऐसा बलीग़ व दक़ीक़[1] रखा गया जो सच यह है कि खुद ईरान के निसाब[2] से ज़ियादः सख्त था। ईरान में, जैसा कि हर मुल्क के लोगों का मामूल है, सीधी सादी फ़सीह ज़बान, जिसमें सफ़ाई के साथ खयाले आफ़रीनी की जाये, पसन्द की जाती है। और उसी क़िस्म का निसाब भी है। हिन्दोस्तान में अुरफ़ी व फ़ैज़ी और ज़हूरी व नेमत खानें आली के ऐसे नाज़ुक-खयाल शुअ्रा का कलाम दाखिले दर्स किया गया। मुल्ला तुग़्रा और मुसन्निफ़ पच रुक़अ: के ऐसे दिक़्क़त-पसन्दों का कलाम पढ़ा और पढ़ाया जाने लगा। जिससे दावा किया जा सकता है कि हिन्दोस्तान की ज़बानदानी इस आखिरी अहद में खुद ईरान से बढ़ गई थी और यहीं के लोगों ने फ़ारसी की तमाम दर्सी किताबों पर आला दर्जे की शरहें लिख डाली थीं और इसी का यह हैरत-खेज़ नतीजा है कि जबकि दुनिया की तमाम ज़बानों के शुअ्रा अहलेज़बान ही के हलक़े में महदूद रहते हैं और ग़ैर-अहलेज़बान में अगर दो चार शाअिर पैदा भी हो जाते हैं तो अहलेज़बान में उनका एतिबार नहीं होता, फ़ारसी के शुअ्रा ईरान से ज़ियादः नहीं तो ईरान के बराबर ही हिन्दोस्तान में पैदा हुए। खुसूसन गुज़श्तः सदी में जबकि तरक़्क़ी व तऽलीम की दुनिया में लखनऊ का डंका बज रहा था, यहाँ का बच्चा-बच्चा फ़ारसी-गो था। जाहिल रन्डियों और बाजारी मज़दूरों की ज़बान पर फ़ारसी की ग़ज़लें थीं, और भाण्ड तक फ़ारसी की नक़्लें करते थे। क़सबाते अवध के तमाम शुरफ़ा का मुहज़्ज़ब मश्ग़लः[3] और ज़रीय-ए-मआ़श फ़ारसी पढ़ाना था और ऐसे आला दर्जे के देहाती फ़ारसी मुदर्रिस लखनऊ की गलियों में मारे-मारे फिरते थे कि उनकी ज़बानदानी पर खुद अहले अ़जम भी अश्-अश् कर जाते। उनका लबो लहजः अहले-ज़बान का सा न हो, मगर फ़ारसी के मुहावरों और बन्दिशों और अल्फ़ाज़ तह्क़ीक व तदक़ीक[4] में उनको वह दर्जा हासिल था कि मामूली अहलेज़बान को भी खतरे में न लाते थे।

लखनऊ में फ़ारसी का मज़ाक़ जिस क़द्र बढ़ा हुआ था, उसका अन्दाज़ः लखनऊ की उर्दू ज़बान से हो सकता है। जुहला[5] और औरतों तक की ज़बान पर फ़ारसी की तरकीबें, बन्दिशें और इज़ाफ़तें मौजूद हैं। और लखनऊ की ज़बान पर हमला करने वालों को अगर कोई एतिराज़ इतने दिनों में मिल सका है तो वह सिर्फ़ यह है कि इसमें फ़ारसी एतिदाल से ज़ियादः बढ़ गई है। लेकिन उस दौर के मेयारे तरक़्क़ी के लिहाज़ से यही चीज़ लखनऊ की ज़बान की खूबी और उसकी मुआ़शरत[6] से ज़ियादः बुलन्द हो जाने की दलील थी। खुद देहली में ज़बाने उर्दू की तरक़्क़ी

---

१ सारगर्भित तथा कठिन २ पाठ्यक्रम ३ शौक़, काम ४ छानबीन ५ अशिक्षित ६ संस्कृति।

के जितने दौर[1] क़ायम किए जाएँ, उनमें भी अगले-पिछले दौर का इम्तियाज़ सिर्फ़ यही हो सकता है कि पहले के बनिस्बत[2] बाद वाले में फ़ारसी का असर जियादः है।

मुसलमानों की तरह हिन्दू भी फ़ारसी में नमूद हासिल कर रहे थे, अगरचि यह अम्र दौलते मुग़्लियः के इब्तिदाई अहद से ज़ाहिर होने लगा था। उस वक़्त भी बाज़ नामवर व मुस्तनद फ़ारसी-दाँ और फ़ारसी-गो मौजूद थे, मगर अवध में यह मज़ाक़ इन्तिहाई कमाल को पहुँच गया था। चुनाँचि जैसे बाकमाल फ़ारसी-दाँ हिन्दू सवादे लखनऊ में मौजूद थे, कहीं न थे। कायस्थों और कशमीरी पण्डितों की तो मादरी ज़बान ही उर्दू हो गई। और उनकी और मुसलमानों की फ़ारसीदानी में बहुत कम फ़र्क़ था। कायस्थ चूँकि यहीं के मुतवत्तिन[3] थे, इसलिए उनकी ज़बान-'भाषा' रही। मगर तअ़्लीम फ़ारसी की कायस्थों के रगोपै में इस क़द्र सरायत कर गई थी कि निहायत ही बेएतिदाली[4] और बेरब्ती[5] के साथ मुहावरात फ़ारसी को इस्तेमाल करने लगे, जो बात कहीं के हिन्दुओं में न थी। उन दिनों लोग कायस्थों की ज़बान का मज़्हका उड़ाया करते थे, मगर सच यह है कि बजाय मज़्हका उड़ाने के, उनकी क़द्र करनी चाहिए थी। इसलिए कि उनकी ज़बान, उनकी अ़िल्मी तरक़्क़ी की दलील थी। जिस तरह आज कल अंग्रेज़ी लफ़्ज़ों के जा व बेजा इस्तेमाल का अंग्रेज़ी-दाँ अपनी अ़िल्मी तरक़्क़ी का सुबूत ख़याल करते और निहायत बदतमीज़ी से अंग्रेज़ी अलफ़ाज़ अपनी ज़बान में भरते चले जाते हैं।

लखनऊ में उन दिनों फ़ारसी के सदहा नस्सार[6] और शाअ़िर मौजूद थे और उर्दू की तरह बराबर फ़ारसी मुशाअ़िरों का सिलसिला जारी था। फ़ारसी शुरफ़ा ही नहीं अवामुन्नास[7] तक का शिआ़रो बसार[8] बन गई थी। और अब बावजूदे कि फ़ारसी दरबारी ज़बान नहीं बाक़ी रही और हुकूमत की मसनद पर उर्दू ज़बान क़ाबिज़ व मुतसर्रिफ़[9] हो गई है, मगर मुहज़्ज़ब सोसायटी पर आज तक फ़ारसी का सिक्का जमा हुआ है। और आम ख़याल यही है कि फ़ारसी मदारिस व मकातिब से निकल गई और तहसीले मआ़श के लिए उसकी ज़रूरत नहीं बाक़ी रही, मगर इंसान बग़ैर फ़ारसी पढ़े, मुहज़्ज़ब सोसायटी में बैठने के क़ाबिल नहीं हो सकता, और न सही मानों में इंसाने कामिल बन सकता है।

इंगलिस्तान में फ़्रांस की ज़बान कभी दरबारी ज़बान थी, अब अगरचि मुद्दत हुई कि वह दरबार से निकाल दी गई मगर मुआ़शरत और अख़लाक़ी तरक़्क़ी आज भी बग़ैर फ़्रांसीसी ज़बान के सीखे नहीं हो सकती। खाने-पीने, उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने, हँसने-बोलने, ग़रज़ ज़िन्दगी के तमाम उस्लूबों[10] पर फ़्रांसीसी की हुकूमत अब तक वैसी ही मौजूद है और लड़कियाँ बग़ैर फ़्रिंच ज़बान हासिल किए शाइस्तः बीवियाँ

---

१ युग २ अपेक्षा ३ निवासी ४ असंतुलन ५ असम्बद्धता, बेढंगापन ६ लेखक ७ लोक वर्ग, सामान्य जनता ८ ओढ़ना-बिछौना ९ अधिकार जमानेवाली १० तौर तरीक़ः।

नहीं बन सकतीं। यही हाल लखनऊ का है कि फ़ारसी दरबार से गई, खतोकिताबत से गई, मगर मुआशरत के तमाम शुअ्बों[1] पर अब तक हुकूमत कर रही है और बग़ैर फ़ारसी की तालीम पाये न हमारा मज़ाक़ दुरुस्त हो सकता है और न हमें बात करने का सलीक़ा आ सकता है।

मटिया बुर्ज (कलकत्ते) में आखिरी महरूमुल्क़िस्मत[2] ताजदारे अवध के साथ जो चन्द लोग वहाँ के सुकूनत पज़ीर हो गए थे, उनमें कोई पढ़ा लिखा न था, जो फ़ारसी न जानता हो। दफ़्तर की ज़बान फ़ारसी थी और हिन्दू मुसलमानों में बीसियों फ़ारसी-गो शाअि़र थे। औरतें तक फ़ारसी में शेअ्र कहती थीं। और बच्चा-बच्चा फ़ारसी ज़बान में अपना मतलब अदा कर लेता था।

मौजूदः लखनऊ में अगरचि फ़ारसी की तालीम बहुत कम हो गई है और हिन्दुओं ने तो उसे इस क़द्र छोड़ दिया कि वह कायस्थों की ज़बान ही ख्वाबो खयाल हो गई जिसका ज़बानदानी की सुहबतों में मज़्हक़ः[3] उड़ाया जाता था। और भाँड तक इस फ़ारसी-आमेज़ ज़बान की नक़्लें करते थे मगर फिर भी पुराने बुज़ुर्गो और खुसूसन मुसलमानों में बहुत कुछ फ़ारसी का मज़ाक़ मौजूद है। इसलिए कि उनकी उर्दूदानी ही एक हद तक उनके लिए फ़ारसीदानी का ज़रीया बन जाती है। मुसलमानों में अब तक ख्वाजा अज़ीज़ुद्दीन साहब का ऐसा मुहक़्क़िक़[4]-फ़ारसी अगली बज़्मे सुखन के याद दिलाने को पड़ा हुआ है जो अपने कमाल के लिहाज़ से सारे हिन्दोस्तान में यकता हैं। और पुराने सिनरसीदः हिन्दुओं में भी मुतअ़द्दिद[5] फ़ारसी के स्कालर मिलेंगे जिनका एक नमूना संदीले के राजा दुर्गा प्रसाद साहब हैं जिनका सबसे बड़ा कमाल यह है कि ज़माना बदल गया, ज़मीनो आसमान बदल गये, आबोहवा बदल गई, मगर वह आज तक वही हैं। फ़ारसीदानी की दाद देने और लेने को मौजूद हैं। और अगली तारीख के एक किर्मखुर्दः[6] वर्क़ की तरह चूमने-चाटने और आँखों से लगाने के क़ाबिल हैं।

नस्तऽलीक़ व खुशनवीसी

उलूम ही से वाबस्तः किताबत और तहरीर के फ़न हैं। मुसलमानों का पुराना खत अ़रबी था जिसको नस्ख[7] कहते हैं। खिलाफ़ते बग़दाद के अज़मन-ए-वुसता[8] तक सारी दुनियाए इस्लाम में मश्रिक़ से मग़्रिब तक यही खत था जो अ़र्जे[9] हीरा के पुराने खत से खते कूफ़ी और खते कूफ़ी से खते नस्ख बन गया था। खानदाने ताहिरिय्या के ज़माने से वह तमाम इल्मोफ़न जो बग़दाद में उरूज पा रहे थे ईरानो खुरासान की तरफ़ आने लगे। और दैलमियों और सलजूक़ियों के ज़माने में बग़दाद के अक्सर कमालात ईरान में बखूबी जमा हो गए। खुसूसन दैलमियों के अि़ल्मी

१ विभागों २ भाग्यहीन ३ मज़ाक़, उपहास ४ विशेषज्ञ ५ अनेक ६ कीड़ा खाया हुआ ७ अरबी खत को कहते हैं ८ मध्य युग।

ज़ौक़ और तफ़न्नुने तबअ़[1] से ईरान का मग़्रिबी सूबा आज़रबाईजान जो क़ुद्रतन इराक़े अजम व ईराक़े अरब के आग़ोश में वाक़ेअ़ था हर क़िस्म की ख़ूबियों और तरक़्क़ियों का गह्वारा[2] क़रार पा गया।

इसी इलाक़े में पहले पहल ख़त ने भी नई वज़अ़ इख़्तियार करना शुरू की। किताबत ख़त्ताती की हदों से निकल कर नक़्क़ाशी की क़लमरो में दाखिल हो गई और उसमें मुसव्विरानः नज़ाकतें पैदा की जाने लगीं। अजमी-नज़ाकत-पसन्दों को ख़ते अ़रब की पुरानी सादगी में भी भद्दापन नज़र आया और पुरानी शान और वज़अ़ ख़ुद बख़ुद छुटने लगी। नस्ख़ में क़लम हर हरफ़ और हर लफ़्ज़ में अव्वल से आख़िर तक यकसाँ रहा करता था। हर्फ़ों में ग़ैर मौज़ूँ ख़मी और ग़ैर मुतनासिब नाहमवारी[3] होती थी। दायरे गोल न थे बल्कि नीचे और चपठे होते और इधर-उधर उनमें कोने पैदा हो जाते। अब नक़्क़ाशी की नज़ाकत को ख़त्ताती में मिला के तहरीर में नोक-पलक पैदा की जाने लगी। हर्फ़ों की नोकें, गर्दनें और दुमें बारीक बनाई जाने लगीं, दायरे ख़ूबसूरत और गोल लिखे जाने लगे। इस जदीद मज़ाक़ को पूरी तरह पेशे नज़र रख के सबसे पहले मीर अली तबरेज़ी ने जो ख़ास दैलम का रहने वाला था, इस नए ख़त को बाउसूल व बाक़ायदः बनाके मश्रिक़ी बिलाद में रवाज दिया और उसका नाम नस्तऽ़लीक़ क़रार दिया। जो असल में नस्ख़े तऽ़लीक़ यानी ज़मीम-ए-नस्ख़[4] था।

यह नहीं मालूम कि मीर अली तबरेज़ी किस ज़माने में थे। मुंशी शम्सुद्दीन साहब जो आज लखनऊ के मश्हूर व मुस्तनद ख़ुशनवीस हैं, उनका ज़माना तैमूर से पहले बताते हैं। लेकिन नस्तऽ़लीक़ की किताबें इतनी पुरानी मिलती हैं कि तैमूर दरकिनार, हम समझते हैं कि इस ख़त की ईजाद महमूद ग़ज़नवी से भी पहले हो चुकी थी। इसमें शक नहीं कि महमूद के हम्लों के साथ ही साथ हिन्दोस्तान में फ़ारसी ख़ुशनवीसों की भी आमद शुरू हो गई होगी जिनके असर से यहाँ इस ख़त का रवाज शुरू हुआ और हिन्दोस्तान के हर सूबे और हर ख़ित्ते में नस्तऽ़लीक़ के ख़ुशनवीस कसरत से पैदा हो गए। लिहाज़ः या तो मीर अली तबरेज़ी का ज़माना बहुत क़दीम है और या वह असली मोजिदे ख़त नहीं हैं। लेकिन इसमें शक नहीं कि देहली व लखनऊ बल्कि सारे हिन्दोस्तान की मौजूदः ख़ुशनवीसी अपना उस्तादे अव्वल मीर अली तबरेज़ी को बताती है। उनके एक मुद्दते दराज़ के बाद ईरान में नस्तऽ़लीक़ की उस्तादी में मीर इमादुल्हसनी का नाम मश्हूर हुआ, जो ख़ुशनवीसों में बड़े मुमताज़ व नामवर कातिब और उस्तादुल्कुल माने जाते हैं। उनके भाञ्जे आग़ा अब्दुर्रशीद दैलमी नादिरशाह के हम्लों के ज़माने में वारिदे हिन्द हुए और लाहोर में आकर ठहर गए। लाहोर में उनके सदहा शागिर्द पैदा हुए जिन्होंने

---

१ तफ़रीह, मनबहलाव २ झूलना ३ असमानुपाती बराबरी, बेतुकान ऊँचा-नीचा ४ नस्ख़ का इज़ाफ़ा (परिशिष्ट)।

अक़्ताअ़े हिन्द में फैल के उन्हें हिन्दोस्तान की खुशनवीसी का आदम नहीं तो नूह ज़रूर साबित कर दिया। इन्हीं के दो शागिर्द जो विलायती थे, वारिदे लखनऊ हुए। इन दोनों बुज़ुर्गों में से एक हाफ़िज़ नूरुल्लाह् और दूसरे क़ाज़ी नेमतुल्लाह् थे। कहा जाता है कि अब्दुल्लाह बेग नाम आग़ा अब्दुर्रशीद के एक तीसरे बाकमाल शागिर्द भी लखनऊ में आये थे। इन हज़रात के आने का ज़माना ग़ालिबन नव्वाब आसिफ़उद्दौलः बहादुर का अह्द था, जब यहाँ कोई बाकमाल आके वापस न जाने पाता था। क़ाज़ी नेमतुल्लाह आते ही इस खिदमत पर मामूर हो गए कि शाहज़ादों को इस्लाह दिया करें और हाफ़िज़ नूरुल्लाह् को भी दरबारे अवध से तअ़ल्लुक़ हो गया और इन दोनों ने यहाँ ठहर के लोगों को खुशनवीसी की तऽलीम देना शुरू की।

इन बुज़ुर्गों के अलावः यहाँ और पुराने खुशनवीस भी थे जिनमें से एक नामवर बुज़ुर्ग मुंशी मुहम्मद अली बताए जाते हैं। मगर आग़ा अब्दुर्रशीद के शागिर्दों ने अपना ऐसा सिक्का जमा लिया कि खुशनवीसी के तमाम शायक़ बल्कि सारा शहर उनकी तरफ़ रुजूअ़ हो गया। जिसे खत्ताती का शौक़ हुआ, इन्हीं का शागिर्द हो गया। और तमाम खुशनवीसाने-सलफ़ के नाम मिट के गुमनामी के नापैदा किनार समन्दर में ग़र्क़ हो गए और सच यह है कि यह बुज़ुर्ग अपने कमाल के एतिबार से इसके मुस्तहिक़ भी थे।

हाफ़िज़ नूरुल्लाह की लखनऊ में जो क़द्र हुई उसका अंदाज़: इसी से नहीं हो सकता कि वह यहाँ सरकार में मुलाज़िम हो गए थे बल्कि लखनऊ की क़द्रदानी का सही अंदाज़: इससे होता है कि लोग इनके हाथों के लिखे हुए क़ितओं को मोतियों के दामों मोल लेते। यहाँ तक कि उनकी मामूली मश्क़ बाज़ार में सिर्फ़ एक रुपए हर्फ़ के हिसाब से हाथों हाथ बिक जाती थी।

उन दिनों उमरा और शौक़ीन लोग अपने मकानों को बजाए तस्वीरों के क़ितआत से आरास्तः किया करते थे जिसकी वजह से अ़लल्‌उमूम[1] क़ितओं की बेइन्तिहा माँग थी। और जहाँ कि अच्छे खुशनवीस के हाथ का क़ितअ मिल जाता उसपर लोग परवानों की तरह गिरते और आँखों से लगाते। इससे सोसायटी को तो यह फ़ायदः पहुँचता कि अक्सर अख़्लाक़ी उसूल और नासिहानः फ़िक़रे या अश्‌आर हमेशा पेशे-नज़र रहते और हरवक़्त घर में अख़्लाक़ी[2] सबक़ मिलता रहता, और खुशनवीसी को यह फ़ायदः पहुँचता कि खुशनवीसों और साहिबे कमाल खत्तातों ने अपने कमाल को क़ितअ़नवीसी ही तक महदूद कर दिया था। जो आबदार और उम्दः वसलियों को लिखके तैयार करते और उसी में घर बैठे दौलतमन्द हो जाते। मगर अफ़सोस अब हिन्दोस्तान से क़ितआ़त और कतबों का रवाज उठता जाता है और उनकी जगह तस्वीरों ने ले ली है। जिसकी वजह से अगले नफ़ीस व मुहज़्ज़ब शरअ़ी मज़ाक़े-

१ आमतौर से (साधारणतः) २ शिष्टाचार सम्बन्धी।

आराइश के मिट जाने के साथ खुशनवीसी भी हिन्दोस्तान से उठ गई। अब कातिब हैं, खुशनवीस नहीं हैं। और दो एक खत्तात मश्हूर भी हैं, वह मजबूर हैं कि कापी-नवीसी और किताबत से अपना पेट पालें। जो चीज़ कि असल में खुशनवीसी की दुश्मन है। बखिलाफ़ इसके, उन दिनों एक गिरोह क़ायम हो गया था जिसका काम फ़क़त यह था कि खुशनवीसी को अपने उसूल पर क़ायम रखे और उसको वक़्तन-फ़वक़्तन[1] मुनासिब तरक़्क़ियाँ देता रहे। चुनांचि अगले खुशनवीस किताबत को अपनी शान से अदना समझते थे और खयाल करते कि जो शख्स पूरी-पूरी किताबें लिखेगा वह ग़ैर मुमकिन है कि अव्वल से आखिर तक उसूल व क़वाअिदे खुशनवीसी को पूरी तरह निवाह सके और सच यह है कि जितनी मेहनत मशक़्क़त वह लोग एक-एक वसली की दुरुस्ती में करते थे, उसकी अुश्र अशीर मेहनत भी कातिब किसी पूरी किताव के लिखने में नहीं कर सकते।

उनकी मेहनत का अन्दाज़ः इससे हो सकता है कि हाफ़िज़ नूरुल्लाह से एक वार नव्वाव सआदत अली खाँ ने फ़रमाइश की कि "मुझे गुलिस्ताँ का एक नुस्खा लिख दीजिए।" नव्वाव सआदत अली खाँ, गुलिस्ताने सअ्दी के वेहद शायक़ थे और कहते हैं कि गुलिस्ताँ हर वक़्त उनके सिरहाने मौजूद रहा करती थी। और कोई ऐसी फ़र्माइश करता तो हाफ़िज़ नूरुल्लाह अपनी तौहीन समझके उसका मुँह ही नोच लेते। मगर फ़रमारवाए वक़्त का कहना था, मंजूर कर लिया; और अर्ज़ किया कि "मुझे अस्सी गड्डी काग़ज़ (उन दिनों रिम को गड्डी कहते थे) एक सौ क़लम तराश चाक़ू और खुदा जाने कितने हज़ार क़लमों के नेज़े मँगवा दीजिए।" सआदत अली खाँ ने हैरत से पूछा "फ़क़त एक अकेली गुलिस्ताँ के लिए इतना सामान दरकार होगा?" कहा "जी हाँ, मैं इतना ही सामान खर्च किया करता हूँ।" नव्वाव के लिए इस सामान का फ़राहम करना कुछ दुश्वार तो था नहीं, मँगवा दिया। अब हाफ़िज़ साहव ने गुलिस्ताँ लिखना शुरू की। मगर पूरी नहीं होने पाई थी, सात ही वाव लिखने पाए थे और आठवाँ वाव वाक़ी था कि इन्तिक़ाल हो गया। उनके वाद जव उनके वेटे हाफ़िज़ इब्राहीम दरवार में पेश हुए और उन्हें स्याह खिलअ्ते ताअ्ज़ियत अता हुआ तो सआदत अली खाँ ने कहा "भई मैंने हाफ़िज़ साहव से गुलिस्ताँ लिखवाई थी, खुदा जाने उसका क्या हाल हुआ?" हाफ़िज़ इब्राहीम ने अर्ज़ किया। "उनके लिखे हुए सात वाव तैयार हैं, आठवाँ वाव वाक़ी है, उसे यह हक़ीर लिख देगा और इस क़द्र उनकी शान में मिला देगा कि हुज़ूर इम्तियाज़[2] न कर सकेंगे। लेकिन हाँ, अगर किसी मुवस्सिर खुशनवीस ने देखा तो वह वेशक पहचान लेगा।" नव्वाव ने इजाज़त दी और उस गुलिस्ताँ को हाफ़िज़ इब्राहीम ने पूरा किया।

हाफ़िज़ नूरुल्लाह के शागिर्दों में ज़ियादः मुमताज़ सवसे अव्वल तो खुद उनके वेटे हाफ़िज़ मुहम्मद इब्राहीम थे। दूसरे मुंशी सर्वसुख नाम एक हिन्दू वुज़ुर्ग थे

---

१ समय-समय पर २ अंतर, भेद।

जिनको कोई कायस्थ बताता है और कोई कशमीरी पंडित। और तीसरे मुहम्मद अब्बास नाम लखनऊ के एक खुशनवीस हाफ़िज़ इब्राहीम ने भी बहुत नाम पैदा किया। सैकड़ों आदमियों को खुशनवीस बना दिया और फ़न में मुज्तहिदानः[1] मर्तबः पैदा करके, अपने वालिद से जुदा एक शान पैदा की। हाफ़िज़ नूरुल्लाह के दायरे बिल्कुल गोल होते थे, हाफ़िज़ इब्राहीम ने उनमें एक खफ़ीफ़ सी बैज़ावियत इख्तियार की। मुन्शी सर्वसुख की निस्बत कहा जाता है कि अपने उस्ताद की शान इस क़द्र उड़ा ली थी कि सदहा वसलियाँ हाफ़िज़ नूरुल्लाह के नाम से फैला दीं और बड़े-बड़े खुशनवीस बिल्कुल तमीज़ नहीं कर सकते थे और यह उन दिनों खुशनवीसी का बहुत बड़ा कमाल था।

हाफ़िज़ इब्राहीम के मुम्ताज़ शागिर्दों में पहले तो उनके फ़र्ज़न्द सईदुद्दीन थे। उनके अलावा मुंशी अब्दुल्मजीद जो सरकारे शाही में अहकामेशाही और पर्चे व पयाम (यानी मुरासिलत फ़ी माबैनेदौलते इंगलिशिय्यः व दौलते अवध) लिखने पर मामूर थे, मगर हाफ़िज़ इब्राहीम के दो शागिर्दों ने बहुत ही फ़रोग़ पाया जो अपने ज़माने में सारे लखनऊ के उस्ताद क़रार पा गये थे। एक तो मुंशी मंसाराम कशमीरी पंडित जो अपने फ़न के बहुत बड़े कामिल थे, और दूसरे मुंशी मुहम्मद हादी अली जो नस्तऽलीक़ के अलावः नस्ख और तुग़रानवीसी में भी लखनऊ में अपना मिस्ल न रखते थे। उधर क़ाज़ी नेमतुल्लाह के शागिर्द एक तो उनके फ़र्ज़न्द मौलवी मुहम्मद अशरफ़ थे और दूसरे मौलवी क़ुल अहमद।

ग़रज़ नस्तऽलीक़ के यही लोग उस्ताद थे जिनसे लखनऊ में खुशनवीसी कमाल को पहुँची। फिर मत्बऽ[2] जारी होने के बाद किताबत व कापी नवीसी को फ़रोग़ हुआ और दरअस्ल यह उसी खानदान की बर्कत है कि लखनऊ में हज़ारों मुसलमान, हज़ारों कायस्थ जिनसे नौबस्तः और अशरफ़ाबाद के मुहल्ले भरे हुए हैं और सैकड़ों कशमीरी पंडित खुशनवीस हो गये। मगर अफ़सोस कशमीरी पंडितों ने अंग्रेज़ी तऽलीम के शौक़ में और खुशनवीसी की कसाद-बाज़ारी[3] देख के इस फ़न को मुतलक़न छोड़ दिया और अब जितने अच्छे लिखने वाले हैं, सब मुसलमान हैं या कायस्थ।

आखिर ज़माने में संदीले के एक मुंशी अब्दुल्हई भी बड़े बाकमाल खुशनवीस थे जिनके शागिर्द मुंशी अमीरुल्लाह तस्लीम, उनके बड़े भाई मुंशी अब्दुल लतीफ़ और मुंशी अशरफ़ अली वग़ैरः थे। फ़िलहाल नस्तऽलीक़ में मुंशी शम्सुद्दीन साहब और नस्ख में मुंशी हामिद अली साहब को शुहरत मिली और यह दोनों मुंशी हादी अली साहब के शागिर्द हैं।

हिन्दोस्तान में खतेनस्ख जिन बाकमालों की जानिब मंसूब किया जाता है, उनमें

---

१ पुराने नियमों से नई बात निकालना अथवा नये कल्ले निकालना, क्रान्तिकारी
२ छापाखाना ३ मंदी।

सबसे पहले शख़्स याक़ूते मुसतअ़समी के लक़ब से मशहूर हैं जो याक़ूते अव्वल कहलाते हैं। हमें इस नाम का कोई बाकमाल कातिब मुस्तअ़समबिल्लाह के अहद में नहीं नज़र आता। क्या अजब कि इससे मुराद अ़िमाद कातिब जुवैनी अल्मुलक़्क़ब वफ़ख़्रुल् कुत्ताब अलमुतवफ़्फ़ा सन् ५८४ हिज्री हो, जिसकी किताब ख़रीदः मशहूर है और जो पहले अर्ज़े शाम में सुल्तान अताबुक-नूरुद्दीन जंगी का और उसके बाद मिस्र में सुल्तान सलाहउद्दीन अय्यूबी फ़ातेह बैतुलमुक़द्दस का कातिब था। इसलिए कि नस्ख़ का सबसे बड़ा आख़िरी ख़ुशनवीस वही माना जाता है। इसके बाद सुल्तान औरंगज़ेब आलमगीर के अहद में मुहम्मद आरिफ़ नाम ख़त्तेनस्ख़ के एक बड़े बाकमाल पैदा हुए जिनको याक़ूत रक़मसानी का ख़िताब दिया गया। अ़ुमूमन कहा जाता है कि उन्होंने ख़त्तेनस्ख़ की नई शान ईजाद की और बमुक़ाबिल साबिक़ के इसे ज़ियादः ख़ूबसूरत बना दिया। यहाँ तक की नस्ख़ के असातज़-ए-लखनऊ[1] दावा करते हैं कि उनके कमाल का सारी दुनिया-ए-इस्लाम ने एतिराफ़[2] कर लिया। मैं इसको मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। याक़ूते रक़मसानी को हिन्दोस्तान में चाहे जैसी फ़ौक़ियत[3] हासिल हो गयी हो, मगर उन मुमालिक में जहाँ का क़ौमी ख़त, ख़त्तेनस्ख़ और क़ौमी मादरी ज़बान, ज़बाने अरब है, लोग याक़ूते रक़म का नाम भी नहीं जानते और न उनकी शान के पैरो हैं।

मुहम्मद आरिफ़ याक़ूते रक़म के ज़माने में अब्दुलबाक़ी नाम एक शख़्स थे, जिनका पेशा हद्दादी यानी लोहारी था, इन्हें याक़ूते रक़म की मर्जअ़िय्यत आम्म:[4] देख के शौक़ हुआ कि ख़ुद भी इस फ़न में कमाल पैदा करें। इत्तिफ़ाक़न अब्दुल्लाह तब्बाख़ नाम नस्ख़ के एक और ख़ुशनवीस उन दिनों मशहूर थे। हद्दाद जाके उनके शागिर्द हुए और ऐसी मिहनत की कि उस्तादे कामिल मशहूर हो गये। जब इन दोनों का ज़माना गुज़र गया तो याक़ूते रक़म की जगह, उनके भतीजे क़ाज़ी अ़िस्मतुल्लाह ने ली और हद्दाद की यादगार उनके दो फ़र्ज़न्द अ़ली अकबर और अ़ली असग़र तस्लीम किये गये।

इसके बाद हिन्दोस्तान में बड़े-बड़े ख़ुशनवीस पैदा हुए और बराबर नस्ख़ की किताबत हिन्दोस्तान में तरक़्क़ी करती रही। आख़िर में शाह ग़ुलाम अली की शुहरत हुई जो नस्ख़ के बाकमाल ख़ुशनवीस थे। इसके बाद लखनऊ में एक तरफ़ मौलवी हादी अ़ली साहब की शुहरत हुई, जिनका ख़ानदान देहली से आया था और कालपी के एक ख़ुशनवीस मीर अकबर अ़ली के वह शागिर्द थे। मौलवी हादी अ़ली साहब को तुग़रानिगारी[5] में बड़ा कमाल हासिल था।

मुंशी हादी अ़ली के हमअ़स्र[6] नस्ख़ के एक मशहूर ख़ुशनवीस मीर बन्देअ़ली मुर्तअ़िश थे। उनके उस्ताद नव्वाब अहमद अली नाम एक पुराने वक़्त के रईस और

१ लखनऊ के उस्ताद २ स्वीकार ३ बड़ाई ४ लोकप्रियता ५ तुग़रा लिखना (तुग़रा एक ख़त का नाम है) ६ समकालीन।

नस्ख के बाकमाल उस्ताद थे। मीर वन्दे अली के हाथ में रअ्शः[1] था, मगर क़लम जैसे ही काग़ज़ पर लगता, मालूम होता कि लोहे का हाथ है, क्या मजाल कि क़ाबू से बाहर हो। उनकी नज़र खत के पहचानने में ऐसा कमाल रखती थी कि बड़े-बड़े लोहा मान गये।

मुंशी हामिद अली साहब फ़रमाते हैं, एक मौक़े पर मुंशी हादी अली, मुंशी मुहम्मद यह्या (यह भी नस्ख के बड़े उस्ताद थे, जिन्होंने तबअ् होने के लिए लखनऊ में पहला क़ुर्आन लिखा), मुंशी अब्दुलहई संदीलवी, और मीर वन्देअली मुर्तअि़श एक सुहबत में जमा थे। यह नस्ख के तमाम बाकमालों की सुहबत थी। किसी ने एक क़ितअ़ेनस्ख फ़रोख्त के लिए लाके पेश किया। गो उसमें कातिब का नाम नहीं लिखा था, मगर इन बाकमालों ने बिलइत्तिफ़ाक़ पहचान लिया कि खास याक़ूत के हाथ का है। और सबको शौक़ हुआ कि उसे अपने क़ब्ज़े में करें। मगर मुंशी हादी अली साहब ने कहा, "यह एक दिन मेरे पास रहे तो मुझे ग़ौर करने के बाद इत्मीनान होगा कि दरअस्ल यह याक़ूत के हाथ का है या नहीं"। मालिक ने दे दिया और वह उसे घर लाये। दूसरे दिन ले जाके पेश किया और कहा, "वाक़ई यह याक़ूत ही के हाथ का है"। इसी के साथ याक़ूत का एक क़ितअ् मेरे पास भी पड़ा हुआ था, मैंने इसे ले जाके उससे मिलाया तो बिअ़ैनिही वही पाया और मुझे यक़ीन आ गया कि वाक़ई यह याक़ूत का है। और दोनों क़ितअ़े सबके सामने रख दिये। सबने बिला तअम्मुल तस्लीम कर लिया कि दोनों याक़ूत ही के हाथ के लिखे हुए हैं। मगर मीर वन्देअली ने मुंशी हादी अली वाले क़ितअ़े को ग़ौर से देखा, फिर मुस्कुराए और उसके नीचे लिख दिया :—

"ईं कार अज़् तो आयद व मर्दां चुनीं कुनंद"[2]

यह तहरीर देख के मुंशी अब्दुल हई साहब बिगड़े और कहा, "क्या आपको इसमें कुछ शक है?" मीर बन्दे अली ने कहा, "यह क़ितअ़: तो याक़ूत के हाथ का नहीं हो सकता"। मुंशी अब्दुल हई और दीगर हरीफ़ाने सुहबत ने दावा किया कि यह खास याक़ूत के हाथ का है। मीर बन्दे अली ने उसमें एक 'वाव' का सिरा दिखाया और कहा—"यह याक़ूत का नहीं हो सकता"। अब सब लोग गोमगो[3] में पड़े हुए थे कि मुंशी हादी अली ने उस वसली[4] का एक कोना फाड़ के काग़ज़ की तह के अन्दर से निकाल के अपना नाम दिखा दिया और सबको यक़ीन आ गया कि यह कारस्तानी मुंशी हादी अली साहब की थी। सबने उनकी बेहद तारीफ़ की और उन्होंने कहा, "मगर मैं तो मीर बन्दे अली साहब की नज़र का क़ायल हो गया"।

खुशनवीसों के आ़म मज़ाक़ के मुताबिक़ मीर बन्दे अली साहब से भी क़ितअ़्

---

१ कम्पवायु २ यह काम तूने किया है और मर्द लोग ऐसे ही करते हैं ३ असमंजस, शक ४ काग़ज़ पर लिखी हुई खुशखत तहरीर जिसे फ्रेम करके लटकाते हैं।

नवीसी के सिवा किताबत ग़ैर मुमकिन थी; ज़िन्दगी भर कभी कोई छोटी किताव भी न लिखी गयी। हाजी-ए हर्मैन शरीफ़ैन ने जब मत्वअ् जारी किया तो बहज़ार मिन्नत व समाजत मीर बन्दे अ़ली को इस पर राज़ी किया कि उन्हें एक पंजसूरः लिख दें। मीर बन्दे अ़ली ने बड़ी मेहनत से और ख़ुदा जाने कितने दिनों में लिखा और ले गये। मगर हाजी साहब के सामने जब उस पर आखिरी नज़र डाली तो ऐसा नापसन्द हुआ कि बजाय हाजी साहब के हवाले करने के, फाड़ डाला और कहा, "भई मुझसे नहीं हो सकता"।

इन बुज़ुर्ग के तज़किरे से मेरा यह मक़सद नहीं है कि ख़ुशनवीसी में लखनऊ को कोई ऐसा इम्तियाज़ हासिल हो गया था जो हिन्दोस्तान में अदीमुन्नज़ीर[1] हो। बखिलाफ़ इसके मेरा खयाल है कि जैसे-जैसे बाकमाल दौलतें मुग़लिय्यः से पहले हिन्दोस्तान में गुज़र चुके हैं, उनके अ़श्रे अ़शीर[2] दर्जे को भी यह लोग नहीं पा सकते बल्कि नस्ख़ का कमाल इन दिनों मिट चुका था। नस्तअ़्लीक़ के मुतअ़ल्लिक़ इस क़द्र अलबत्ता कहा जा सकता है कि हाफ़िज़ नूरुल्लाह और हाफ़िज़ इब्राहीम के हाथ के क़त्आत जिस ज़ौक़ोशौक़ से सारे हिन्दोस्तान में मक़बूल हुए, और किसी ख़ुशनवीस के शायद न हो सके होंगे। लेकिन इस पर भी ख़त्ताती के फ़न में लखनऊ का दर्जः क़रीब-क़रीब वही था जो दीगर मुतमद्दिन[3] शहरों का हो सकता है।

मगर लखनऊ की ख़ुशनवीसी ने मत्बअ् की तरक़्क़ी में जो काम किया शायद कहीं की ख़ुशनवीसी न कर सकी होगी। मुझे इसकी तहक़ीक़ नहीं है कि हिन्दोस्तान में सबसे पहले मत्बअ्[4] कहाँ से जारी हुआ। कलकत्ते में उर्दू लिट्रेचर की तरक़्क़ी और नीज़ आ़म मशिरक़ी उलूम[5] की तक़वियत[6] में बहुत कुछ इहतिमाम[7] किया गया मगर वहाँ टाइप के सिवा पत्थर के छापे की पुरानी किताबें मैंने नहीं देखीं।

लखनऊ में यह अहदे ग़ाज़िउद्दीन हैदर (सन् १२४३ मुहम्मदी ता सन् १२५६ मुहम्मदी मुताबिक़ १८१४ ई० ता सन् १८२७ ई०) अर्सल नाम एक यूरोपियन ने आके लोगों को मत्बअ् का खयाल दिलाया। और जब अहले अ़िल्म मुश्ताक़ हुए तो उसने पहला मत्बअ् लखनऊ में खोला। उसने प्रेस और तमाम सामान यहीं तैयार कराके छापना शुरू किया और ज़ादुल्मआ़द, हफ़्ते क़ुलज़ुम और ताजुल्लुग़ात (जो बहुत सी जिल्दों में थी) छाप के पब्लिक के सामने पेश कीं। उससे सीख के और लोगों ने भी मत्बे जारी करना शुरू किये। जिनमें सबसे पहला मत्बअ् ग़ालिबन हाजीये हर्मैन शरीफ़ैन का था। उन्हीं दिनों मुस्तफ़ा ख़ाँ, शीशः आलात के एक दौलतमन्द ताजिर कुछ छापने के लिए हाजीये हर्मैन के पास ले गये और हाजी साहब की ज़बान से कोई ऐसा सख़्त कलिमः निकल गया कि मुस्तफ़ा ख़ाँ ने घर आके ख़ुद अपना मुस्तफ़ाई मत्बअ् जारी कर दिया जिसे ग़ैर-मामूली फ़रोग़[8] हासिल हुआ। थोड़े दिनों बाद

---

१ अतुलनीय, अद्वितीय २ शतांश ३ सभ्य ४ छापाखाना (प्रेस) ५ पूर्वी विद्या-कलाओं में ६ बल पहुँचाना ७ प्रबन्ध ८ असाधारण ख्याति।

अली बख्श खाँ ने अपना अलवी मत्बअ् जारी किया और लखनऊ में कसरत से छापेखाने खुलने लगे।

इब्तिदाअन तबअ् का काम यहाँ ताजिरानः उसूल पर नहीं बल्कि शौक़ीनी की शान से जारी हुआ। उमदः से उमदः अरबली[1] काग़ज़ लगाया जाता जो पत्थर के छापे के लिए निहायत ही मौज़ूँ था। बड़े-बड़े खुशनवीसों को मजबूर करके और बड़ी-बड़ी तन्ख्वाहें देके उनसे किताबत का काम लिया जाता। और बग़ैर इसके कि कारगुज़ारी की कुछ भी शर्त हो, उसका ज़रा भी खयाल किया जाता हो कि वह दिन भर में कितना लिखते हैं, लिखते भी हैं या नहीं, उनकी खातिरदाश्त की जाती। इसी तरह प्रेसमैनों से भी न पूछा जाता कि दिन भर में कितने काग़ज़ छापे। रोशनाई के लिए कड़वे तेल के हज़ारों चिराग़ रौशन करके अव्वल दर्जे का काजल तैयार किया जाता। खटाई के एवज़ लीमू[2] काग़ज़ी सर्फ़ होते और कपड़े की जगह असली सफ़ंज काम में लाया जाता। ग़रज़ हर चीज़ अव्वल दर्जे की काम में लाई जाती। इस एहतिमाम का नतीजा यह था कि शाही ज़माने में फ़ारसी व अरबी की दर्सी व दीनी किताबें जैसी लखनऊ में छपके तैयार हुईं, अहलेबसीरत[3] के नज़दीक कहीं न छप सकी होंगीं। उस वक़्त की छपी हुई किताबें जिस किसी के पास मौजूद हैं, एक दौलत हैं और लोग ढूढ़ते हैं और नहीं पाते।

मेरे वालिद के हक़ीक़ी चचा मौलवी अहमद साहब को सफ़र और तिजारत का बड़ा शौक़ था। और उस ज़माने में जब कि लोग घर से बाहर क़दम निकालते डरते थे, उन्होंने हाजीये हर्मैन शरीफ़ैन के एजेन्ट की हैसियत से रथों और बैलगाड़ियों पर सवार होके और हज़ारों किताबें साथ लेके लखनऊ से रावलपिन्डी तक सफ़र किया था। उनका बयान था कि किताबें उन दिनों अनक़ा[4] थीं। यहाँ की मत्बूअ: किताबों को देख के लोगों की आँखें खुल जाती थीं और परवान:वार[5] गिरते थे। लोगों के शौक़ का यह आलम था कि हम जिस शहर या गाँव में पहुँचते, हमसे पहले हमारी खबर पहुँच चुकती, और हमारा दाखिलः अजब शानोशौकत से होता। इधर हम किसी बस्ती में पहुँचे उधर खिलक़त[6] ने घेर लिया। भीड़ लग जाती थी और हम जिस किताब को जिस क़ीमत पर देते, लोग बेउज्र लेके आँखों से लगाते। हम करीमा, मामुक़ीमा वग़ैरः को फ़ी जिल्द ।=) या ॥) के हिसाब से और गुलिस्ताँ, बोस्ताँ को फ़ी जिल्द तीन रुपये या चार रुपये के निर्ख[7] से बेचते। उस पर यह हाल था कि हम माँग को पूरा न कर सकते। एक शहर से दूसरे शहर तक पहुँचते-पहुँचते किताबों का ज़खीरः खत्म हो जाता, और नये माल के इंतिज़ार में महीनों ठहर जाना पड़ता।

---

१ एक विशेष चिकना सफ़ेद काग़ज़ २ नीबू ३ सूझबूझवालों ४ अनक़ा = एक फ़र्ज़ीचिड़या (जो चीज़ न मिले उसके लिए बोलते हैं)। ५ पतिंगों की तरह। ६ लोगों, जनसमुदाय ७ भाव।

उन दिनों माल का पहुँचना दुश्वार था, मगर हमने ऐसा इन्तिज़ाम कर लिया था कि वरावर माल लखनऊ से आता रहता।

शाही के आख़िर दौर में मुस्तफ़ाई-मत्वअ़ अपनी छपाई के लिहाज़ से दुनिया में जवाब न रखता था। इन्तिज़ाख़े[1] सल्तनत के वाद मुंशी नवल किशोर ने अपना मत्वअ़ जारी किया। गो वह छपाई की ख़ूबी में मुस्तफ़ाई मत्वअ़ का मुक़ाविलः नहीं कर सका मगर तिजारत के उसूल पर चलके उसने फ़ारसी व अ़रवी की इतनी वड़ी ज़खीम[2] किताबें छाप दीं कि आज किसी मत्वअ़ को उनके तबअ़ करने की जुर्अत नहीं हो सकती। सच यह है कि लखनऊ की अगली शौक़ीनी ने प्रेस का ऐसा मुकम्मल सामान जमा कर रखा था कि उससे फ़ायदः उठाने के लिए मुंशी नवल किशोर ही के ऐसे वुलन्द हौसलः साहिवे मत्वअ़ की ज़रूरत थी। आख़िर नवल किशोर प्रेस ने यहाँ तक उरूज पाया कि सारे मश्रिक़ी लिट्रेचर को उसने ज़िन्दः कर दिया और वएतिवार वुसअ़ते तवअ़ के जो फ़ौक़ियत लखनऊ को हासिल हो गयी, और किसी शहर को नहीं नसीव हो सकती। और इसकी वरकत थी कि वस्ते एशिया में काशग़र, वुख़ारा तक और अफ़ग़ानिस्तान-ईरान की सारी इल्मी माँग लखनऊ ही पूरी कर रहा था। चुनाँचि आज तक नवल किशोर प्रेस इल्मी तिजारत की कुंजी है, जिससे काम लिए वग़ैर कोई शख़्स इल्मी दुनिया में क़दम नहीं रख सकता।

मगर अफ़सोस अब लखनऊ में वावजूद कसरते मताबेअ़[3] के, छपाई की हालत ऐसी ख़राव हो रही है और रोज़ वरोज़ अवतर होती जाती है कि दूसरे शहर इस पर फ़ौक़ियत[4] ले गये हैं। और हमारी नज़र में प्रेसमैनों की इख़्लाक़ी हालत ख़राव होने की वजह से अव लखनऊ में अक्सर शहरों के मुक़ावले में ख़राव छपता है। मगर हमारे इत्मीनान के लिए इतना काफ़ी है कि कानपुर में मुंशी रहमतुल्लाह साहव रअ़्द की वजह से मताबेअ़ की हालत अच्छी है और कानपुर दरअस्ल लखनऊ ही की तरक़्क़ियों का एक ज़मीमः[5] है।

मत्वअ़ ही के साथ लखनऊ में मुसव्वेह संगी[6] का फ़न ईजाद हुआ। पत्थर पर जो कापी जमाई जाए, उसे किसी हद तक छील के और क़लम लगाके दुरुस्त करना ग़ालिवन यूरोप ही से शुरू हुआ होगा। और वहाँ अव भी क्या अजव कि इस्लाह[7] का यह अमल जारी हो। मगर नस्ख़ोनस्तऽलीक़ के हर्फ़ों को इस वज़अ़[8] से दुरुस्त करना कि ख़ुशनवीस की पूरी शान वाक़ी रहे और किसी को महसूस न हो सके कि इसमें किसी और का भी क़लम लगा है, ख़ास लखनऊ की ईजाद है। जहाँ इब्तिदाअन यह फ़न तो उसी हद पर महदूद था कि हुरूफ़ और नक़्शोनिगार चाहे जिस क़द्र उड़ गये या कुचल कर फैल गये हों, उनको दुरुस्त कर दिया जाय। मगर चन्द रोज़ वाद

१ समाप्ति २ मोटी ३ छापेख़ानों की वहुतायत ४ श्रेष्ठता ५ परिशिष्ट ६ पत्थर ठीक करना, प्लेट वनाना ७ सुधार ८ प्रकार (रूप)।

यहाँ की जिद्दत-पसन्दी[1] इस हद से आगे बढ़ी और ऐसे बाकमाल मुसलिहे संग पैदा होने लगे जो पत्थर पर पूरी-पूरी किताबें उल्टी लिख देते हैं और ख़त अपनी हुदूद पर इस क़द्र मुकम्मल रहता है कि मजाल क्या जो कोई पहचान सके कि यह पत्थर पर लिखा गया है। इब्तिदाअन इसके साहिबे कमाल मूजिद एक पुराने बुज़ुर्ग थे जो मुस्तफ़ाई मतबअ़ की शुहरतोनामवरी के बाअ़िस हुए। उनके ज़माने ही में उनके शागिर्दों की कसरत ने यहाँ के मुताबेअ़ को फ़ायदः पहुँचाया। बहुत से लोगों ने तरक़्क़ी की और शहर से मुसलिहे संग बहम पहुँचाने लगा (कज़ा[2]) जो मुसलहे संगी बहुत आम हो गयी तो मुंशी जाफ़र हुसैन नाम एक मशहूर मुसलिहे संग को उनकी आला मश्शाक़ी ने आमादः किया कि मतबअ़ को कापीनवीसी से वेपरवा कर दें। उन्होंने पत्थर पर उल्टा लिखना शुरू किया। यह काम इब्तिदाअन छोटे-छोटे बाज़ारी मताबअ़ से शुरू हुआ और आख़िर में आला व अदना सब मतबों में एक हद तक इख़्तियार कर लिया गया। अब मुंशी सैयद अली हुसैन साहब ने इस हद तक तरक़्क़ी की कि उनके उलटे लिखे हुए ख़त को बहुत से मशहूर ख़ुशनवीस भी नहीं पा सकते। चुनाँचि उनकी उल्टी किताबत का एक मामूली नमूनः हमारा दिलगुदाज़[3] भी है जिसकी कापियाँ नहीं लिखी जातीं बल्कि मुंशी अली हुसैन साहब मज़ामीन को पत्थर पर उल्टा लिख दिया करते हैं। नाज़िरीन दिलगुदाज़ को पढ़के और उसके ख़त पर ग़ौर करके अंदाज़: फ़रमा सकते हैं कि मुसलिहे संगी का फ़न लखनऊ में किस दर्जे-ए-कमाल को पहुंच गया है। गो कि हिन्दोस्तान के अक्सर शहरों में मुसलिहे-संग लखनऊ ही के हैं। लेकिन इस वक़्त तक किसी और शहर के मुताबेअ़ को यह बात नहीं नसीब हुई कि कापियाँ ज़माने के एवज़ इबारत पत्थरों पर उल्टी लिखवा के छापें। यह फ़न आज तक लखनऊ ही तक महदूद है। मगर अफ़सोस प्रेसमैनों की हालत ख़राब हो जाने के बाअ़िस लखनऊ, मुसलिहे संगी के इस कमाल से उस क़द्र फ़ायदः नहीं उठा सकता जिस क़द्र कि होना चाहिए।

सिपहगरी और जंग के फ़न व हुनर

अभी हमें लखनऊ की बहुत सी ख़ुसूसीयतें बयान करनी हैं, जिनको ज़ियादःतर तअल्लुक़ अख़लाक़ी चीज़ों और मुआशरत के उमूर से है। मगर मुनासिब मालूम होता है कि मुख़्तसर तौर पर कुछ कैफ़ियत फ़ुनूने जंग[4] की भी बयान कर दें।

सच यह है कि यह आख़िरी दरबारे मश्रिक उस वक़्त क़ायम हुआ जब मुसलमानों और अ़लल्‌ख़ुसूस हिन्दोस्तानियों की सिपहगरी कमज़ोर पड़ चली थी। बल्कि इससे भी ज़ियादः सही यह कहना होगा कि पुरानी सिपहगरी के फ़ुनून इतने

---

१ नयेपन में रुचि २ इसी प्रकार ३ हृदयद्रावी, दिल पिघलानेवाला
४ सामरिक कलाएँ।

नहीं मिटे थे, जिस कद्र कि पुराने फ़ुनून और आलाते जंग, नये क़वाअ़िदे जंग और जदीद आलाते हर्ब के मुक़ाबिले में बेकार हो गये थे। जिसका नतीजा यह हुआ कि वह पुराने फ़ुनूने जंग बजाय इसके कि मुसलमानों या अहलेहिन्द से निकलकर किसी नयी तरक़्क़ीयाफ़्त: बहादुर क़ौम में उरूज पाते, दुनिया ही से मिट गये, और ऐसे मिटे कि मौजूद: नस्ल अपने आबाओअजदाद[1] के शुजाआन:[2] कारनामों और उनके सिपहगरान: कामों से बिल्कुल नाआशना[3] है। और आज जो उन फ़ुनून के तज़किरे के लिए हमने क़लम उठाया है तो कोई ऐसा शख्स भी नहीं मिलता जिससे कुछ हालात मालूम हों।

हम शाहज़ाद: मिर्ज़ा मसऊद क़द्र बहादुर बी० ए० और लखनऊ के एक बहुत क़दीम बुज़ुर्ग सुलैमान ख़ाँ साहब (जो हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ साहब क़दीम नामवर फ़रमारवाये बरेली की नस्ल से हैं) के निहायत शुक्रगुज़ार हैं कि इन क़दीम फ़नूने जंग के मुतअ़ल्लिक़ जो कुछ लिख रहे हैं, उन्हीं की मदद से लिख रहे हैं।

सिपहगरी के जिन फ़ुनून का नश्वनुमा[4] देहली में और देहली के बाद लखनऊ में हुआ वह दरअस्ल तीन मुख़तलिफ़ क़ौमों से निकले थे और तीनों के इम्तिज़ाज[5] से उनमें मुनासिब तरक़्क़ियाँ हुई थीं। और हैरत की बात यह है कि बावजूद मेल-जोल के उनमें आख़िर तक असली इम्तियाज[6] बाक़ी था। बाज़ फ़न आर्य: क़ौम के सिपहगरों से निकले थे, बाज़ को तुर्क और बहादुराने तातार अपने साथ लाये थे, और बाज़ ख़ास अरबों के फ़न थे, जो ईरान में होते हुए, यहाँ आये थे। लखनऊ में जो फ़ुनून का रवाज था और जिनके बाकमाल उस्ताद मौजूद थे वह हस्बेज़ैल[7] मालूम होते हैं।

१ लकड़ी २ पटा हिलाना ३ बाँक ४ बिनवट ५ कुश्ती ६ बर्छा ७ बाना ८ तीरअंदाज़ी ९ कटार १० जल-बाँक।

१ 'लकड़ी'

यह असली फ़न जिसे फिकैती कहते हैं, आर्य: लोगों का था जो हिन्दोस्तानी और ईरानी दोनों मुल्कों के आर्यों में मुरव्वज[8] था। अरबी फ़ुतूहात[9] के बाद ईरान की फिकैती पर अरबी जंगजूई का असर पड़ गया और वहाँ की फिकैती बमुक़ाबिल हिन्दोस्तान के ज़ियाद: तरक़्क़ी कर गयी। हिन्दोस्तान में आख़िर तक यह दोनों फ़न अपनी मुमताज़ वज़्अ़ों में बाक़ी रहे। और लखनऊ में दोनों स्कूल क़ायम थे। ईरान की अरबी-आमेज़ फिकैती, यहाँ अली मद के नाम से मशहूर थी और ख़ालिस

१ पुरखों (पूर्वजों) २ बहादुरान: ३ अनजान, नावाक़िफ़, अपरिचित ४ पालन-पोषण ५ मेल (मिश्रण) ६ विशेषता ७ निम्नलिखित ८ प्रचलित ९ विजयों।

हिन्दी फिकैती रुस्तमखानी के लक़ब से याद की जाती। अली मद में फिकैत का वायाँ क़दम एक मक़ाम पर जमा रहता और सिर्फ़ दाहिने पाँव को आगे पीछे हटा के पैंतरे वदले जाते। वरखिलाफ़ इसके रुस्तमखानी में फिकैत, पैंतरे बदलते वक़्त दाहिने-वायें और आगे-पीछे जिस क़द्र चाहता या जगह पाता, हटता-बढ़ता और नागहाँ हरीफ़ पर आ पड़ता। एक यह इम्तियाज भी था कि अली मद का फ़न खास रईसों और शरीफ़ों के साथ मखसूस था। इसके उस्ताद कभी किसी रज़ील या अदना तबके[1] के आदमी को अपना शागिर्द न वनाते और न अपने फ़न से वाक़िफ़ होने देते। वखिलाफ़ इसके रुस्तमखानी का फ़न अज्लाफ़[2] और अदना तवक़े के लोगों में आम था।

अली मद के एक ज़बर्दस्त उस्ताद फ़ैज़ाबाद में शुजाउद्दौलः बहादुर और उनके बाद उनकी वेवः बहूवेगम साहव की सरकार से वावस्तः थे उनका ज़िक्र तारीख फ़ैज़ावाद में है और मालूम होता है कि इस फ़न के सवसे पहले उस्ताद वही थे जो फ़ैज़ावाद में रहे और फिर वारिदे लखनऊ हुए। दूसरे उस्ताद इसी फ़न के मुहम्मद अली खाँ थे जो खास हमारे मुहल्ले कटरे बिज़नबेग खाँ में रहते थे और अली मद के मूजिद[3] माने जाते। तीसरे उस्ताद मीर नज्मुद्दीन थे जो शाहज़ादगाने देहली के साथ पहले वनारस में गये और फिर वहाँ से लखनऊ में आये। उनका मामूल था कि सिर्फ़ शरीफ़ों को शागिर्द करते, और शागिर्द करते वक़्त शाहज़ादों से दौलत और शरीफ़ों से सिर्फ़ मिठाई लेते और उसे वजाय इसके कि अपने काम में लाएँ, खुद ले जाके सादाते वनी फ़ात्मा की नज़र कर देते। यह नव्वाव आसिफ़ुद्दौलः के अहद में थे। एक बहुत बड़े उस्ताद मीर अता हुसैन थे, जो हकीम मेंहदी के मखसूसीन[4] में थे। एक बहुत बड़े उस्ताद पट्टेबाज़ खाँ थे जो अपने कमाल के बाअिस गाज़िउद्दीन हैदर के जमाने में अली मद के मूजिद व वानी मशहूर हो गये। उनकी निस्वत कहा जाता है कि नौ मुस्लिम थे मगर वज़अ उनकी भी यही थी कि सिवा शरीफ़ों के अपना फ़न कभी किसी अदना तबक़े के आदमी को नहीं बताया। उन्होंने लखनऊ में अपनी यादगार एक मस्जिद छोड़ी है जो धनिया महरी के पुल से आगे आलमनगर के क़रीब आज तक मौजूद है।

रुस्तमखानी अवाम[5] में रही। और इसी वजह से इसको कोई खुसूसीयत हिन्दू या मुसलमान के साथ नहीं रही बल्कि इसके सदहा उस्ताद अवध के तमाम गाँव और क़स्वों में फैले हुए थे। ताहम लखनऊ में यहिया खाँ विन मुहम्मद सिद्दीक़ खाँ ने जो कमाल और नामवरी रुस्तमखानी में हासिल की, किसी को न नसीब हो सकी। नव्वाव फ़तेहयान खाँ आली मर्तवः रईसों में होने के बावजूद बड़े खुशनवीस भी थे और उन्होंने रुस्तमखानी में भी कमाल हासिल किया था। इसी तरह लखनऊ के एक मशहूर वाँके पहलवान मीर लंगरवाज़ भी रुस्तमखानी के उस्ताद थे। और अव तक थोड़ा वहुत रवाज वाक़ी है तो अदना लोगों में। अली मद का फ़न शुरफ़ा

१ निम्न व मध्य परिवार २ निम्न ३ आविष्कर्ता ४ प्रमुखों में ५ आम लोगों।

के साथ मख्सूस था और शुरफ़ा को सिपहगरी से कोई वास्त: नहीं रहा, लिहाज़ा वह फ़न भी मिट गया। रुस्तमखानी अदना लोगों में थी, और वह लोग आज भी लड़ते-भिड़ते रहते हैं, लिहाज़ा उनमें रुस्तमखानी का रवाज आज तक मौजूद है।

अली मद के दो एक उस्ताद मैंने मटियाबुर्ज में देखे थे और सबके आख़िर में मीर फ़ज़्ल अली थे जो मुहल्ला महमूदनगर में रहते थे।

२ पटा हिलाना

इस फ़न की असली ग़रज़ यह थी कि इंसान दुश्मनों के नरग़े में पड़ जाये तो लकड़ी के हाथ चारों तरफ़ फेंकता हुआ सबको हटाके, सबसे बचके और सबको मारता हुआ निकल जाए। पटे को टेक के उड़ना इस फ़न का ख़ास कमाल था और सबसे बड़ी तारीफ़ इस बात की थी कि इंसान पर एक साथ दस तीर भी आके पड़ें तो उनको काट दे। यह फ़न देहली में न था। लखनऊ में पूरब से आया और जुलाहों में ज़ियाद: मुरव्वज[1] था। अगरचि आख़िर में बहुत से शुरफ़ा ने भी खुसूसन कसबात के शेखज़ादों ने इख़्तियार कर लिया। ग़ुलाम रसूल ख़ाँ का बेटा गोरी पटेबाज़ लखनऊ में इस फ़न का सबसे बड़ा बाकमाल माना जाता था, जिसके सदहा वाक़िआत अवाम[2] में मशहूर थे मगर अफ़सोस अब यह अफ़साने भी मौजूद: नस्ल को भूलते जाते हैं।

मीर रुस्तम अली के सैफ़े[3] में दोनों तरफ़ बाढ़ होती और उसे हिलाते हुए सैकड़ों हरीफ़ों को चीर के निकल जाते। उसैवन के एक शेखज़ादे शेख मुहम्मद हुसैन दोनों हाथों में पटा हिलाते। चुनाँचि ग़ाज़िउद्दीन हैदर के ज़माने में एक दिन साहब रेज़ीडेन्ट बहादुर और बाज़ यूरोपियन मेहमानों ने इस फ़न के किसी साहबेकमाल का कमाल देखना चाहा। शेख मुहम्मद हुसैन आ-मौजूद हुए। चूँकि उस वक़्त पटा उनके पास न था, शाही अस्लहख़ाने[4] से एक पुर्तकल्लुफ़ मुरस्सअ[5] व मुकल्लल[6] पटा दिया गया जिसे लेके उन्होंने ऐसे-ऐसे कमालात दिखाए कि हर तरफ़ से तहसीन[7] के नारे बुलन्द हुए और वह इसी तहसीनोमर्हबा[8] के जोश में पटा हिलाते हुए मजमे से निकल के चले गये और अपने घर पहुँचे। अहलेफ़न में मशहूर था कि जो शख्स पटा हिलाना जानता है, वह दस तलवार वालों को भी पास न पहुंचने देगा।

इसी फ़न के एक साहिबेकमाल लखनऊ में मीर विलायत अली डंडा-तोड़ थे। उनकी निस्बत शुहरत थी कि हरीफ़ के हाथ में कितना ही ज़बर्दस्त डंडा हो, उसे तोड़ डालते।

---

१ मौजूद, रवाज पाना २ जनसाधारण ३ अस्त्र (यहाँ पर पटा) ४ अस्त्रागार ५ सुन्दर सजा हुआ ६ चमकता हुआ ७ प्रशंसा ८ शाबाश कहना, वाह वाह कहना।

३ बाँक

फ़ुनूनेजंग[1] में यह बहुत ही अहम और निहायत बकारआमद[2] फ़न था और उसूलन दूसरे फ़ुनून पर फ़ौक़ियत रखता था और शरीफ़ज़ादे खास कोशिश और खास शौक़ से इस फ़न को सीखते। असली ग़रज़ इस फ़न की, छुरियों से हरीफ़[3] का मुक़ाबला करना है। यह फ़न क़दीमुलअय्याम[4] से हिन्दुओं में भी था और अरबों में भी, मगर छुरियाँ दोनों की जुदागानः[5] होती थीं। हिन्दुओं की छुरी सीधी होती जिस पर दोनों तरफ़ बाढ़ होती। और अरबों की छुरी खमदार खंजरनुमा होती, जिसपर एक ही तरफ़ बाढ़ होती। मगर अरबों की आखिरी छुरी जम्बिय्यः[6] है, जिसकी नोक से कुछ दूर तक चारों तरफ़ बाढ़ें होती हैं और उससे ऐसा चौफांका ज़ख्म पड़ता है कि कहते हैं कि उसमें टाँका लगाना मुश्किल होता है। ग़रज़ इस हर्बे से लड़ने के फ़न का नाम बाँक है। इसकी तालीम यूँ होती है कि उस्ताद शागिर्द दोनों आमने-सामने दो-ज़ानूँ बैठते हैं। मगर हिन्दुओं वाली सीधी छुरी की तालीम में क़ायदः था कि दोनों मुक़ाबिल दो-ज़ानूँ बैठने के साथ एक घुटना खड़ा रखते और अरबों वाली छुरी की तालीम में बिल्कुल दो ज़ानूँ बैठते थे, और चोटों के साथ बड़े ज़बर्दस्त पेच होते जिनके आगे कुश्ती के पेचों की कुछ हक़ीक़त न थी। यह फ़र्क़ भी बताया जाता है कि अरबों के फ़न में असली सात चोटें थीं और हिन्दुओं के फ़न में नौ। अरबों की बाँक में पेच पूरा बन्ध जाता तो हरीफ़ को ज़िन्दः छोड़ना बाँधनेवाले के इख्तियार से बाहर हो जाता। और हिन्दोस्तान वालों के फ़न में आखिर तक इख्तियार में रहता कि जब चाहें पेच खोल के हरीफ़ को बचा दें।

इस फ़न में सिर्फ़ चोटें ही नहीं हैं बल्कि बड़े-बड़े ज़बर्दस्त पेच हैं जिनमें दोनों हरीफ़[7] घन्टों गुथे रहते और पै दर पै पेच करके एक दूसरे को बाँध के ज़ख्मी कर देने की कोशिश करते। इस फ़न के पेच इस क़द्र सच्चे और हुक्मी और उसूल के साथ थे कि कहा जाता 'कुश्ती और लकड़ी के तमाम पेच बाँक ही से निकले हैं'। बाँक के उस्तादों में मशहूर था कि बाँक लेट के पूरी होती है, बैठ के आधी रहती, और खड़े होके सिर्फ़ चौथाई रह जाती है। यह न समझना चाहिए कि बँकैत का काम सिर्फ़ यह है कि हरीफ़ को छुरी से ज़ख्मी कर दे! नहीं, उसका असली काम यह है कि हरीफ़ को ज़िन्दः बाँध ले और बेबस करके गिरफ़्तार कर लाए।

एक यह खास बात भी थी कि बाँकवाला अपने फ़न को हत्तलइमकान[8] मख्फ़ी[9] रखता। उसकी वज़अ क़तअ और तौर तरीक़ किसी बात से न पहचाना जाता कि वह सिपहगर है। बँकैत, आमसिकः[10] शरीफ़ों की वज़अ रखते, कफ़शीन पहनते, कोई

---

१ युद्ध की कलाओं २ उपयोगी ३ प्रतिद्वन्द्वी ४ प्राचीन काल ५ भिन्न प्रकार की ६ पहलदार ७ प्रतिद्वन्द्वी ८ प्रयत्न भर, यथासामर्थ्य ९ छुपाए १० साधारणतः सभ्य।

हथियार न बाँधते, हत्ता कि उनमें लोहे के क़लमतराश या सूई तक के पास रखने की क़सम थी। सिर्फ़ एक रूमाल रखते और उसके एक कोने में एक लोहे का चना बँधा रहता, बस यही हर्बः ज़रूरत के वक़्त उन्हें काम दे जाता या इससे भी ज़ियादः तहज़ीब बरतते तो हाथ में तस्बीह रखते और उसमें लोहे का भद्दा सा क़िबलःनुमा लगा होता। बस यही हर्बः उनके लिए काफ़ी था।

हिन्दुओं में क़दीमुलअय्याम[1] से यह फ़न खास ब्राह्मणों में था, राजपूत नहीं जानते थे। न ब्राह्मण उन्हें सिखाते, और न वह अपनी वज़अ के खिलाफ़ तसव्वुर करके उसके सीखने की कोशिश करते। जिसकी ग़ालिबन वजह यह थी कि बँकैत होने के लिए सक़ाहत[2] शर्त थी, और राजपूत खुले सिपाही थे। ब्राह्मण बँकैत, क़िबल नुमा लोहे के चने के एवज एक कुन्जी रखते जो जनेऊ में बँधी रहती और उससे काम लेके, निहायत ही तहज़ीब व मतानत के साथ दुश्मन का काम तमाम कर देते। शाहज़ादः मिर्ज़ा हुमायूँ क़द्र बहादुर फ़रमाते हैं कि लखनऊ में यह फ़न शाहआलम के ज़माने में उस वक़्त आया जब मिर्ज़ा खुर्रम बख़्त बहादुर बनारस आए और इस फ़न के बाकमाल अपने साथ लाए। लेकिन हमें मुअ़्तबर ज़रीए से और तारीख फ़ैज़ाबाद देखने से मालूम हुआ कि इस फ़न के बाकमाल मंसूर अली खाँ बँकैत, शुजाउद्दौलः ही के ज़माने में फ़ैज़ाबाद में आ गये थे।

नव्वाब आसिफ़ुद्दौलः के अहद में बाँक के उस्ताद लखनऊ में शेख नज्मुद्दीन थे। उसी क़रीब ज़माने में बाँक के एक दूसरे उस्ताद लखनऊ में मौजूद थे जो मीर बहादुर अली के नाम से मशहूर थे। उनका दावा था कि पलग के नीचे जंगली कबूतर छोड़ दीजिए और तमाशः देखिए, किसी तरफ़ से निकल के उड़ जाए तो जानिये मैं बँकैत नहीं। उन्हीं पर मुनहसिर नहीं, बाँक की यही तारीफ़ है और हर उस्ताद इसका दावा कर सकता था। लखनऊ में एक तीसरे उस्ताद वली मुहम्मद खाँ थे। नसीरउद्दीन के ज़माने में शेख नज्मुद्दीन के शागिर्द के शागिर्द मीर अब्बास का नाम मशहूर था और उनके चार शागिर्द नामवर हुए जिनमें से एक तो डाकू था, बाक़ी तीन मुहज़्ज़ब शुरफ़ा थे। इस फ़न के आखिरी उस्ताद मीर जाफ़र अली थे जो लखनऊ की तबाही के बाद वाजिद अली शाह के साथ मटिया बुर्ज पहुँचे। उन्हें मैंने देखा था और बचपन में खुद उनका शागिर्द हुआ था। मगर दो एक महीने सीख के छोड़ दिया और जो कुछ सीखा था ख्वाबोखयाल सा रह गया। अब नहीं जानता कि कोई जाननेवाला भी बाक़ी है या नहीं।

४ बिनवट

इस फ़न की असली ग़रज़ यह है कि हरीफ़[3] के हाथ से तलवार, या लठ कोई हर्बः हो, गिरा दे। और एक रूमाल से जिसमें पैसा बँधा हुआ करता है या अपने

१ प्राचीन काल २ विश्वस्तता (यहाँ पर संयम) ३ शत्रु।

हाथ ही से हरीफ़ को ऐसा सदमः पहुँचाए कि उसका काम तमाम हो जाए। इस फ़न की निस्वत लखनऊ में इब्तिदा से मशहूर था कि उसके बड़े-बड़े ज़बर्दस्त उस्ताद हैदरावाद दकन[1] में हैं। और वहाँ जाने और दर्याफ़्त करने से मालूम हुआ कि वाक़ई वहाँ अब तक यह फ़न एक हद तक ज़िन्दः है। वाक़िफ़कार लोगों का बयान है कि खड़े हो के मुक़ावलः करनेवाला साहिवेफ़न अगर निहत्ता है, तो कुश्ती है। उसके हाथ में छुरी है तो वाँक है। और अगर कोई दो गज़ का लम्बा सोंटा या रुमाल उसके हाथ में है तो बिनवट है। बिनवट वाले भी अपने फ़न को मख़्फ़ी[2] रखते हैं। और वाहमी[3] अहद है कि सिर्फ़ शुरफ़ा को सिखाएँगे और उससे अहद ले लेते हैं कि कभी ज़ेरदस्त[4] या वेआज़ार[5] आदमी पर हर्वः न करेंगे। बिनवट वालों के पैंतरे, जिन्हें वह पावले कहते हैं, वहुत ही आला दर्जे के फुर्तीलेपन और वेइन्तिहा सफ़ाई चाहते हैं, जो ज़ियादः उम्र वालों को नहीं हासिल हो सकते। इसके अलावः विनवट वालों को जिस्मेइंसानी के तमाम रग पट्ठों का पूरा इल्म होता है और ख़ूब वाक़िफ़ होते हैं कि किस मुक़ाम पर सिर्फ़ उंगली से दवा देना या एक मामूली चोट इंसान को वेताव व वेदम कर देगी। अगरचि इस फ़न के लिए हैदरावाद मशहूर था मगर लखनऊ में भी इसके वहुत से वाकमाल मौजूद थे। कहा जाता है कि यहाँ सवसे पहले मुहम्मद इब्राहीम ख़ाँ, रामपुर से लाये थे। तालिव शेर ख़ाँ यहाँ एक वड़े ज़बर्दस्त वाँके थे और तलवार के धनी। उन्होंने जो इब्राहीम ख़ाँ का दावा सुना तो तलवार लेके मुक़ाविले को तैयार हो गये। मुहम्मद इब्राहीम ख़ाँ ने भी मुक़ाविलः मंज़ूर कर लिया। तालिव शेर ख़ाँ ने जैसे ही तलवार मारी, मुहम्मद इब्राहीम ख़ाँ ने अपना रुमाल जिसके कोने में पैसा वँधा हुआ था, कुछ ऐसी ख़ूवी से मारा कि तालिव शेर ख़ाँ के हाथ से तलवार छूट के झन से दूर जा गिरी; मुँह देख के रह गये, और सब ने मुहम्मद इब्राहीम ख़ाँ की उस्तादी का एअ़तिराफ़[6] किया।

इसके वाद लखनऊ में आख़िर तक यह फ़न रहा। यहाँ तक कि मटियाबुर्ज में भी मुहम्मद मेहदी नाम एक शख़्स जो नव्वाव माशूक़महल के वहाँ के दारोग़ा थे, विनवट के वाकमाल उस्ताद माने जाते थे।

५ कुश्ती

यह फ़न ख़ास आर्यों का था, हिन्दोस्तान में भी और ईरान में भी। अरब और तुर्क इससे विल्कुल नाआशना[7] थे। हिन्दोस्तान के क़दीम वाशिन्दों[8] में भी, जो आर्य लोगों से पहले थे, इस फ़न का पता नहीं चलता। लखनऊ में पेचों और हरीफ़ के ज़ेर[9] करने के तरीक़ों का वहुत नश्वनुमा हुआ। मगर कुश्ती का असली दारोमदार जिस्मानी क़ुव्वत पर है और क़ुव्वत में लखनऊ वाले लाख कोशिश करें

१ दक्षिण २ छुपा ३ परस्पर ४ कमज़ोर ५ हानि न पहुँचानेवाला ६ स्वीकार ७ अनभिज्ञ ८ निवासी ९ परास्त।

मग़रिबी ममालिक ख़ास्सतन्[1] पंजाब के लोगों का हर्गिज़ मुक़ाबल: नहीं कर सकते। लखनऊ की आबोहवा को क़ुदरत ने यह सलाहिय्यत ही नहीं दी है कि उसकी ख़ाक़ से ग़ुलाम वग़ैर: के ऐसे पील-तन[2] पहलवान पैदा हों। इसलिए लखनऊ का कुश्ती का फ़न सिर्फ़ पेचैंती का कमाल दिखाना था। जिसमें ज़ियाद: से ज़ियाद: अपने से दूने पर ग़लब: हासिल हो जाता मगर इससे ज़ियाद: ताक़त वाले को ज़ेर करना ग़ैर-मुमकिन था। लखनऊ के अखाड़ों और अगले पहलवानों के क़िस्से बहुत मशहूर हैं, मगर सब पेचैंती के लिहाज़ से, न ज़ोर आवरी के एतिबार से। एक बार मैंने यहाँ के एक मशहूर पहलवान सैयद की लड़ाई एक दूने क़द के पंजाबी पहलवान से देखी। इसमें शक नहीं कि सैयद की लड़ाई इब्तिदा से निहायत ख़ूबसूरत थी। उसकी चलत-फिरत और उसका फुर्तीलापन क़ाबिलेतारीफ़ था। मगर अंजाम यह हुआ कि घंटा भर में सैयद पसीने से डूबा हुआ था। ताक़त जवाब दे चुकी थी और दम फूल गया था। और पंजाबी पहलवान पर, जो उसे खिला रहा था, कुछ असर न हुआ था। आख़िर सैयद ख़ुद ही मैदान छोड़ के भाग गया और बे-लड़े हार मान ली।

६ बर्छा

जंगजूई का यह पुराना फ़न है जो आर्यों, तुर्कों और अरबों, सब में था। अरबों का बर्छा लम्बा होता और उसका फल तिकुन्ना। तुर्कों का बर्छा छोटा होता और फल गोल नोकदार यानी मख़रूती[3]। और हिन्दोस्तान के आर्यों का बर्छा लम्बा होता मगर उसका फल पतला, बाढ़दार, पान की क़त्अ़ का; और तअज्जुब यह है कि तीनों तरह के नेज़े लखनऊ में मौजूद थे। बड़े बर्छे पाँच गज़ के लम्बे होते और छोटे बर्छे तीन गज़ के। बड़े बर्छे की तारीफ़ यह थी कि ख़ूब लचके, यहाँ तक कि दुहरा हो जाए। और छोटे की यह तारीफ़ थी कि उसमें नाम को भी लचक न हो और इसी मुनासिबत से दोनों के चलाने के फ़न जुदा-जुदा थे। लखनऊ के असली और मशहूर बर्छैत मीर कल्लू थे। जिनका नाम बुर्हानुल्मुल्क के ज़माने में ही चमक गया था। उनके बाद मीर अक्बर अली बर्छैत मशहूर हुए। फिर बरेली और रामपुर से अक्सर बर्छैत आना शुरू हो गये। ग़ाज़िउद्दीन हैदर के ज़माने में बादशाह को हाथियों के शिकार का शौक़ हुआ तो बर्छे का फ़न जाननेवालों की बड़ी क़द्र हुई और लड़ाइयों में यही हर्ब: काम देने लगा। अफ़सोस, यह क़दीम हर्ब: जिससे बड़ी-बड़ी पुरानी क़ौमों ने नामवरी पैदा की थी, लखनऊ में असली या नक़ली तौर पर आज भी कस्रत से बाक़ी है, मगर सिर्फ़ बरातों के जुलूस का काम देता है।

७ बाना

यह फ़न भी अदना दर्जे के लोगों में था और किसी हद तक आज भी बाक़ी है।

---

१ विशेषकर २ हाथी जैसे शरीर वाले ३ गाजर की तरह शुंडाकार।

लठ की लड़ाई के हाथ और ज़र्दें[1] इसी से निकली हैं। ग़रज़[2] और ग़ायत[3] बाने की यह है कि बाना या लठ चलाता हुआ इंसान दुश्मनों के नर्ग़े[4] में से निकल जाए। बाना एक लम्बी लकड़ी का नाम था, जिसके एक तरफ़ लट्टू होता और बाज़ दोनों तरफ़ लट्टू रखते। और इस तरह हिलाते कि कोई क़रीब न आ सकता। बाज़ लोग लट्टुओं पर कपड़ा बाँध के और तेल में डुबो के उन्हें रोशन करते और इस तरह हिलाते कि अपने ऊपर आग का मुतलक़ असर न हो और दुश्मन आग की वजह से दूर ही दूर रहे।

८ तीर अंदाज़ी

यह दुनिया की तमाम जंगजू क़ौमों का पुराना हर्ब: और अहदेक़दीम की बन्दूक़ है, जिसमें बड़े-बड़े कमालात दिखाए जाते और शरीफ़ व रज़ील सब इसकी आला तालीम लाज़िमी समझते। यही हर्ब: है जिससे राजा रामचन्द्र जी और उनके भाई लक्ष्मण जी ने रावण और उसके ऐसे कोह पैकर[5] हरीफ़ों को मार के गिरा दिया। अगरचि बन्दूक़ की ईजाद ने उसका ज़ोर कम कर दिया था, मगर फिर भी सिपहगरी का आला जौहर तीरअंदाज़ी समझी जाती। कमानें इतनी कड़ी रखी जाती थीं कि उनका चिल्ला खींचना हर एक के लिए आसान न था। बल्कि जिसकी कमान जितनी कड़ी होती उसी क़द्र ज़ियाद: उसका तीर दूर जाता और कारी होता। अरबों ने अपनी फ़ुतूहात[6] के ज़माने में तीर अंदाज़ी के ऐसे-ऐसे कमालात दिखाए हैं जो हैरत-अंगेज़ हैं। उम्मेअबान नाम दस पाँच ही रोज़ की व्याही हुई एक अ़रबिय्य: दुल्हन ने फ़तहे दमिश्क़ के मौक़े पर अपने शहीद दूल्हा के इन्तिक़ाम[7] में ऐसे ज़बर्दस्त तीर बरसाए कि पहले ने दुश्मनों के अलमबर्दार को मार के गिरा दिया और दूसरा दुश्मनों के बहादुर सरदार टाम्स की आँख में इस तरह पेवस्त हो गया कि किसी के निकाले न निकल सका। आख़िर गाँसी काट के आँख ही में छोड़ दी गयी।

अवध के पासी और भर इस फ़न को पहले से बख़ूबी जानते थे। फिर नये-नये उस्ताद देहली से आये और आसिफ़ुद्दौल: के अहद में उस्ताद फ़ैज़बख़्श ने बादशाह के इशारे से हैदर मिर्ज़ा के वालिद जो हाथी पर सवार आ रहे थे, ऐसी फ़ुर्ती से तीर मारा कि न किसी ने उनको निशानाबाज़ी करते देखा और न उन्हें ख़बर हुई। हाँलाकि तीर पटके को तोड़ के निकल गया था। वह आख़िर तक बेख़बर रहे। घर पहुँच के पटका खोला तो वह ख़ून-आलूद[8] था और साथ ही ज़ख़्म से ख़ून का फ़व्वार: छूटा और दम भर में मर गये।

इसकी तालीम का तरीक़ा भी मुश्किल था मगर अब यह फ़न दुनिया की तमाम मुतमद्दिन क़ौमों में फ़ना[9] हो गया। इसलिए कि मौजूद: आतशबार[10] अस्लहा ने इसे

---

१ मारें २ स्वार्थ ३ उद्देश्य ४ घेरे ५ पहाड़ जैसे शरीर वाले ६ विजय (बहुबचन) ७ प्रतिशोध, बदला ८ ख़ून से भरा ९ लुप्त, नष्ट १० अग्निवर्षक।

बिल्कुल बेकार कर दिया है। मगर हिन्दोस्तान की वहशी क़ौमों में आज तक बाक़ी है जो शिकार और दरिन्दों के मारने में अ़मूमन और कभी बाहमी[1] जंगोपैकार में भी तीरों से काम लिया करती हैं।

९ कटार

यह पुराना ख़ास आर्या क़ौम का हर्बः था और आख़िर में उससे ज़ियादःतर चोर और क़ज़्ज़ाक़[2] काम लेते। इससे हरीफ़ पर टोक के हमला न किया जाता बल्कि उसे ग़ाफ़िल रख के हमला किया जाता। इसी वजह से ग़ालिबन देहली में भी और ख़ास्सतन[3] लखनऊ में शुरफ़ा ने इससे काम लेना बिल्कुल छोड़ दिया था। कटार सब बाँधते मगर इससे लड़ना और हर्बः करना कोई न जानता था। इससे हर्बः करने की तारीफ़ यह थी कि जब चाहें तो हर्बः करें मगर दुश्मन के जिस्म में कहीं ख़राश भी न आये और जब चाहें तो क़ब्ज़े तक पार हो जाए। इससे चोर अक्सर रातों को ग़ाफ़िल और सोते हरीफ़ पर हमला करते और छुपके उसका काम तमाम कर आते।

१० जल-बाँक

यह वही बाँक का मज़्कूरः[4] फ़न था जो पैराकी और शिनावरी[5] से वाबस्तः कर दिया गया था। मक़सद यह था कि गहरे पानी में दुश्मन पर क़ाबू हासिल करें और उसे बाँध लायें। या पानी ही में उसका काम तमाम कर दें। तारीख़ में और किसी जगह इसका तज़किरः नहीं, मगर लखनऊ में पैरने के एक उस्ताद मीरक जान ने इसे ईजाद किया और सैकड़ों शागिर्दों को सिखाया। बादिउन्नज़र[6] में इसकी ईजाद लखनऊ ही में हुई और आज भी पैराकी बाज़ यहीं के उस्ताद जानते हैं, और कहीं इस फ़न का नामोनिशान भी नहीं।

पैराइयों में लखनऊ ने जो तरक़्क़ी की उसका तज़किरः हम आइन्दः करेंगे।

दरिन्दों की लड़ाई[7]

उर्दू में मसल मशहूर है कि "बुढ़ापे में इंसान की क़ुव्वतेशहवानी[8], ज़बान में आ जाया करती है"। वैसे ही बहादुरों और जाँबाज़ों की क़ुव्वतोशुजाअ़त की निस्बत अक्सर तजुर्बः हुआ है कि जब कमज़ोरी आती है या हाथ-पैरों की ताक़त जवाब देती है, तो सारी बहादुरी और शुजाअ़त दस्तोबाज़ू से निकल के ज़बान और आँखों में जमा हो जाती है। अब वह अपनी गुज़श्तः शुजाअ़त[9] व नामवरी के अफ़साने बयान

---

१ परस्पर २ डाकू, लुटेरे ३ विशेषकर ४ चर्चित ५ पैराकी ६ पहली दृष्टि में, सरसरी नज़र से ७ हिंस्र पशुओं ८ कामशक्ति ९ बहादुरी।

करते और शुजाअ़त के कारनामे अपनी ज़ात से नहीं दिखाते बल्कि उनका तमाशा लड़नेवाले जानवरों के ज़रीए से देखते और दूसरों को दिखा-दिखा के दादतलब होते हैं।

यही हाल लखनऊ का हुआ। जब लोगों को मुल्कगीरी[१] व सफ़आराई[२] से फ़ुर्सत मिली और मैदानेजंग में खड़े होने का हौसला न रहा तो जंगजूई के जज़्बात[३] ने जानवरों को लड़ा-लड़ा के जाँबाज़ी और खूँरेज़ी का तमाश: देखने का मश्ग़ल:[४] पैदा किया। यह शौक़ यूँ तो थोड़ा बहुत सब जगह है, मगर इसमें जिस क़द्र इन्हिमाक[५] अहले लखनऊ को हुआ और इन बेनतीजा बल्कि संगदिली की दिलचस्पियों को इन लोगों ने जिस दर्जे-ए-कमाल को पहुँचा दिया, और मुक़ामात के लोगों के ख्वाबोख़याल में भी न गुज़रा था। और अगर ग़ौर से देखिए तो तस्लीम करना पड़ेगा कि इस शौक़ और इन मशाग़िल के जैसे करिश्मे और दिलकश तमाशे सवादे[६] लखनऊ में देखे गये; देहली या हिन्दोस्तान का कोई दरबार दरकिनार, ग़ालिबन सारी दुनिया के किसी शहर में न देखे गये होंगे।

लखनऊ में ग़ैर की शुजाअ़त से अपने दिल की भड़ास निकालने का यह शौक़ तीन तरीक़ों से पूरा किया गया। (अ) दरिन्दों[७] और चौपायों को लड़ा के (ब) तुयूर[८] को लड़ा के (स) तुक्कलें और कनकव्वे लड़ा के, यानी पतंगबाज़ी के ज़रीए से। इन तीनों क़िस्मों को हम बक़द्र अपनी जुस्तुजू[९] और मालूमात के जुदा-जुदा तफ़सील से बयान करना चाहते हैं।

क़िस्म अव्वल :— यानी दरिन्दों और चौपायों की लड़ाई का तमाशा यहाँ मुंदरिजे ज़ैल[१०] जानवरों को लड़ा के देखा गया :— १. शेर २. चीते ३. तेंदुए ४. हाथी ५. ऊँट ६. गेंडे ७. बारहसिंघे ८. मेढ़े।

दरिन्दों के लड़ाने का मज़ाक़ क़दीम हिन्दोस्तान में कहीं या कभी नहीं सुना गया था। यह असली मज़ाक़ पुराने रोमियों का था, जहाँ इंसान और दरिन्दे कभी बाहम और कभी एक दूसरे से लड़ाए जाते थे। मसीहीयत के उरुज पाते ही वहाँ भी यह मज़ाक़ छूट गया था मगर अब तक स्पेन में और बाज़ दीगर मुमालिके यूरोप में वहशी सांड बाहम और कभी-कभी इंसानों से लड़ाए जाते हैं। लखनऊ में ग़ाज़िउद्दीन हैदर बादशाह को ग़ालिबन उनके यूरोपियन दोस्तों ने दरिन्दों की लड़ाई देखने का शौक़ दिलाया। बादशाह फ़ौरन आमाद: हो गये, और चन्द ही रोज़ में शाही दिलचस्पी इन खौफ़नाक और वहशियान: लड़ाइयों में ऐसी बढ़ी कि कोई इमकानी कोशिश नहीं उठा रखी गयी। मोतीमहल में ऐन लबेदरिया दो नई कोठियाँ, मुबारकमंज़िल और शाहमंज़िल तामीर की गयीं। इनके मुक़ाबिल दरिया-पार कोसों तक एक फ़र्हतबख़्श सब्ज़:ज़ार चला गया था, जिसमें आहनी कटहरे से घेर के एक वसीअ़

१ देशों को जीतना २ मुक़ाबले पर युद्ध करना ३ उमंगें ४ पेशा, धन्धा ५ तल्लीनता ६ बस्ती ७ फाड़खानेवाले जानवर ८ चिड़ियों ९ खोज १० निम्नलिखित।

रमना बनाया गया था। उसमें क़िस्म-क़िस्म के हज़ारहा जानवर लाके छोड़े गये थे और दरिन्दे कटहरों में बन्द करके रखे गये थे। इसी रमने के सिलसिले में दरिया किनारे ही वहशी जानवरों के लड़ाने के लिए बड़े-बड़े मैदान बाँस के ठाठरों या आहमी हिसार[1] से महफ़ूज़ किये जाते जो शाहमंज़िल के ऐन मुहाज़ी दरिया के उस पार होते। दरिया का पाट वहाँ बहुत कम है। बादशाह और उनके मेहमानोमुसाहिबीन शाहमंज़िल के बालाई सहन पर गंगाजमुनी शामियानों के साये में बैठ के इत्मीनान और आराम से सैर देखते और पार के महसूर[2] मैदान में दरिन्दों की क़ियामतख़ेज़ लड़ाई का महशर बपा होता[3]। दरिन्दों और मस्त हाथियों का लड़ाना तो आसान है, मगर उसकी सँभाल निहायत ही मुश्किल है। एक मस्त हाथी या शेर कटहरे से छूट जाता तो शहरों में भगदड़ पड़ जाती है और बहुत सी जानें ज़ाय: हो जाती हैं। मगर यहाँ लोग इस खौफ़नाक काम में इस क़द्र होशियार हो गये थे कि उस वक़्त जो यूरोपियन सय्याह दरबार में मौजूद थे, ख़ुद अपनी तहरीरों में इक़रार करते हैं कि वहशी जानवरों के पालने, सधाने और उनकी दाश्त और सम्भाल करनेवाले आदमी लखनऊ से बेहतर दुनिया भर में कहीं नहीं हैं। यही लोग हाथियों और दरिन्दों को लाके छोड़ते, उनको अपने बस में रखते, उनके हारते वक़्त ग़ालिबोमग़लूब[4] दोनों दरिन्दों को अपने क़ाबू में करते। इस काम के लिए सैकड़ों साँटेमार और बल्लम-बरदार मुक़र्रर थे जो उन्हें मारते और अपने आपको उनके हमलों से बचाते। लोहे की दहकती हुई सलाखों और आतशबाज़ियों से उनको जिधर चाहते मोड़ते और जहाँ चाहते, हँका ले जाते। शेरों और तेन्दुओं को कटहरे में बन्द करते। ग़रज़ उन लोगों की फुर्ती, चालाकी और चलत-फिरत और होशियारी ख़ुद जानवरों की लड़ाई से ज़ियाद: दिलचस्प और हैरतअंगेज थी। इन बातों को देख के दम भर में नज़र आ जाता कि इन बड़े देवहैकल जानवरों और मुहीब वहशी दरिन्दों पर इंसान दुनिया में किन असबाब से ग़ालिब आया है। अब इन जानवरों में से हर एक की लड़ाई का जुदागान: हाल सुनिए जो ग़ालिबन लुत्फ़ से ख़ाली न होगा।

१ शेर

बादशाह ने बहुत से शेर जमा कर रखे थे जो नैपाल की तराई से पकड़ के लाए जाते। इनमें से बाज़ बहुत बड़े थे। बाज़ मुख़तलिफ़ लड़ाइयों में ग़ालिब आ के बादशाह को बहुत अज़ीज़ हो गये थे। लड़ाई के लिए उनके कटहरें मैदान के हिसार के पास लाके खोल दिये जाते। दोनों हरीफ़[5] छूटते ही ग़ुर्रा के एक दूसरे पर हमलावर होते और दातों और पंजों से एक दूसरे को ज़ख़्मी करते, बाहम गुथ जाते। कभी यह उसको गिरा के ऊपर चढ़ बैठता, कभी वह इसको ज़ेर[6]

---

१ घिराव २ घिरा हुआ ३ उपस्थित होता ४ प्रबल और पराभूत ५ प्रतिद्वंद्वी ६ परास्त।

करता। देर तक एक निहायत हौलनाक लड़ाई होती रहती, जिसमें कभी तो एक हरीफ़ जान से मारा जाता, और कभी सख्त ज़ख्मी होके हिम्मत हारता। कसरत से ख़ून निकल जाने के बाअिस कमज़ोर होके भागता और हरीफ़ ग़ुस्से से उसका तआक़ुब[1] करता। उस वक़्त इन दोनों के सम्भालने और क़ाबू में लाने के लिए लड़ानेवालों का कमाल और उनकी दौड़धूप और कारस्तानियाँ देखने के क़ाबिल होतीं।

शेर अक्सर तेंदुओं से लड़ाए जाते। मगर यहाँ ऐसे-ऐसे ज़बर्दस्त तेन्दुए थे जिनसे शेर बहुत ही कम जीत सकता। उनकी लड़ाई की शान भी वही होती जो शेरों के बाहम लड़ने की है। कभी-कभी शेर और हाथी भी लड़ा दिये जाते। मगर उनकी लड़ाई जोड़ की न होती और उसके नतीजे भी ख़िलाफ़े उम्मीद मुख़्तलिफ़ क़िस्म के होते। अगर हाथी ख़ूब जियाला[2] हुआ तो शेर बहुत कम उससे पेश पा सकता था। सबसे ज़ियादः पुरलुत्फ़ लड़ाई शेर और गेंडे की होती। गेंडा सिवा पेट के हिस्स-ए-ज़ेरी[3] के, रोई तन[4] वाक़ेअ् हुआ है। उस पर न शेर के दाँत असर करते हैं न पंजे। इसी क़द्र मज़बूती के ज़ुअ्म[5] में वह किसी ज़बर्दस्त से ज़बर्दस्त हरीफ़ की परवा नहीं करता। और ख़ुद जब सिर झुका के पेट के नीचे घुसता है तो अपने बाँसे[6] के ऊपर वाला हौलनाक सींग पेट में इस तरह पैवस्त कर देता है कि आँखें बाहर निकल पड़ती हैं और हरीफ़ का काम तमाम हो जाता है। शाज़ोनादिर ही कभी ऐसा हुआ कि शेर ने गेंडे को चारों ख़ाने चित गिराके अपने नाख़ूनों और दातों से उसका पेट फाड़ डाला हो। वर्ना अक्सर यही होता है कि गेंडा अपना सींग भोंक के शेर को मार डालता।

मगर सबसे ज़ियादः हैरतनाक यह चीज़ है कि नसीरुद्दीन हैदर के ज़माने में एक मर्तबः एक घोड़े के मुक़ाबले में शेरों को बड़ी ज़क[7] उठाना पड़ी। यह अजीबोग़रीब घोड़ा था जो मर्दुम आज़ारी में दरिन्दों से भी बढ़ गया था। मजाल न था कि कोई आदमी उसके पास जाये। दाना दूर से उसकी तरफ़ बढ़ा दिया जाता। और जब छूट जाता, बहुत से आदमियों को हलाक कर डालता। जो सामने आता, उसे मार के हड्डियाँ पसलियाँ चबा डालता और लाश ऐसी बिगाड़ देता कि पहचानी न जाती। मजबूरन तजवीज़ हुई कि इस पर शेर छोड़ दिये जायें। चुनाँचि भूरिया नाम शेर जो बादशाह को अज़ीज़ था, और अक्सर बाज़ियाँ ले चुका था, उस पर छोड़ा गया। घोड़ा बजाय इसके कि शेर से ख़ौफ़ खाए, लड़ने को तैयार हो गया और जैसे ही शेर जस्त करके उस पर आया, उसने इस तरह अगला जिस्म झुकाया कि शेर पुश्त पर गिरा और उसके पट्ठों में नाख़ूनों के खंजर पैवस्त कर दिये। साथ ही घोड़े ने इस ज़ोर से पुश्तक मारी कि शेर क़लाबाज़ियाँ खाता हुआ दूर जा गिरा। मगर फिर संभला और चन्द मिनट इधर-उधर ताव देके फिर जस्त करके घोड़े पर जा रहा।

---

१ पीछा २ जीवट वाला, जानदार ३ नीचे का अंग ४ फ़ौलादी शरीर ५ घमंड ६ नाक, नाकड़ा ७ हार।

घोड़े ने फिर वही हरकत की कि अगला जिस्म झुका दिया। शेर पट्ठों पर जा पड़ा और इरादा किया कि उसे पंजों से गिरा के मार डाले। मगर घोड़े ने अबकी इस ज़ोर से दुलत्ती झाड़ी कि शेर के जबड़े टूट गये और चारों खाने चित दूर जा गिरा। लेकिन इस चोट से शेर ने ऐसी हिम्मत हार दी कि घोड़े की तरफ़ पीठ फेर के भागने लगा, और तमाशाई हैरान रह गये। तब दूसरा उससे बड़ा शेर छोड़ा गया। उसने रुख ही न किया। मजबूरन वह शेर भी हटा लिया गया। और तीन अरने भैंसे छोड़े गये। वह भी घोड़े से न बोले और घोड़े ने बढ़ के, बेछेड़े, एक भैंसे पर इस ज़ोर से दुलत्ती झाड़ी कि वह भैंसा तेवरा गया और उसके दोनों साथी इस तरह सर हिलाने लगे, गोया दाद दे रहे हैं कि हाँ! यह हुई। आखिर घोड़े की जाँबख्शी की गयी और नसीरुद्दीन हैदर ने कहा— "मैं इसके वास्ते एक आहनी कटेहरा बनवा दूँगा और इसकी परवरिश का भी सामान कर दूँगा। अब्बा जानी के सर की क़सम, यह बड़ा बहादुर है।"

२ चीता

सब ही दरिन्दे लड़ाई के लिए दो एक दिन पेशतर से भूखे रखे जाते हैं, मगर चीते के बारे में इसका खास एहतिमाम करना पड़ता है। इसलिए कि चीता जिस क़द्र ज़ालिम और खूँख्वार है उसी क़द्र बाज़ वक़्त बुज़दिल भी साबित होता है। अललअुमूम[१] बिगड़े अमीरज़ादों की तरह वह खुशामद-तलब खयाल किया जाता है। चुनाँचि मैदान में जब उसका जी चाहे, लड़ता है और जब जी चाहे, लाख जतन करो, नहीं लड़ता। लड़ाई में वह कतराता और कनियाता हुआ हरीफ़ पर जाता है, पहले जस्त करके[२] एक दूसरे को ज़ख्मी करना चाहता है, ऐसी दो एक जस्तों के बाद दोनों पिछले पाँव पर खड़े होके पंजों से लड़ने लगते हैं। यह बड़ी खूँरेज़ लड़ाई होती है, जिसमें दोनों गुर्राते जाते हैं और हरीफ़ पर पंजे मारते जाते हैं। आखिर ज़बर्दस्त, कमज़ोर को गिरा के, मार-मार के, हरीफ़ का काम तमाम कर देता है। मगर खुद भी सर से पाँव तक ज़ख्मी हो जाता है।

३ तेंदुआ

तेंदुआ छोटे पैमाने का शेर होता है, मगर कहा जाता है कि लखनऊ में शेरों से अक्सर लड़नेवाले तेंदुए थे, जो क़ियामत की लड़ाई लड़ते और अक्सर शेरों पर ग़ालिब आ जाते। तेंदुए की लड़ाई बिल्कुल शेरों की सी होती है। लड़ते-लड़ते दोनों हरीफ़ सख्त ज़ख्मी हो जाते हैं। और मग़लूब[३] हरीफ़ कभी तो वहीं मैदान में गिर के मर जाता है और कभी दुश्मन से हार के भाग खड़ा होता है।

---

१ आम तौर पर २ उछाल मारकर ३ पराजित।

४ हाथी

लखनऊ में हाथियों की लड़ाई बहुत पसन्द की जाती थी और निहायत ही दिलचस्प समझी जाती। और यह शौक़ इस क़द्र बढ़ा हुआ था कि नसीरुद्दीन हैदर बादशाह के ज़माने में डेढ़ सौ लड़ाई के हाथी थे, जिनको सवारी से तअ़ल्लुक़ न था। हाथियों की लड़ाई के लिए शर्त यह है कि वह मस्त हो गये हों। इसलिए कि हाथी जब तक मस्त न हों नहीं लड़ते और लड़ें भी तो उनमें फ़तेहयाबी और हरीफ़[1] पर ग़ालिब आने का सच्चा जोश और ग़ुस्स' नहीं होता।

लड़ाई के वक़्त उनकी गर्दन से दुम तक एक रस्सा बँधा होता है, हरीफ़ का सामना होते ही दोनों हरीफ़ सूँडें और दुमें उठा के ज़ोर से चिंघाड़ते हुए एक दूसरे पर झपट पड़ते हैं, और ज़बर्दस्त टक्कर होती है। इसके बाद बराबर टक्करों पर टक्करें होती रहती हैं जिनकी आवाज़ बहुत दूर तक जाती है। फिर दोनों एक दूसरे से मुँह मिला के और दातों को अड़ा के एक दूसरे को रेलना और ढकेलना शुरू करते हैं जिसमें उनके जिस्म के पेचोताब खाने से अन्दाज़ा होता है कि कैसा ज़ोर लगा रहे हैं। फ़ीलवान[2] आँकुस मार-मार के ज़ोर लगाने पर उन्हें और ज़ियादः उभारते रहते हैं। आख़िर दोनों में से एक हाथी कमज़ोर पड़ता और रेले की ताब न लाके ज़मीन पर गिरता है। ग़ालिब हाथी उस वक़्त अक्सर दाँत से उसका पेट फाड़ डालता और काम तमाम कर देता। लेकिन अक्सर हाथियों का मामूल है कि कमज़ोर पड़ते ही दाँत छुड़ा के भागते हैं और ग़ालिब आनेवाला तआ़क़ुब करता है। पा गया तो टक्करें मार के गिराता और अक्सर दाँतों से पेट फाड़ के मार डालता है। और अगर वह निकल गया तो जान बच जाती है।

लखनऊ में अक्सर हाथियों से गेंडे भी लड़ाए जाते थे, लेकिन मुश्किल यह थी कि यह दोनों जानवर बाहम लड़ते ही न थे और अगर कभी लड़ गये तो बेशक सख़्त लड़ाई होती। अगर कभी हाथी ने गेंडे को ढकेल के उलट दिया तो उसके दाँत पेट में पैवस्त होके उसका काम तमाम कर देते। और अगर गेंडे ने मौक़ा पाके अपना बालाई सींग हाथी के पेट में उतार दिया तो खाल दूर तक फट जाती। मगर हाथी सूंड की मदद से गेंडे के सींग को अपने जिस्म में ज़ियादः दूर तक न घुसने देता और कारी[3] ज़ख़्म से बच जाता।

५ ऊँट

यूँ तो दुनिया में हर जीरुह[4] लड़ सकता है, लेकिन ऊँट से ज़ियादः ग़ैर मौज़ूँ लड़ाई के लिए कोई जानवर नहीं हो सकता। मगर लखनऊ में ऊँट भी मस्त और पुरजोश बना के लड़ाए जाते। ऊँट की पकड़ मशहूर है और उसका बेतरीक़े गिरना उसके हक़ में निहायत ही खतरनाक है। ऊँटों का जोश, कफ़ निकालने और झाग

१ दुश्मन २ हाथीवान, महावत ३ पूरे ४ जीवित, जानदार।

उड़ाने से ज़ाहिर होता है। वह कफ़ उड़ाते हुए दौड़ते हैं और गालियाँ देने और एक दूसरे पर थूकने यानी बलबलाने और झाग उड़ाने से लड़ाई शुरू होती है। जिसे मौक़ा मिल गया, हरीफ़ का लटकता हुआ होंठ दाँतों से पकड़ लेता है और खींचना शुरू करता है। जिस ऊँट का होंठ हरीफ़ के दाँतों में आ गया, वह अक्सर गिर पड़ता है और हारता है, और इसी पर लड़ाई खत्म हो जाती है।

६ गेंडा

गेंडे से ज़ियादः मज़बूत जानवर कोई नहीं पैदा किया गया है। वह क़दोक़ामत[1] में शेर और हाथी से छोटा है मगर ऐसा रोयेंतन[2] पैदा किया गया है कि न उसपर हाथी के दाँत कारगर होते हैं, न शेर के पंजे और नाखून। सिर्फ़ पेट की खाल नर्म होती है। अगर कोई जानवर उस पर हर्बा कर सका तो मार लेता है, वर्ना हर जानवर अपना ज़ोर सर्फ़ करते-करते थक जाता है और आखिर में गेंडा अपने बाँसे का ज़बर्दस्त सींग उसके पेट में भोंक-भोंक के मार डालता है।

लखनऊ में गेंडे, हाथियों से, शेरों से, तेंदुओं से और खुद गेंडों से लड़ाए जाते थे। ग़ाज़िउद्दीन हैदर बादशाह के ज़माने में लड़ाने के अलावः बाज़ गेंडे खूबी से सधाए गये थे कि गाड़ी में जोते जाते और हाथी की तरह उनकी पीठ पर हौदः कस के सवारी ली जाती। गेंडा बित्तबअ़[3] लड़नेवाला जानवर नहीं है बल्कि जहाँ तक मुमकिन होता है, लड़ाई को तरह[4] देता है। लेकिन हाँ अगर उसे छोड़ा जाये तो मुक़ाबले के लिए तैयार होके निहायत ही मूज़ी[5] बन जाता है। नसीरुद्दीन हैदर के ज़माने में लड़ाई के पन्द्रह-बीस गेंडे मौजूद थे जो चाँदगंज में रहा करते। जब सवार उन्हें रगेद के एक दूसरे के मुक़ाबिल कर देते तो वह सर झुका के एक दूसरे की तरफ़ दौड़ते और टक्करें होने लगतीं। दोनों की यह कोशिश होती कि हरीफ़ के पेट को अपने सींग से फाड़ डालें। और इसी कोशिश में वह देर तक एक दूसरे को रेलते-पेलते और ढकेलते रहते। बड़े ज़ोर-ज़ोर से ग़ुर्राते, सींग को सींग से टकराते और आखिर में लड़ते-लड़ते सर जोड़ के गुथ जाते और हरीफ़ को ढकेलते रहते। यहाँ तक कि जो हरीफ़ कमज़ोर पड़ता है, वह आहिस्तः-आहिस्तः हटने और जगह छोड़ने लगता है। और इस पर भी जान नहीं छूटती तो भागता है। मगर ग़ालिब रगेद-रगेद के मारता है। कमज़ोर अपना सींग अलग करके मुक़ाबले से मुँह मोड़ता और बड़े ज़ोर से भागता है। अगर महसूर[6] मैदान हुआ तो ग़ालिब हरीफ़ भागते में उस पर हमला कर-करके उसे गिराता और पेट में सींग भोंक के काम तमाम कर देता है। और अगर वसीअ़ और खुला मैदान हो और शिकस्तखुर्दः गेंडा भाग सका तो भाग के अपनी जान बचा लेता है। उस वक़्त सवार रगेद-रगेद के और गर्म सलाखों से मार-मार के ग़ालिब को

---

१ शरीर २ पीतल का बदन (मज़बूत) ३ स्वभाव से ४ छूट ५ दुखदायी ६ घिरा हुआ।

मग़लूब के तआक़ुब से[1] रोकते और हटा ले जाते हैं। गेंडों की लड़ाई का सारा दारोमदार इस पर है कि वह सर झुकाए और अपने पेट को बचाए रहें। अगर धोके में भी किसी का सर उठ गया तो मुक़ाबिल हरीफ़ अपना काम कर गुज़रता है। चुनांनचि एक गेंडा ग़ालिब आ गया और उसका हरीफ़ भागने लगा। उसे भागते देख के ग़ालिब ने सर ऊँचा कर दिया और साथ ही उसी शिकस्तख़ुर्द: गेंडे ने बिजली की तरह दौड़ के उसके पेट में सर डाल दिया और पेट फाड़ डाला।

७ बारहसिंघा

यह छोटा नाज़ुक और ख़ूबसूरत जानवर है और शायद लखनऊ के सिवा और किसी जगह यह तफ़न्नुने[2] तबअ् के तौर पर न लड़ाया गया होगा। मगर इसकी लड़ाई बड़ी ख़ूबसूरत होती है। हिरन, शुअ़रा के मङ्शूक़ का हम-शक्ल है, इसलिए इसकी लड़ाई में भी मङ्शूक़ान: अदाएँ ज़ाहिर होती हैं। मुक़ाबले के वक़्त पहले बड़ी ख़ूबसूरती के साथ दोनों हरीफ़ पैंतरे बदलते रहते हैं और आख़िर टक्करें होने लगती हैं जिनमें सींगों से वह तलवार का भी काम लेते हैं और सिपर[3] का भी। आख़िर देर तक टक्करों के बाद दोनों के सींग आपस में इस तरह उलझ जाते हैं कि मालूम होता है क़ुफ़ल पड़ गयी। अब एक दूसरे को रेलते और ढकेलते रहते हैं। इसी रेलापेली में एक कमज़ोर पड़ जाता है और उस पर मग़लूबी[4] की ऐसी हैबत तारी हो जाती है कि नाज़ुक पाँव थरथराने लगते हैं और सारे तन-बदन में रङ्श: पड़ जाता है। मगर हरीफ़ तरस खाने के एवज़ ज़ोर में आके और ढकेलता हुआ मैदान के खातमें यानी ठाठर तक पहुँचा देता है। अब मग़लूब को बिल्कुल ना-उम्मीदी होती है, आँखों से मोटे-मोटे आँसू और सींगों से ख़ून के क़तरे टपकने लगते हैं और वह सींग छुड़ा के लड़ाई से मुँह फेर लेता है। उस वक़्त हरीफ़ सींगों से उसके जिस्म को ज़ख़्मी करना शुरू करता है और मग़लूब[5] बारहसिंघा ज़ोर से भागता है, जिस फ़ुर्ती से वह भागता है उसी तेज़ी से ग़ालिब हरीफ़ उसका तआक़ुब करता है। यह दौड़ देखने के क़ाबिल होती है। दोनों हवा से बातें करने लगते हैं और उन पर निगाह नहीं ठहरती है मगर बेरहम दुश्मन मग़लूब का पीछा नहीं छोड़ता। जहाँ पाता है, ज़ख़्मी करता है। आख़िर ज़ख़्मों से चूर करते-करते मार डालता है और मरने के बाद उसकी लाश को अपने सींगों से झिंझोड़ के हटता और अपनी फ़तह पर नाज़ाँ होता है। ‡

---

१ पीछा करने से २ मनोरंजन ३ ढाल, बचाव ४ पराजय ५ पराजित।

‡ मौलाना हबीबुर्रहमान खाँ साहब शेरवानी ने बताया और हमें भी बाद को तारीख़ों में नज़र आया कि दरिन्दे और हाथी देहली में भी लड़ाए जाते थे।

८ मेंढा

यह निहायत ही ग़रीब और बे-आवाज़ जानवर है मगर इसकी टक्कर बड़ी ज़बर्दस्त होती है। मालूम होता है कि दो पहाड़ लड़ गये। चुनाँनचि इन्हीं टक्करों का तमाशा देखने के लिए लोग इन्हें लड़ाते हैं और आज ही नहीं क़दीमुलअय्याम[१] से इनकी लड़ाई देखी जाती रही। इनके लड़ाने का आग़ाज़ हिन्दोस्तान में बिल्लौची लोगों से हुआ और इन्हीं से दूसरे मक़ामों में शौक़ पैदा हुआ। मगर लड़ाई के लिए इनके पालने और तैयार करने का काम अक्सर क़साइयों और अदना तबक़े के लोगों से मुतअ़ल्लिक़ रहा। उमरा[२] और शुरफ़ा इन्हें सामने बुलवा के लड़ाई का तमाशा देख लिया करते थे। सुना जाता है कि नव्वाब आसिफ़ुद्दौल: और सआदतअली ख़ाँ को मेंढ़ों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक़ था। ग़ाज़िउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन हैदर के सामने भी अक्सर मेंढ़े लड़ाए गये। वाजिदअली शाह को कलकत्ते के क़ियाम में भी किसी हद तक शौक़ था। मुंशी अस्सुल्तान बहादुर उनकी दिलचस्पी के लिए अक्सर क़साइयों के ज़ेरे एहतिमाम[३] बहुत ही जोड़े तैयार रखते थे। और मैंने कई बार देखा कि किसी ज़बर्दस्त मेंढ़े की ऐसी टक्कर पड़ी कि दूसरे हरीफ़ का सर फट गया। मेंढ़ा जब हारता है और मुक़ाबिल हरीफ़ की टक्कर की ताब नहीं ला सकता तो उसकी टक्कर खाली दे के, भाग खड़ा होता है। मुझे याद है कि एक बार बादशाह का रमना देखने के लिए मुक़र्रर: सालाना तारीख़ को कलकत्ते के सदहा अंग्रेज जमा थे। बादशाह सलामत अपनी वज़अ़ के ख़िलाफ़, बूचे[४] पर सवार निकल आये और इन मेहमानों को ख़ुश करने के लिए हुक्म दिया कि मेंढे लाके लड़ाए जायें। चुनाँनचि उनकी टक्करों का हंगामा बलन्द हुआ और इससे ज़ियाद: शोर यूरोपियन लोगों ने "हुर्रे" और ख़ुशी के नारे बलन्द करके मचाया और अजीब जोशोख़रोश का आलम नज़र आता था। लखनऊ में इन्तिज़ाअ़े[५] सल्तनत के बाद भी नव्वाब मुहसिनुद्दौल: बहादुर को मेंढों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक़ था। अब शुरफ़ा और उमरा[६] से यह मशग़ल: छूट गया है, अदना लोगों में मामूली हद तक बाक़ी है।

परिन्दों की लड़ाई

दरिन्दों की लड़ाई लखनऊ में सिर्फ़ सल्तनत और उमराओ दरबार तक महदूद[७] थी। इसलिए कि उनकी दाश्त[८] तैयारी, लड़ाई के वक़्त उनको संभालना और तमाशाइयों को उनकी मज़र्रत[९] से बचाना, ऐसी चीज़ें होती हैं जो ग़ुरबा[१०] दरकिनार,

१ प्राचीन काल २ धनी, रईस ३ प्रबन्ध में ४ एक कहारों से उठाई जाने-वाली सवारी ५ पतन ६ धनी ७ सीमित ८ देखभाल ९ हानि १० निर्धन लोग।

वड़े-वड़े अमीरों के इमकान से भी बाहर हैं। और इसीलिए दरिन्दों की लड़ाई सवादे लखनऊ[1] में उसी वक़्त तक देखी गयी जब तक अगला दरबार क़ायम था। उधर वह दरबार बर्खास्त[2] हुआ और इधर वह वहशतनाक दंगल भी उजड़ गये।

लेकिन तुयूर[3] की लड़ाई ऐसी न थी। इसका शौक़ हर अमीरोग़रीब कर सकता था और हर शौक़ीन मेहनत करके लड़ाई के क़ाबिल मुर्ग़ या बटेर तैयार कर सकता था। जो तुयूर लखनऊ में शौक़ और दिलचस्पी के साथ लड़ाए गये, हस्वेज़ैल[4] हैं— १ मुर्ग़ २ बटेर ३ तीतर ४ लवे ५ गुलदुम ६ लाल ७ कबूतर ८ तोते। इनमें से हर एक खेल के जुदा-जुदा बयान करने की ज़रूरत है।

लखनऊ की कबूतरबाज़ी और बटेरबाज़ी आमतौर पर मशहूर है, जिस पर आजकल के तालीमयाफ़्तः और मौजूदः तहज़ीब के दिलदादः[5] अक्सर तमसूख़ुर[6] किया करते हैं। वह इससे वाक़िफ़ नहीं कि इन शौक़ों और खेलों में से हर एक को इन लोगों ने किस दर्जे-ए-कमाल पर पहुंचा के, एक मुस्तक़िल फ़न बना दिया था। लेकिन जब वह यूरोप में जाकर वहाँ भी इसी क़िस्म के लग्व शौक़ देखेंगे तो कम अज़ कम उन्हें अपने इन अलफ़ाज़ पर नदामत ज़रूर होगी जो वतन के इन शौक़ीनों की निस्बत अक्सर बेसाख्तः[7] कह बैठते हैं।

१ मुर्ग़बाज़ी

लड़ते अगरचि हर क़िस्म और हर क़ौम के मुर्ग़ हैं, लेकिन लड़ाई के लिए असील मुर्ग़ हैं और सच यह है कि दुनिया में असील मुर्ग़ से ज़ियादः बहादुर कोई जानवर नहीं है। मुर्ग़ की सी बहादुरी दरहक़ीक़त शेर में भी नहीं है। वह मर जाता है मगर लड़ाई से मुँह नहीं मोड़ता। असील मुर्ग़ की निसबत[8] यहाँ के मुहक़्क़क़ीन[9] का ख़याल है कि उनकी नस्ल अरब से लाई गयी है और यह क़रीने क़ियास[10] भी मालूम होता है इसलिए कि फ़ी ज़मानिनः[11] असील की जिस क़द्र ज़ियादः और आला नस्लें हैदराबाद दकन[12] में मौजूद हैं, कहीं नहीं हैं। और हिन्दोस्तान में वही एक शहर है जहाँ अहले अरब सब जगहों से ज़ियादः आबाद और मुक़ीम हैं। बलादे-हिन्द में मुर्ग़ों की नस्लें ईरान होती हुई आईं। लखनऊ के नामी मुर्ग़बाज़ों में से एक साहब का बयान था कि बाज़ी में उनका मुर्ग़ इत्तिफ़ाक़न हार गया था, दिल शिकस्तः होके वह अर्ज़े[13] ईराक़ में चले गये। नजफ़े अशरफ़ में कई महीने तक मसरूफ़े इबादत रहे और शबो-रोज़ दुआ करते कि ख़ुदावन्दा! अपने अइम्मए मासूमीन का सदक़ः, मुझे ऐसा मुर्ग़ दिलवा जो लड़ाई में किसी से न हारे। एक रात को ख़्वाब में बशारत हुई कि "जंगल में जाओ"। सुबह आँख खुलते ही कोहो बियाबान का रास्ता लिया और

---

१ लखनऊ की जनता २ समाप्त ३ पक्षियों ४ निम्नलिखित ५ आशिक़ ६ मज़ाक़ ७ अचानक ८ विषय में ९ तहक़ीक़ करनेवाले १० समझ में आनेवाला ११ हमारे ज़माने में १२ दक्षिण १३ ज़मीन।

एक मुर्ग़ी साथ लेते गये। यकायक एक दर्रए कोह[1] से कुकड़ूँकूँ की आवाज़ आई। उन्होंने फ़ौरन क़रीब जाके मुर्ग़ी छोड़ी, जिसकी आवाज़ सुनते ही मुर्ग़ निकल आया। और यह फ़ौरन किसी हिकमत[2] से उसे पकड़ लाए। उसकी नस्ल ऐसी थी कि फिर कभी पाली में उन्हें शर्मिन्दः न होना पड़ा।

मुर्ग़ों की लड़ाई का शौक़ यहाँ नव्वाब शुजाउद्दौलः के अह्द से आख़िर तक बराबर रहा। नव्वाब आसिफ़ुद्दौलः को बेइन्तिहा शौक़ था। नव्वाब सआदत अली ख़ाँ बावुजूद बेदारमग़्ज़ी[3] के, मुर्ग़बाज़ी के दिलदादः थे। उनके शौक़ ने सोसायटी पर ऐसा असर डाला कि लखनऊ के उमराए दरबार दरकिनार, उस ज़माने में जो अहलेयूरोप यहाँ मौजूद थे उन्हें भी यही शौक़ हो गया था। चुनाँचि जनरल मार्टन, जिनकी कोठी लखनऊ की एक क़ाबिलेदीद[4] इमारत और यूरोपियन बच्चों की दर्सगाह है, अव्वल दर्जे के मुर्ग़बाज़ थे, और नव्वाब सआदतअली ख़ाँ उनसे बाज़ी बद के लड़ाया करते।

लखनऊ में मुर्ग़ों की लड़ाई का यह तरीक़ा था कि मुर्ग़ के काँटे बाँध दिए जाते ताकि उनसे ज़रर[5] न पहुँचा सके। चोंच चाक़ू से छील के तेज़ और नुकीली की जाती और जोड़ के दोनों मुर्ग़ पाली में छोड़ दिए जाते। मुर्ग़बाज़ उनके पीछे-पीछे रहते। मुर्ग़ को दूसरे मुर्ग़ के मुक़ाबले में छोड़ना भी एक फ़न था, जिसमें यह कोशिश रहती कि हमारा ही मुर्ग़ पहले चोट करने का मौक़ा पाए। अब दोनों मुर्ग़ चोंचों और लातों से लड़ना शुरू करते। मुर्ग़बाज़ अपने-अपने मुर्ग़ को उभारते और इश्तिआल[6] देते और चिल्ला-चिल्ला के कहते। "हाँ बेटा शाबाश है, हाँ बेटा काट, फिर यहीं पर।" मुर्ग़ उनकी ललकारों और बढ़ावों पर इस तरह बढ़-बढ़ के लातें और चोंचें मारते कि मालूम होता जैसे समझते और उनके कहने पर अमल करते हैं। जब लड़ते-लड़ते ज़ख्मी और चूर हो जाते, तो बिल इत्तिफ़ाक़[7] फ़रीक़ैन थोड़ी देर के लिए उठा लिए जाते। यह उठा लेना, मुर्ग़बाज़ी की इस्तिलाह में "पानी" कहलाता है। उस वक़्त मुर्ग़बाज़ उनके ज़ख्मी सरों को पोंछते, उन पर पानी की फुहारें देते, ज़ख्मों को अपने मुँह से चूसते और ऐसी-ऐसी तदबीरें करते कि चन्द मिनट के अन्दर मुर्ग़ों में फिर नया जोश पैदा हो जाता और ताज़ादम होके दोबारः पाली में छोड़े जाते। इसी तरह बराबर "पानी" होते रहते। और लड़ाई का ख़ातमा चार पाँच रोज़ बाद और कभी आठ नौ रोज़ बाद होता। जब एक मुर्ग़ अन्धा हो जाता या ऐसी चोट खा जाता कि उठने के क़ाबिल न रहे, या और किसी वजह से लड़ने के क़ाबिल न रहता, तो समझा जाता कि वह हार गया। बारहा[8] यह होता कि मुर्ग़ की चोंच टूट जाती। इस सूरत में भी जहाँ तक बनता, मुर्ग़बाज़ चोंच बाँध के लड़ाते।

---

१ पहाड़ के दर्रे २ उपाय, युक्ति ३ समयानुकूल काम करने की योग्यता ४ देखने योग्य ५ हानि ६ क्रोध ७ सहमत होकर ८ प्रायः।

हैदराबाद का खेल यहाँ के ख़िलाफ़ बहुत सख़्त है। वहाँ काँटे नहीं बाँधे जाते। बल्कि बख़िवज़ बाँधने के चाक़ू से छील के बर्छी की अनी बना दिये जाते हैं और नतीज: यह होता है कि लड़ाई का फ़ैसला घन्टे ही डेढ़ घन्टे में हो जाता है। लखनऊ में ख़ारों के बाँधने का तरीक़ा ग़ालिबन इसलिए इख़्तियार किया गया था कि लड़ाई तूल खींचे और ज़ियाद: ज़माने तक लुत्फ़ उठाया जा सके।

लड़ाई के लिए मुर्ग़ों की तैयारी में मुर्ग़बाज़ के कमालात, ग़िज़ा और दाश्त[१] के अलाव: आज़ा[२] की मालिश, फोई यानी पानी की फुहार देने, चोंच और ख़ार बनाने या ख़ार के बाँधने और कोफ़्त के मिटाने में नज़र आते हैं। इस अंदेशे से कि ज़मीन पर दाना चुगने में चोंच को नुक़सान न पहुँच जाए, अक्सर इन्हें दाना हाथ पर खिलाया जाता है।

यह शौक़ वाजिदअली शाह के ज़माने तक ज़ोरों पर था। मटियाबुर्ज में नव्वाबअली नक़ी ख़ाँ की कोठी में मुर्ग़ों की पाली होती थी और कलकत्ते से बाज़ अंग्रेज़ अपने मुर्ग़ लड़ाने को लाया करते थे। बादशाहों के अलाव: और बहुत से रईसों को भी मुर्ग़बाज़ी का शौक़ था। मिर्ज़ा हैदर बहूबेगम के भाई नव्वाब सालारे जंग हैदर बेग ख़ाँ, मेजर सिवारिस जो नसीरुद्दीन हैदर के ज़माने में थे, और ख़ुद बादशाह से मुर्ग़ लड़ाते थे। आग़ा बुर्हानुद्दीन हैदर भी मुर्ग़बाज़ी के शायक़ थे। आख़िरुज़्ज़िक्र रईस के वहाँ आख़िर ज़माने तक दो अढ़ाई सौ मुर्ग़ रहते। निहायत ही सफ़ाई और नफ़ासत से रखे जाते। दस बार: आदमी उनकी दाश्त[३] पर मामूर[४] थे। मियाँ दाराब अली ख़ाँ को बड़ा शौक़ था। नव्वाब घसीटा ने भी इस शौक़ को आख़िर तक निवाहा। मलीहाबाद के मुअज़्ज़िज़ पठानों को भी बहुत शौक़ था और उनके पास असील मुर्ग़ों की बहुत अच्छी नस्लें महफ़ूज़ थीं। यहाँ मशहूर मुर्ग़बाज़ जो अपने फ़न में उस्तादे ज़मान: माने जाते, बहुत से थे। मीर इमदाद अली, शेख़ घसीटा, मुनव्वर अली, जिनको यह कमाल हासिल था कि मुर्ग़ की आवाज़ सुनके बता देते कि यह बाज़ी ले जाएगा। और एक अव्वल दर्जे के वसीक़ेदार सय्यद मीरन साहब भी मशहूर थे। इस आख़िरी ज़माने में मंदर्जए ज़ेल[५] लोगों का नाम मशहूर हुआ:— फ़ज़ल अली जमादार, क़ादिर जीवन ख़ाँ, हुसैन अली, नौरोज़ अली, नव्वाब मुहम्मद तक़ी ख़ाँ जो यहाँ के एक आली मर्तब: रईस थे; मियाँ जान, दिल, छंगा, हुसैन अली बेग, अहमद हुसैन। इनमें से अब कोई ज़िन्द: मौजूद नहीं है।

यही लोग थे जिन्होंने मुर्ग़बाज़ी को यहाँ इन्तिहाई कमाल के दर्जे पर पहुँचा के दिखा दिया। मगर मेरा ख़याल है कि फ़िलहाल मुर्ग़बाज़ी का शौक़ हैदराबाद दकन[६] में बढ़ा हुआ है। वहाँ के बहुत से अमीरों, जागीरदारों और मंसबदारों को शौक़ है, और उनके पास मुर्ग़ों की नस्लें बेमिस्ल हैं, जिनकी वह बहुत हिफ़ाज़त करते हैं।

---

१ देखभाल २ अंगों ३ देखभाल ४ नियुक्त ५ निम्नलिखित ६ दक्षिण।

२ बटेरबाज़ी

बटेरवाज़ी का शौक़ लखनऊ में पंजाव से आया। पंजाव के वाद कंचन लोग, जिनकी औरतें ख़िसमत-फ़रोशी का पेशा करती हैं, नव्वाव सआदत अली ख़ाँ के अह्द में वारिदे लखनऊ हुए, घागस बटेर अपने साथ लाए, जिनको वह लड़ाते थे। आजकल की वाज़ नामवर रंडियाँ इन्ही लोगों की नस्ल से हैं। वटेरों की दो क़िस्में होती हैं। एक घागस और दूसरी चुनंग। पंजाव में सिर्फ़ घागस वटेर होता है। वह चुनंग से वड़ा जवर्दस्त और ताक़तवर होता है। लखनऊ में घागस और चुनंग दोनों होते हैं। चुनंग घागस से क़द में छोटा और नाज़ुक होता है, मगर लड़ने में ज़ियादः मजवूत और जियाला हुआ करता है और इसकी लड़ाई ज़ियादः शानदार और ख़ूबसूरत होती है। बहरहाल इस वात का पता लखनऊ ही में लगा कि लड़ाने के लिए चुनंग वटेर ज़ियादः मौज़ूँ है।

बटेर की लड़ाई के लिए न किसी वड़े मैदान की ज़रूरत थी, न घर से वाहर निकल के सहन तक भी आने की। वलिक कमरे के अन्दर ही साफ़ सुथरे फ़र्श पर तहज़ीव के साथ वैठके इसकी लड़ाई की सैर देखी जा सकती है। इसलिए लखनऊ की सोसायटी ने इसी को वहुत पसन्द किया। निहायत नफ़ीस, ख़ूवसूरत और सुवुक[1] कावुकें[2] वटेरों के लिए ईजाद की गईं जो हाथी दाँत की नन्हीं-नन्हीं गुमजियों[3] से आरास्तः की जातीं और उनमें वटेर रखे जाते।

इसका खेल यूँ है कि पहले मूठ या पानी में भिगो-भिगो के घन्टों हाथों में दवाए रहने से उसकी वहशत दूर हो जाती है। यहाँ तक कि वह वोलने और चोंचें मारने लगता है। इसके वाद भूक देके और दस्तआवर अजज़ा जिनमें मिस्री वहुत मखसूस है, दे देके उसका जिस्म दुरुस्त किया जाता है। फिर रात गए या आधी रात को उनके कान में चिल्लाके 'कू' कहा जाता है, जिसे कूकना कहते हैं। ग़रज़ इन तदवीरों से चर्वी छँट जाती है, भद्दापन दूर हो जाता है और जिस्म निहायत ही फ़ुर्तीला और क़वी हो जाता है। यही वटेर की तैयारी है। और इन वातों में जिस क़द्र ज़ियादः पूरा है उसी क़द्र समझिए कि लड़ाई के लिए ज़ियादः मौज़ूं है।

लड़ाई के वक़्त फ़र्श पर चारों तरफ़ हल्का-हल्का दाना छटका दिया जाता है और वटेर कावुक से निकाले जाते हैं। पहले दोनों वटेरों की चोंचें चाक़ू से वनाके ख़ूव तेज कर दी जाती हैं। इसके वाद एक दूसरे के मुक़ाविल छोड़ दिए जाते हैं। वटेर की लड़ाई मुर्ग़ से मिलती हुई है। चोंच से काटता और पन्जों से लात मारता है। चोंच से हरीफ़ के मुँह को जख्मी और उत्तू कर देता है और पंजों से वाज़ वक़्त हरीफ़[4] का पोटा तक फाड़ देता है। लड़ाई पन्द्रह बीस मिनट या कभी इससे ज़ियादः देर तक रहती है और आखिर मग़लूव[5] हरीफ़ भाग खड़ा होता है। और भागने के वाद फिर वह किसी वटेर के सामने लड़ाई में नहीं ठहरता।

---

१ नाज़ुक २ पिंजरे ३ गुम्वदों ४ दुश्मन ५ पराजित।

बटेर की तरक़्क़ी के तीन दर्जे हैं और उसकी नामवरी के तीन दौर समझे जाते हैं। अव्वल नया जो पकड़ के और पहले-पहल मानूस करके लड़ाया जाता है। अगर वह बहुत सी लड़ाइयों में जीता और न भागा तो लड़ाई की फ़स्ल ख़त्म होते ही मामूली पिंजरों में छोड़ दिया जाता है। यह वह ज़माना होता है जब वह पुराने पर झाड़ के नये निकाल लाता है। इसे "कुरीज़ बिठाना" कहते हैं। यह ज़माना ख़त्म होते ही, दूसरे साल इसकी तरक़्क़ी का दूसरा दर्जः और दौर होता है, और इसे "नवकार" कहते हैं। फिर इसके बाद दुबारा कुरेज़ बैठके जब तीसरे साल वह लड़ाई के लिए तैयार किया जाता है, तो कुरेज़ कहलाता है और यह इसकी तरक़्क़ी का तीसरा दौर आला दर्जः होता है।

ख़ुमूमन तस्लीम कर लिया गया है कि लड़ाई में नवकार नये से और कुरेज़ नवकार से ज़बर्दस्त होता है। नया बटेर कुरेज़ से दो चोंचें भी मुश्किल से लड़ सकता है। आला दर्जे के बटेरबाज़ और शौक़ीन रईस सिर्फ़ कुरेज़ों को लड़ाते हैं। और नये बटेरों का लड़ाना बिल्कुल मामूली खेल है। लड़ाई में तरह-तरह के फ़रेबी फ़न भी किए जाते हैं। बाज़ लोग अपने बटेर के मुंह पर कोई ऐसी कड़वी या ज़हरीली चीज़ या इत्र लगा देते हैं कि दूसरा बटेर दो एक चोंचें मारते ही पीछे हटने और लड़ाई से मुंह मोड़ने लगता है। और अगर इस पर भी लड़ता रहा तो लड़ाई के बाद मर जाता है। बाज़ लोग कैफ़ का खेल खेलते हैं। यानी लडाई से एक साअत[१] पहले अपने बटेर को कोई ऐसी तेज़ नशे वाली चीज़ खिला देते हैं कि वह लड़ाई में बेहिस[२] होके भागना भूल जाता है। और जब तक हरीफ़ को पाली से न भगा दे, मजनुओं[३] की तरह लड़ता रहता है।

लखनऊ में बटेरबाज़ी के शौक़ ने ऐसे बाकमाल बटेरबाज़ पैदा कर दिए जिनकी कहीं नज़ीर नहीं मिल सकती। बाज़ लोगों ने यह कमाल पैदा किया था कि किसी के अच्छे नामी बटेर को एक नज़र देखा और किसी मामूली बटेर की वैसी ही सूरत बना दी और किसी मौक़े पर बातों-बातों में बदल लिया। ख़ैर, यह तो एक बेहूदः चोरी थी, मगर बाज़ उस्तादों ने यह कमाल हासिल किया कि मग्गे बटेरों को तैयार करके, अच्छे-अच्छे कुरेज़ों से लड़ा देते और बाज़ी ले जाते। कैफ़ के खेलवाले उस्तादों में एक साहब कैफ़[४] की निहायत आला दर्जे की गोलियां तैयार करते जो सौ रुपये की दस गोलियां बिकतीं और लोग शौक़ से ले जाते।

उन लोगों की सबसे बड़ी उस्तादी, बटेरों के इलाज में नज़र आती है। और ऐसे-ऐसे बीमार और अज़कार रफ़्तः बटेरों को दुरुस्त कर लेते हैं और इस ख़ूबी से उनके मर्ज़ की तश्ख़ीस[५] करते और मुनासिब अजज़ा[६] इस्तेमाल करते हैं कि अतिब्बा[७] और डाक्टर हैरत में रह जाएं। इसकी बहुत कोशिश की गयी कि बटेरों को पाल के अंडे से बच्चे दिलवाए जायें मगर इसमें कामयाबी न हुई।

---

१ कुछ समय २ जड़ ३ पागलों ४ नशे की ५ जांच ६ वस्तुएं ७ हकीम।

बटेरों के नाम भी बड़े-बड़े शानदार रखे गये जैसे रुस्तम, सुहराब, शुहरए आफ़ाक़। पालियों में बड़ी से बड़ी बाज़ियाँ बदी जाती हैं, और एक हज़ार रुपए तक की बाज़ी मैंने ख़ुद देखी है। इसका शौक़ भी बाज़ बादशाहों को रहा। नसीरुद्दीन हैदर अपने सामने मेज़ पर बटेरों की लड़ाई देखकर ख़ुश होते थे।

पुराने बटेरबाज़ों में मीर बच्चू, मीर अमदू, ख़्वाजः हसन, मीर फ़िदा अली, छंगा, मीर आबिद और सय्यद मीरन के नाम यादगार हैं। आज से चालीस बरस पहले मटियाबुर्ज में मैंने दारोग़: ग़ुलाम अब्बास, छोटे ख़ाँ, और ग़ुलाम मुहम्मद ख़ाँ ख़ालिसपुरी को जो बड़े मुअम्मर[1] और सिन-रसीद: लोग थे, इस फ़न में निहायत बाकमाल पाया था। ग़ालिब अली बेग, मिर्ज़ा असद अली बेग, नव्वाब मिर्ज़ा, मियाँजान, शेख़ मोमिन अली, और ग़ाज़िउद्दीन ख़ाँ ने भी आख़िर अ़हद में बहुत नामवरी हासिल की थी।

बटेरों का शिकार भी लखनऊ वालों के लिए बड़ी दिलचस्पी की चीज़ है। पहले इसमें सिर्फ़ शौक़ीनी थी जिसकी बदौलत बहुत से महीन आदमी, जिन्होंने कभी शहर से बाहर की सवाद नहीं देखी थी, खेतों और जंगलों की हवा खा आते थे। मगर अब इसी पर बहुतों की रोटियाँ चलती हैं।

कहते हैं कि बटेर पहाड़ों से रात को निकलते और ऊपर की फ़ज़ा[2] में उड़ते हुए जाते हैं। शिकार के शौक़ीन, बड़ी आवाज़ में बोलनेवाले बटेरों को तैयार करते हैं जो बराबर रात भर बोलते रहते हैं। ऐसे बटेरों को फंदैत कहते हैं। किसी अरहर के खेत के अतराफ़[3] में अक्सर जाल फैला दिया जाता है। फंदैतों की आवाज़ सुनके बटेर ऊपर से उतरना और गिरना शुरू होते हैं और रात भर में बहुत से जमा हो जाते हैं। सुबह होते ही वह सब तरफ़ से हँकाके जाल की तरफ़ भगाए जाते हैं जिसमें फंसते ही पकड़-पकड़ के फटकियों में बन्द कर लिए जाते हैं।

३ तीतरों की लड़ाई

यह भी दिलचस्प है। तीतर और तुयूर[4] की बनिस्बत[5] उचक-उचक के लड़ता है। मगर इसका शौक़ सिवा देहाती लोगों और अदना दर्जेवालों के, उमरा व शुरफ़ा को कभी नहीं रहा। तीतर लोट से और दौड़ा-दौड़ा के तैयार किए जाते हैं। उनमें जोश और ग़ुस्स: पैदा करने के लिए उनको दीमक खिलाई जाती है। मगर यह कोई बड़ा खेल नहीं है और न मुहज़्ज़ब[6] सोसायटी में इख़्तियार किया गया। हाँ लखनऊ के अदना तबक़े वालों में कसरत से रहा, और है।

४ लवों की लड़ाई

लवा, छोटे क़िस्म का तीतर है जो बटेर से भी छोटा होता है। वह बजाय दाने

१ उम्र वाले २ हवा ३ चारों ओर ४ पक्षियों ५ अपेक्षा ६ सभ्य।

के, सदया यानी माद: पर लड़ा करता है। इसे लड़ाना होता है तो माद: का पिंजरा लाके सामने रख दिया जाता है। इसका शौक़ रियासतें रीवां वग़ैर: में लोगों को ज़ियाद: था। लखनऊ में भी पसन्द किया गया और एक हद तक इख़्तियार किया गया। लवे की लड़ाई, सच यह है कि बटेर से ज़ियाद: ख़ूबसूरत होती है। वह कुन्दे खोल के लड़ता और गुथ जाता है और फूलों की तरह खिल-खिल के उठता और गिरता है। लखनऊ के बाज़ उमरा को इसका शौक़ हो गया था। मटियाबुर्ज में वाजिद अली शाह मर्हूम की सरकार में एक बड़े उस्ताद, लवे उड़ानेवाले थे। जिन्होंने बहुत अच्छी-अच्छी जोड़ें तैयार की थीं। और जब उन्हें सामने लाके लड़ाते तो बड़ा लुत्फ़ आता। लवों की तैयारी भी ज़ियाद:तर लोट और भूख से होती है। और इसकी लड़ाई का रवाज बटेर के पेशतर से था। मगर आख़िर में बटेरबाज़ी का इस क़द्र रवाज हुआ कि लवे का शौक़ फीका पड़ गया। इसका शिकार भी अजीब तरीक़े से होता है। यह भी बटेर की तरह ऊपर की फ़ज़ा में उड़ता हुआ जाता है। लोग बटेर के फ़ंदैतों की सी छड़ पर एक घड़ा बाँध देते हैं उसके मुँहगड़ पर झिल्ली मंढ के, एक सींक में डोरा बाँध के उस सींक को झिल्ली में चुभो के, अन्दर अटका देते हैं और उस डोरे को हाथ से सूतना शुरू करते हैं। झिल्ली से एक बेहंगम[१] भों-भों की आवाज़ निकलना शुरू होती है, जो लवों को इस क़द्र पसन्द है कि उड़ते-उड़ते नीचे उतर पड़ते हैं और सुबह को जाल में फँस के बटेरों की तरह पकड़ लिए जाते हैं।

५ गुलदुम

गुलदुम को अवाम बुलबुल कहते हैं, मगर यह ग़लती है। बुलबुल बदख़शानो अजम[२] की एक नग़म:संज[३] चिड़िया है। और चिड़िया की दुम के नीचे एक सुर्ख़ गुल होता है, जिसकी वजह से उसका नाम गुलदुम रख गया है। इसकी लड़ाई भी देहातियों और बाज़ारी लोगों में ज़ियाद: है, शाइस्त: सोसायटी ने उसे कभी दिलचस्पी की नज़र से नहीं देखा। मगर इसकी लड़ाई लुत्फ़ से खाली नहीं होती। दाने पर लड़ते हैं और लड़ाई में दोनों हरीफ़ गिरते हुए ऊपर उड़ते और गुथ के गिरते हैं।

६ लाल उड़ाना

लाल सिर्फ़ पिंजरों में रखके पालने के लिए हैं, लड़ाई के लिए मौज़ूं नहीं। मगर नफ़ीसपरस्त इंसान ने इन्हें भी लड़ाके, दो घड़ी दिल बहला लिया। लालों का पहले तो इस हद तक मानूस बनाना मुश्किल होता है कि पिंजरे के बाहर निकाल के छोड़े जाएँ और उड़ न जायें। दूसरे इन्हें इस क़द्र मस्त भी होना चाहिए कि दूसरे लाल से लड़ने को तैयार हो जाएँ। चुनांचि इनका लड़ जाना ही दुशवार होता

१ बेसुरी २ बदख़शा अफ़ग़ानिस्तान का एक नगर है, अजम ईरान को कहते हैं
३ मधुर गानेवाली।

है। मगर जब लड़ गये, तो खूब गुथ-गुथ के और उड़-उड़ के लड़ते हैं। लालों की लड़ाई दूसरे तुयूर[१] की लड़ाई की निस्बत[२] देर तक रहती है। लालों की लड़ाई का शौक़ अहले लखनऊ में बहुत कम रहा। सिर्फ़ दो ही एक उस्ताद पैदा हुए जिन्होंने लड़ाया वर्ना आम रुजहान इसके खिलाफ़ था और इसके शौक़ीन भी अवाम और बाज़ारी ही थे।

७ कबूतरबाज़ी

कबूतर उन मानूस जानवरों में हैं जिनका शौक़ लोगों को क़दीम ज़माने से लेके आज तक हर मुल्क और हर सर ज़मीन में किसी न किसी हद तक ज़रूर रहा। कबूतरों की बहुत सी क़िस्में हैं, जिनमें उड़नेवाले गिर:बाज़ और गोले होते हैं। और जो महज़ खूबसूरती और खुशरंगी के लिहाज़ से पाले जाते हैं, उनमें शीराज़ी, गुली, निसावरी, गलवे, लक़्क़े, लोटन और चोयाचन्दन वग़ैर: ज़ियाद: मशहूर हैं। याहू कबूतर रात दिन गूँजने और 'याहू' का दम भरने की वजह से इबादतगुज़ारों को ज़ियाद: पसन्द थे। और अक्सर फ़ुक़रा[३] व मशाइख[४] को इनका शौक़ था।

सुनते हैं कि गिर:बाज़ पहले पहल काबुल से लाए गये। पहले अ़मूमन वही लड़ाए जाते थे। गोले बाद को आए जिनकी नस्ल अरबो अजम और तुर्किस्तान से आई। गिर:बाज़ की यह शान है कि सुबह को उड़े तो घन्टों मकान के ऐन मुहाज़ी आसमान पर चक्कर लगाते रहे, इस तरह सहन के अन्दर लगन[५] में पानी भर के रख दीजिए तो उसमें हमेशा नज़र आते रहेंगे। बाज़ दिन दिनभर उड़ते रहते हैं और शाम को उतरते हैं, अपने मकान के पहचानने और वतनपरस्ती के दिलदाद: होने में गिर:बाज़ इतना क़माल रखते हैं कि खुद मेरे यहाँ का एक कबूतर किसी के वहाँ फँस गया था, जिसने पर काट दिए, तीन साल के बाद जब उसे मौक़ा मिला और पर निकल आए तो वापस आया और अपने खाने में घुस के उस कबूतर से लड़ने लगा जो अब उसमें मुक़ीम था।

लेकिन गिर:बाज़ की दस बारह से ज़ियाद: की टुकड़ी न उड़ती। लोगों को सौ-सौ दो-दो सौ कबूतरों की टुकड़ियाँ उड़ाने का शौक़ हुआ तो गोले इख्तियार किए गये। कबूतरबाज़ी का फ़न देहली ही में इस क़द्र तरक़्क़ी कर गया था कि कहते हैं कि आखिरी वारिसे दौलते मुग़लिय: बहादुरशाह ज़फ़र की सवारी निकलती तो दो सौ कबूतरों की टुकड़ी ऊपर हवा में सवारी के साथ उड़ती हुई जाती और जहाँपनाह पर साय: किए रहती।

कबूतरों को अपने घर से बहुत ज़ियाद: उन्स होता है। काबुक को ठेल पर रखके ले जाने और जहाँ कहा जाए, रोक के उड़ाने और फिर काबुक पर बुला लेने का कमाल भी देहली ही में पहले नज़र आ चुका था।

---

१ पक्षियों २ अपेक्षा ३ फ़क़ीरों ४ पीरों ५ बड़ा थाल।

लखनऊ में कबूतरबाज़ी इस ख़ानदाने फ़रमारवाई के इब्तिदाई दौर ही से शुरू हो गयी थी। चुनांचि नव्वाब शुजाउद्दौलः को कबूतरों का बड़ा शौक़ था। सय्यद यार अली नाम एक शख़्स ने जो बरेली का रहनेवाला था, अपने आपको एक कामिल कबूतरबाज़ की हैसियत से दरबार में पेश किया और उनकी बड़ी क़द्र की गयी। नव्वाब आसिफ़ुद्दौलः और नव्वाब सआदत अली ख़ाँ को भी शौक़ था और ग़ाज़िउद्दीन हैदर और नसीरुद्दीन हैदर के ज़माने में तो कबूतरबाज़ी यहाँ बहुत आला दर्जे पर पहुँच गयी थी। मीर अब्बास नाम यहाँ के एक कामिले फ़न कबूतरबाज़ ने यह कमाल दिखाया कि जो कोई पाँच रुपये नज़र करके उनकी दावत करना चाहे, वह कहीं रहता हो, काबुक लेके पहुँच जाते और उसी के घर से कबूतर उड़ा देते और सीटी पर बुला लेते। मजाल क्या कि कोई कबूतर किसी और जगह गिर जाए। शौक़ इस क़द्र बढ़ा हुआ था कि बाज़ अमीरों के यहाँ सिर्फ़ नौ सौ कबूतरियाँ एक साथ उड़तीं। और बाज़ रईस इतने ही या इससे ज़ियादः तादाद में नर कबूतर उड़ाते।

ख़ूसत (इलाक़-ए-सरहद्दी अफ़ग़ानिस्तान) से पटैत नाम एक ख़ास रंग के कबूतर आए थे जो निहायत ही क़ीमती थे। अक्सर रईस हज़ारों रुपया सर्फ़ करके इन्हीं को उड़ाते।

एक जिद्दतपसन्द[1] बुज़ुर्ग ने लखनऊ में यह कमाल किया कि कबूतर के दो पट्ठों को लेके एक का दाहिना और एक का बायाँ बाज़ू काट दिया और कटे हुए बाज़ुओं की जगह इन दोनों के टाँके लगाके, एक दोहरिया कबूतर बना लिया। और ऐसी दाश्त से पाला कि वह बड़े हुए और उड़ने लगे। ऐसे बहुत से दोहरिया कबूतर तैयार किए। अक्सर मामूल था कि जब नसीरुद्दीन हैदर, छत्तरमंज़िल से बजरे पर सवार होके पार जाते और कोठी दिलआराम में बैठ के दरिया की सैर देखते, वह उस पार से अपने उन अजीबुल्ख़िलक़त दोहरिया कबूतरों को उड़ा देते, जो पार जाके बादशाह के क़रीब बैठ जाते। बादशाह उन्हें देखके बहुत महज़ूज़[2] होते और इनाम देते।

मीर अमान अली नाम एक बुज़ुर्ग ने यह कमाल पैदा किया था कि कबूतर को रंग के जैसा चाहते बना देते। अक्सर जगह, पर उखाड़ के दूसरे रंग का पर उसी के सूराख में रख के इस तरह जमा देते कि वह असली परों की तरह जम जाता। और बहुत से मुक़ामात पर रंग से काम लेते मगर ऐसा मज़बूत और पुख़्तः रंग कि मजाल क्या जो ज़रा भी फीका पड़ जाए। बरस भर तक रंग क़ायम रहता। मगर जब कुरैज़ में पर गिर जाते तो फिर असली रंग निकल आता। उनके इन कबूतरों से हर एक पंद्रह बीस रुपये का बिकता और उमरा बड़े शौक़ से लेते। वह भाँतियाँ भी बना लिया करते, जो लाखों में एक निकलता है और रंग के हुदूद और गुलों के एतिबार से बेमिस्ल होता है।

---

१ अनोखापन पसन्द करनेवाले २ प्रसन्न।

एक बड़े कबूतरबाज़, नव्वाब पालिए थे, जो गिर:बाज़ कबूतरों को गोलों की तरह उड़ाते। कमाल यह था कि जिस जगह और जिस मकान पर चाहते, छीपी के इशारे से बाज़ी करा देते। यानी कबूतर हवा में क़लाबाज़ियाँ खाने लगते।

वाजिद अली शाह ने मटियाबुर्ज में बहुत से नये कबूतर जमा किए थे। कहते हैं कि रेशम-परे कबूतरों का जोड़ा पच्चीस हज़ार का लिया था और एक क़िस्म के सब्ज़ कबूतरों की नस्ल बढ़ाई थी। जब इंतिक़ाल हुआ है तो चौबीस हज़ार से ज़ियाद: कबूतर थे जिनपर सैकड़ों कबूतरबाज़ नौकर थे। और उनके दारोग: गुलाम अब्बास कबूतरबाज़ी के फ़न में जवाब न रखते थे।

शौक़ीनी और फ़नदानी ने पालने के रंगीन कबूतरों में भी बेमिस्ल तरक़्क़ी की थी। यह सिर्फ़ मशहूर नहीं है बल्कि ऐसा शीराज़ी जो गज़ भर के पिंजरे की वुसअ़त[1] को भर ले और एक ऐसा गुली जो एक बारह बरस की लड़की की चूड़ी से निकल जाए, मैंने खुद अपनी आँख से देखे हैं। (यह ज़िक्र अभी खत्म नहीं हुआ, बाक़ी आइन्द: नम्बर [पैरा] में अर्ज़[2] करूँगा।)

तुयूर[3] को लड़ा-लड़ा के दिलचस्पी पैदा करना और तफ़न्नुन[4] के कमालात दिखाना, लखनऊ के बेफ़िक्रों का निहायत ही आम मश्ग़ल: हो गया था। कबूतरों और बटेरों के तैयार करने और लड़ाने में उन्होंने इस क़द्र तरक़्क़ी की कि अब हिन्दोस्तान के जिस शहर में और जहाँ कहीं किसी रईस को इन चीज़ों का शौक़ है (और यह कमबख्त शौक़, नाआक़िबत अंदेश[5] दौलतमन्दों में अक्सर हुआ करता है) वहाँ उस्ताद लखनऊ ही से बुलाए जाते हैं।

८ तोतों का नया शौक़

तुयूर लड़ाने के हद से गुज़रे हुए शौक़ ने इसमें जिद्दतें[6] पैदा करना शुरू कीं और बाज़ शौक़ीनों का खयाल इस जानिब मबज़ूल[7] हुआ कि जो काम कबूतरों से लिया जाता है, और किन-किन तुयूर से लिया जा सकता है? चुनांचि मीर मुहम्मदअली नाम एक बुज़ुर्ग ने तोतों से कबूतरों का काम लेने में नुमायाँ कामियाबी हासिल की।

तोता फ़ितरतन[8] निहायत ही बेवफ़ा जानवर है। जिन्दगी भर रखिए और पालिए, लेकिन पिंजरे से उड़ा तो उस तरफ़ का रुख नहीं करता। तोताचश्मी, नाम ही बेवफ़ाई का हो गया है। वह बोलता है, बातें करता है, जानवरों की बोलियाँ उड़ा लेता है, जो फ़िक़रे याद करा दीजिए, उनकी रट लगाता है, मगर उड़ाने के काम का नहीं। इसलिए कि पिंजरे से छूटते ही फिर वह किसी के बस का नहीं होता। मगर मीर साहब मौसूफ़[9] ने ख़ुदा जाने किस तदबीर से उनकी फ़ितरत[10] बदल दी

---

१ फैलाव २ बयान ३ पक्षियों ४ मनोरंजन ५ भविष्य से अनजान, परिणाम से बेसुध ६ नवीनताएँ ७ मुनतक़िल (ध्यान बदला) ८ स्वभावतः ९ प्रशंसनीय १० स्वभाव।

थी कि दस-बारह तोतों की टुकड़ी उड़ाते और मजाल क्या कि वह सीटी बजाके 'आ' करें और वह आसमान से उतरके सीधे पिंजरे में न चले आयें। वह उन तोतों को रोज़ हुसैनाबाद में लाके उड़ाते।

तुयूर की इन तैयारियों का हाल बयान करके हम यह कहने पर मजबूर हैं कि अहले लखनऊ ने जितनी मेहनत तुयूर की तैयारी में की है, काश ख़ुद अपनी और अपने जिस्म की तैयारी में करते तो यह अंजाम हरगिज़ न होता जो हुआ।

पतंगबाज़ी

कनकौए उड़ाने का शौक़ किसी न किसी हद तक सारे हिन्दोस्तान में है। और आजकल उमूमन[1] लड़कों और नौजवानों का निहायत ही दिलचस्प खेल है। इसकी कसरत और तअ़मीम[2] देख के ख़याल होता है कि यह हिन्दोस्तान की बहुत पुरानी चीज़ होगी। मगर ऐसा नहीं है। यह फ़न एक सदी पेशतर का भी मुश्किल से कहा जा सकता है और इसका मर्क़ज़े तरक़्क़ी[3] लखनऊ ही है।

यूरोप में लड़के एक क़िस्म के कपड़े के कनकव्वे उड़ाया करते हैं, जिनको जब तक दौड़-पकड़ के भागते रहो, उड़ते हैं। और इधर क़दम रुका और उधर वह ज़मीन पर आ रहे। उनकी निस्बत यह भी नहीं कहा जा सकता कि कब से हैं, और कहाँ से लिए गए?

सुना जाता है कि देहली शाह आलम बादशाह अव्वल के अहद में[4] यह शौक़ शुरू हुआ। इब्तिदाअन बाज़ ख़ास-ख़ास लोग चंग उड़ाया करते थे। चंग बड़े एहतिमाम से बनाया जाता था, उसमें दो तिक्कुलें थोड़े फ़स्ल से आगे-पीछे बराबर खड़ी करके जोड़ दी जातीं। तिक्कुलों की शक्ल यह होती थी, जिसमें तीन तरफ़ मुदव्वर[5] कोने निकलते। इसमें एक खपाच छील के बीच में खड़ी लगाई जाती जो ठड्डा कहलाती और दो खपाचें ख़ूब छील के और नर्म करके ऊपर-नीचे लगाई जातीं जो काँपें कहलातीं। ऊपर की काँप की वज़अ़[6] यूँ रहती और नीचे की काँप की यूँ। इनके दर्मियान में हलका बारीक काग़ज़ मँढ़ दिया जाता। यह एक तिक्कुल हुई। ऐसी दो तिक्कुलों को आगे-पीछे रख के, और दर्मियान में जाबजा आड़ी खपच्चियाँ लगा के जोड़ दिया जाता। और चारों तरफ़ से भी काग़ज़ मँढ़ के, एक ख़ास वज़अ़ की तिकुन्नी क़न्दील बना दी जाती, जिसके अन्दर एक कपड़े का बना हुआ तेल में डूबा हुआ गेंद, तार में बाँध के लटका दिया जाता; और उसे रौशन करके रात को लोग मज़बूत सूती या रेशमी डोर पर उड़ाते। चंग की शान यह थी कि मालूम होता एक लालटेन आसमान में उड़ रही है। और ग़ुब्बारे
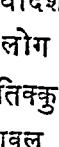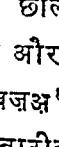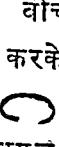
---

१ प्रायः २ व्यापकता ३ उन्नति-केन्द्र ४ समय में ५ गोल ६ आकार।

के ख़िलाफ़, उड़ानेवाले के इख़्तियार में है। जब चाहे उड़ाएँ और जब चाहे उतार लें। वह हवा में क़ायम रहता, कभी औंधा होता तो फिर सीधा हो जाता।

उसी ज़माने में बाज़ लोग इसी वज़अ् से इंसान का एक पुतला बना के उड़ाते। बल्कि बाज़ क़ाबिले शौक़ व यादगाराने सलफ़[1] का बयान है कि सबसे पहले वह पुतला ही देहली में ईजाद हुआ था, फिर उसी से तरक़्क़ी करके चंग ईजाद हुआ, जिसका तूलो अरज़[2] बराबर होने की वजह से उड़ाना और हवा में ठहरना ज़ियादः आसान था। इसका शौक़ ज़ियादःतर हिन्दुओं में था। और क्या अजब कि उनके वहाँ की क़ौमी व मज़हबी चीज़ हो और अकास-दिया[3] वग़ैरः के खयाल से माख़ूज़[4] हो। फिर इस चंग को काटने के लिए या दिन को उड़ाने के खयाल से तिक्कुल उड़ने लगीं, जो दरअस्ल आधी चंग या चंग की फ़क़त एक तरफ़ की दीवार थी। तिक्कुल में ख़ूबी यह थी कि बनिस्बत[5] चंग के आसानी से उड़ सकती। इसमें चलत-फिरत थी, आसमान पर हवा में नाचती और दूर होती चली जाती थी। चंग एक जगह क़ाइम रहता और तिक्कुल इधर-उधर चलती-फिरती थी, और इस पर इतना क़ाबू था कि जब चाहें उसकी डोर से रगड़ा दे कि दूसरे के चंग को काट दें।

तिक्कुल ने दरअस्ल क़ंदील या रौशन-पुतला उड़ाने का खयाल भुला दिया। और लोगों को इस जानिब मुतवज्जेह किया कि हवा में कोई ऐसी चीज़ उड़ाई जाए जो ज़ियादः क़ाबू में हो। इधर-उधर आसमान पर दौड़े और नाचे। तिक्कुल का शौक़ मुसलमान अमीरों और मुअ़ज़्ज़ज़[6] हिन्दुओं में बढ़ा। इस पर दौलत सर्फ़ होने लगी। अ़्ला दर्जे की तिक्कुल का नाम पतंग मशहूर हुआ। जिसका ठड्ढा मुर्शिदा-बादी बाँस का होता जिसमें अस्सी रुपये लागत आती। बीस रुपये की झुल-झुल होती। दो रुपये का काग़ज़ लगता और पाँच रुपये बनवाई पड़ती। ग़रज़ एक सौ सात रुपये में एक पतंग तैयार होता।

बहरहाल, देहली में तिक्कुल और पतंग ही तक तरक़्क़ी हुई थी कि क़द्रदान दरबार देहली से लखनऊ में मुन्तक़िल[7] हुआ, और इसके साथ ही ज़माने के शौक़ीन भी चले आये। अब पतंग उड़ाने से, पतंग लड़ाने का शौक़ निकला। ऐसी ज़ोरदार तिक्कुलें बनाई जाने लगीं, जिनको मामूली क़ुव्वत का आदमी मुश्किल से सम्भाल सकता। आठ-आठ बल की मज़बूत चर्ख़ियों पर चढ़ाई जाती और इन्हीं चर्ख़ियों के ज़रीए से तिक्कुलों का ज़ोर सम्भाला जाता। लड़ाई की यह शान थी कि दो तिक्कुलों की डोर एक दूसरी में डाल के दोनों तरफ़ से ढील दी जाती। दोनों तिक्कुलें चकरघिन्नी खाती हुई ऊपर चढ़तीं और बुलन्द होती चली जातीं। और दोनों तरफ़ से चर्ख़ियों पर चर्ख़ियाँ ख़ाली होती रहतीं। लखनऊ के शौक़ का इससे अंदाज़ः हो

---

१ पुराने याद किये जानेवाले लोग २ लम्बाई-चौड़ाई ३ आकाशदीप ४ लिया गया हो ५ अपेक्षा ६ प्रतिष्ठित ७ स्थानान्तरित।

सकता है कि नव्वाब आसिफ़उद्दौलः की तिक्कुल में पांच रुपये की मुक़य्यश[1] की झुल-झुल होती। जो लूट के लाता उसे पांच रुपये देके तिक्कुल ले ली जाती और न लाता, तो भी जहाँ चाहता, पांच रुपये की वेंच लेता।

पतंगबाज़ी के पुराने नामी उस्ताद लखनऊ में मीर अमदू, ख्वाजः मिट्ठन, शेख़ इमदाद थे। एक जुलाहे ने भी उन दिनों इस फ़न में कमाल हासिल किया था, जिसकी वजह से उमरा की सुहबतों में उसकी बड़ी क़द्र होती।

अमजदअली शाह के ज़माने में यकबयक गुड्डी ईजाद हुई जिसकी क़तअ[2] लौज़ात की सी होती। वह तिक्कुल की बनिस्बत[3] आसानी से बनती। तिक्कुल में दो काँपें और एक ठड्डा होता था, गुड्डी में सिर्फ़ एक ही काँप और एक ठड्डा रह गया। वाजिदअली शाह के ज़माने में डेढ़ कन्ना कनकव्वा बन गया जिसकी क़तअ मौजूदः कनकव्वे की थी। मगर नीचे तिक्कुल की यादगार में काग़ज़ का छोटा सा फुंदना होता। अब नव्वाब मुहम्मद हुसैन ख़ाँ सालारजंगी, आग़ा अबुतुराब ख़ाँ और दो एक रईसों ने फुंदने की जगह नीचे पत्ता लगा के कनकव्वा बना दिया, जो फ़िलहाल मुरव्वज[4] है और जिसमें अभी तक किसी तरक़्क़ी की गुंजाइश नहीं नज़र आती। फ़िलहाल सारे हिन्दोस्तान में पत्तेदार कनकव्वा या फुंदनेवाला कनकव्वा जो डेढ़ कन्ना कहलाता है, उड़ता है। मगर इसकी ईजाद लखनऊ ही में हुई है। यहीं से सब जगह गया और मक़बूले आम[5] हुआ।

कनकव्वों के लड़ाने में भी पहले तिक्कुल की तरह ढील का रवाज था। बड़े-बड़े कनकव्वे बनते और सेरों डोर पीते चले जाते। आख़िरे शाही और आग़ाज़े अंग्रेज़ी[6] के मशहूर उस्ताद विलायतअली जो विलायती कहलाते, इलाही बख़्श टुंडे जो मटिया बुर्ज में जाके मशहूर हुए और लखनऊ के सैकड़ों बाकमाल उस्ताद थे जिनके नाम मुझे इस वक़्त याद नहीं आते। मगर सच यह है कि लमडोरे[7] पेंच लड़ाने के बादशाह थे।

अंग्रेज़ी के आग़ाज़ में खींच लड़ाने का रवाज हुआ। इसका आग़ाज़ तो उन छोटे लड़कों से हुआ जिनके पास थोड़ी सी डोर होती और दूसरे के कनकव्वे में पेंच डाल के अपनी बेमायगी[8] से बेतहाशा खींच जाते और काट देते। पुराने उस्ताद उन दिनों इन लोगों को हिक़ारत की निगाह[9] से देखते और अपने कनकव्वों को उनसे अलग रखते। मगर आख़िरकार खींच ही कनकव्वेबाज़ी का आलातरीन[10] फ़न हो गया जिसमें बड़े-बड़े उस्ताद पैदा हुए। आज लखनऊ में बीसियों उस्ताद पड़े हुए हैं जो इसी शौक़ में लाखों रुपये उड़ाके उस्ताद बने और घर बिगाड़ के इतनी

---

१ सोने-चाँदी के तारों के काम की २ शक्ल ३ अपेक्षा ४ रायज, प्रचलित ५ लोकप्रिय ६ अंग्रेज़ी के प्रारम्भ ७ लम्बी डोर से लड़ानेवाले ८ दरिद्रता, पूँजी न होना ९ हेय दृष्टि १० सर्वोत्तम।

फ़ौक़ियत हासिल की है कि कनकव्वे के मैदानों में बड़े शौक़ से बुलाये और अदबौतअ़्ज़ीम के हाथों से लेके आँखों पर बिठाए जाते हैं।

फ़न्ने मूसीक़ी (संगीतकला)

हम यह बताना चाहते हैं कि फ़न्ने मूसीक़ी[1] का और इसके सिलसिले में उन लोगों का जो इस फ़न से वाबस्तः हैं, लखनऊ में क्या हाल रहा।

गाना उन चीज़ों में से है जिनको इंसान की फ़ितरत ने सबसे पहले ईजाद किया। जिन अलफ़ाज़ के अदा करने में जोश ज़ाहिर करने को जी चाहा, लोग गाने लगे और जिन हरकातौअफ़अ़ाल में जज़बात ने उभारा, नाचना शुरू कर दिया। और चूँकि सबसे ज़ियादः जोश व मतीनानः[2] इन्दिमाक[3] इबादत में होता है और दुनयवी उमूर[4] में सबसे ज़ियादः बेइख्तियारी का नाक़ाबिले बर्दाश्त जोश इश्क़ौ मुहब्बत के इज़हार में होता है, इसलिए गाने का आग़ाज़[5] भी इब्तिदाअन इबादतौ इश्क़ में हुआ। हिन्दोस्तान में गाने का आग़ाज़ क़तअ़न इबादत से हुआ। इसलिए कि यहाँ के पहले गवय्ये, खास ब्रह्मन थे जो इब्तिदाअन इबादत करते कराते वक़्त अपने माबूदों[6] की तअ़रीफ़ के भजन गाया करते। कन्हैया जी की विलादत[7] ने उनकी मुहब्बत और उनके इश्क़ को इबादत बना के आशिक़ानः मूसीक़ी[8] ईजाद की।

और यही वजह है कि हिन्दोस्तान में शाअ़िरी और मूसीक़ी दोनों का इज़हार औरत की ज़बान से हुआ करता है। इब्तिदाअन ब्रह्मन फ़क़त गीत और संगीत यानी सीधे-साधे गाने गाया करते थे जिनमें फ़न की तरक़्क़ियों का ज़रा भी शायबः[9] न था। मगर बाद को मिस्रियों, बाबुलियों और ईरानी मुहक़्क़िक़ों के मज़ाक़ की आमेज़िश[10] से एक फ़न की बुनियाद पड़ी और सबसे पहले सात सुर ईजाद हुए। इसलिए कि हर आवाज़ फैलने में एक हद पर पहुँच के बदल जाती है। इन तबदीलियों[11] का सही अन्दाज़ः करके मुहक़्क़िक़ीन[12] ने सात सुर ईजाद किये।

इसके बाद हिन्दोस्तान में मूसीक़ी की तक़सीम[13] इस हैसियत से हुई कि जो राग इबादत में गाये जाते ब्रह्मा (पैदा करने वाली क़ुव्वतें इलाही) की मनक़िबत[14] में होते या बिशनु (विष्णु) (जिलाने वाली क़ुव्वतें इलाही) की तअ़रीफ़ में होते, या महेश यानी महादेव (मारनेवाली क़ुव्वतें इलाही) की मदह[15] में होते। इसी लिहाज़ से तीन क़िस्म के राग बन गए। पहले क़िस्म के रागों की निस्बत कहा जाता है कि बिरहमनों ने किसी को न बताए और अपने साथ लेके मर गए। जो राग तमाम

---

१ संगीत-कला २ गंभीरता ३ तल्लीनता ४ कार्य ५ आरम्भ ६ पूज्यों ७ जन्म ८ संगीत ९ शुब्ह (संदेह) १० मिलावट ११ परिवर्तनों १२ वैज्ञानिकों १३ विभाजन १४ तारीफ़ १५ बड़ाई, तारीफ़।

मराहिले ज़िन्दगी, ज़च:ख़ाने, शादी और दुन्या भर के कारोबार के मुतअल्लिक़ थे, वह दूसरी क़िस्म के राग क़रार पाए। आख़िर क़िस्म के राग मा बअ़्यलमौत[1] की हालत और सवाबो अ़िक़ाब[2] से वाबस्त: थे, वह अक्सर मुहीब ख़ौफ़ दिलानेवाले और दिल पर आ़लम के फ़ानी[3] होने का असर डालनेवाले होते। आ़शिक़ान: राग भी महज़ इसलिए कि आशिक़ मर्ग[4] का ख्वाहाँ होता है, इसी क़िस्म में शामिल कर दिये गए। ख़ुसूसन इसलिए कि कन्हैया, श्रीकृष्ण जी महादेव का ही एक औतार थे। इस क़िस्म के राग उ़मूमन विराग—कहलाते। इनके राग भैरों, सरसराग और रागनियाँ भैरवीं, पिर्च, कालंगड़ा-सोहनी, सिन्ध, पीलू वग़ैर: हैं।

इसके बाद जब ब्रहमनों को राजाओं के दरबार में उनकी मदह[5] के क़सायद[6] गाना पड़े, तो इनके मुनासिब रोब-दाब और सितवतो शौकत के राग ईजाद हुए। जैसे मालकोस, दरबारी, शाहान: (अड़ान:) वग़ैर:।

मुसलमान अपने साथ मूसीक़ी लाये थे। इनका मूसीक़ी[7] सबसे पहले इब्नि मुसज्ज: ने मुदव्विन[8] व मुकम्मल[9] किया था। इसके बाद जब इराक़ में अब्बासी दरबार क़ायम हुआ तो अ़रबी और फ़ारसी मूसीक़ी से मिलके एक नया और निहायत मुकम्मल फ़न्ने ग़िना[10] ईजाद हुआ, जो सारी दुन्या में फैल गया। और वही आख़िर में अजमी[11] मूसीक़ी था। मुसलमान इसी फ़न को हिन्दोस्तान में लाये। और जो गवैये उनके साथ यहाँ आये थे, उन्हीं की यादगार आज कल क़व्वाल हैं। उनके आलाते तरब[12] सुरूद, चंग-शहनाई (सैनाई) बर्बत और रबाब हैं।

हिन्दोस्तान में हर चीज़ पर मुसलमानों ने अपना असर डाला, तमाम उलूमोफ़नून और मुआ़शरत[13] की तमाम बातों को बदल दिया। मगर यहाँ मूसीक़ी पर बहुत कम असर डाल सके जिसकी वजह उ़मूमन यह ख़याल की जाती है कि ख़ुद यहाँ का मूसीक़ी[14] इस क़द्र बाज़ाब्त: और आला दर्जे का था कि अपनी मज़बूती व बाक़ायदगी के बाअ़िस बैरूनी[15] असर से मुतअस्सिर[16] ही न हो सका। लेकिन हक़ीक़ते हाल और इसका असली बाअ़िस यह है कि किसी मुल्क और ज़बान की मूसीक़ी की तरफ़ इंसान उस वक़्त तवज्जोह करता है जब उस मुल्क का बाशिन्द: बन ले और वहाँ की ज़बानोमुआ़शरत का रंग उस पर चढ़ जाए। लिहाज़ा यहाँ आने के बाद हमल: आवर मुसलमान जब तक अरबी या अजमी रहे; यहाँ के मूसीक़ी की तरफ़ तवज्जोह न की और जब तवज्जोह की तो उस वक़्त हिन्दोस्तानियत उनके रगोंपै में सरायत कर चुकी थी। अपने क़ौमी रागों को भूल चुके थे, और यहाँ के नग़मों के दिलदाद:[17] थें। उस वक़्त वह इस क़ाबिल ही नहीं रहे थे कि यहाँ के मूसीक़ी में किसी क़िस्म का तसर्रुफ़[18] करते या इसमें कुछ नुक़्त:चीनी कर सकते।

---

१ मृत्यु के बाद २ पुण्य-पाप ३ नाशवान ४ मौत ५ तारीफ़ ६ प्रशंसा काव्य ७ संगीत ८ क्रम, तरतीब ९ पूर्ण १० गायनकला ११ अ़रब से बाहर के देशों का १२ मनोरंजन-वाद्य १३ संस्कृति १४ संगीत १५ बाहरी, विदेशी १६ प्रभावित १७ आ़शिक़ १८ परिवर्तन।

फिर भी अजमी क़व्वालों के नग़मों ने हिन्दोस्तान के मूसीक़ी पर थोड़ा बहुत असर डाल ही दिया। चुनांचि उनके मुतअद्दिद[1] राग हिन्दी मूसीक़ी में शामिल हो गये। जंगोलः (जंगला) ज़ैफ़, शाहानः, दरबारी, ज़िलफ़ (खमाच) वग़ैरः की निस्बत खयाल किया जाता है कि अजमी राग हैं जो हिन्दोस्तानी फ़न्ने ग़िना में शामिल हो गए हैं।

अमीर ख़ुसरू ने दोनो फ़नून को हासिल किया, और दोनो के मिलाने की बहुत कुछ कोशिश की। कहते हैं कि सितार को उन्हीं ने ईजाद किया। और यक़ीनन बहुत सी धुनें उनकी ईजाद की हुई हैं। लेकिन इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है कि अमीर ख़ुसरू ने यहाँ के मूसीक़ी में कौन-कौन खास चीज़ें बढ़ाई।

मुसलमानों में मालूम होता है कि बादशाहों से पहले मशायखे सूफ़ियः[2] ने मूसीक़ी की तरफ़ तवज्जोह की। और हाल वक़ाल की जो सुहबतें इराक़ो अजम के ज़ुहहादे सलफ़[3] में इबादत की शान से क़ायम थीं, हिन्दोस्तान में भी क़ायम हो गईं। और जो गवैये इससे पेश्तर बुतखानों में भजन गाया करते थे, मुसलमान ज़ुह्हाद व सूफ़ियः के हलक़े में बैठ के मअ़रिफ़त की ग़ज़लें गाने लगे।

बादशाहों के दरबार में भी यहाँ के गवैये और गाने नाचनेवाली रंडियाँ मौजूद रहा करतीं, मगर इनका अफ़सरे आला कोई अजमी गवैया हुआ करता था जो उनके मूसीक़ी[4] पर अपना कुछ न कुछ असर ज़रूर डालता। मुहम्मद तुग़लक़ के अहद में दरबार का सबसे बड़ा गवैया अमीर शम्सुद्दीन तबरेज़ी था, और कुल ज़न[5] व मर्द अर्बाबे निशात[6] उसके ज़ेरे[7] हुक्म थे। उन्हीं दिनों देवगढ़ यानी दौलताबाद के मुत्तसिल[8] अर्बाबे निशात की एक पूरी बस्ती आबाद थी जो "तरब आबाद" कहलाती। उसके चौपड़ के बाज़ार के बीचोबीच में एक बुर्ज था, जिसमें रोज़ बाद अस्र अर्बाबे निशात का चौधरी आके बैठता और उसके सामने तमाम गवैयों और रंडियों के तायफ़े बारी-बारी आके गाते। इनमें से अक्सर मुसलमान थे और सौमो-सलात के पाबन्द; इस बस्ती में जाबजा मस्जिदें थीं, जिनमें माहे मुबारके रमज़ान में तरावीह पढ़ी जाती। बड़े-बड़े राजा यहाँ आके गाना सुनते। कई मुसलमान ताजदारों ने भी यहाँ आके गाना सुना था। अहले तरब के सरगिरोह और चौधरी चूंकि उमूमन मुसलमान थे, इसलिए ज़ाहिर है कि अरबी व अजमी और हिन्दोस्तानी फ़ुनूने ग़िना[9] किस क़द्र जल्द मिल जुल गए होंगे।

हिन्दू मूसीक़ी के मर्कज़ शिमाली हिन्द में मथुरा, अयोध्या और बनारस थे। जहाँ मज़हबी उन्सरे आज़म[10] होने की वजह से मूसीक़ी का फ़न हमेशा परवरिश पाता रहता था। जौनपुर के सलातीने शर्क़ी में से सुल्तान अहमद शर्क़ी को मूसीक़ी का

---

१ कई, बहुत से २ सूफ़ी पीर ३ ज़ुहहादेसलफ़ = अगले बुज़ुर्ग, पुराने सन्तों ४ संगीत ५ स्त्री ६ संगीतज्ञ ७ आधीन ८ मिली हुई, निकट ९ गायनकला १० विशाल धार्मिक क्षेत्र।

शौक़ बहुत था। वह खुद एक बड़ा गवैया तस्लीम किया जाता, और चूँकि अयोध्या और बनारस दोनो उसकी क़लमरौ में थे, इसलिए यक़ीनन उसने हिन्दोस्तान के इस शरीफ़ फ़न को बड़ा फ़ायदः पहुँचाया होगा।

अक्वर ने इस फ़न की यहाँ तक क़द्र की कि उसके अहद का सबसे बड़ा नामवर गवैया तानसेन उसके "नौरत्न" में शामिल हुआ। एक मुसलमान शहनशाह की यह तवज्जोह व इनायत देख के वह खुद या उसका बेटा बिलास ख़ाँ मुसलमान हो गया। इस खानदान में दरवार की क़द्रदानी से हिन्दी मूसीक़ी[1] को रोज़ बरोज़ उरूज हासिल होता रहा। बाद के दरवारों में इसी नस्ल के गवैये सरफ़राज़ होते रहे। चुनांचि आज तक इस खानदान के लोग अपने आपको दरवारे मुग़लियः ही से वावस्तः खयाल करते हैं। उमूमन समझा जाता है कि इसी नस्ल के ज़रीए से हिन्दुओं का यह फ़न मुसलमानों में आया। मगर जिन वाक़िआत को हम बयान कर आये हैं, उनसे साफ़ ज़ाहिर है कि इस खानदान से बहुत पहले मुसलमानों ने इस हिन्दी कमाल को हासिल कर लिया था। चुनांचि फ़िलहाल हिन्दी मूसीक़ी के तमाम वाकमाल और कुल नामी गवैये मुसलमान ही हैं।

देहली में इस फ़न पर सबसे पहले शाहजहाँ बादशाह के अहद में किताव शमसुल-अस्वात लिखी गई, जो अब कहीं नहीं मिलती। फिर अक्वर सानी के अहद में मिर्ज़ा ख़ाँ नाम एक बुज़ुर्ग ने पंडितों और उलमाए संस्कृत की मदद से किताब "तुहफ़तुल्हिन्द" तस्नीफ़ की, जिसके दो ही एक नुस्खे बाज लोगों के पास रह गए हैं। इसमें बहुत से हिन्दी फ़ुनून को जमा किया है। जहाँ जोतिश, सरोधा[2], सामुद्रक, कोक, नाइकाभेद, इन्द्रजाल वग़ैरः मुख्तलिफ़ फ़ुनून पर बहस की है, वहाँ हिन्दी मूसीक़ी को भी बताया है।

देहली में इसी हद तक तरक़्क़ी होने पाई कि यह दिलचस्प फ़न दरबारे लखनऊ में मुन्तक़िल हो आया और नव्वाब शुजाउद्दौल: की क़द्रदानी व फ़य्याज़ी ने सारे हिन्दोस्तान के मूसीक़ी-दानों[3] को अवध की सरज़मीन पर लाके इकट्ठा कर दिया। यहाँ अयोध्या और बनारस के मूसीक़ी के पुराने स्कूल क़ायम ही थे। जौनपुर के शर्क़ी सलातीन की क़द्रदानी की कुछ न कुछ यादगारें भी बाक़ी थीं। इनमें जब देहली के बाकमाल गवैये और तानसेन ख़ाँ के मुस्तनद स्कूल के उस्तादाने मूसीक़ी भी आके मिल गए तो खास शान पैदा हो गई; और मूसीक़ी का दरअस्ल एक नया दौर शुरू हो गया।

शुजाउद्दौल: की निस्वत मुसन्निफ़े तारीख फ़ैज़ाबाद लिखते हैं कि अर्बाबे निशात[4] का बड़ा शौक़ था। हज़ारहा गानेवाली रंडियाँ उमूमन देहली से और दीगर बिलादे-दूरोदराज़ से यहाँ आके जमा हो गई थीं। आम रवाज पड़ गया था कि नव्वाब वज़ीर

१ संगीत २ स्वरोदय (श्वासविद्या) ३ संगीतज्ञों ४ संगीतकारों।

के अलावः और तमाम उमरा व सरदाराने फ़ौज भी किसी तरफ़ कूच करते तो अर्बाबे निशात और रंडियों के डेरे उनके साथ-साथ जाते।

इसका नतीजा यह था कि नव्वाब आसिफ़ुद्दौलः बहादुर के अ़हद में फ़ारसी ज़बान में किताब "उसूलुन्नग़्मातुल्आसिफ़िय्यः" लिखी गई। हिन्दोस्तान के फ़न्ने मूसीक़ी पर इससे बेहतर कोई किताब आज तक तस्नीफ़ नहीं हो सकी, अगरचि इस किताब के भी बहुत ही कम नुस्खे दस्तयाब[1] होते हैं। मेरे पास मौजूद है और मैंने इसे पढ़ा है। मुसन्निफ़ पुख़्तःमग़्ज़, साहिबेइल्मो फ़ज़्ल है। अ़रबी, फ़ारसी और संस्कृत तीनो ज़बानों में पूरी दस्तगाह[2] रखनेवाला मालूम होता है। जिसने इस अम्र[3] में बड़ी कामियाब कोशिश की है कि हिन्दोस्तान की मूसीक़ी को बहुत ही वज़ाहत के साथ हर शख़्स के ज़िह्ननशीन कर दे। असदुल्लाह ख़ाँ कौकब मर्हूम, जिन्होंने चन्द ही रोज़ हुए इन्तिक़ाल किया, मूसीक़ी[4] के आला दर्जे के साहिबे इल्म उस्ताद थे, और कलकत्ते में हिन्दोस्तानी मूसीक़ी के प्रोफ़ेसर मशहूर थे। वह इस किताब की निस्बत मुझे लिखते हैं कि "मूसीक़ी का यह फ़ारसी रिसाला मेरे पास मौजूद है। यह रिसाला उन मुअ़तबर[5] किताबों में से, जो इस इल्म की क़दीम मायए नाज़[6] बिसात हैं, मज़ामीन अख़्ज़ करके[7], बड़ी तहक़ीक़[8] और तदक़ीक़[9] से लिखा गया है।" (अफ़सोस, यह लाजवाब किताब आज तक नहीं छपी। और इसके नुस्खे इस क़द्र कमयाब हैं कि इसके फ़ना हो जाने का अन्देशः है। अगर कोई रईस तवज्जोह करें तो मुल्क और अपनी क़दीम[10] तारीख़ पर बड़ा इहसान करें।)

यह रिसाला ही बता रहा है कि आसिफ़ुद्दौलः के अ़हद के लखनऊ में मूसीक़ी की किस क़द्र तरक़्क़ी हो गई थी। इसका मुसन्निफ़ एक बड़ा मुहक़्क़िक़[11] मालूम होता है, जिसने इब्नि सीना की किताबे शिफ़ा से लेके अ़रबी और फ़ारसी मूसीक़ी के उसूल भी बसराहत[12] बता दिए हैं। दिलगुदाज़[13] के इस मज़मून की तकमील के लिए हमने प्रोफ़ेसर कौकब मर्हूम से मदद माँगी थी। उन्होंने जवाब में हमें जो कुछ लिखा, उसे हम बिजिन्सिही शायअ़ किए देते हैं। इससे बख़ूबी मालूम हो जाएगा कि लखनऊ में आने के बाद फ़न्ने मूसीक़ी की क्या हालत रही? अफ़सोस! अब वह दुनियाँ में नहीं हैं, वर्ना हमें उनसे बहुत ज़ियादः मदद मिलती। ख़ुसूसन इसलिए कि अपनी नई किताब जो फ़न्ने मूसीक़ी में लाजवाब है, वह हमारे यहाँ छपवाना चाहते थे। आसिफ़ुद्दौलः के अ़हद की तरक़्क़ी-मूसीक़ी तस्लीम[14] करने के बाद वह लिखते हैं।

"नव्वाब सआ़दतअली ख़ाँ के ज़माने में मूसीक़ी पर ओस पड़ गई। ग़ाज़िउद्दीन

---

१ प्राप्त २ निपुणता, अधिकार ३ कामों ४ संगीत ५ प्रामाणिक ६ गौरव योग्य ७ ग्रहण करके ८ जाँच ९ मनन १० प्राचीन ११ तहक़ीक़ (गवेषणा) करनेवाला १२ विस्तारपूर्वक १३ हृदयग्राही १४ स्वीकार।

हैदर के ज़माने में इस फ़न का एक बहुत बड़ा कामिल व अक्मल शख्स लखनऊ में मौजूद था, जिसका नाम हैदरी ख़ाँ था। यह साहब अपनी वारफ़्तः मिज़ाजी की वजह से "सिड़े हैदरी ख़ाँ" मशहूर थे और गोलागंज में रहते थे। ग़ाज़िउद्दीन हैदर को इनका गाना सुनने का बड़ा शौक़ था, मगर कभी इसका मौक़अ् नहीं मिला था। एक रोज़ सेहपहर को ग़ाज़िउद्दीन हैदर हवादार पर सवार दरिया किनारे तफ़रीह को निकले। रूमी दरवाज़े के नीचे लोगों ने देखा कि सिड़े हैदरी ख़ाँ चले जाते हैं। बादशाह से अर्ज़ की कि क़िबलए आलम, हैदरी ख़ाँ यहीं हैं। बादशाह को तो इश्तियाक़ था ही, हुक्म दिया कि बुलाओ। लोग पकड़ लाये और सामने खड़ा कर दिया। बादशाह ने कहा—अरे मियाँ हैदरी ख़ाँ, कभी हमें अपना गाना नहीं सुनाते? बोले, जी हाँ क्यों न सुनाऊँगा, मगर मुझे आपका मकान नहीं मालूम है। बादशाह बेइख्तियार हँस पड़े और कहा अच्छा हमारे साथ चलो, हम ख़ुद तुम्हें अपने मकान पर ले चलेंगे। "बहुत ख़ूब" कहके बेतकल्लुफ़ साथ हो लिए। छतरमंज़िल के क़रीब पहुँचे थे कि हैदरी ख़ाँ हत्थे से उखड़ गए और बोले, मैं चलता तो हूँ मगर पूरियाँ और बालाई खिलवाइएगा, तो गाऊँगा। बादशाह ने वादा किया, और महल में बैठ के गाना सुनने लगे। थोड़ी ही देर सुन के बहुत महज़ूज़[1] हुए। वज्द का आलम तारी हुआ और बेखुद व बेताब हो गए। यह हालत देख के हैदरी ख़ाँ ख़ामोश हो गए। बादशाह ने फिर गाने को कहा तो बोले, हुज़ूर! यह तम्बाकू जो आपके पेचवान में भरा हुआ है बहुत ही अच्छा मालूम होता है, आप किसकी दुकान से मँगवाते हैं? ग़ाज़िउद्दीन हैदर ख़ुद भी आशुफ़्तः मिज़ाज[2] थे और सिड़ी मशहूर थे, इस सवाल पर मुनग़्ग़िज (बददिल) हुए, तो मुसाहिबों ने अर्ज़ किया, क़िबलए आलम! यह सिड़ी तो हई है अभी तक यही नहीं समझा है कि किससे बातें कर रहा हूँ।

अब लोग बादशाह के ईमा[3] से हैदरी ख़ाँ को दूसरे कमरे में ले गए, पूरियाँ, बालाई खिलवाई, हुक़्क़ः पिलवाया। आपने पाव भर पूरियाँ, आध पाव बालाई और एक पैसे की शकर मँगवा के अपनी बीबी को भिजवाई (जो उनका हर जगह मामूल था)। जब तक इन कामों में रहे, बादशाह ने बादए नाब[4] के जाम पिए और जब नशे का ज़ोर हुआ तो फिर हैदरी ख़ाँ की याद हुई। फ़ौरन बुलवाके गाने का हुक्म दिया। मगर जैसे ही उन्होंने अपना नग़्मः शुरू किया, रोक के कहा, हैदरी ख़ाँ, सुनते हो। अगर मुझे ख़ाली खुश किया और रुलाया नहीं तो याद रखो कि गोमती में डुबवा दूंगा। अब तो हैदरी ख़ाँ की अक्ल चक्कर में आई। समझे कि यह बादशाह हैं। कहा! हुज़ूर, अल्लाह मालिक है और जी तोड़ के गाने लगे। ख़ुदा की क़ुदरत या यह कहिए कि हैदरी ख़ाँ की ज़िन्दगी थी कि थोड़ी ही देर में बादशाह पर असर हुआ, बेइख्तियार रोने लगे, और खुश होके कहा—हैदरी ख़ाँ, माँग,

---

१ आह्लादित २ अस्थिरचित्त, उद्विग्न ३ मर्ज़ी ४ ख़ालिस शराब।

क्या माँगता है ? अर्ज़ किया जो माँगूँगा, दीजिएगा ? बादशाह ने वादा किया। और हैदरी ख़ाँ ने तीन बार क़बुलवा के कहा, हुज़ूर यह माँगता हूँ कि मुझे फिर कभी न बुलवाइएगा और न गाना सुनिएगा। बादशाह ने तअज्जुब से पूछा, क्यों ? अर्ज़ किया कि आपका क्या है, मुझे मरवा डालिएगा फिर मुझ सा हैदरी ख़ाँ पैदा न होगा और आप मर जाएँगे तो फ़ौरन दूसरा बादशाह हो जाएगा। इस जवाब पर ग़ाज़िउद्दीन हैदर ने नाराज़ होके मुँह फेर लिया। यह मौक़अ पाते ही हैदरी ख़ाँ अपनी जान लेके भागे और अपने घर आए।"

ग़रज़, ग़ाज़िउद्दीन हैदर के ज़माने में यही एक बाकमाल मूसीक़ीदाँ[1] लखनऊ में था। नसीरुद्दीन हैदर के ज़माने में यूँ तो हज़ारों गानेवाले थे, मगर इस पाए का गवैया कोई न था। मुहम्मदअली शाह और अमजदअली शाह के ज़माने सक़ाहत मआबी[2] के अहद[3] थे, इसलिए कि मुहम्मदअली शाह में पीरानःसाली[4] की बेहिसी थी और अमजदअली शाह बग़ैर क़िबलः व कअबः से पूछे कोई काम न करते थे। लिहाज़ा उनके ज़माने में बअ्ज़ शौक़ीन रुअसाए शहर[5] अर्बाबे निशात[6] के क़द्रदान भी थे तो छुपा के गाना सुनते। इसलिए इस फ़न की जो कुछ क़द्र हुई, वाजिदअली शाह के अहदेशबाब की तख़्तनशीनी में हुई जब कि लखनऊ का साग़रेऐश छलकने को था और गुल होनेवाला चिराग़ आख़िरी मर्तबः भड़क के रौशन हुआ था।

फ़न्ने मूसीक़ी का दूसरा दौर—साज़-बाज

अगरचि हम नसीरुद्दीन हैदर और बाद वाले फ़रमाँ रवायाने अहद के मूसीक़ी[7] के बारे में कुछ और भी बयान करना चाहते हैं, मगर इससे पहले मुनासिब मालूम होता है कि असदुल्लाह ख़ाँ कौकब मर्हूम के ख़त का बाक़ी मान्दः हिस्सा भी अपने नाज़िरीन को सुना दें; जिससे लखनऊ की मूसीक़ी पर एक मुस्तनद माहिरे फ़न की राय मालूम हो जाएगी।

वह तहरीर फ़रमाते हैं—वाजिदअली शाह के अहद में लखनऊ में बाकमालाने मूसीक़ी का गिरोहे कसीर[8] जमा हो गया था। लेकिन दरबार के रुसूख़ याफ़्तः और साहिबे ख़िताब गवैये कामिलीने फ़न[9] न थे। सिर्फ़ एक क़ुतबुद्दौलः रामपुर के रहनेवाले अलबत्तः सितार ख़ूब बजाते थे और अपने फ़न में अच्छे थे। अनीसुद्दौलः, मुसाहिबुद्दौलः, वहीदुद्दौलः और रज़ीउद्दौलः अगरचि गवैये थे मगर ऐसे बाकमाल न थे, फ़क़त इनायतेशाही से दौलः हो गए थे। कामिलीने फ़न में यह लोग थे—प्यार ख़ाँ, जफ़र ख़ाँ, हैदर ख़ाँ, बासित ख़ाँ। यह सब लोग मियाँ तानसेन के ख़ानदान की यादगार थे। इस ख़ानदान के दो नामी शख़्स आजकल मौजूद हैं : एक वज़ीर ख़ाँ

१ संगीतज्ञ २ उपासना-श्रद्धा ३ समय ४ वृद्ध पीरों ५ शहर के धनवान ६ नाचगाने ७ संगीत ८ बड़ा गिरोह ९ पूर्णकलाविद्।

जो रियासते रामपुर में हैं, दूसरे मुहम्मद अली खाँ जो रियासते परसंडा में मुलाज़िम हैं। मुहम्मदअली खाँ के वालिद बासित खाँ थे जिनका नाम ऊपर आ चुका है।

इस मौक़े पर कौकब खाँ मर्हूम बताते हैं कि मेरे वालिद मर्हूम नेमतुल्लाह् खाँ ने बासित खाँ ही से इल्मे मूसीक़ी हासिल किया था। नेमतुल्लाह् खाँ तक़रीबन ग्यारह् साल तक मटियाबुर्ज में वाजिदअली शाह् के साथ रहे, फिर इसके बाद तीस बरस तक दरबारे नैपाल में रहे।

इसके बाद लिखते हैं, वाजिदअली शाह् के अ़हद में मूसीक़ी का खूब चर्चा रहा। लेकिन इल्मे मूसीक़ी अपने बलन्द पाए से गिर के छोटी-छोटी चीज़ों पर आ गया था। लखनऊ में कदर पिया ने ठुमरियाँ तसनीफ़ कर-करके अवाम में फैलाईं और मूसीक़ी को बेहिस कर दिया। चुनांचि अक्सर शैदायाने मूसीक़ी[1] आला दर्जे की राग-रागनियों को छोड़ के कदर पिया की ठुमरियाँ पसन्द करने लगे। मूसीक़ी के मज़ाक़ में तनज़्ज़ुल[2] मुहम्मद शाह् रंगीले ही के अ़हद से शुरू हो गया था। जब मियाँ सारंग ने ख़याल को तसनीफ़ किया जिससे फ़न्ने मूसीक़ी उसूलन नाक़िस[3] हो गया। मगर इससे बदरजहा ज़ियादः ख़राबी कदर की ठुमरियों से पैदा हो गई और अब अ़वामो-रुअसा की यह् हालत थी कि आला क़िस्म की मूसीक़ी को अगर सुनते भी थे तो दिलचस्पी व शौक़ से नहीं, बल्कि नापसन्द करते थे।

वाजिदअली शाह् के गवैयों में से अनीसुद्दौलः और मुसाहिबुद्दौलः ने मूसीक़ी को प्यार खाँ से हासिल किया था, जो बहुत बड़ा साहिबे कमाल उस्ताद था। और जो कुछ इसने इन दोनो शागिर्दों को बताया, वह बेशक आला पैमाने पर था। लेकिन इसका क्या इलाज कि दरबार में ऐसे मूसीक़ी की क़द्र ही न थी। रहस जो क़ैसरबाग़ में होता था, जिसमें वाजिदअली शाह् खुद कन्हैया बनते थे, बहुत ही मुब्तज़ल[4] दर्जे का मूसीक़ी था। इसमें शक नहीं कि रग़बत[5] न होने पर भी अह्ले कमाल की दरबारे शाही में बड़ी क़द्र होती थी। जिसकी असल वजह यह थी कि वाजिदअली शाह् ने भी बासित खाँ से फ़न्ने मूसीक़ी हासिल किया था। और फ़न में पूरी बसीरत रखते थे। अपनी आ़ली दिमाग़ी की वजह से अपने तर्ज़ में नई रागनियाँ तस्नीफ़ कीं जिनके नाम अपनी तबियतदारी से जोगी कुन्टर, जूही, शाह्पसन्द वग़ैरः रखे। वाजिदअली शाह् को इस फ़न में असातिज़ः[6] का दर्जा हासिल था। साहिबे कमाल थे मगर इस इल्ज़ाम से नहीं बच सकते कि उनके आ़मियानः मज़ाक़ ने लखनऊ में मूसीक़ी को सुबुक और आम फ़ह्म बना दिया। ज़माने का यह रंग देख के, नफ़ीस तबियतें रखनेवाले गवैयों ने भी राग रागनियों की मुश्किलात को तर्क करके, छोटी-छोटी सादी दिलकश और आम फ़ह्म चीज़ों पर मूसीक़ी[7] को क़ायम किया। अ़वाम

---

१ संगीत के प्रेमी २ उतार, अवनति ३ दूषित ४ निकृष्ट ५ रुचि ६ उस्तादों ७ संगीत।

में ग़ज़ल, ठुमरी का चर्चा हो गया। ध्रुपद व धँवार वग़ैरः जो निहायत सक़ील और मुश्किल चीज़ें हैं, उनकी तरफ़ मुतलक़ तवज्जोह न की गई।

खमाच, झंझौटी, भैरवीं, सेंदूरा, तिलककामोद, पीलू वग़ैरः छोटी-छोटी मज़ेदार रागनियाँ अहले मज़ाक़ के तफ़न्नुन के लिए मुन्तख़ब की गईं और यही चीज़ें बादशाह को बित्तबअ[1] मर्ग़ूब[2] थीं। यह रागनियाँ लखनऊ की क़द्रदान सोसायटी के मज़ाक़ में यहाँ तक सरायत[3] कर गईं कि आज सारे हिन्दोस्तान में लखनऊ के सफ़ेदे ख़रबूज़ों की तरह, लखनऊ की भैरवीं भी मशहूर हो गई। और सच यह है कि भैरवीं लखनऊ ही का हिस्सा है। ऐसी भैरवीं हिन्दोस्तान के किसी हिस्से में नहीं गाई जाती। सोज़ख़्वानों ने भी इन्हीं आम पसन्द व आम फ़हम रागनियों को ज़ियादः रवाज दिया जो मज़हब की सिफ़ारिश से घर के बैठनेवाली औरतों तक के गले में उतर गईं। यहाँ तक कि उनकी नोहःख़्वानी सुन के बड़े-बड़े बाकमाल गवैये नक़्शे हैरत बन जाते हैं। सोज़ख़्वानों में से अक्सर प्यार खाँ और हैदर खाँ के शागिर्द थे।

लय एक अहम जुज़वे मूसीक़ी है जिसको उर्फ़े[5] आम में टाइम या वक़्त कहना ज़ियादः मौज़ूँ है। इसका माद्दः वाजिदअली शाह में ज़ियादः था, जिसे क़ुदरत की देन कहना चाहिए। और यूँ तो लय का माद्दः कमोबेश[4] हर शख़्स में ज़रूर मौजूद होता है। शुअरा ने जो औज़ान मुक़र्रर किए हैं वह भी लय ही से तअल्लुक़ रखते हैं; इल्मे अरूज़ दरअस्ल मुकम्मल लय है। अर्कान ताल के अजज़ा[6] हैं यह बदीही अम्र है कि जिस शख़्स में फ़ितरतन लय का माद्दः बहुत बढ़ा हुआ होगा, उसके हर अज़ो और बुने मू से हरकतें बेइख़्तियारी व रबूदगी पैदा हो जाएगी, और लय पर अज़ो-अज़ो[6] फड़कने लगेगा। अवाम की नज़र में यह हरकत बे-वक़अत और मुहमल मालूम होती है। लेकिन वह शख़्स जिससे सरज़द[7] होती है, मजबूर है। वह दानिस्तः इस फ़ेल[8] को नहीं करता, बल्कि अअज़ा ख़ुद ब ख़ुद लय पर हरकत करने लगते हैं। वाजिदअली शाह के इसी फ़ेल को लोग कहते हैं कि वह नाचते थे। हालाँकि वह नाचते न थे बल्कि लयदारी में महो[9] होके उनके अअज़ा से ऐसे हरकात सरज़द होने लगते थे, जो लोग उसूलेमूसीक़ी से नावाक़िफ़[10] हैं, कहने लगे, बादशाह नाचते हैं। दरअसल वाजिदअली शाह कभी और किसी ज़माने में नहीं नाचे। उनका नाचना बस यही था, जिसकी वजह यही थी कि लयदारी में कोई आला दर्जे का कामिले फ़न गवैया भी बादशाह का मुक़ाबिला न कर सकता था। मैंने उनकी सुहबत के मुअतबर[11] गवैयों से सुना है कि बादशाह के पाँव का अंगूठा सोते में भी लय ही पर चलता था।

नृत्य, जिसको भाव बताना कहते हैं, यह फ़न भी इल्मेमूसीक़ी का एक ख़ास जुज़ है। नृत्य का मक़सद यह है कि माफ़िज़्ज़मीर[12] हरकात और इशारों से अदा

१ मन से २ पसन्द ३ उतर गई ४ न्यूनाधिक ५ भाग ६ अंग-अंग ७ घटित ८ काम ९ लीन १० अज्ञानी ११ विश्वसनीय १२ मन की बात।

किया जाए; जिसको अंग्रेज़ी में मोशन कहते हैं। मोशन बड़े-बड़े जैयद स्पीकरों और लेक्चरारों में पाया जाता है लेकिन उन्हें कोई हदफ़े मलामत[1] नहीं बनाता। मगर बेचारे वाजिदअली शाह महज़ अपनी लयदारी की वजह से बदनाम किए जाते हैं।

यह है जो लखनऊ की मूसीक़ी और वाजिदअली शाह के मुतअल्लिक़[2] कौकब मर्हूम की तहरीर से मालूम हुआ। इससे साफ़ पता चलता है कि लखनऊ ने चाहे आला दर्जे की मूसीक़ी को रवाज न दिया हो, मगर उसके सुधारने और आम पसन्द बनाने का यह शहर कितना बड़ा स्कूल क़रार पा गया था।

ग़ाज़िउद्दीन हैदर ही के ज़माने में यहाँ आला दर्जे के क़व्वालों की शुहरत थी। छज्जू ख़ाँ और ग़ुलाम रसूल उस्तादे फ़न माने जाते थे।- शूरी इतना ज़बर्दस्त मूजिदे फ़न था कि टप्पे का मूजिद वही माना गया है। बख़्शू और सुलारी उन दिनों तबल: बजाने के उस्ताद माने जाते थे। और इनके मुक़ाबिल किसी को तबल: छूने की जुर्अत[3] न होती थी।

इस आख़िर ज़माने में सादिकअली ख़ाँ सारे हिन्दोस्तान में उस्तादे बेबदल माने जाते थे। छोटे और बड़े मुन्ने ख़ाँ के गाने में ऐसा मज़ा और लुत्फ़[4] था कि बावजूद कामिले फ़न होने के नावाक़िफ़ अवाम को भी अपने नग़मे पर फ़रेफ़्तः[5] कर लेते।

मटियाबुर्ज में जो ढाड़ी, वाजिदअली शाह के दरबार में मुलाज़िम थे उन सबको मैंने ख़ुद सुना था। अहमद ख़ाँ, ताज ख़ाँ और ग़ुलाम हुसैन ख़ाँ उस वक़्त के ज़बर्दस्त साहिबे कमाल माने जाते। दुन्नी ख़ाँ जिसने सारे कलकत्ते में अपनी धूम मचा रखी थी, और अपने सिह्र आफ़्रीं[6] गले से हर अदना व आला को फ़रेफ़्तः कर लिया करता, लखनऊ ही का था और लखनऊ ही के स्कूले मूसीक़ी का तालीम-याफ़्तः था। मर्द गवैयों के अलावः लखनऊ में बाज़ रंडियों ने वह कमाल हासिल किया कि बड़े-बड़े ढाड़ी उनके सामने कान पकड़ते थे। ज़ुहरः व मुश्तरी जो शाअिरः भी थीं, गाने में अपना जवाब न रखती थीं। चूनेवाली हैदर को वह नामवरी[7] हासिल हुई कि उसके गले से सोज सुनने के लिए लोग मुहर्रम के इन्तिज़ार में दिन गिना करते और मुहर्रम में बाहर के सैकड़ों हज़ारों शौक़ीन लखनऊ में आके हैदर के इमामबाड़े में घन्टों उम्मीदवार बने बैठे रहते कि कब बी हैदर अपना नग़्मए ग़म शुरू करेंगी।

तबल: बजाने में आख़िर अह्द का कामिल, मुहम्मद जी था, जिसकी सारे हिन्दोस्तान में शुहरत थी। तक़रीबन तीस साल का ज़माना हुआ, मुझे एक जन्टिल-मैन (Gentleman) महेटा मिला जो कोट पतलून पहने हुए था और किसी

---

१ बुराई का निशाना २ सम्बन्ध में ३ हिम्मत ४ आनन्द ५ मोहित
६ जादू पैदा करनेवाला, चमत्कारी ७ शुहरत, ख्याति।

मुअज़्ज़ज़ ख़िदमत पर मामूर था। मुझसे मिलके उसने कहा कि "मैं लखनऊ सिर्फ़ इस शौक़ से आया हूँ कि यहाँ के बाकमालाने मूसीक़ी का कमाल देखूँ।" मैंने पूछा आप कौन हैं? कहा "मैं ख़ानदानी गवैया हूँ और मेरे बाप दादा शिवा जी के दरबार में गवैये थे। अगरचि अब अंग्रेज़ी तालीम पाने के बाद नौकरी कर ली है, मगर अपने ख़ानदानी फ़न को भी जानता हूँ।" इत्तिफ़ाक़न उस वक़्त एक और साहब आ गए जो लखनऊ की मशहूर गानेवाली मुहम्मदी के वहाँ आते जाते थे। बोले, चलिए आप मेरे साथ चलिए। वह महँटे साहब मुझे भी अपने साथ खींच ले गए; और हम सब मुहम्मदी के वहाँ पहुँचे। इत्तिफ़ाक़न वहाँ सादिक़अली ख़ाँ भी मौजूद थे। और सब ने अपना कमाल दिखाया। ख़ुद वह महँटा भी गाया। इसके बाद हम सब चौधराइन के वहाँ गए, जो घर यहाँ साहिबाने फ़न का सबसे बड़ा क्लब समझा जाता है। वहाँ दोनो मुन्ने ख़ाँ बुलाए गए। उन्होंने गाके अपना कमाल दिखाया। आख़िर में उस महँटे ने कहा, "मुझे तो सिर्फ़ इतनी तमन्ना यहाँ लाई है कि मैं एक तराना गाऊँ और मुहम्मद जी मेरे साथ तबल: बजावें।" फ़ौरन मुहम्मद जी बुलवाए गए, और महँटे जंटिलमैन के गाने और मुहम्मद जी के बजाने में कुल हाज़िरीन को बड़ा मज़ा आया। सब अश्-अश् कर गए और आख़िर में उस महँटे ने क़बूल कर लिया कि मैं सब जगह गया हूँ, मगर मुहम्मद जी से ज़ियाद: बाकमाल तबल:नवाज़ आज तक आँख से नहीं देखा था।

लखनऊ में मूसीक़ी[1] का इस क़द्र उरूज हो गया था कि बख़िलाफ़ और शहरों के उमरा और दौलतमन्दों के, यहाँ के उमरा ज़ौक़े सही रखते हैं, समझते हैं। धुनों, रागों और रागनियों को पहचानते हैं और दो ही एक तानें सुन के समझ जाते हैं कि यह गवैया किस पाये का है। मामूली गानेवाला यहाँ की सुहबतों में फ़रोग़[2] नहीं पा सकता। बाज़ारी लोग और उमूमन[3] लड़के जो सड़कों और गुज़रगाहों में गाते फिरते हैं, वह भी मुख़्तलिफ़ चीज़ों को ऐसे सच्चे सुरों में अदा करते हैं कि मालूम होता है कि रागिनी और लय गले में उतरी हुई है। अक्सर शहरों में लोग कसरत[4] से ऐसे मिलेंगे जो शेअ्रों को मौज़ूँ[5] नहीं पढ़ सकते। बख़िलाफ़ इसके, यहाँ आपको ऐसा जाहिल ढूँढ़े न मिलेगा जो अश्आर को मौज़ूँ न पढ़ सकता हो। यह दलील है इस बात की कि लयदारी यहाँ के बच्चे-बच्चे के रगोपै में सरायत[6] कर गई है। बअ्ज़ औक़ात किसी बाज़ारी लड़के को भैरवीं, सोहनी, भोग या किसी और धुन में ऐसी ख़ूबी से गाते सुना गया है कि सुननेवाले महो[7] हो गए और बड़े-बड़े गवैयों को उन पर हसद आने लगा।

मूसीक़ी के सिलसिले में मुनासिब मालूम होता है कि हम साज़ों और आलाते मूसीक़ी[8] का भी हाल बयान कर दें।

---

१ संगीत २ उन्नति ३ प्रायः ४ अधिकता ५ ढंग से ६ उतर गई
७ मोहित, मुग्ध ८ संगीत के (वाद्य) यन्त्र।

मूसीक़ी में दो चीज़ें होती हैं, सुर और लय। इन दोनो चीज़ों में बिगड़ना, गाने का नाक़ाबिले-अफ़्व[1] ऐब है। लिहाज़ा इन दोनो की निगहदाश्त[2] के लिए दो ही साज़ों की ज़रूरत हुई। चुनांचि फ़िलहाल सुर पर रहने की मदद के लिए सारंगी और लय पर क़ायम रहने की ज़रूरत से तबलः काम में लाये जाते हैं।

सुरों की मदद के लिए हिन्दोस्तान का पुराना साज़ बीन थी जिसमें एक मुजव्वफ़[3] चौड़ी नली के दोनो सिरों पर दो तुम्बियाँ लगाई जातीं और उस पर सातों सुरों के सात तार खींच दिए जाते। जिनका नग़्मा नली के अन्दर से दोनो जानिब दौड़ के तुम्बियों में गूंजता। मुसलमान अपने साथ रुबाब, चंग और सरूद[4] लाये। रुबाब ग़ालिबन अरबी बाजा था जिसने अब्बासियः के दौर में बहुत तरक़्क़ी की थी। चंग और सरूद अज़मी बाजे थे। इनमें से चंग बहुत ही पुराना साज़ है, जिसका सुराग़ असीरिया, बाबुल, मिस्र, यूनान और रोम, ग़रज़ तमाम अगली क़ौमों में लगता है। सरूद ख़ालिस फ़ारसी बाजा था, जिसको अब्बासी दौर के मुग़न्नियों[5] ने इख़्तियार करके बहुत तरक़्क़ी दी। हिन्दोस्तान में आने के बाद जब हिन्दुओं और मुसलमानों के नग़्मों में मेल-जोल हुआ तो पहले तम्बूरः ईजाद हुआ जो दरअस्ल बीन का इख़्तिसार और सिर्फ़ सुरों के क़ायम रखने का काम देता था, और तन्हा बजाने की चीज़ न था। चन्द रोज़ बाद अमीर ख़ुसरो ने सितार ईजाद किया जो दरअस्ल बीन और तम्बूरः दोनो में एक आसान और आम पसन्द तसर्रुफ़[6] था। लेकिन बीन हो या तम्बूरः या सितार, गले का पूरा साथ कोई न दे सकता था। यह कमी देख के मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार के ज़बर्दस्त व नामवर मुग़न्नी मियाँ सारंग ने सारंगी ईजाद की जो उन्हीं की तरफ़ मंसूब है। सारंगी ने बीन तम्बूरे और सितार सबको पीछे डाल दिया और रक़्स व सरूद की महफ़िलों में ऐसा रुसूख़ हासिल किया कि अगले साज़ों के बजाने वाले भी फ़ना[7] हो गए। इन्हीं पुराने साजों में यहाँ एक क़ानून भी था, जिसे यक़ीनन मुसलमान शाम व ईराक़ से अपने साथ लाए थे। इसके बजाने वाले भी अब शाज़ोनादिर[8] ही कहीं नज़र आते हैं। ग़रज़ ऐश व तरब[9] की महफ़िलों से सारंगी ने इन सबको निकाल दिया और इन क़दीम साज़ों की यह शान रह गई कि आला दर्जे के उस्ताद गवैयों में कभी-कभी कोई एक क़िन्यः[10] नज़र आ जाता है जिसे बीन या सरूद, रुबाब या क़ानून के बजाने में कमाल हासिल होता है। सितार नौजवानों के तफ़न्नुने तबअ[11] के लिए रह गया जिसे वह बग़ैर गाने के बजाते और सुनते हैं और इसके साथ कोई गाने भी लगता है।

अब रहा तब्लः, यह अगरचि लय के लिए बहुत ही लाज़िमी[12] चीज़ है मगर

---

१ माफ़ न करने लायक, अक्षम्य २ देखभाल ३ खोखली ४ सरूद या सरोद, एक बाजा ५ गायकों ६ बैपरने की चीज़ ७ निर्मूल ८ बहुत कम ही ९ आनन्द १० रत्न ११ मनोरंजन १२ अनिवार्य।

इस क़िस्म की किसी चीज़ का पता दीगर[१] मुमालिक की पुरानी क़ौमों में न था। लड़ाई में तवलए जंग बजता। नौबत में नक़्क़ारा वजाया जाता। मगर नाच-गाने के साथ सिवाय हिन्दोस्तान के और कहीं इस क़िस्म की कोई चीज़ अगले ज़माने में न थी। सिवा दफ़[२] के, जो अरवों में थी और गाने के साथ वजाई जाती थी। यहाँ भी गाने के साथ सबसे पहले दफ़ का रवाज मालूम होता है, जो बीन के साथ वजती और लय के क़ायम रखने में मदद देती। इसके वाद क़दीमुलअय्याम[३] ही में मिर्दंग निकली जो ग़ालिबन श्रीकृष्ण के ज़माने में मौजूद थी। और उनकी बाँसुरी के नग़मे के साथ मिर्दंग की गमक भी जमुना किनारे वृज के जंगल में सुनी जाती थी। मिर्दंग के वाद तरक़्क़ी यह हुई कि पखावज वनी, जो आला मूसीक़ी का खूब साथ दे सकती थी। अव उसके वाद से आम लोगों में और घर की वैठनेवाली औरतों में ढोल का रवाज हुआ जो मिर्दंग और पखावज से निकल के आमपसन्द हो गई। और खास बाकमालानें मूसीक़ी की आला महफ़िलों के लिए तव्ल: ईजाद हुआ, जिसमें पखावज के दोनो रुख दो जुदा साज़ों में तक़सीम हो के, दाहना और वायाँ के नाम से मशहूर हुए। तव्ल: यक़ीनन मुसलमानों के आने के वाद की ईजाद है। अगरचि हमें नहीं मालूम की लयदारी के इन साज़ों में मज़कूर: तरक़्क़ियाँ कव और किसके हाथ से हुईं।

नाच (नृत्यकला)

मूसीक़ी के साथ नाच ने भी एक मुम्ताज फ़न की हैसियत से लखनऊ में वहुत नुमायाँ तरक़्क़ी की। रक़्स[४] हर क़ौम में था और क़दीम से क़दीम ज़माने में था। फ़राअ़िन:ए-मिस्र के सामने बाँकी रसीली औरतें खड़ी हो के साज़ के साथ नाचा करती थीं। हज़रत मसीह के अह्द में विप्तसमा देनेवाले यूहन्ना का सर हुरुडिया ने नाच ही से कटवाया था। मगर हिन्दोस्तान में वहुत साफ़ तौर पर मालूम होता है कि गाने की तरह नाचना भी अिवादत में दाखिल था और यहाँ फ़न्ने रक़्स[५] की परवरिश हमेशा मज़हव ही के आग़ोश[६] में हुई। चुनांचि इन फ़न के जानने और करनेवाले खास व्रहमन थे और उनका मर्कज़ या तो अजुध्या और वनारस के कथिक थे, या मथुरा और वृज के रहसधारी। यह अजव वात है कि हिन्दोस्तान के तमाम क़दीम[७] मन्दिरों में अगरचि सैकड़ों हजारों औरतें देवताओं की मूरतों के सामने रोज़ मुजरा किया करती थीं और जहाँ वड़े मअ़वद[८] थे वहाँ क़दीम से क़दीम ज़माने में नाचनेवालियों का एक वड़ा भारी गरोह भी मौजूद रहा करता था, मगर नाचने की उस्तादी हमेश: मर्दों में रही और वही जवान औरतों को इसकी तालीम दिया करते थे।

---

१ अन्य २ ढपली ३ प्राचीनकाल। ४ नाच ५ (ताण्डव) नृत्य ६ वाहों (गोद) ७ प्राचीन। ८ उपासनागृह।

नाचना दरअस्ल हरकातें जिस्मानी के वाक़ाअिदः बनाने का नाम है। हरकात की इस वाक़ाअिदगी को अगर बहुत से अश्ख़ास के हरकात के मुवाफ़िक़[1] यकसाँ और मौज़ूँ बनाने से तअल्लुक़ हो तो वह ड्रिल या फ़ौजी क़वाअिद[2] है या यूरोप के म्यूज़िक हालों का वह नाच है जो "बैण्ड" कहलाता है और अब अक्सर हिन्दोस्तान के थेटरों में नजर आ जाया करता है। और अगर वह हरकात की बाक़ाअिदगी मूसीक़ी की लय और आवाज़ के निशेबोफ़राज़[3] के मुवाफ़िक़ बनाने से इलाक़ः रखे, तो वह रक़्स[4] है। हिन्दोतान का असली ख़ालिस रक़्स यही है कि जिस्म के हरकात व सकनात, गीतों और शेअ्रों के ज़ीरोबम[5] के मुताबिक़ और मुनासिब बना लिए जाएँ। यह असली नाच है जो हिन्दोस्तान में एक बहुत बड़ा वसीअ़ फ़न बन गया। इसकी सैकड़ों गतें और बेशुमार तोड़े और टुकड़े ईजाद हो गए। इसके बाद रक़्स में जज़बात व ख़यालात का इशारों और हरकतों से अदा करना भी शामिल कर लिया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि कभी गाना नाचने की शरह बन जाता है। फिर जब ख़ूबसूरत औरतों का नाचना लोगों को फ़ितरतन पसन्द आया, तो माशूक़ानः नाज़ो-अन्दाज़ दिखाना और नज़ाकत व नाज़नीनी की अदाओं का ज़ाहिर करना भी इसका जुज़ बन गया, लखनऊ के स्कूल ने इन्हीं उमूर का लिहाज़ करके, ज़नाने और मर्दाने तायफ़ों में इम्तियाज़[6] पैदा कर दिया। नज़ाकत के साथ अदाएँ बताना। माशूक़ानः नाज़ोअन्दाज़ दिखाना और हर हरकत में माशूक़िय्यत व नाज़नीनी का लिहाज़ रखना, नाचनेवाली औरतों के साथ मख़सूस रहा। जो बड़ज वक़्त अगर बेमज़ा हो तो नाज़िरीन की तबीअ़तों को सुस्त और पस्त कर देता है। इसके मुक़ाबिल हरकात को लय के मुनासिब बनाने में चलत-फिरत दिखाना और शाअिरानः दिलकशी से इज़हारे जज़बात करना मर्दाने तायफ़ों के लिए ख़ास हो गया। अगरचि दोनो गरोह एक दूसरे के फ़न का एक मुनासिबहद तक ज़रूर लिहाज़ रखते हैं। मगर यह इम्तियाज़ नुमायाँ तौर पर क़ायम है।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि अवध और लखनऊ में अर्बाबे निशात[7] और मुजरा करनेवाली रंडियों के तायफ़ों का आ-आके जमा होना, नव्वाब शुजाअुद्दौलः ही के ज़माने में इन्तिहाई दर्जे को पहुँच गया था। इनके अलावः अजोध्या और बनारस के कथिक जो यहीं या क़रीब ही मौजूद थे, क़द्रदानी देख के, दरबार के मर्कज़ की तरफ़ खिचने लगे। और दोनो के मेल-जोल से रक़्स का फ़न नुमायाँ तरक़्क़ी करते-करते यहाँ ख़ास शान पैदा करने लगा।

मर्द नाचनेवालों के यहाँ दो गरोह हैं, एक हिन्दू कथिक और रहसधारी, और दूसरे मुसलमान कशमीरी भाँड। मगर असली नाचनेवाले कथिक हैं। और कशमीरी तायफ़ों ने मालूम होता है अपनी नक़्क़ाली के कमालात में जान डालने के लिए अपने

---

१ अनुसार २ परेड ३ चढ़ाव-उतार ४ नाच (ताण्डव) ५ स्वरों का उतार-चढ़ाव ६ अन्तर ७ गाने बजानेवाले।

गरोह में एक नाचनेवाला नवउम्र लड़का बढ़ा लिया, जो बाल बढ़ा के, औरतों का-सा जूड़ा बाँधता है, और निहायत ही फ़ुर्तीलेपन से नाच के, अपनी चलत-फिरत से महफ़िल में ज़िन्द:दिली और ताज़गी पैदा कर देता है।

हिन्दू कथकियों में से कोई न कोई बाकमाल हर ज़माने में यहाँ मौजूद रहा। यह लोग अपने फ़न का बानी महादेवजी, पार्वतीजी और कन्हैयाजी को बताते हैं। शुजाउद्दौल: और आसिफ़ुद्दौल: के अहद में खुशी महाराज नाचने का बड़ा ज़बर्दस्त उस्ताद था। नव्वाब सआदतअली ख़ाँ, ग़ाज़िउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन हैदर के दौर में हिलालजी प्रकाशजी, और दयालुजी मशहूर नाचनेवाले थे। मुहम्मदअली शाह के जमाने में वाजिदअली शाह के अहदे फ़रमारवाई तक प्रकाशजी के बेटों, दुर्गाप्रसाद और ठाकुरप्रसाद के नाच की शुहरत रही। दुर्गाप्रसाद की निस्बत कहा जाता है कि नाच में वाजिदअली शाह का उस्ताद था। इसके बाद दुर्गाप्रसाद के बेटों, कालका और बिन्दादीन की शुहरत हुई और क़रीब-क़रीब तमाम लोगों ने मान लिया कि सारे हिन्दोस्तान में नाचने का इन दोनों से ज़ियाद: साहिबे कमाल उस्ताद कोई नहीं है। पुराने उस्ताद किसी खास बात में नमूद[१] हासिल करते थे, मगर इन दोनों भाइयों खुसूसन बिन्दादीन ने नाच के तमाम फ़ुनून में कमाल दिखा के, अपने आपको हर हैसियत से उस्ताद बे बदल साबित कर दिया। और आजकल के अक्सर मशहूर नाचनेवाले इन्हीं दोनों भाइयों के शागिर्द हैं। और इनका घर हिन्दोस्तान भर का सबसे बड़ा रक़्स का स्कूल है।

कालका थोड़ा ज़माना हुआ कि मर गया और सच यह है कि उसके मरने से बिन्दादीन के नाच का मजा उठ गया। बिन्दादीन की उम्र इस वक़्त ७७ साल की है और अब भी नाच के शायक़ उसका मुजरा देखने को अपनी ज़िन्दगी की एक यादगारे मसर्रत तसव्वुर करते हैं। उसका गत पर नाचना, रक़्स के उस्तादान: तोड़े और टुकड़े असली सूरत में दिखाना, घुंघरू बजाने में यह इख्तियार और क़ुदरत ज़ाहिर करना कि जय[२] घुंघरू चाहे बजाये और इसके बाद हर-हर लफ़्ज़ और हर-हर चीज को बताना, ऐसी चीजें हैं जिनका बिन्दादीन पर ही खात्म: है। वह एक-एक चीज को सौ-सौ अदाओं, वज़ओं[३], नज़ाकतों और दिलफ़रेब इशारों से बताता है, और उसमें एक ऐसी नाज़ुकखयाली और जिद्दत[४] तराज़ी होती है कि देखनेवाला जानता न हो तो समझ नहीं सकता। मामूल था कि बिन्दादीन (भाव) बताता और कालका पास खड़े हो के उसकी तश्रीह करता जाता। उसकी तश्रीह ही से लोगों को पता चलता कि बिन्दादीन अपने फ़न में कैसा कमाल दिखा रहा है। नाच में उसके पाँव इस नज़ाकत से ज़मीन पर पड़ते हैं कि मशहूर है बाज़ औक़ात[५] वह तलवार की बाढ़ पर नाचा और मजाल क्या कि जो तलवे पर चर्का आया हो।

---

१ नाम, ख्याति २ जितने ३ रूपों ४ नवीनता ५ कभी-कभी।

भाँड

मर्द नाचनेवालों का दूसरा गिरोह, भाँड हैं। उनके मुजरे की शान यह है कि एक नवखेज़[१] व ख़ुशरू[२] लड़का, जिसके बाल औरतों की तरह लम्बे होते हैं, रंगीन और ज़र्क़-वर्क़ कपड़े पहन के और पाँव में घुँघरू बाँध के नाचता-गाता है। उसके साथ का साज़, लय में डूबा हुआ और दिलों को उभारनेवाला होता है। उसके नाच में ग़ैर मामूली चलत-फिरत और शोख़ी व चालाकी होती है और उसका गाना भी इसी रंग और मज़ाक़ के मुनासिब होता है। साथ बजानेवालों के अलावः सात आठ या इससे ज़ियादः भाँड रहते हैं जो उनके नाच-गाने पर वाह-वाह के नारे बुलन्द करते। मुतअस्सिर[३] हो-होके ताल देते और अक्सर ख़िलाफ़े तहज़ीब[४] बेएतिदालियों[५] से उसके हरकात व सकनात और उसकी अदाओं पर हँसानेवाले रिमार्क करते रहते हैं। और जहाँ वह लड़का थोड़ी देर गा चुका, वह सामने आके नक़लें करते और बज़लःसंजी[६] व नक़्क़ाली का कमाल दिखाते हैं।

लखनऊ में इन लोगों के दो गिरोह हैं: एक कशमीरी जो कशमीर से आए हैं। और दूसरे खास यहाँ के, जिनका पेशा इब्तिदाअन कुछ और था। मगर अब नक़्क़ाली उनका खास फ़न हो गया है।

नक़्क़ाली और ख़ुसूसन रक़्सो सुरोद[७] के साथ नक़्क़ाली हिन्दोस्तान का बहुत ही पुराना फ़न था, जो राजा विक्रमाजीत के दरबार में यानी हज़रत मसीह से पहले बहुत तरक़्क़ी पर था। मगर उस वक़्त इसमें आला दर्जे के ड्रामा दिखाए जाते और साथ यह है कि वह बहुत ही मुहज़्ज़ब व शाइस्तः नक़्क़ाली थी। हिन्दोस्तान की अदना क़ौमों की तक़रीबों में आज तक मामूल है कि जब वह लोग ख़ुद ही नाचते-गाते हैं तो उन्हीं के साथ मुज़हिक़[८] नक़लें करते हैं।

मुसलमानों के ज़माने में दौलतें मुग़्लियः से पहले भाँडों और नक़्क़ालों का पता नहीं लगता। मुमकिन है कि हों और इस दौर के वक़ाइअ निगारों[९] ने उनको क़ाबिले लिहाज़ न खयाल किया हो। मगर दौलतें मुग़्लिय्यः के ज़माने में भाँडों ने खास नमूद[१०] हासिल कर ली थी। इनका पता औरंगज़ेब के बाद से मिलता है, जब उमरा व सलातीनें[११] देहली को मुल्कगीरी व मुल्कदारी की ज़हमतों से छुट्टी मिल गई थी और सिर्फ़ दरबारदारी व ऐशपरस्ती को अपना आबाई हक़ तसव्वुर करने लगे थे। मगर दरअस्ल इन भाँडों ने यहाँ की सोसाइटी में अजीब-अजीब काम किए। यही यहाँ के नेशनल स्टार्स हैं; और उन्होंने क़रीब-क़रीब वही काम किए जो इंगलिस्तान में स्पेक्टेटर और टाइटलर ने किए थे। देहली का सबसे बड़ा भाँड करेला मशहूर है,

---

१ युवक २ सुन्दर ३ प्रभावित ४ सभ्यता के विरुद्ध ५ हद पार करके ६ मनोरञ्जक परिहास ७ नाचगाना ८ हास्य ९ इतिहास लिखनेवालों, खबर लिखनेवालों १० ख्याति, नाम (शुहरत) ११ बादशाह।

जो मुहम्मद शाह के अहद में था। किसी बात पर नाराज हो के मुहम्मद शाह ने हुक्म दिया कि भाँडों को हमारे मुल्क से निकाल दो। दूसरे दिन बादशाह की सवारी निकली तो ऊपर से ढोल बजने और भाँडो के गाने की आवाज़ आई। तअज्जुब से सर उठा के देखा तो करेला और चन्द भाँड एक खजूर के दरख्त पर चढ़े हुए ढोल बजा-बजा के गा रहे थे। सवारी रुकवा के पूछा, "यह क्या गुस्ताखी है? और हमारे हुक्म की तामील क्यों न हुई?" अर्ज़ किया "क़िबलए आलम! सारी दुनया तो जहाँपनाह के ज़ेरे नगीं[1] है, जायें तो कहाँ?" इस जवाब पर बादशाह और ज़ुमलः[2] मुसाहिबीन हँस पड़े और उनका क़ुसूर मासूर माफ़ किया गया।

लखनऊ में आने के बाद इन लोगों की कुछ ऐसी क़द्र हुई कि इन तायफ़ों का अस्ली मर्कज़[3] लखनऊ ही क़रार पा गया। जहाँ तक मुझे मालूम है फ़िलहाल देहली में भाँड नहीं हैं। और हों तो बहुत ही कम और गुमनाम हैं। हाँ बरेली में पुराने ज़माने से भाँडों के तायफ़े मौजूद हैं। और अक्सर लखनऊ के डोम ढाड़ी भी बरेली से आए हैं। जिससे मालूम होता है कि खवानीने रुहेलखन्ड भी मूसीक़ी और अर्बाबे-निशात के क़द्रदाँ थे, जिनकी फ़य्याज़ी से बरेली व मुरादाबाद में इन लोगों का नशवनुमा[4] अच्छी तरह हुआ। और वहाँ से भी साहिबे कमाल ढाड़ी और नक़्क़ाल लखनऊ में आए। अगरचि अब इनका असली मर्कज़ लखनऊ ही बना हुआ है।

इनके लतीफ़े, नोंक-झोंक के फ़िक़रे, और नक़्क़ाली के अजीब कमालात लखनऊ में मशहूर हैं। नव्वाब सआदतअली के इशारे से उस वक़्त के सबसे बड़े बाँके के सामने जो चोट करता हुआ फ़िक़रः एक भाँड ने कहा था इससे पहले हम अपने नाज़िरीन को सुना चुके हैं। उसी जमाने का एक यह वाक़िअः भी यादगार है कि किसी रईस ने इनाम में दोशाला दिया। मगर वह दोशाला बोसीदः और पुराना था। एक नक़्क़ाल ने उसे हाथ में लेके ग़ौर से देखना शुरू किया और उसपर बहुत ही गहरी नज़रें जमा दीं। दूसरे ने पूछा देखते क्या हो? कहा देखता यह हूँ कि उस पर कुछ लिखा हुआ है। पूछा, आखिर क्या लिखा है? ऐनक निकाल के लगाई और अटक-अटक के बड़ी मुश्किलों से पढ़ा— "ला अिलाह अिल्लल्लाह"। पूछा, बस, इतना ही? मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह नहीं लिखा? जवाब दिया मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह कैसे लिखा हो? यह तो हमारे हज़रत से पहले का है।

लखनऊ के एक नव्वाब साहब "गढ़य्या वाले नव्वाब" मशहूर थे। इसलिए कि उनके मकान के क़रीब एक गढ़य्या थी। उन्हीं के वहाँ किसी तक़रीब में महफ़िल रक़्सो सुरोद थी। एक भाँड घबराया हुआ निकल के सामने आया, और सब साथियों से कहा उठो-उठो ताज़ीम[5] करो। सबने कहा, किसकी ताज़ीम करें? कोई है भी? बोला, नव्वाब साहब आते हैं और यह कहके एक हाँडी जो खोली तो एक बड़ा सा

१ निगाहों के नीचे २ सब ३ केन्द्र ४ पालन पोषण ५ अदब करना।

मेंढक उछल के बीच महफ़िल में बैठ गया और सबसे कहना शुरू किया, जल्दी उठो, जल्दी उठो। साथियों ने हैरान हो के पूछा, आख़िर किसके लिए उठें? कहा, तुमने पहचाना नहीं, आप गढ़य्या के नव्वाब हैं।

इन लोगों की निस्वत मशहूर था कि जिसके वहाँ जाके नाचते, उसकी नक़्ल ज़रूर करते, और मुमकिन न था कि उसपर चोट न करें। और सच यह है कि जैसी-जैसी ख़ूबसूरती से इन लोगों ने उमरा और रुऊसा को सबक़ दिए हैं और उनकी लग़ाज़िशों[१] पर उन्हें मुतनब्बेह किया है, और किसी तरह मुमकिन ही न था। इसी तरह नक़्क़ाली में जिसकी नक़्ल करते, उसका ऐसा मुकम्मल बहरूप भरते और ऐसा सच्चा कैरेक्टर दिखाते कि लोग अश्-अश् कर जाते। आजकल अंग्रेजों की सुहबत में जिस तरह "बाबूज़ इंगलिश" का मज़हक: उड़ा करता है, उन दिनों कायथों की फ़ारसीआमेज उर्दू का मज़हक: उड़ा करता था। उनकी नक़्ल और दीवान जी का कैरेक्टर ऐसा आला दर्जे का यह भाँड दिखाया करते थे कि लोग महवे हैरत हो जाते। यहाँ दूसरा करेला भाँड नसीरुद्दीन हैदर के ज़माने तक मौजूद था। इसके बाद सज्जन, क़ायम, दायम, रजबी, नौशाह, बीबीक़द्र वग़ैर: की शुहरत हुई। अली नक़ी ख़ाँ मअ़[२] अपनी बीबी के साथ जिनका बहुत कुछ दौरदौरा था, क़ायम की सबील देखने को आए जिसे वह ख़ूब सजाता और शर्बत पिलाया करता था। इन मुअज़्ज़ज़ ज़ायरों[३] को देखते ही क़ायम सामने आ गया और हाथ जोड़ के कहा, ख़ुदा नव्वाब साहब को सलामत और बेगम साहब को क़ायम रखे। इतना सख़्त फ़िक़्र: था, मगर नव्वाब और बेगम दोनों को इनाम ही देते बना। क़ायम का कमाल यह था कि एक मर्तब: साढ़े तीन घन्टे तक फ़क़त तरह-तरह के मुँह बनाता रहा।

आख़िर ज़माने में फ़ज़्लहुसैन, खिलौना, बादशाह पसन्द, क्या ख़ूब के तायफ़े बहुत मशहूर थे। अब भी अलीजान ग़नीमत है। यह उन तायफ़ों के नाचनेवालों के नाम हैं जिन्होंने रक़्स में बड़ी नामवरी हासिल की थी और जवाब न रखते थे।

मगर लखनऊ की सोसाइटी पर इन सब लोगों से ज़ियाद: असर डोमनियों का पड़ गया था। तमाम क़सबात और कुल शहरों में शादियों में गानेवाली मीरासिनें और जागिनें मुद्दत हाये दराज़ से होती आई हैं, जिनकी वज़अ़ डफ़ालियों की तरह हमेशा यकसाँ[४] रही। मगर डोमनियों ने लखनऊ में अजीब नुमायाँ तरक़्क़ी की। ढोल को छोड़ के, उन्होंने रंडियों और मर्दाने तायफ़ों की तरह तबल:, सारंगी और मजीरे इख़्तियार किए। सिर्फ़ गाने की हद से तरक़्क़ी करके नाचना शुरू किया और इसी पर किफ़ायत न की बल्कि भाँडों की तरह ज़नानी महफ़िलों में नक़्लें भी करने लगीं। शादी की तमाम रस्मों का वह सबसे बड़ा उन्सर[५] बन गईं और दौलतमन्द घरानों की बेगमों को ऐसा गिर्वीद[६] कर लिया कि कोई महल और कोई

१ दुर्बलताओं, कमियों २ सहित ३ पवित्र स्थल के दर्शनार्थी ४ समान, एकरूप ५ अंग ६ आसक्त; गिर्वीद: = आशिक़।

ड्योढ़ी न थी जिसमें डोमनियों का कोई तायफ़ः न नौकर हो। इनमें से अक्सर गाने और नाचने में वे मिस्ल होती थीं। और ऐसे नूर के गले पाए थे कि ज़नानी महफ़िलें मर्दानी महफ़िलों से ज़ियादः शानदार और हद दर्जे दिलकश और पुरलुत्फ़ हो गईं। ख़ुसूसन महफ़िलों में इनकी शोखियाँ और जिद्दततराज़ियाँ ऐसी दिलफ़रेब होती थीं कि मर्दों को अक्सर तमन्ना रहती थी कि किसी तरह डोमनियों का मुजरा देखने का मौक़ा मिले। इसलिए कि डोमनियाँ मर्दानी सुहवतों में गाना-नाचना किसी तरह गवारा न करती थीं। अब भी डोमनियाँ कसरत से मौजूद हैं और उसी शान व वज़अ पर हैं। मगर कमाल उठ गया। जैसी-जैसी नामी लयदार औ गलेबाज़ डोमनियाँ लखनऊ में गुज़र गईं, वैसे गवैये भी कहीं न पैदा हुए होंगे।

रंडियाँ, इन्दरसभा, रहस व थियेटर

नाचने की उस्तादी अगरचिः मर्दों ही में मखसूस है, मगर अलल‌उमूम[1] जिस वुसअत और तअ़मीम[2] के साथ गानेवाली रंडियों ने इस फ़न को तरक़्क़ी दी, मर्दों से मुमकिन नहीं। नाचने की औरतों के साथ ख़ुसूसिय्यत[3] और मौज़ूनिय्यत[4] भी ज़ियादः है। यह चीज़ एक हद तक हिन्दोस्तान के हर शहर में नज़र आएगी। मगर जैसी बाकमाल नाचने और भाव बतानेवाली रंडियाँ लखनऊ में पैदा हुईं, शायद किसी शहर में न हुई होंगी। आज से चालीस साल पेश्तर लखनऊ की एक मशहूर रंडी मुनुसरिम वाली गौहर ने कलकत्ते में जा के नमूद[5] हासिल की थी। मैंने एक महफ़िल में उस का यह रंग देखा कि कामिल तीन घन्टे तक एक ही चीज़ को ऐसी ख़ूबी से बताती रही कि हाज़िरीने महफ़िल (जिनमें मटियाबुर्ज के तमाम बाक़माल ढाड़ी और मुअज़्ज़ज मौजूद थे,) अव्वल से आखिर तकम हुवे हैरत[6] व सुकूत[7] थे, और कोई बच्चा भी न था जो हमःतन ग़र्क़ न हो। ज़ुहरा व मुश्तरी शाअ़िरः और साहिबे कमाल गाने वालियाँ ही नहीं, बेनज़ीर[8] रक़्क़ासः[9] भी थीं। जद्दन ने एक मुद्दत तक ज़माने को अपने रक़्स व सरूद का गिर्वीदः[10] रखा था।

यहाँ की रंडियाँ उमूमन तीन क़ौमों की थीं। अव्वल कंचनियाँ जो असली रंडियाँ थीं और उनका पेशा अललउमूम[11] अ़िस्मतफ़रोशी[12] था। देहली और पंजाब इनके असली मस्कन थे, जहाँ से उनकी आमद शुजाउद्दौलः ही के ज़माने से शुरू हो गई। शहर की नामी रंडियाँ अक्सर इसी क़ौम की हैं, दूसरी चूनेवालियाँ, इनका असली काम चूना बेचना था मगर बाद को बाज़ारी औरतों के गिरोह में शामिल हो गईं, और आखिर में उन्होंने बड़ी नमूद हासिल की। चूनेवाली हैदर जिसके

---

१ सर्वसामान्यतः २ व्यापकता ३ विशेषता ४ अनुकूलता ५ ख्याति ६ आश्चर्यचकित ७ सन्नाटे में ८ अद्वितीय, अनुपम ९ नाचनेवालियाँ १० विमुग्ध ११ सामान्यतः १२ सतीत्वविक्रय।

गले का शुहरः था और समझा जाता था कि उसका सा गला किसी ने पाया ही नहीं, इसी क़ौम की थी और अपनी बिरादरी की रंडियों का बड़ा गिरोह रखती थी। तीसरी नागरियाँ, यह तीनों वह शाहिदाने बाज़ार हैं जिन्होंने अपने गिरोह क़ायम कर लिये हैं और बिरादरी रखती हैं। वर्नः और बहुत सी और क़ौमों की औरतें भी आवारगी में पड़ने के बाद इसी गिरोह में शामिल हो जाती हैं।

गवैयों और नाचनेवालों के बाद यहाँ इस नौइय्यत का एक गिरोह और भी है, जिसका नश्वनुमा लखनऊ में बहुत हुआ और इसे लखनऊ के साथ मख्सूस कहा जाए तो शायद ग़लत न होगा। वह रहस वाले हैं। रहस ख़ास मथुरा और ब्रज का फ़न है। वहीं के रहसधारियों ने आ-आके लखनऊ को इसका शौक़ दिलाया।

वाजिदअली शाह को जब रहस पसन्द आया तो उन्होंने अपने मज़ाक़ और अपने ख़यालो प्लाट का एक नया रहस तैयार किया। इसको देखते ही रिआया में इस बात का ख़ास शौक़ पैदा हुआ कि आशिक़ाना क़िस्से जो उन दिनों परियों के हुस्न व इश्क़ से ज़ियादः वाबस्तः थे, अमली सूरत में दिखाए जाएँ। पब्लिक का यह रुजूहान देख के मियाँ अमानत ने, जो रिआयते लफ़्ज़ी† में कमाल रखनेवाले एक मशहूर शाअिर थे, अपनी इन्दर सभा तस्नीफ़ की, जिसमें हिन्दुओं की देवमाला में मुसलमानों के फ़ारसी मज़ाक़ की आमेज़िश का पहला नमूना नज़र आया।

यह इन्दर सभा जैसे ही बाज़ार में दिखाई गई, हर शख्स वालः व शैदा हो गया। यकायक बीसियों सभाएँ शहर में क़ायम हो गईं और देखते ही देखते इनका इस क़दर रवाज़ हुआ कि गवैयों और नाचनेवाली रंडियों का बाज़ार चन्द रोज़ के लिए सर्द पड़ गया। अब अमानत के सिवा और बहुत से लोगों ने नई सभाएँ बनाना शुरू कीं, जिसमें उर्दू शाअिरी चाहे बिगड़ती हो मगर ज़बान मंझती, और पूरब की देहाती और हिन्दू अहले हर्फ़ की आबादी में सरायत[1] करती जाती थी। इस मज़ाक़ ने ड्रामा और थेटर की मज़बूत बुनयाद डाल दी थी और अगर चन्द रोज और शाही का दौर रहता तो बहुत अच्छे उसूल पर ख़ालिस हिन्दोस्तानी नाटक एक ख़ास सूरत पैदा कर लेता जो बिल्कुल अछूती और हिन्दोस्तानी मज़ाक़ में डूबी होती।

मगर यकायक मुहज्ज़ब[2] सोसाइटी को जिसमें पुरानी मूसीक़ी घर कर चुकी थी, इन खेलों में इब्तिज़ाल[3] नज़र आया। फ़न्ने मूसीक़ी के शौक़ ने शुरफ़ा को फिर गवैयों और मुजरा करनेवाले तायफ़ों की तरफ़ मुतवज्जेह कर दिया और यह चीज़ें जो नाटक की शान रखती थीं, अवामुन्नास[4] और बाज़ारी लोगों ही तक महदूद रह गईं। मगर अगले ज़ौक़ ने शहर में इस मज़ाक़ को अमली सूरत में दिखानेवाला एक ख़ास

---

† एक काव्यालङ्कार जिसमें किसी शब्द से सम्बन्धित दूसरे अनेक शब्द लाये जायें, जैसे—नदी के साथ नाव, पतवार, मल्लाह आदि।

१ प्रवेश, पैठ २ सभ्य ३ हीनता, हलकापन ४ प्रजा, इतरजन।

गिरोह पैदा कर दिया जिनको आजकल की इस्तिलाह[1] में एक्टर कहा जाए तो जियादः मुनासिब होगा। हमारे यह एक्टर पहले तो मुहज़्ज़ब सोसायटी की क़द्रदानी से ज़बाने उर्दू में तरक़्क़ी करते जाते थे। मगर चूँकि इनका शुमार अदना दर्जे के बाज़ारी लोगों में रह गया है इसलिए वह मुहज़्ज़ब ज़बान छूट गई। बाज़ारी ज़बान में आजकल भी यह लोग बीसियों तरह के परफ़ारमेन्स दिखाते हैं।

हमारे इन एक्टरों के मुब्तज़ल[2] हो जाने का सबसे बड़ा सबब यह हुआ कि बम्बई के पारसियों ने अंग्रेज़ी मज़ाक़ के थेटर खड़े किए। जिनमें सच यह है कि न फ़न्ने मूसीक़ी ही था और न सही एक्ट। मगर उनकी सफ़ाई, तरतीब, तिलस्मनुमाई और उनके ज़र्क़-बर्क़ पर्दों ने हमारे क़ौमी ड्रामा का जो एक बच्चे की तरह हनूज़[3] गहवोर[4] में था, गला घोंट दिया। आला सोसायटी के लोग नाटकों की शानदारी पर फ़रेफ़्तः होके सही मज़ाक़ को भूल गए।

सच यह है कि बम्बई के थेटरों ने हिन्दोस्तान को बलिहाज़ फ़ुनून रक़्सो सरुद[5] के बेहद नुक़सान पहुँचा दिया। सबसे पहले मूसीक़ी को तबाह किया और ऐसे वज़अ् के बेउसूल नग़मों को इख़्तियार करके बाज़ारों में फैला दिया, जिनसे जियादः मुहमल[6] कोई चीज़ नहीं हो सकती। इसके बाद इसने हमारे रक़्स को जो बहुत ही आला दर्जे का फ़न था, हटाना चाहा। और अपने स्टेज पर नाच के नाम से यूरोप के "ड्रिल" को रवाज दिया, जिसमें चन्द लड़के अपनी तरतीब और वज़अ् बदल के दिलचस्पी पैदा कर दिया करते हैं। लेकिन रहसवालों का मूसीक़ी और ऐक्ट अगरचिः दोनों नाक़िस हैं, मगर वतनी रंग में डूबे हुए हैं, और क़ौमी मज़ाक़ रखते हैं। इनके छोड़ने की नहीं, बल्कि इनकी इस्लाही[7] की ज़रूरत है।

सोज़ख़्वानी

मूसीक़ी ही के सिलसिले में सोज़ख़्वानी[8] के बयान करने की ज़रूरत है। अगरचिः इस नए मज़्हबी फ़न को गाने बजाने के ख़िलाफ़ शरअ फ़ुनून में दाखिल करना बेअदबी है, लेकिन मुश्किल यह है कि सोज़ख़्वानी एक ख़ास क़िस्म की मूसीक़ी ही है। मुहर्रम में शहादते सिब्ते असग़र अलैहिस्सलाम की याद ताज़ा करना हिन्दोस्तान में ख़ास शीओं से शुरू हुआ। ख़ुसूसन उस वक़्त से जबकि मज़्हबे इस्ना अशरी[9] ईरान का क़ौमी मज़्हब बना और वहाँ के लोग आ-आके हिन्दोस्तानी दरबार में रुसूख़ हासिल करने लगे। ताहम देहली में चूँकि ताजदारों और शाही ख़ानदान का मज़्हब सुन्नत व जमाअत था, इसलिए वह ख़ास चीज़ें जो शीओं की

---

१ परिभाषा २ तिरस्कृत, अप्रतिष्ठित ३ अभी तक ४ पालना, झूला ५ नाच गाने के आर्ट के लिहाज़ से ६ व्यर्थ, तुच्छ ७ सुधार ८ संताप उत्पन्न करनेवाला करुण गायन ९ बारह इमामों को माननेवाला धर्म (शीआ)।

मज़्हबी मुआशरत[1] के साथ मख़्सूस थीं, वहाँ नश्वनुमा न पा सकीं। इसलिए उन फ़ुनून की परवरिश का गहवार:[2] शहरे लखनऊ और इसका अगला शीआ दरबार क़रार पा गया।

जिस तरह मज़्हबी सरगर्मी ने शाअ़िरी में मर्सिय:गोई और तहतुल्लफ़्ज़ख़्वानी[3] को पैदा किया, उसी तरह मूसीक़ी में सोज़ख़्वानी पैदा कर दी। फिर उन दोनों फ़ुनून को यहाँ तक तरक़्क़ी दी की मुस्तक़िल फ़न बन गए। और ऐसे फ़न जो इब्तिदा से इन्तिहा तक लखनऊ ही के साथ मख़्सूस हैं। तहतुल्लफ़्ज़ख़्वानी मर्सियों का मतानत और बेतकल्लुफ़ी के साथ इस तरह पढ़ना और बता-बताके सुनाना है, जिस तरह शाअ़िर मुशायरे में अपनी ग़ज़ल सुनाता है; और सोज़ख़्वानी, उनके पुरसोज़ व गुदाज़ नग़्मे के साथ सुनाना है।

असली और पुरानी मर्सिय:ख़्वानी, सोज़ख़्वानी ही थी, यानी मर्सिए मजलिसों में हमेश: नग़्मे के साथ सुनाए जाते थे, और इनका रिवाज देहली ही नहीं हिन्दोस्तान के उन तमाम शहरों में था जिनमें शीअ: हज़्रात आबाद थे। मद्रास और दकन[4] तक में ज़ोर व शोर से इस क़िस्म की मर्सियाख़्वानी होती थी और डेढ़ दो सौ बरस के तस्नीफ़ किए हुए नोहे आज तक मौजूद हैं। मर्सियों को शाअ़िरों की शेअ़रख़्वानी के लहज़े में अदा करना खास लखनऊ की ईजाद है और इसमें मीर अनीस और मिर्ज़ा दबीर वग़ैर: ने जो कमालात दिखाए, उनका ज़िक्र हम शाअ़िरी के सिलसिले में कर चुके हैं।

सोज़ख़्वानी अगरचि: पहले से थी और हर जगह थी, मगर इसमें भी लखनऊ के सोज़ख़्वानों ने ऐसे-ऐसे कमालात दिखाए कि इस फ़न को भी अपने साथ मख़्सूस कर लिया। सारे हिन्दोस्तान की अगली सोज़ख़्वानी का अन्दाज़: इस मसल से हो सकता है कि "बिगड़ा गवैया, मर्सिय:ख़्वाँ"। लखनऊ ने सोज़ख़्वानी का पाया इस क़दर बलन्द कर दिया कि साहिबेकमाल गवैयों का बाज़ार भी सोज़ख़्वानी के आगे सर्द पड़ गया।

लखनऊ में सोज़ख़्वाँ दीगर अहलेफ़न की तरह नव्वाब शुजाउद्दौल: के साथ या उनके अहद में आए। तारीखे फ़ैज़ाबाद में लिखा है कि शुजाउद्दौल: की बीबी बहू-बेगम साहिबा के महल में मजलिसें होतीं और जवाहरअली ख़ाँ ख़्वाज:सरा जो इनकी ड्योढ़ी और सारे इलाक़े का मुख़्तार था, मर्सिय:ख़्वानों की नौहाख़्वानी सुना करता। मगर उस वक़्त तक यहाँ की सोज़ख़्वानी वही थी जो हर जगह आम थी।

बाज़ लोग कहते हैं कि ख़्वाज: हसन मौदूदी से वह फ़न शुरू हुआ। यह मुसन्निफ़े-नग़मातुलआसिफ़िय्या के उस्ताद थे, और बावजूद अताई होने के फ़न्ने मूसीक़ी में

---

१ सभ्यता २ पालना, झूला ३ वार्ता के ढंग पर पढ़ना ४ दक्षिण।

ऐसा कमाल § रखते थे कि दूर-दूर तक उनका जवाब न था। अगरचिः मुन्किरउल्-मज़्हब थे, मगर उन्होंने मूसीक़ी की खास-खास धुनें सोज़ों में क़ायम करके अपने शागिर्दों को बताईं और इस फ़न के बाज़ाब्तः व बाक़ायदः बनने की बुनयाद पड़ गई। इसके बाद जब सिड़े हैदरी ख़ाँ का ज़माना आया तो उनका मामूल था कि मुहर्रम में अपने मज़ाक़ की मुनासिब धुनों में नोहःख्वानी किया करते। चूँकि वह बहुत बड़े साहिबेकमाल गवैये थे और दरबार क़दरदान था, इस कोशिश में उनको नुमायाँ कामियाबी हासिल हुई; और पता लगा कि अगर तरक़्क़ी दी जाए तो यह फ़न जुदागानः तौर पर एक खास और मुमताज़ शान पैदा कर सकता है। मूसीक़ी की हज़ारहा धुनों में से वह धुनें मुन्तख़ब की गईं, जो इज़्हारे हुज़्न[1] व, मलाल[2] और बैन[3] के लिए मुनासिब हों, और वह सद्हा सोज़ों में क़ायम की गईं। आखिर में हैदरी खाँ ने अपनी सोज़ख्वानी सैयद मीर अली साहब को सिखा दी, जो एक शरीफ़ुन्नस्ल सैयदज़ादे थे, और उन्होंने मज़्हबी जोश में इस फ़न को बहुत ज़ियादः तरक़्क़ी दी; और अपने ज़माने में इतने बड़े साहिबे कमाल मशहूर हुए कि नव्वाब सआदतअली खाँ के अहद में उन्होंने किसी बात पर बर्हम[4] हो के लखनऊ से चले जाने का इरादा किया तो इन्शाअल्लाह खाँ ने अपने मुअस्सिर[5] शाइरानः अन्दाज़ और तमस्खुर[6] की शान से सिफ़ारिश की और नव्वाब ने दिलदही व क़द्रदानी के साथ उन्हें रोका।

इसके बाद तानसेन के खानदान का एक गवैया नासिर खाँ लखनऊ में आया और चमका। यहाँ सोज़ख्वानी की तरफ़ लोगों का तवग़्ग़ुल[7] देखा तो उसने भी अपने मूसीक़ी के कमाल को नोहःख्वानी में सर्फ़ करके मक़्बूलिय्यत व शुहरत हासिल की और अपने पड़ोस की एक मुफ़्लिस व बेवः सय्यदानी पर तरस खाके उनके दो बच्चे मीर अली हसन और मीर बन्दा हसन को सोज़ख्वानी की तालीम दी। इन दोनों का कमाल तमाम मा-सबक़[8] उस्तादों से बढ़ गया, और सोज़ख्वानी में बेअदीलो नज़ीर साबित हुए। उन्होंने सोज़ख्वानी को आला दर्जे का राग बना दिया है। यहाँ तक कि मूसीक़ी के असली रागों के बोल तो अक्सर गवैयों तक को याद नहीं, मगर

---

§ मूसीक़ी में इनके कमाल का अन्दाज़ः इससे हो सकता है कि मर्हटों के दस्तबुर्द के ज़माने में वह मियाने में सवार लखनऊ से इटावे की तरफ़ जा रहे थे। रास्ते में किसी गाँव में गुज़र हुआ और सुना गया कि इस गाँव पर मर्हटे ताख्त करनेवाले हैं। कहारों ने जो बहुत दूर से उन्हें लिए चले आते थे, यकायक मियानः रख दिया और कहा हममें अब आगे चलने की ताक़त नहीं है। हज़ार कहा गया कि यह मुक़ाम खतरनाक है मगर उन्होंने एक न सुनी। ख्वाजः साहब ने ज़िन्दगी से मायूस होके वज़ू किया और अस्र की नमाज़ पढ़ी और बैठे-बैठे कुछ अलापना शुरू किया और उसका कहारों पर इस क़दर असर पड़ा कि ताज़ादम हो गए और अम्न की जगह पहुँचा दिया।

१ दर्द, संताप २ रंज, कसक ३ दोनो ४ रुष्ट ५ प्रभावशाली ६ मनोरंजन के साथ, सविनोद ७ रुचि ८ पूर्वचर्चित, भतपूर्व।

ऐसे सोज़ अक्सर सोज़ख्वानों को याद हैं, जिनको सुनके हक़ीक़ी राग और सच्ची धुनें मुतमय्यिज़[1] तौर पर समझ ली जा सकती हैं। इन्हीं बुज़ुर्गों की वजह से लखनऊ में सोज़ख्वानी का फ़न गवैयों से निकलकर शुरफ़ा में आ गया और कसरत से ऐसे लोग पैदा होने लगे जो डोम ढाड़ी नहीं शरीफ़ व वज़ीअ़[2] हैं मगर सोज़ख्वानी में ऐसा कमाल रखते हैं कि गवैयों का बाज़ार उनके सामने सर्द पड़ गया है।

फ़िलहाल मंझू साहब और दो एक बुज़ुर्ग सोज़ख्वानी में ऐसा कमाल और ऐसी शुहरत रखते हैं कि हिन्दोस्तान में हर जगह उनके इस्तिक़बाल में शौक़ की आँखें बिछाई जाती हैं और दीगर[3] बिलाद के लोगों की क़दरदानी, माहे मुहर्रम और अज़ादारी के ख़ास अय्याम में हमेशा उन्हें शायक़ीने लखनऊ के हाथ से छीन लिया करती है।

सबसे ज़ियाद: असर इस मज़ाक़ ने लखनऊ की औरतों पर डाला। सोज़ों की मुअस्सिर और दिल को पाश-पाश कर देनेवाली धुनें मीर अली हसन और मीर बन्दा हसन के गले से निकलते ही सदहा शरीफ़ मर्दों के गले में उतरीं और उनके ज़रीए से हज़ारहा शरीफ़ शीअ: ख़ानदानों की औरतों के नूर के गलों में उतर गईं। औरतों को फ़ितरतन गाने-बजाने का ज़ियाद: शौक़ होता है और उनके गले, नग़मों के लिए उमूमन ज़ियाद: मौज़ूँ हुआ करते हैं, यह बाउसूल और बाक़ाअ़िद: नोह:ख्वानी औरतों में पहुँची तो उनमें क़ियामत की दिलकशी पैदा हो गई। और चन्दरोज़ में शीअ: ही नहीं, अदना तबक़े की सुन्नियों की औरतों में भी नोह:ख्वानी का शौक़ पैदा हो गया। और यह हालत हो गई कि मुहर्रम में, और अक्सर मज़्हबी इबादतों के अय्याम में लखनऊ के गली-कूचों में तमाम घरों से पुरसोज़ व गुदाज़ तानों और दिलकश नग़मों की अजीब हैरत-अंगेज सदाएँ बलन्द होती हैं। और कोई मक़ाम नहीं होता जहाँ यह समाँ न बँधा हो। आप जिस गली में खड़े होके सुनने लगिए, ऐसी दिलकश आवाज़ें और ऐसा मस्त व बेख़ुद करनेवाला नग़म: सुनने में आ जायगा कि आप ज़िन्दगी भर नहीं भूल सकते। हिन्दुओं और बाज़ ख़ास सुन्नियों के मकानों में तो ख़ामोशी होती है, बाक़ी जिधर कान लगाइए, नोह:ख्वानी के क़ियामतख़ेज़ नग़मों ही की आवाज़ें आती होती हैं।

तअ़ज़िय:दारी चूँकि नोह:ख्वानी का बहाना है, इसलिए सुन्नी और शीअ: दोनों गरोहों के घरों में नोह:ख्वानी के शौक़ में तअ़ज़िय:दारी होने लगी। और सुन्नी मुसलमान ही नहीं, हज़ारहा हिन्दू भी तअ़ज़िय:दारी इख़्तियार करके नोह:ख्वानी करने लगे। जिससे मालूम हो सकता है कि लखनऊ में तअ़ज़िय:दारी के बहुत ज़ियाद: बढ़ने और फ़रोग़ पाने का ज़बर्दस्त बाअ़िस, नोह:ख्वानी है।

लखनऊ में बअ़्ज़ शरीफ़, शाइस्त: और तालीमयाफ़्त: औरतें ऐसी अच्छी सोज़ख्वाँ हैं कि अगर पर्दे की रोक न होती तो मर्द सोज़ख्वाँ उनके मुक़ाबले में हरगिज़ फ़रोग़ न पा सकते। इसको बहुत मुद्दत हुई कि एक साल

---

१ स्पष्ट अन्तर के साथ २ वज़अ़दार, रख-रखाव वाले ३ दूसरे नगरों।

चिहलुम के मौक़े पर चन्द अहबाब[१] के साथ मैं तालकटोरा की कर्बला में गया था और वहीं एक खैमे में शब-बाश[२] हुआ था। दो बजे रात को यकायक आँख खुली तो एक ऐसे दिलकश नग़में की आवाज़ कान में आई, जिसने सब दोस्तों को जगा के बेताब कर दिया। हम सब इस आवाज़ के शौक़ में खैमे[३] से निकले और देखा कि आखिरे शब का सन्नाटा है, चाँदनी खेत किए हुए है और उसमें औरतों का एक ग़ोल तअज़ियः लिए हुए आ रहा है। सब बाल खोले और सर बरहनः[४] हैं। बीच में एक औरत शम्अ[५] हाथ में लिए हुए है। उसकी रोशनी में एक हसीन सर्वक़द[६] नाज़नीं, चन्द औराक़[७] में से पढ़-पढ़ के नोहःख्वानी कर रही है और कई और औरतें उसके साथ गलेबाज़ी कर रही हैं। उस सन्नाटे, उस वक़्त, उस चाँदनी, उन बरहनः सर हसीनों, और उस पुरसोज़ व गुदाज़ नग़में ने जो समाँ पैदा कर रखा था, उसको मैं बयान नहीं कर सकता। नाज़ुक अदाओं का यह मजमा जैसे ही कर्बला के फाटक में दाखिल हुआ, उस सर्वक़ामत नाज़नीं ने प्रिच की धुन में यह नोहः शुरू किया :—

जब कारवाने शह्र मदीना लुटा हुआ,
पहुचाँ क़रीब शाम के क़ैदी बना हुआ।
नेज़े पे सर हुसैन का आगे धरा हुआ,
और पीछे-पीछे बीबियों का सर खुला हुआ॥

इस मुनासिबे हालत मर्सिए ने यकायक ऐसा समाँ बाँध दिया कि शुब्हः[८] होता था कि इन अशआर के ज़रीए से वह खातून वाक़िअए कर्बला की तस्वीर खींच रही है, या खुद अपने इस मातमी जुलूस और अपने दाखिलए कर्बला की।

असल यह है कि लखनऊ की औरतों और उनके साथ मर्दों पर भी सोज़ख्वानी और अज़ादारी ने जो नुमायाँ असर डाला है, और किसी चीज़ ने नहीं डाला। इसकी पहली बर्कत तो यह है कि तमाम औरतें बहुत अच्छी गलेबाज़ हो गईं और मूसीक़ी के सच्चे उसूल के साथ नोहःख्वानी करने लगीं। दूसरी बर्कत यह है कि सारे अहले शह्र को, आम इससे कि मर्द हों या औरत, मूसीक़ी के साथ मुनासिबत हो गई। यह जो लखनऊ की गली-कूचों में देखा जाता है कि अदना दर्जे के लड़के और बाज़ारी लोग अक्सर चलते-चलते गाने लगते और गाने में ऐसी गलेबाज़ी करते और मुश्किल से मुश्किल धुनों को इस आसानी से उड़ा लेते हैं कि बाहर के लोगों को हैरत हो जाती है, इसका असली बाइस यह नोहःख्वानी व सोज़ख्वानी का मज़ाक़[९] है। और तारीफ़ की बात यह है कि सोज़ख्वानी का नश्वनुमा बावजूद अवामुन्नास[१०] और अदना दर्जे के जुहला में फैलने के, सही उसूल पर रहा और मूसीक़ी के सही मज़ाक़ के बाहर नहीं होने पाया; बखिलाफ़ और चीज़ों के, जो अवाम में पहुँचते ही बेक़ाइदा और खराब हो जाया करती हैं।

---

१ दोस्त २ रात का गुज़र ३ खेमा ४ नंगे, खुले ५ मोमबत्ती ६ सरो वृक्ष जैसे सीधे सुन्दर शरीर वाली ७ पेज (पृष्ठों) ८ सन्देह, भ्रम ९ सुरुचि, मज़ाक़ = शौक़, अभिरुचि १० जनसाधारण।

सोज़ख्वानी को गोकि अवाम शीअः मूजिबे सवाब[1] तसव्वर करते हैं, मगर उलमाए शीअः ने इस वक़्त तक उसके जवाज़[2] का फ़तवा नहीं दिया है। वह पाबन्दिए शरअ में मुतशद्दिद[3] हैं। अब तक मुजतहिदीन और सिक़ः लोगों[4] की मजलिसों में सिर्फ़ हदीसख्वानी या तहतुल्लफ़्ज़ख्वानी होती है। और अवाम की जिन मजलिस में उलमाए शरीअत शरीक होते हैं, उनमें भी उनके सामने सोज़ख्वानी नहीं होती। लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि सोज़ख्वानी ने अपनी आम मक़बूलिय्यत[5] की वजह से उलमा के फ़तवों पर पूरी फ़तह पा ली है। मुश्किल यह है कि अहले सुन्नत के उलमाए हदीस और मशायखे सूफ़ियः के नज़दीक तो ग़िना[6] के जवाज़ की बहुत गुंजाइश है, मगर शायद फ़िक़ः अशरी में इतनी गुंजाइश नहीं। वर्नः इस फ़न ने अब तक सनदे जवाज़ हासिल कर ली होती।

बाज़ारू बाजे

अर्बाबे निशात और फ़न्ने मूसीक़ी और इससे निकले हुए फ़ुनून के मुतअल्लिक़ हम बहुत कुछ बयान कर चुके हैं। लेकिन इस सिलसिले में बाज़ारी बाजों का हाल बयान करना बाक़ी है। लिहाज़ा आज हम यह बताते हैं कि इन बाजों पर लखनऊ का क्या असर पड़ा। और इसी पर हम मूसीक़ी की बहस खत्म कर देंगे। बाजों के जोड़ जो शादी-ब्याह वग़ैरः के जुलूसों के साथ जाते हैं, छः तरह के हैं। १. ढोल ताशे २. रौशन चौकी ३. नौबत ४. तुरही और क़र्ना ५ डंके और बिगुल ६. अंग्रेज़ी बाजा जो अर्गन बाजा कहलाता है और रोज़ बरोज़ ज़ियादः रवाज पाता जाता है।

पहला यानी ढोल ताशा, हिन्दोस्तान का क़दीम नेशनल बाजा है, जिसका अंग्रेज़ "इन्डियन टाम-टाम" नाम रख के, अपनी अदमे-वाक़िफ़िय्यत[7] और जिहालत का मज़्हकः उड़ाते हैं। सन् १८५६ ई० में जब इंगलिस्तान की नुमायशगाह "आर्ल्स कोर्ट" में हिन्दोस्तानी मुआशरत[8] और यहाँ के फ़ुनून व मशाग़िल के सदहा नमूने दिखाए गए थे तो वहाँ इस बाजे का नमूना मैंने खुद अपनी आँखों से यह देखा कि एक निहायत ही स्याहफ़ाम[9] शख्स जिसके पिन्डे पर सिवा एक मैले लंगोटे के कुछ न था, आम मजमें में बरहनः[10] आके खड़ा हो जाता, उसके गले में एक ढोल होती, और वह निहायत ही वहशियानः तरीक़े से वग़ैर किसी लय और तर्तीब के, मजनूनों की तरह सर हिला-हिला के ज़ोर-ज़ोर से ढोल को लकड़ी से पीटने लगता। और कहा जाता है कि यही हिन्दोस्तान का बाजा "टाम-टाम" है। मगर यह इन लोगों

१ अवश्य सवाब दिलानेवाला, पुण्यप्रद २ औचित्य ३ अनाचार ४ धर्मात्माओं ५ लोकप्रियता ६ गाना ७ अज्ञानता ८ सभ्यता ९ काली सूरत १० नग्न।

की जिहालत और बेअक़ली है। यह बहुत ही मुकम्मल बाजा है और इसका बजाना एक वाक़ाफ़िद: फ़न है, जिसमें निहायत आला दर्जे की लय रखी गई है।

इसमें लखनऊ में उमूमन दो और कभी तीन-तीन, चार-चार बड़े ढोल होते हैं। और कम से कम एक वर्न: दो-तीन ताशेवाले होते हैं, और कम से कम एक झाँझवाला होता है। झाँझ का पता ईरान वग़ैर: से भी चलता है। और ताशे मिस्र वग़ैर: में भी मुरव्वज[1] हैं। मगर ढोल ख़ास हिन्दोस्तान की चीज़ हैं। लखनऊ में यह बाजा फ़ौजों और ख़ुशबाशों[2] के साथ देहली से आया। मगर देहली में इसके जोड़ में सिर्फ़ ढोल और झाँझें थीं। ताशे लखनऊ में बढ़ाए गए। और रवाज पाते ही इस क़दर ज़रूरी और अहम अज़र आए कि मालूम हुआ जैसे इनसे इन बाजों में जान पड़ गई। अगरचि: अक्सर शहरों में सिर्फ़ ढोल और झाझें ही होती हैं मगर लखनऊ में ताशे जुज़वेलाज़िम[3] हो गए हैं। और बग़ैर इनके ढोलें कहीं बजती ही नहीं हैं। मगर साफ़ मालूम होता है कि इस बाजे में सबसे ज़ियाद: कमाल वही शख़्स दिखाता है जो ताशा बजाता है। वही लय क़ायम करता है और लय में उसकी पैरवी ढोल वाले करते हैं। ताशा बजाने की यह सिफ़त है कि इतनी जल्दी-जल्दी ज़रबें पड़ें कि एक क़ुरे का दूसरे से इम्तियाज़[4] न हो सके और इन मुतवातिर[5] और मुसलसल[6] क़ुरों से नशेब व फ़राज या ज़ीरोबम से लय और गत पैदा हो। लखनऊ में इस बाजे के बजानेवाले ऐसे-ऐसे उस्ताद थे कि उन्होंने इस मामूली बाजे को, जो सब जगह बेउसूल था, बहुत ही वाक़ाफ़िदा बना दिया। और अब भी यहाँ ऐसे चाबुक-दस्त[7] बजानेवाले पड़े हैं कि उनके सामने किसी शहर के ढोल बजानेवाले, नहीं बजा सकते।

लखनऊ में चेहलम के बाद एक तअ्ज़िया उठता है जो बख्शू का तअ्ज़िया कहलाता है। अब तो इसके जुलूस ने शीओं-सुन्नियों के झगड़े की वजह से दूसरी सूरत इख़्तियार कर ली है, मगर दस बारह बरस पहले इसकी शान यह थी कि चूँकि शाही के एक पुराने मुहिब्बे अहलेबैत की यादगार था, और अब इसके उठानेवाले ग़रीब व बेसरो-सामान लोग थे, इसलिए हर क़िस्म के बाजों के बेनज़ीर व बेबदल उस्ताद सवाब समझ के शरीक होते और सवाब के बहाने अपने-अपने फ़ुनून का कमाल अहले शहर को दिखाते। और इसी वजह से इनका मामूल था कि जहाँ खड़े हो गए, क़द्र-दानों ने घेर लिया और वह घंटों उस जगह खड़े इस बात का दावा कर रहे हैं कि कोई है जो हमारे सामने आकर बजाए? बड़े-बड़े उस्ताद गवैये उनकी दाद देते और वह जोश में आ-आके और ज़ियाद: ख़ूबी से बजाते। ख़ुसूसन उनमें ताशा बजानेवाले बड़े उस्ताद ढाड़ी होते जो मूसीक़ी में कमाल रखते और गतों में जिद्दतें पैदा करते।

ढोल ताशा बजाने के फ़न के अहम और बाउसूल होने का इससे ज़ियाद: क्या सुबूत होगा कि आख़िरी माज़ूल ताजदारे अवध वाजिदअली शाह को जो मूसीक़ी के

---

१ प्रचलित २ सुखी-सम्पन्नों ३ आवश्यक, अनिवार्य ४ अंतर ५ बिना रुके ६ लगातार ७ कुशलहस्त।

उस्ताद बेबदल थे, मैंने कलकत्ते में अपनी आँख से देखा कि मुहर्रम की सातवीं तारीख़ जब मेंहदी का जुलूस उनकी आसमानी कोठी से रवाना होता, तो वह ख़ुद गले में ताशा डाल के बजाते, बड़े-बड़े गवैयों के गलों में बड़ी-बड़ी ढोलें होतीं। मुअज़्ज़िज़ीने दरबार गिर्द हलक़ा बाँधे होते, और वह ऐसी नज़ाकत और ख़ूबी से ताशा बजाते कि नावाक़िफ़ सुननेवाले भी अश्-अश् कर जाते और गवैयों की वाह-वाह तो हमारे मुशाइरों के हंगामों को भी मात कर देती। इसी तरह मैंने उन्हें कई बार ढोल बजाते भी देखा।

बहरहाल, हिन्दोस्तान के इस क़दीम-तरीन बाजे में भी लखनऊ की सोसायटी ने अपना तसर्रुफ़[1] किया जो निहायत ही मक़बूल और ज़रूरी है। अगर कोई शख्स आके यहाँ के ताशा-नवाज़ों का कमाल देखे तो उसे मालूम होगा कि किस क़द्र मुनासिब तसर्रुफ़ है और उसने ढोल और झाँझ को किस क़द्र अहम बना दिया है।

दूसरा जोड़ रौशन चौकी का है। रौशन चौकी बहुत पुराना बाजा है और अगर कुल नहीं तो उसके अहम-तरीन अजज़ा को मुसलमान अपने साथ लाए, क्योंकि शहनाई उनका अहम जुज़ है और उसकी निसबत मशहूर है कि शैख़ुर्रईस इब्नि सेना की ईजाद है। बिल्कुल इंसान के गले की तरह जिस क़द्र सच्चे सुर, गलेबाज़ी के आलातरीन कमाल के साथ शहनाई से अदा होते हैं, और किसी बाजे से नहीं अदा हो सकते। रौशन चौकी में कम अज् कम दो शहनाई-नवाज़ होते हैं और एक तबलची जिसकी कमर में छोटे-छोटे दो तबल बँधे होते हैं। तबल, लय को क़ायम रखते हैं। एक शहनाई-नवाज़ असली सुर क़ायम रखने के लिए सुर देता रहता है और एक आवाज़ की चलत-फिरत और गलेबाज़ी की मश्क़ दिखाता है। और यही असली शख्स होता है जो ग़ज़लों या ठुमरियों वग़ैरः को अजब दिलकश सुरों में अदा करता है।

रौशन चौकी हिन्दोस्तान का ख़ास दरबारी बाजा था जो बादशाहों और आला-तरीन उमरा के ख़ासे[2] के वक़्त बजा करती। रात को आराम के वक़्त रौशन चौकी शाही क़स्र[3] के गिर्द गश्त किया करती और उसका नग़मः दूर से बहुत लुत्फ़ देता। दौलते मुग़लिय्यः में यह बहुत ही अहम और लतीफ़ बाजा ख़याल की जाती। और देहली में ख़ुदा जाने कब से मुरव्वज[4] थी। यक़ीनन लखनऊ में रौशन चौकी बजाने वाले देहली से आए होंगे। मगर इसके साहिबे कमाल इन अतराफ़[5] में भी मुद्दत से मौजूद थे। बनारस के अक्सर मन्दिरों में आज तक सुबह को रोशन चौकी बजा करती है, और तड़के मुँह अंधेरे कहीं क़रीब से जाके सुनिए तो बहुत ही लुत्फ़ आता है।

लखनऊ में अलल् अ़ुमूम[6] शादी के जुलूसों में रौशन चौकी बजानेवाले दूल्हा के क़रीब रहते हैं। ख़ुसूसन हिन्दुओं की बरातों में रास्ते भर क़दम-क़दम पर उन्हें इनाम दिया जाता है। रौशन चौकी बजानेवाले मेरे ख़याल और तजुर्बे में लखनऊ

---

१ चमत्कार, करामात २ रईसों के खाने का वक़्त ३ शाही महल
४ प्रचलित ५ ओर ६ साधारणतया।

से अच्छे आजकल कहीं न मिलेंगे। जिस क़दर लयदारी और हर चीज़ को दिलकश धुनों में सच्चे सुरों के साथ अहले लखनऊ अदा कर लेते हैं, और किसी मुक़ाम के रौशनचौकी-नवाज़ नहीं अदा कर सकते। उनके कमाल और फ़नदानी का अन्दाज़ः उस वक़्त हो सकता है जब कोई शौक़ से सुने और दाद देता जाए। उसी वख़्शू के ताज़िए में, जिसका ज़िक्र आ चुका है, रौशन चौकी बजानेवाले भी अपना कमाल दिखाते और इस तरह जान तोड़ के कोशिश करते थे कि फिर उनके बाद और किसी की शहनाई में मज़ा न आता।

तीसरा जोड़ नौबत का है। यह हमारे पुराने नग़मए हाय तरब[1] में सबसे ज़ियादः आलीशान बैन्ड है। इसमें दो तीन शहनाई-नवाज़ होते हैं। एक नक़्क़ारा बजाने वाला होता है, जो दो बहुत बड़े-बड़े अज़ीमुश्शान[2] नक़्क़ारों को अपने आगे खमीदः[3] रख के, दोनों को एक साथ चोबों से बजाता है। इन नक़्क़ारों की आवाज़ बहुत बड़ी होती है और गिर्द की फ़ज़ा[4] में बहुत दूर तक गूँजती है और साथ ही एक झाँझ वाला भी रहता है।

नौबत भी तारीख़ी बाजा है और इज़हारे शौक़त के लिए मुद्दतों काम में लाया जाता रहा है। तारीख़े इस्लाम में दमिश्क़ व बग़दाद व मिस्र के दरबारों में भी इसका पता लगता है। बग़दाद में अब्बासियः के दर्मियानी दौर में हर अमीर की ड्योढ़ी पर नौबत बजा करती थी और मूजिबे एहतिराम व अज़मत[5] तसव्वुर की जाती और मालूम होता है कि मुसलमानों के साथ ही यह हिन्दोस्तान में आई। मुमकिन है कि हिन्दोस्तान में पहले से मौजूद हो। और गोकि शहनाई न थी, मगर ख़ाली नक़्क़ारा और झाँझ बजती हो। लेकिन इसकी मौजूदा सूरत वही है जो ईरान व इराक़ में मुरत्तब होने के बाद यहाँ आई।

बादशाहों और आली मर्तबा अमीरों के जुलूस और लश्कर के साथ नौबत बहुत ही लाज़िमी शै थी। उलुलअज़्म[6] ताजदारों के जुलूसों के आगे-आगे हाथियों पर नौबत बजती जाती। लड़ाइयों में ग़ालिब आनेवाला गिरोह अपने फ़तहमन्दी और ग़लबे[7] के इज़हार के लिए ज़ोर व शोर से नौबत बजवाया करता। शहनशाह औरंगज़ेब आलमगीर ने हैदराबाद को फ़तह करके, उसके क़रीब एक पहाड़ी पर नौबत बजवाई थी, जो आज तक नौबते पहाड़ कहलाती है। दौलते मुग़लिय्यः में दरबार के आला-तरीन तबक़े के रईसों और ओहदेदारों को बादशाह की तरफ़ से नौबत का हक़ दिया जाता, जो अपनी ड्योढ़ियों और नीज़ अपनी सवारी में बजवाया करते। नौबत बजानेवालों के लिए कोई बलन्द बुर्ज मुनतख़ब किया जाता। चुनांचिः अक्सर शाही महलों के फाटकों के ऊपर नौबतख़ाना बनवा दिया जाता था, जिसके नमूने हर बड़े शहर में, जहाँ कोई बड़ा दरबार रह चुका हो, नज़र आते हैं।

---

१ आनन्ददायक २ बड़ी शानवाले ३ झुके हुए ४ वातावरण ५ सम्मान व महिमा की द्योतक ६ साहसी ७ अधिकार, प्रभुत्व।

इसी क़दीम रवाज की पैरवी में लखनऊ में आज तक मामूल है कि जिस दौलत-मंद शख्स के वहाँ शादी या कोई खुशी की तक़रीब होती है, तो उसके दरवाज़े पर लम्बी-लम्बी बल्लियाँ खड़ी करके और सुर्ख कपड़े और पन्नी वग़ैरः से मढ़ के आरज़ी[1] तौर पर एक बलन्द नौबतखाना बनवा दिया जाता है।

दिन भर ठहर-ठहर के, मुख्तलिफ़ औक़ात में, बार-बार नौबत बजाया करते हैं। अला हाज़लक़यास[2] जब बरातें या ताज़ियों के जुलूस चलते हैं, इसी क़िस्म के मसनूई[3] नौबतखाने जो तख्तों पर बना लिए जाते हैं, कहारों के कन्धों पर सबके आगे-आगे चला करते हैं और रास्ते भर उन पर नौबत बजती जाती है।

यही नौबत अगले दिनों खुसूसन[4] लखनऊ के दरबार में वक़्त पहचानने का ज़रीअः[5] क़रार पा गई थी। उन दिनों वक़्त की तक़सीम[6] यह चौबीस घन्टों की न थी जो अब अंग्रेज़ी घड़ियों के रवाज से हममें मुरव्वज[7] हो गई है। उन दिनों वक़्त की तक़सीम का यह हिसाब था कि दिन और रात के आठ पहर होते हैं। चार पहर दिन के और चार पहर रात के और हर पहर की आठ घड़ियाँ होतीं। हर नौबतखाने में एक पतीले या नांदे में पानी भरा रहता। उसमें कटोरा जिसके पेंदे में एक बारीक-सा सुराख होता था, खाली करके डाल दिया जाता। वह पानी पर तैरता रहता था। उस सुराख से आहिस्तः आहिस्तः उसमें पानी आता रहता था। और वह सुराख ऐसा अन्दाज़ः करके बनाया जाता था कि एक घड़ी भर में पानी से भरते-भरते डूब जाए। पहर शुरू होने के बाद जब पहली मर्तबः कटोरा डूबता, तो एक घड़ी बजाई जाती। जब दो-बारः डूबता, दो घड़ियाँ बजाई जातीं, इसी तरह मुसल्सल् आठ घड़ियाँ बजाई जातीं। और आठवीं घड़ी के साथ गजर बजाया जाता। यानी पहले मुमताज़ तौर पर आठ ज़रबें बजाके घड़ियाल पर एक साथ बहुत सी बेशुमार ज़रबें जल्दी-जल्दी लगा दी जातीं। जिसमें यह इशारा था कि पहर पूरा हो गया। और घड़ियों का सिलसिला फिर एक से शुरू हो जाता।

जिन ड्योढ़ियों पर नौबत होती, वहाँ हर पहर के खात्मे पर तक़रीबन एक घड़ी तक नौबत बजती रहती। इसी तरीक़े से रात-दिन के आठ पहरों की आठ नौबतें हुईं। मगर मामूल[7] यह था कि सिर्फ़ सात ही नौबतें बजा करतीं। पहली नौबत तड़के नमाज़ के वक़्त यानी पहले पहर के आग़ाज़[8] पर बजती और सुबह की नौबत कहलाती। दूसरी उस वक़्त जबकि एक पहर दिन चढ़ जाता। यह पहर दिन चढ़े की नौबत कहलाती। तीसरी जब आफ़ताब[9] निस्फ़ुन्नहार[10] पर होता यानी ठीक बारह बजे यह दोपहर की नौबत कहलाती। इसके बाद जब आठ घड़ियाँ पूरी हो जातीं तो तीसरी नौबत बजती और यह तीसरे पहर की नौबत कहलाती। इसके बाद चौथा पहर खत्म होने पर मग़रिब के वक़्त नौबत बजती और यह शाम की नौबत

---

१ अस्थाई २ इसी प्रकार ३ बनावटी ४ विशेषकर ५ साधन ६ विभाजन ७ प्रचलित, चलन ८ आरम्भ ९ सूर्य १० मध्याह्न, दोपहर दिन।

कहलाती। इसके बाद जब पाँचवा पहर पूरा हो जाता तो पाँचवीं नौवत वजती जो पहर रात गए की नौबत कहलाती। फिर जब छठा पहर गुज़रता तो छठी नौवत वजती जो आधी रात या दोपहर (रात) की नौवत कहलाती। इसके बाद जब सातवाँ पहर पूरा होता और रात के तीन पहर गुज़र जाते तो उस वक़्त लोगों के आराम में खलल न पड़ने के खयाल से नौवत न वजाई जाती। सिर्फ़ गजर वजा दिया जाता। फिर इसके बाद आठवें पहर के खात्मे पर सुबह की नौवत वजती।

औक़ात[1] का यह हिसाव था जो दरबारे मुग़लिय्यः और नीज़ इन्तिज़ाए सल्तनत[2] तक लखनऊ में मुरव्वज[3] रहा, और कलकत्ते में जब तक वाजिदअली शाह ज़िन्दा रहे इसी हिसाब से पहर और घड़ियाँ वजती रहीं। मगर इतने ही दिनों में वह हिसाब इस क़दर मफ़क़ूद[4] हो गया कि अब शाज़ो नादिर[5] ही कोई शख्स होगा जो पहरों और घड़ियों का हिसाव जानता हो। मगर खराबी यह है कि बावजूद शबो-रोज़ की तक़सीमे-औक़ात के बदल जाने के अगला हिसाव हमारी ज़बान के रगोपै[6] में सरायत[7] किए हुए है। हम कहते हैं घड़ी भर में आऊँगा। दोपहर को सोऊँगा। पहर दिन चढ़े खाना खाऊँगा। मगर हम नहीं जानते कि पहर कितना होता है और घड़ी किसे कहते हैं। हम उमूमन सुना करते हैं कि "पहरा बैठ गया" और "पहरे के सिपाही"; मगर नहीं जानते कि पहरे का लफ़्ज़ उसी 'पहर' से निकला है, इसलिए कि उन दिनों पहर-पहर की नौकरी हर एक को देना पड़ती थी।

तक़सीमे औक़ात का यह पुराना हिसाव हिन्दुओं का है। मगर ईरान में भी अगले दिनों यही हिसाव मुरव्वज[8] था और इसी हिसाब से नौवत वजा करती थी। हमारे मौजूदः हिसाव से एक पहर, तीन घन्टे का हुआ करता था।

नौवत-नवाज़ भी लखनऊ में ऐसे आला दर्जे के थे कि हर जगह और हर शहर में यहीं से जाया करते। या यहाँ के उस्तादों के शागिर्द होते। लेकिन नौवत में कोई तरक़्क़ी या इज़ाफ़ा नहीं हुआ। वजाने वालों की तादाद वही रही। बाजे वही रहे और वजाने का तरीक़ा वही रहा। फिर भी इतना ज़रूर हुआ कि लखनऊ के स्कूले मूसीक़ी ने जिन चीज़ों और धुनों को मुन्तखव करके आम सोसायटी में मक़बूल करा दिया था, वही धुनें और चीज़ें, नक़्क़ारखानों में भी सुनी जाने लगीं। मगर बावजूद इसके नौवत वजाने का जो क़दीम तरीक़ा था, वह भी अपनी हद पर क़ायम रहा। अमीर खुसरो ने अपने ज़माने की नौवत-नवाज़ी की जो तस्वीर अपनी नज़्म[9] में दिखाई है, इससे उस वक़्त की नौवत बजने के तर्ज़ का बहुत कुछ अंदाज़ः हो सकता है। लेकिन इस पर भी शहनाई से जो धुनें और गीत बजाते हैं, उन पर लखनऊ की मूसीक़ी का जो कुछ असर पड़ा है, वह सुनते ही नज़र आ जाता है।

---

१ समयों २ हुकूमत की उथल-पुथल ३ प्रचलित ४ ख़त्म, लुप्त ५ बहुत कम, यदा-कदा ६ रोम-रोम ७ उतर जाना ८ प्रचलित ९ कविता।

तुर्ही और क़रना हिन्दोतान के बहुत पुराने क़ौमी बाजे हैं, जिनको फ़ौजों के साथ ज़ियाद: ख़ुसूसिय्यत थी। तुर्ही की सूरत से मालूम होता है कि अंग्रेज़ों के साथ हिन्दोस्तान में आई। और उनके वुरूद[1] के इब्तिदाई दौर में रवाज पा गई। मगर क़रना ख़ास ईरानी बाजा है और उसकी आवाज़ में कुछ ऐसा रोब व दाब है कि मैदाने जंग में रोब बिठाने के लिए ज़ियाद: मौज़ूं है। इन दोनों बाजों का भी लखनऊ के जुलूसों में रवाज है। लेकिन मुस्तक़िल बाजे की हैसियत से नहीं, बल्कि फ़ौजी दस्तों और पल्टनों के साथ एक तुर्ही-नवाज़ या क़रना-नवाज़ रहा करता है। जो थोड़े-थोड़े वक़्फ़े से अपना बाजा बजा के, अपने गिरोह की मौजूदगी की इत्तिलाअ़ दे दिया करता है। इन दोनों बाजों के मुक़ाबिले हिन्दुओं का क़दीम बाजा नरसिंहा है जो अक्सर हिन्दुओं के मज़हबी जुलूसों[2] के साथ बजा करता है। यह बाजे देहली से आए, और जैसे थे वैसे ही रहे। और शायद इनमें तरक़्क़ी की गुंजाइश भी नहीं है।

बिगुल और डंका जो फ़िलहाल लखनऊ के शादी के जुलूसों में नज़र आया करता है, वह दरअस्ल अगले और पिछले बाजों का एक मुब्तज़ल[3] मजमूअ़:[4] है। डंके से मुराद वह नक़्क़ारा है जो अगले दिनों फ़ौजों और ज़बर्दस्त फ़तहों के साथ घोड़े पर रहा करता था। और उसपर चोब पड़ते ही लोगों पर ऐसा रोब पड़ता कि बड़ों-बड़ों के कलेजे दहल जाया करते थे। बिगुल या ब्यूगुल अंग्रेज़ी फ़ौज का वह बाजा है, जिसके ज़रीए से फ़ौज को हस्बे ज़रूरत नक़्ल व हरकत और दूसरे कामों का हुक्म दिया जाता। लिहाज़ा अब डंके के साथ बिगुल को शरीक करके एक नया जोड़ बना लिया गया जो शादी के जुलूसों के साथ नज़र आया करता है। मगर चूंकि यह किराए के और बहुत ही मुब्तज़ल हालत के लोग होते हैं, इस लिए इनका लिबास, इनके घोड़े, और ख़ुद इनकी सूरतें ऐसी ज़लील व ख़्वार होती हैं कि इनसे बजाय रौनक़ के, और इब्तिज़ाल[5] और एक शर्मनाक मंज़र पैदा हो जाता है।

अब सब के आख़िर में और सब से ज़ियाद: तरक़्क़ी-पिज़ीर बाजा, अंग्रेज़ी बाजा है; यह ख़ालिस अंग्रेज़ों का लाया हुआ है जो उनसे पेश्तर मुतलक़न[6] न था। लखनऊ में ख़ुदा जाने क्यों, मगर इसके बजानेवाले सिर्फ़ मेहतर ही हैं, जो पायख़ाने साफ़ करने के अलावा इस काम को भी करते हैं। ग़ालिबन इसकी वजह हो कि इब्तिदाअन हिन्दू और मुसलमान दोनों गिरोहों को ईसाइयों से ऐसी स्पेशल नफ़रत थी कि अगर वह किसी बर्तन को हाथ लगा देते तो हमेशा के लिए छूत हो जाता। और इस बाजे को अंग्रेज़ों से सीखना और उसे मुँह लगाना पड़ता, इसलिए सिवा मेहतरों के और किसी को इसके इख़्तियार करने की जुर्अत न हुई। बहरहाल अब क़रीब-क़रीब यह मेहतरों का लाज़िमी पेशा हो गया है।

चूंकि इस काम को यहाँ एक ऐसे गिरोह ने इख़्तियार किया जो सबसे ज़ियाद: ज़लील व ख़्वार हैं और जिसे मूसीक़ी से बिल्कुल मस[7] नहीं, इसलिए उम्मीद न थी कि

---

१ आमद, आगमन २ शोभायात्राओं ३ घटिया ४ संग्रह, जोड़ ५ घटियापन, कमीनापन ६ बिलकुल ७ रुचि।

इस फ़न में यहाँ ज़रा भी तरक़्क़ी हो सकेगी। मगर ऐसा नहीं हुआ। मेहतरों ही में तरक़्क़ी का शौक़ पैदा हुआ, और चूँकि शहर की सोसायटियों में हिन्दोस्तानी मूसीक़ी की धुनें फैलीं और मज़ाक़ में सरायत[1] किये हुए थीं, इसलिए मेहतरों को मजबूर होना पड़ा कि इस मग़रिबी अरग़नों में अपनी धुनों को अदा करें। अंग्रेज़ों या अंग्रेज़ी बजाने वाले फ़ौजी सिपाहियों से उन्होंने सिर्फ़ यह हासिल किया था कि अंग्रेज़ी बाजों को बजाना आ जाए। या दो चार मग़रिबी मूसीक़ी की धुनें सीख ली होंगी। लेकिन अब उन्होंने हिन्दोस्तानी धुनों में मुरव्विज: चीज़ों को बजाना शुरू किया तो रोज़ बरोज़ उसमें तरक़्क़ी ही करते गए।

अंग्रेज़ी बाजा मैंने हर जगह सुना है और सब जगह वही अंग्रेज़ी की चीज़ें बजाई जाती हैं जिनको उन्होंने अपने अंग्रेज़ी बैन्ड मास्टरों से सीख लिया है। यह कहीं न नज़र आया कि इस बाजे को बजाने वालों ने हिन्दोस्तानी मूसीक़ी के साँचे में ढाल लिया हो। यह बात अगर ग़ौर से देखिए तो लखनऊ ही में नज़र आएगी कि जिन ग़ज़लों या ठुमरियों को रौशनचौकी वाले शहनाई से अदा कर रहे हैं उन्हीं चीज़ों को अंग्रेज़ी बाजे वाले अपने बाजों से अदा कर रहे हैं। और ऐसी ख़ूबी से कि ख्वाहमख़ाह सुनने को जी चाहता है।

अंग्रेज़ी बाजे के बैंड, मेहतरों की मुस्तइदी[2] से लखनऊ में सैकड़ों क़ायम हो गए हैं, जिनमें से बाज़ ऐसे हैं कि उनमें पच्चीस-पच्चीस, तीस-तीस बजानेवाले होते हैं, और बाज़ में छ: सात या चार ही पाँच। उन्होंने गोरों की वरदियों में हिन्दोस्तानी मज़ाक़ के मुताबिक़ तसर्रुफ़[3] करके, अपने लिए रंग-रंग की वरदियाँ भी बना ली हैं और अगर वह वर्दियाँ साफ़ और नई हों, तो उनको पहन के जब वह बरात के साथ अर्गन (आर्गन) बाजा बजाते हुए चलते हैं तो बहुत अच्छे और बहुत शानदार मालूम होते हैं।

वर्दी की ख़ुसूसिय्यत इन्हीं लोगों में है। और क़िस्म के बाजे वालों को कभी इसका खयाल न आया कि अपने लिए कोई वर्दी ईजाद करें। वह निहायत ही ज़लील और कसीफ़[4] कपड़े पहने हुआ करते हैं। मगर अंग्रेज़ी बैन्ड वाले मेहतरों ने अपने लिए तरह-तरह की वर्दियाँ ईजाद करके अपनी शान बढ़ा ली है और हिन्दोस्तानी मूसीक़ी को अंग्रेज़ी अरगनों में शामिल करके, लोगों में अपनी क़दर भी ज़ियाद: कर ली है।

खाना-पीना (शाही बावर्चीख़ान:)

इन्सानी मुआशरत[5] में सबसे ज़ियाद: ज़रूरी और सबसे अहम खाना-पीना है और किसी गिरोह और क़ौम के तरक़्क़ी करते वक़्त, सबसे पहला शौक़, अपनी ख़ुश-मज़ाक़ी और जिद्दतों का इज़हार दस्तरख्वान पर करना है। इसलिए अब हम यह बताना चाहते हैं कि बावर्चीख़ाने और दस्तरख्वान के मुतअल्लिक़ लखनऊ के मशिरक़ी

---

१ प्रवेश २ तैयारी, तत्परता ३ परिवर्तन ४ मैले ५ सभ्यता।

दरबार ने क्या रंग दिखाया और क्या-क्या जिद्दत-तराज़ियाँ[1] कीं और इस फ़न में यहाँ के लोगों ने किस दर्जे तक तरक़्क़ी की। अवध के तमद्दुन की तारीख़ शुजाउद्दौल: से और उनके भी आख़िरी अ़हद से शुरू होती है। यानी उस वक़्त से जब कि वह बक्सर की लड़ाई में शिकस्त खाके और अंग्रेज़ों से नया मुआहिद: करके ख़ामोश बैठे और फ़ौजी सरगर्मियों की तरफ़ से बेतवज्जुही हुई। उस ज़माने में उनके मुहतमिमे[2] बावर्चीख़ाना हसन रज़ा ख़ाँ उर्फ़ मिर्ज़ा हसनू थे, जो एक देहली के आए हुए मुअ़ज़्ज़ज़[3] व शरीफ़ घराने से थे। सफ़ीपुर ज़िला उन्नाव के एक शाहज़ादे मौलवी फ़ज़ल अज़ीम जो लखनऊ में तालिबे इल्मी को आए थे, ख़ुश क़िस्मती से मिर्ज़ा हसनू के घर में उनकी रसाई हो गई। और उनके साथ ही मिल के और खेल-कूद के बड़े हुए थे। इनको उन्होंने अपनी तरफ़ से नायब मुहतमिमे बावर्चीख़ाना मुक़र्रर करा दिया था, और इनका मामूल था कि ख़ासे के ख़्वानों को दुरुस्त करके और उनमें अपनी मुहर लगा के नव्वाबी ड्योढ़ी में ले जाते और बहू बेगम की ड्योढ़ी की मख़सूस महरियों धनिया, पनिया और मुनिया के हवाले कर देते। महज़ इस ग़रज़ के लिए कि यह महरियाँ इनके ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई न होने दें; मौलाना ने इन महरियों से भाईचारा कर लिया था। चुनांचि: यह महरियाँ बहुत ही नाज़ुक मौक़ों पर इनके काम आईं। नव्वाब शुजाउद्दौल: का मामूल[4] था कि महल के अन्दर अपनी बीवी बहू बेगम साहिबा के साथ खाना खाते। महरियाँ ख़्वानों को बेगम साहब के सामने ले जाके खोलतीं और दस्तरख़्वान पर खाना चुना जाता।

नव्वाब और बेगम के लिए हर रोज़ छ: बावर्चीख़ानों से खाना आया करता, अव्वल मज़कूर-ए-बाला[5] असली नव्वाबी बावर्चीख़ाने से, जिसके मुहतमिम मिर्ज़ा हसनू थे और मौलवी फ़ज़ल अज़ीम ख़ासे के ख़्वान ख़ुद लेके ड्योढ़ी में हाज़िर होते। इस बावर्चीख़ाने में दो हज़ार रुपये रोज़ की पुख़्त[6] होती। जिसके यह मानी हुए कि बावर्चियों और दीगर मुलाज़िमों की तनख़्वाहों के अलावः साठ हज़ार रुपये माहवार या सात लाख बीस हज़ार रुपये सालाना की रक़म फ़क़त अलवाने नेमत[7] और ग़िज़ाओं की क़ीमत में सर्फ़ होती थी। दूसरे सरकारी छोटे बावर्चीख़ाने से जिसके मुहतमिम पहले तो मिर्ज़ा हसनअली मुहतमिम तोशाख़ाना थे, लेकिन बाद अज़ाँ वह अम्बरअली ख़ाँ ख़्वाजा सरा के सिपुर्द हो गया था। इसमें तीन सौ रुपये रोज़ यानी एक लाख आठ हज़ार रुपये हर साल ख़ानों की तैयारी में सर्फ़ होते। तीसरे ख़ुद बहू बेगम साहिबा के महल के अन्दर का बावर्चीख़ाना, जिसका मुहतमिम बहारअली ख़ाँ ख़्वाजा सरा था। चौथे नव्वाब बेगम साहिबा यानी शुजाउद्दौल: की वालद-ए-मुहतरम: के बावर्चीख़ानों से। पाँचवें, मिर्ज़ा अली ख़ाँ के बावर्चीख़ाने से। और छठे नव्वाब सालारे जंग के बावर्चीख़ाने से। आख़िरुज़्ज़िक्र दोनों रईस, बहू बेगम साहिबा के भाई और शुजाउद्दौल: बहादुर के साले थे।

---

१ नये-नये तरीक़े निकालना २ प्रबंधक ३ प्रतिष्ठित ४ नित्य का नियम ५ उपर्युक्त ६ पकाने का कार्य ७ भाँति-भाँति सुख-सामग्रियों अर्थात भाँति-भाँति के खाने।

उस अहद के यह छः वावर्चीख़ाने, शाही वावर्चीख़ाने के हमपल्ला थे और जिन में रोज़ पुरतकल्लुफ़ और लज़ीज़ खाने, फ़रमाँरवाए वक़्त के ख़ासे के लिए तैयार किए जाते। एक दिन किसी खाने में, जो वड़े सरकारी वावर्चीख़ाने से आया था, ख़ास नव्वाव साहव के सामने एक मक्खी आई। नव्वाव ने वहम होकर दरयाफ़्त किया कि यह खाना कहाँ से आया है ? धनिया ने ख़याल किया कि अगर सरकारी वावर्चीख़ाने का नाम लेती हूँ तो मौलाना भाई की क़ज़ा आ जाएगी, वोली, हुज़ूर ! यह खाना नव्वाव सालारे जंग वहादुर के यहाँ से आया है।

नव्वाव शुजाउद्दौलः के वाद, दरवार फ़ैज़ावाद से लखनऊ में मुनतक़िल हो आया और नव्वाव आसिफ़ुद्दौलः ने मिर्ज़ा हसन रज़ा ख़ाँ को सरफ़राज़ुद्दौलः ख़िताब देके ख़िलअ़ते विज़ारत से सरफ़राज़ किया तो दारोग़गी-ए-वावर्चीख़ाने को अपनी शान के ख़िलाफ़ क़ायम करके, उन्होंने मौलवी फ़ज़्ल अज़ीम साहव को मुस्तक़िल मुहतमिमे वावर्ची ख़ान-ए-सरकारी मुक़र्रर करा दिया। मगर मौलवी फ़ज़्ल अज़ीम साहव पहले जिस ख़ासे के ख़्वान ले के वहू वेगम साहिवा की ड्योढ़ी पर हाज़िर हुआ करते थे, उसी तरह अव लखनऊ में नव्वाव आसिफ़ुद्दौलः वहादुर की ड्योढ़ी पर हाज़िर होने लगे और अपने दीगर अइज़्ज़ा[1] को वुला के अपने काम में शरीक़ कर लिया। जिनमें उनके सगे भाई मौलवी ख़ालिक़अली और चचा-ज़ाद भाई ग़ुलाम अज़ीम और ग़ुलाम मख़दूम ज़ियादः पेश थे। और वारी-वारी चारों भाई ड्योढ़ी पर ख़ासा ले जाया करते।

आसिफ़ुद्दौलः वहादुर के वाद वज़ीरअली ख़ाँ के चन्दरोज़ा अ़हद में तफ़ज़्ज़ुल हुसैन ख़ाँ वज़ीर हुए तो उन्होंने इन विरादराने सफ़ीपुर को हटा के, एक अपने आवुर्दे ग़ुलाम मुहम्मद उर्फ़ वड़े मिर्ज़ा को मुहतमिमे वावर्चीख़ाना मुक़र्रर कर दिया।

इन वाक़िआ़त से मालूम होता है कि लखनऊ को अपने इब्तिदाई अ़हद ही में ऐसे वड़े-वड़े ज़वर्दस्त और शौक़ीनी के वावर्चीख़ाने नसीव हो गए जिनका लाज़िमी नतीजा यह था कि निहायत ही आला दर्जे के वावर्ची तैयार हों, ग़िज़ाओं की तैयारी में तकल्लुफ़ात वढ़े, जिद्दत तराज़ियाँ हों, और जो साहिवेकमाल वावर्ची देहली और दीगर मक़ामात से आए हों, वह यहाँ की ख़राद पर चढ़ के अपने हुनर में ख़ास क़िस्म का कमाल और अपने तैयार किए हुए खानों में नई तरह की नफ़ासत और ख़ास क़िस्म की लज़्ज़त पैदा करें।

यह मामूल है कि जो काम जिस शख़्स के ज़रीए से होता है, वह उसमें कुछ न कुछ तरक़्क़ी ज़रूर करता है और उसका शौक़ीन वन जाता है। चुनानचिः लखनऊ में खाने के इब्तिदाई शौक़ीन भी वही रुअसा[2] तस्लीम किए जाते हैं जिनके वावर्चीख़ानों का ऊपर ज़िक्र आ चुका है। लोग कहते हैं कि ख़ुद हसन रज़ा ख़ाँ सरफ़राज़ुद्दौलः

१ सम्वन्धीजन २ रईस लोग, धनी-मानी।

का दस्तरख्वान बहुत वसीअ था। खाना खिलाने के वह निहायत ही लायक़ थे। और जब उनका यह मज़ाक़ देख के, आलातरीन सरकारी बावर्चीख़ाना उनके सिपुर्द हो गया, तो उन्हें अपने शौक़ के फ़न में ईजाद व इख्तिरा[1] का कहाँ तक मौक़ा न मिला होगा ?

और इसी का नतीजा यह भी था कि यूँ तो इस सरज़मीन में खाने के शौक़ीन सदहा रईस पैदा हो गए, मगर नव्वाब सालार जंग को आखिर तक अलवानें नेमत की ईजाद व तरक़्क़ी में ख़ास शुहरत हुई।

मुअ़्तबर ज़राए से मालूम हुआ है कि ख़ुद नव्वाब सालारे जंग का बावर्ची, जो सिर्फ़ उनके लिए खाना तैयार करता था, बारह सौ रुपये माहवार तनख्वाह पाता था, जो तनख्वाह आज भी किसी बड़े से बड़े हिन्दोस्तानी दरबार में भी किसी बावर्ची को नहीं मिलती। ख़ास उनके लिए वह ऐसा भारी पुलाव पकाता कि सिवा उनके और कोई उसे हज़्म न कर सकता। यहाँ तक कि एक दिन नव्वाब शुजाउद्दौलः ने उनसे कहा, तुमने कभी हमें वह पुलाव नहीं खिलाया, जो ख़ास अपने लिए पकवाया करते हो ? अर्ज़ किया, बेहतर है, आज हाज़िर करूँगा। बावर्ची से कहा, जितना पुलाव रोज़ पकाते हो, आज उसका दूना पकाना। उसने कहा, मैं तो सिर्फ़ आपके ख़ासे के लिए नौकर हूँ, किसी और के लिए नहीं पका सकता। कहा, अरे, नव्वाब साहब ने फ़रमाइश की है, मुमकिन है कि मैं उनके लिए ले जाऊँ ? उसने कहा, कोई हो, मैं तो और किसी के लिए नहीं पका सकता। जब सालारे जंग ने ज़ियादः इसरार किया तो उसने कहा, बेहतर, मगर शर्त यह है कि हुज़ूर ख़ुद ले जाके अपने सामने खिलाएँ और चन्द लुक़्मों से ज़ियादः न खाने दें। और एहतियातन आबदारख़ाने[2] का इन्तिज़ाम भी करके अपने साथ ले जाएं।

सालारेजंग ने यह शर्तें क़बूल कीं, आख़िर बावर्ची ने पुलाव तैयार किया और सालारेजंग ख़ुद लेके पहुँचे और दस्तरख्वान पर पेश किया। शुजाउद्दौलः ने खाते ही बहुत तारीफ़ की और रग़बत के साथ खाने लगे। मगर दो ही चार लुक़्में खाए थे कि सालारेजंग ने बढ़कर हाथ पकड़ लिया और कहा, बस इससे ज़ियादः न खाइए। शुजाउद्दौलः ने हैरत से उनकी सूरत देखी और कहा, इन चार लुक़्मों में क्या होता है ? और यह कह के, ज़बर्दस्ती दो एक लुक़्मे और खा ही लिए। अब प्यास की शिद्दत हुई। सालारेजंग ने अपने आबदारख़ाने से जो साथ गया था, पानी मंगवा-मंगवा के पिलाना शुरू किया। बड़ी देर के बाद ख़ुदा-ख़ुदा करके तशनगी[3] मौक़ूफ़ हुई और सालारेजंग अपने घर आए।

आजकल के मज़ाक़ में यह ग़िज़ा की कोई ख़ूबी नहीं समझी जा सकती। मगर उस ज़माने में और पुराने मज़ाक़ के खानेवालों के नज़दीक अब भी ग़िज़ा की ख़ूबी

---

१ आविष्कार २ पानी की झारी ३ प्यास।

का असली मेयार[1] यही है कि ग़िज़ाएँ बज़ाहिर नफ़ीस व लतीफ़ हों मगर असल में इस क़दर क़वी और मेदे पर गराँ हों कि हर मेदा बर्दाश्त न कर सके।

दूसरा कमाल यह था कि किसी एक चीज़ को मुख़तलिफ़ सूरतों में दिखा के ऐसा बना दिया जाए कि दस्तरख़्वान पर ज़ाहिर में तो यह आए कि बीसियों क़िस्म के अलवानें नेमत मौजूद हैं, मगर चखिए और ग़ौर कीजिए तो वह सब एक ही चीज़ हैं। मसलन मुअ्तबर[2] ज़राये से सुना जाता है कि देहली के शाहज़ादों में से मिर्ज़ा आसमान क़दर, फ़र्ज़न्दे मिर्ज़ा ख़ुर्रम बख़्त, जो लखनऊ में आके शीअ्ः हुए और चन्द रोज़ ठहरने के बाद बनारस में जाके क़ियामें-पिज़ीर[3] हो गए। क़ियामें लखनऊ के ज़माने में वाजिदअली शाह ने उनकी दावत की तो दस्तरख़्वान पर एक मुरब्बा लाके रखा गया, जो सूरत में निहायत ही नफ़ीस व लतीफ़ और मरग़ूब[4] मालूम होता था। मिर्ज़ा आसमान क़दर ने उसका लुक़्मा खाया तो चकराए, इसलिए कि वह मुरब्बा न था, बल्कि गोश्त का नमकीन क़ौरमा था, जिसकी सूरत रकाबदार ने बिअ्निही[5] मुरब्बे की सी बना दी थी। यूँ धोखा खा जाने पर उन्हें नदामत हुई और वाजिदअली शाह ख़ुश हुए कि देहली के एक मुअ्ज़्ज़ज़ शाहज़ादे को धोका दे दिया।

दो चार रोज़ बाद मिर्ज़ा आसमान क़दर ने वाजिदअली शाह की दावत की। वाजिदअली शाह यह खयाल करके आए थे कि मुझे ज़रूर धोका दिया जाएगा, मगर इस होशियारी पर भी धोका खा गए। इसलिए कि आसमान क़द्र के बावर्ची शेख़ हुसैन अली ने यह कमाल किया था कि गो दस्तरख़्वान पर सदहा अलवानें नेमत[6] और क़िस्म-क़िस्म के खाने चुने हुए थे, पुलाव था, ज़र्दा था, बिर्यानी[7] थी, क़ोर्मा था, कबाब[8] थे, तरकारियाँ थीं, चटनियाँ थीं, अचार थे, रोटियाँ थीं, पराठे थे, शीर मालें थीं, ग़रज़ कि हर नेमत मौजूद थी, मगर जिस चीज़ को चक्खा, शकर की बनी हुई थी। सालन था तो शकर का, चावल थे तो शकर के, अचार था तो शकर का और रोटियाँ थीं तो शकर की। यहाँ तक कि कहते हैं तमाम बर्तन, दस्तरख़्वान और सिलफ़ची[9] आफ़ताबः तक शकर के थे। वाजिदअली शाह घबरा-घबरा के एक-एक चीज़ पर हाथ डालते थे और धोके पर धोका खाते थे।

हम बयान कर आये हैं कि नव्वाब शुजाउद्दौलः बहादुर के ख़ासे[10] पर छः मकामों से ख़ासे के ख़्वान आया करते थे। मगर यह उन्हीं तक मुन्हसिर[11] न था। उनके बाद भी यह तरीक़ा जारी रहा कि अक्सर मुअ्ज़्ज़ज़ उमरा[12] ख़ुसूसन अइज़्ज़ाए-शाही[13]

---

१ मापदण्ड २ विश्वसनीय ३ बस-रस गये ४ रुचिकर, मनोनुकूल ५ बिल्कुल ६ रंग-रंग की चीज़ें ७ गोश्त का एक प्रकार का पुलाव ८ (मांस की) तली हुई टिकियाँ या सलाखों पर सेंकी हुई नलियाँ ९ हाथ धोने व कुल्ली करने का बरतन या हत्थेदार लोटा १० शाही खाना ११ सीमित, निर्भर १२ प्रतिष्ठित रईस १३ शाही सम्मानित जन।

को यह इज़्ज़त दी जाती कि वह ख़ासे के लिए ख़ास-ख़ास क़िस्म के खाने बिला नाग़ा भेजा करते।

चुनांचि: हमारे दोस्त नव्वाब मुहम्मद शफ़ी ख़ाँ साहब बहादुर नेशापुरी का बयान है कि उनके नाना, नव्वाब आग़ा अली हसन ख़ाँ साहब के घर से, जो नेशापुरियों में सबसे ज़ियाद: नामवर और मुमताज़ थे, बादशाह के लिए रौग़नी रोटी और मीठा घी जाया करता। रौग़नी रोटियाँ इस क़द्र बारीक और नफ़ासत से पकाई जातीं कि मोटे काग़ज़ से ज़ियाद: गुन्द:[1] न होतीं। और फिर यह मुमकिन न था कि चित्तियाँ पड़ें और न यह मजाल थी कि किसी जगह पर कच्ची रह जाएँ। मीठा घी भी एक ख़ास चीज़ था जो बड़े एहतिमाम[2] से तैयार कराया जाता।

देहली में बिर्यानी का ख़ास रवाज है और था। मगर लखनऊ की नफ़ासत ने पुलाव को उस पर तर्जीह[3] दी। अवाम की नज़र में दोनों क़रीब-क़रीब बल्कि एक ही हैं। मगर बिर्यानी में मसाले की ज़ियादती से, सालन मिले हुए चावलों की शान पैदा हो जाती है। और पुलाव में इतनी लताफ़त[4], नफ़ासत[5] और सफ़ाई[6] ज़रूरी समझी जाती है कि बिर्यानी उसके सामने मलग़ोब:[7] सी मालूम होती है। इसमें शक नहीं कि मामूली क़िस्म के पुलाव से बिर्यानी अच्छी मालूम होती है। वह पुलाव, ख़ुशका मालूम होता है, जो ऐब बिर्यानी में नहीं होता। मगर आला दर्जे के पुलाव के मुक़ाबिल बिर्यानी, नफ़ासत-पसन्द लोगों की नज़र में बहुत ही लद्धड़ और बदनुमा ग़िज़ा है। बस यही फ़र्क़ था जिसने लखनऊ में पुलाव को ज़ियाद: मुरव्वज[8] बना दिया।

पुलाव यहाँ कहने को तो सात तरह के मशहूर हैं। उनमें भी सिर्फ़ गुलज़ार पुलाव, नूर पुलाव, मोती पुलाव और चम्बेली पुलाव के नाम हमें इस वक़्त याद हैं। मगर वाक़िअ: यह है कि यहाँ के आला दर्जे के दस्तरख़्वान पर बीसियों तरह के पुलाव हुआ करते थे। मुहम्मद अली शाह के बेटे मिर्ज़ा अज़ीमुश्शान ने एक शादी के मौक़े पर समधी-मिलाप की दावत की थी, जिसमें ख़ुद फ़रमाँरवाए-वक़्त[9] वाजिदअली शाह भी शरीक थे, उस दावत में दस्तरख़्वान पर नमकीन और मीठे कुल सत्तर क़िस्म के चावल थे।

ग़ाज़िउद्दीन हैदर बादशाह के अहद में नव्वाब सालारे जंग के ख़ानदान से एक रईस थे नव्वाब हुसैन अली ख़ाँ; इन्हें खाने का बड़ा शौक़ था। ख़ुसूसन पुलाव का। इनके दस्तरख़्वान पर बीसियों तरह के पुलाव हुआ करते और वह ऐसे नफ़ासत और लुत्फ़ के साथ तैयार किये जाते कि शहर भर में उनकी शुहरत हो गई। यहाँ तक कि रुऊसा और अमाइद[10] में से कोई उनके मुक़ाबले की जुर्अत[11] न कर सकता। ख़ुद

---

१ मोटी (भारी) २ सावधानी ३ प्रधानता ४ मज़ा, स्वाद ५ नर्मी, कोमलता ६ स्वच्छता, अनोखापन ७ पँचमेल, तर चीज़ ८ प्रचलित ९ तत्कालीन बादशाह १० रईस और प्रतिष्ठितजन ११ साहस, हौसला।

बादशाह को उन पर रश्क था, और खाने के शौक़ीनों में वह "चावल वाले" मशहूर हो गए थे।

नसीरुद्दीन हैदर के अह्द में बाहर का एक बावर्ची आया, जो पिस्ते और बादाम की खिचड़ी पकाता। बादाम के सुडौल और साफ़ सुथरे चावल बनाता, पिस्ते की दाल तैयार करता, और इस नफ़ासत से पकाता कि मालूम होता निहायत उम्द: नफ़ीस और फरैरी[1] माश[2] की खिचड़ी है, मगर खाइए तो और ही लज़्ज़त थी और ऐसा ज़ाइक़: जिसका मज़ा ज़बान को ज़िन्दगी भर न भूलता।

नव्वाब सआदतअली ख़ाँ के ज़माने में एक साहिबे कमाल बावर्ची सिर्फ़ चावलों की गुलत्थी पकाता मगर ऐसी गुलत्थी जो शाही दस्तरख़्वान को रौनक़, फ़रमाँरवाए वक़्त को निहायत ही मरग़ूब[3] थी और शहर के तमाम रईसों को उसका एक लुक़्मा मिल जाने की तमन्ना[4] थी।

मशहूर है कि नव्वाब आसिफ़ुद्दौल: के सामने एक नया बावर्ची पेश हुआ। पूछा गया, क्या पकाते हो? कहा, सिर्फ़ माश की दाल पकाता हूँ। पूछा, तनख़्वाह क्या लोगे? कहा, पाँच सौ रुपये। नव्वाब ने नौकर रख लिया। मगर उसने कहा, मैं चन्द शर्तों पर नौकरी करूँगा। पूछा, वह शर्तें क्या हैं? कहा, जब हुज़ूर को मेरे हाथ की दाल का शौक़ हो, एक रोज़ पहले से हुक्म हो जाए, जब इत्तिला दूँ कि तैयार है, तो हुज़ूर उसी वक़्त तनावुल फ़रमा लें[5]। नव्वाब ने यह शर्तें भी मंज़ूर कर लीं। चन्द माह के बाद उसे दाल पकाने का हुक्म हुआ। उसने तैयार की और नव्वाब को ख़बर की। उन्होंने कहा, अच्छा दस्तरख़्वान बिछाओ, मैं आता हूँ। दस्तरख़्वान बिछा, मगर नव्वाब साहब बातों में लगे रहे। उसने जाके फिर इत्तिला दी कि ख़ासा तैयार है। नव्वाब को फिर आने में देर हुई, उसने सेहबारा[6] ख़बर की और उस पर भी नव्वाब साहब न आए, तो उसने दाल की हाँडी उठा के एक सूखे पेड़ की जड़ में उंडेल दी, और इस्तिअ़्फ़ा[7] देकर चला गया। नव्वाब को अफ़सोस हुआ। ढुँढ़वाया, मगर उसका पता न लगा। मगर चन्द रोज़ बाद देखा तो जिस दरख़्त के नीचे दाल फेंकी गई थी, वह सरसब्ज़ हो गया था। इसमें शक नहीं कि इस वाक़िअ़े में मुबालिग़ा[8] है, जिसने इसे ख़िलाफ़े-क़ियास[9] होने के दर्जे तक पहुँचा दिया है। मगर इससे इतना अन्दाज़ा अलबत्ता हो जाता है कि दरबार में बावर्चियों की किस दर्जे क़द्र होती थी और कोई साहिबे कमाल बावर्ची आ जाता तो किस फ़ैयाज़ी[10] से रोक लिया जाता।

अमीरों का यह ज़ौक़ देख के बावर्चियों ने भी तरह-तरह की जिद्दत तराज़ियाँ[11] शुरू कर दीं। किसी ने पुलाव अनारदाना ईजाद किया। इसमें हर चावल आधा

---

१ फलहरी २ उरद ३ रुचिकर ४ लालसा ५ भोजन कर लें ६ तीसरी बार ७ त्यागपत्र ८ अत्योक्ति ९ अनुमान से परे १० उदारता ११ नये आविष्कार।

याक़ूत की तरह सुर्ख़ और ज़िलादार[1] होता और आधा सफ़ेद, मगर उसमें भी शीशे की सी चमक मौजूद होती। जब दस्तरख़्वान पर लाके लगाया जाता तो मालूम होता कि प्लेट में अबलक़ रंग के जवाहिरात रखे हुए हैं। एक और बावर्ची ने नौरत्न पुलाव पकाके पेश किया। जिसमें नौरत्न के मशहूर जवाहरात के मिस्ल, नौरंग के चावल मिला दिए, और फिर रंगों की सफ़ाई और आब व ताब अजीब नफ़ासत और लुत्फ़ पैदा कर रही थी। इसी तरह की ख़ुदा जाने कितनी ईजादें हो गईं जो तमाम घरों और बावर्चीख़ानों में फैल गईं।

खाने के शौक़ीन अगले रईसों में से एक नव्वाब मिर्ज़ा ख़ाँ नेशापुरी थे, जो कहते हैं कि चौदह हज़ार माहवार के वसीक़ेयाब थे। अच्छा खाने के शौक़ में उन्होंने वह कमाल दिखाया और ऐसे अच्छे-अच्छे बावर्ची जमा कर लिए कि शहर में उनके दस्तरख़्वान की धूम थी। दूसरे मिर्ज़ा हैदर थे। यह भी नेशापुरी और ऐसे मुहतरम रईस थे कि तमाम नेशापुरी इनको अपना सरताज और बुज़ुर्ग मानते। उनकी शान यह थी कि जिसकी दावत में जाते, उनका आबदार खाना[2], गिलौरियों का सामान, और सौ डेढ़ सौ हुक़्क़े उनके साथ जाते। उनकी इस वज़अ से अक्सर मुतवस्सितुल्हाल[3] लोगों को बड़ी मदद मिल जाती। किसी न किसी तरह ख़ुशामद दरामद करके उनसे दावत क़बूल करा लेते और उनके क़बूल कर लेने के बाद यह मानी थे कि महफ़िल में हुक़्क़ों, गिलौरियों और पानी का इन्तिज़ाम उनके ज़िम्मे हो गया। और फिर कैसा इन्तिज़ाम, जो किसी बड़े से बड़े रईस के भी इमकान से बाहर था।

खाना तैयार करने वाले तीन गिरोह हैं। पहले देग शो, जिनका देगों का धोना और बावर्चियों की मातहती में मज़दूरी करना है। दूसरे, बावर्ची, यह लोग खाना पकाते हैं और अक्सर बड़ी-बड़ी देगें तैयार करके उतारते हैं। तीसरे, रकाबदार, यही लोग इस फ़न के आला दर्जे के माहिर और साहिबे कमाल होते हैं। यह लोग अलल् अमूम[4] छोटी हाँडियाँ पकाते हैं और बड़ी देगें उतारना अपनी शान और मर्तबे से अदना काम ख़याल करते हैं। अगरचिः बावर्ची भी छोटी हाँडियाँ पकाते हैं, मगर रकाबदारों का काम फ़क़त छोटी हाँडियों तक महदूद था। यह लोग मेवाजात के फूल कतरते, खाना निकालते और लगाने में सलीक़ः, नफ़ासत[5] और तकल्लुफ़ ज़ाहिर करते। चोभों और क़ाबों[6] में जो पुलाव या ज़र्दा निकाला जाता, उस पर मेवाजात और दीगर तरीक़ों से गुलकारियाँ[7] करते और नक़्श व निगार बनाते। निहायत नफ़ीस और लतीफ़ मुरब्बे और अचार तैयार करते और खानों में अपनी तबीअतदारी[8] से सदहा क़िस्म की सनअतें[9] दिखाते।

---

१ चमकदार २ पानी का बरतन, पर यहाँ अर्थ है वह विशेष बरतन जिसमें बादशाह अथवा रईस के पीने का पानी रहता है ३ मध्यम वर्ग के ४ साधारणतः ५ सफ़ाई ६ प्यालों ७ बेल-बूटों का काम ८ रुचि, शौक़ ९ कारीगरीआँ।

ग़ाज़िउद्दीन हैदर पहले शाहे-अवध को पराठे पसन्द थे। उनका रकाबदार हर रोज छः पराठे पकाता और फ़ी पराठा पाँच सेर के हिसाब से ३० सेर घी रोज़ लिया करता। एक दिन वज़ीरे-सल्तनत मुअ़्तमदुद्दौलः आग़ामीर ने शाही रकाबदार को बुला के पूछा, अरे भई यह तीस सेर घी क्या होता है? कहा, हुज़ूर पराठे पकाता हूं। कहा, भला मेरे सामने तो पकाओ। उसने कहा बहुत ख़ूब। पराठे पकाये। जितना घी खपा-खपाया, और जो बाक़ी बचा फेंक दिया। मुअ़्तमदुद्दौलः आग़ामीर ने यह देख के हैरत और इस्तेअ़्जाब[1] से कहा, "पूरा घी तो ख़र्च नहीं हुआ?" उसने कहा, अब यह घी तो बिल्कुल तेल हो गया, इस क़ाबिल थोड़े ही है कि किसी और खाने में लगाया जाय। वज़ीर से जवाब तो न बन पड़ा, मगर हुक्म दे दिया कि आइन्दः से सिर्फ़ पाँच सेर घी दिया जाया करे। फ़ी पराठा एक सेर बहुत है। रकाबदार ने कहा, बेहतर, मैं इतने ही घी में पका दिया करूँगा। मगर वज़ीर की रोक-टोक से इस क़द्र नाराज़ हुआ कि मामूली क़िस्म के पराठे पका के बादशाह के ख़ासे पर भेज दिए। जब कई दिन यही हालत रही तो बादशाह ने शिकायत की कि यह पराठे अब कैसे आते हैं? रकाबदार ने अर्ज़ किया, हुज़ूर! जैसे मुअ़्तमदुद्दौलः बहादुर का हुक्म है, पकाता हूँ। बादशाह ने इसकी हक़ीक़त पूछी तो उसने सारा हाल बयान कर दिया। फ़ौरन मुअ़्तमदुद्दौलः की याद हुई। उन्होंने अर्ज़ किया: जहाँपनाह! यह लोग ख्वाहमख्वाह को लूटते हैं। बादशाह ने इसके जवाब में दस-पाँच थप्पड़ और घूँसे रसीद किए, ख़ूब ठोंका और कहा, तुम नहीं लूटते हो। तुम जो सारी सल्तनत और सारे मुल्क को लूटे लेते हो, इसका खयाल नहीं। यह जो थोड़ा सा घी ज़ियादः ले लेता है और वह भी मेरे ख़ासे के लिए, यह तुम्हें नहीं गवारा है? बहरहाल मुअ़्तमदुद्दौलः ने तौबा की, कान उमेठे तो ख़िलअ़त अ़ता हुआ[2], जो इस बात की निशानी तसव्वुर की जाती है कि आज जहाँपनाह ने दस्ते शफ़क़त[3] फेरा है, और अपने घर आए। फिर उन्होंने कभी उस रकाबदार से तअ़र्रुज़ न किया और वह उसी तरह ३० सेर घी रोज़ लेता रहा।

खाने के शौक़ीन रईसों के अजूबा शौक़

नव्वाब अबुलक़ासिम ख़ाँ एक शौक़ीन रईस थे। उनके वहाँ बहुत भारी पुलाव पकता। ३४ सेर गोश्त की यख़नी[4] तैयार करके मुक़त्तर कर ली जाती और उसमें चावल दम किए जाते और फिर इस लुत्फ़ के साथ कि लुक़्मा मुँह में रखते ही मालूम होता कि सब चावल ख़ुद ही गल के हल्क़ से उतर गए। फिर उसके साथ इस दर्जे लताफ़त कि मजाल क्या जो ज़रा भी महसूस हो सके कि इसमें किसी क़िस्म की

---

१ हैरत, आश्चर्य २ पदवी क़ाइम रही ३ छत्रछाया ४ गोश्त का पकाया बिना मसाले का रसा।

गिरानी[1] है। इतनी ही या इससे ज़ियादः क़ुव्वत का पुलाव वाजिदअली शाह की खास महल साहिबा के लिए रोज़ तैयार हुआ करता था।

ममदूहे वाला[2] माज़ूल[3] शाहे अवध के हमराह मटियाबुर्ज के एक रईस थे जिनका मुंशियुस्सुल्तान बहादुर खिताब था। बड़े वज़अदार और नफ़ीस मिज़ाज शौक़ीनों में थे, खाने का बेहद शौक़ था और अगरचिः कई साहिबे कमाल बावर्ची मौजूद थे, मगर उन्हें, जब तक दो एक चीज़ें खुद अपने हाथ से न पका लेते, खाने में मज़ा न आता। आखिर उनके अच्छे खाने की यहाँ तक शुहरत हुई कि वाजिदअली शाह कहा करते, अच्छा तो मुंशियुस्सुलतान खाते हैं, मैं क्या अच्छा खाऊँगा! बचपन में छः सात बरस तक मटियाबुर्ज में मैं उन्हीं के साथ रहा और उन्हीं के साथ दस्तरख्वान पर शरीक होता रहा। मैंने उनके दस्तरख्वान पर तीस चालीस क़िस्म के पुलाव और बीसियों क़िस्म के चावल खाए, जिनमें से बाज़ ऐसे थे कि फिर कभी खाना न नसीब हुए। उन्हें हलवासोहन का भी बड़ा शौक़ था। जिसका ज़िक्र अपने महल पर आएगा।

आखिर ज़माने में और ग़दर के बाद, लखनऊ में हकीम बन्दा मेंहदी मर्हूम को खाने और पहनने का बेहद शौक़ था। और बड़े-बड़े दौलतमन्द और शौक़ीन लोगों को यक़ीन है कि जैसा खाना उन्होंने खाया और जैसा कपड़ा उन्होंने पहना, उनके ज़माने में बहुत कम किसी को नसीब हो सका। हमारे एक मुअम्मर[4] व मुअज्ज़ज़[5] दोस्त फ़रमाते हैं कि "हमारे खानदान से हकीम साहब मौसूफ़ से बहुत रब्त व ज़ब्त[6] था। एक दिन हकीम साहब ने हमारे वालिद और चचा को बुला भेजा कि एक पहलवान की दावत है, आप भी आके लुत्फ़ देखिए। वालिद तशरीफ़ ले गए और मैं भी उनके साथ गया। वहाँ जाके मालूम हुआ कि वह पहलवान रोज़ सुबह को बीस सेर दूध पीता है। उस पर ढाई तीन सेर मेवा यानी बादाम और पिस्ते खाता है, और दोपहर और शाम को ढाई सेर आटे की रोटियाँ और एक मुतवस्सित दर्जे[7] का बकरा खा जाता है; और इसी ग़िज़ा के मुनासिब उसका तन व तोश भी था। वह नाश्ते के लिए बेताब था और बार-बार तक़ाज़ा कर रहा था कि खाना जल्दी मंगवाइए मगर हकीम साहब जानबूझ के टाल रहे थे। यहाँ तक कि भूख की शिद्दत ने उसे बेताब कर दिया और अब वह नाराज़ हो के उठने लगा। तब हकीम साहब खाना भेजने का वादा करके अन्दर चले गए। थोड़ी देर और टाला और जब देखा कि अब वह भूक को बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर सकता, तो महरी के हाथ एक ख्वान भेजा। जिसकी सूरत देखते ही पहलवान साहब की जान में जान आई। मगर जब उसे खोला तो एक छोटी तश्तरी में थोड़ा सा पुलाव था, जिसकी मिक़दार[8] छटाँक भर से ज़ियादः न होगी। पुरखोर मेहमान को यह चावल देख के बड़ा तैश[9]

---

१ भारीपन २ ऊपर प्रशंसित ३ पदच्युत ४ वयोवृद्ध ५ प्रतिष्ठित ६ मेल-मिलाप ७ मध्यमश्रेणी ८ मात्रा ९ क्रोध।

आया जो उसके एक लुक़्में के लिए भी काफ़ी न थे। क़स्द किया कि उठ के चला जाए, मगर लोगों ने समझा बुझा के रोका, और उसने मजबूरन वह तश्तरी उठा के मुँह में उँडेल ली और वग़ैर मुँह चलाए निगल गया। पाँच मिनट के वाद उसने पानी माँगा और उसके पाँच मिनट वाद फिर पानी पिया और डकार ली। अव अन्दर से खाने के ख्वान आए, दस्तरख्वान विछा, खुद हकीम साहव भी आए, खाना चुना गया। और वही पुलाव जिसमें से एक लुक़्मा भेजा गया था, उसकी प्लेट, जिसमें कोई डेढ़ पाव चावल होंगे, हकीम साहव के सामने लगाई गई। हकीम साहव ने उस प्लेट को पहलवान के सामने पेश किया और कहा, देखिए यह वही पुलाव है या कोई और? उसने क़वूल किया कि वही है। हकीम साहव ने कहा— तो अव खाइए, मुझे अफ़सोस है कि इसकी तैयारी में देर हुई, और आपको तकलीफ़ उठाना पड़ी। पहलवान ने कहा, मगर अव मुझे माफ़ फ़रमाइए, मैं उसी पहले लुक़्मे से सेर[1] हो गया, और अव एक चावल भी नहीं खा सकता। हजार इसरार किया गया मगर उसने क़तअन[2] हाथ रोक लिया और कहा खाऊँ क्योंकर, जव पेट में जगह भी हो। हकीम साहव ने वह चावल लेके सव खा लिए और उससे कहा— वीस-वीस सेर, तीस-तीस सेर खा-जाना इन्सान की ग़िज़ा नहीं, यह तो गाय-भैंस की ग़िज़ा हुई। इन्सान की ग़िज़ा यह है कि चन्द लुक़्मे खाये मगर उनसे क़ुव्वत व तुवानाई[3] वह आए जो वीस-तीस सेर ग़ल्ला खाने में भी न आ सके। आप उस एक लुक़्मे में सेर हो गए हैं। कल फिर आपकी दावत है, कल आके वताइए कि इस एक लुक़्मे से आप को वैसी ही क़ुव्वत व तुवानाई महसूस हुई जैसे कि वीस सेर दूध और सेरों मेवे और गोश्त और ग़ल्ले से हासिल होती थी या उससे कम? और हम सव को भी हकीम साहव ने दूसरे दिन मदऊ[4] कर दिया। दूसरे दिन उस पहलवान ने आके वयान किया कि मुझे ज़िन्दगी भर ऐसी तुवानाई और खुशहाली नहीं नसीव हुई जैसी कि कल से आज तक रही।

शाही खानदान के लोगों में से आखिर अहद में नव्वाव मुहसिनुद्दौलः और नव्वाव मुमताजुद्दौलः दस्तरख्वान और वावर्चीखाने के शौक़ में वेनज़ीर[5] माने जाते। और उन्हीं का वावर्ची था जो हकीम वन्दा मेंहदी साहव के लिए यह पुलाव तैयार किया करता था। उन्हीं दिनों मलका ज़मानिया की एक वड़ी सरकार क़ायम थी और उनका वावर्चीखाना मशहूर था, जिसमें रोज़ाना तीन सौ रुपये की पुख्त[6] होती। उसी अहद में शाहज़ादे यहया अली खाँ की सरकार में आलम अली नाम एक वावर्ची नौकर था, वह मुसल्लम[7] मछली ऐसी वेमिस्ल पकाता था कि तमाम रईसों में मशहूर थी। और दूसरी सरकारों के वावर्चियों ने हज़ार कोशिश की, मगर वह वात न पैदा कर सके।

---

१ तृप्त २ विल्कुल ३ शक्ति, जोर ४ निमंत्रित ५ अनुपम ६ खाना-पकाना ७ समूची।

नसीरुद्दीन हैदर के ज़माने में मुहम्मदू नाम एक विलायती शख्स ने आके फ़िरंगी महल में बावर्ची की दुकान खोली और उसकी नहारी[1] की इतनी शुहरत हुई कि बड़े-बड़े रईस और शाहज़ादे तक उसकी नहारी की क़द्र करते। क़द्रदानी ने उसका हौसला बढ़ाया और उसने शीरमाल ईजाद की जो आज तक लखनऊ का सरमायए-नाज़[2] है। रोटियों की बहुत सी क़िस्में मशहूर और मुख़तलिफ़[3] शहरों में मुरव्वज[4] हैं। ईरान से मुसलमान ख़मीरी रोटियाँ खाते, और हिन्दोस्तान की सरज़मीन में तनूर गाड़ते हुए आए थे, मगर उस वक़्त तक सादी रोटियाँ थी, जिनमें घी का लगाव न होता। हिन्दुओं को पूरियाँ तलते देख के, मुसलमानों ने तवे की रोटियों में घी का जुज़ देके पराठे ईजाद किए। और फिर उनमें मुतअद्दिद पर्तें और तहें देना शुरू कीं। फिर उसी पराठे में पहली तरक़्क़ी यह हुई कि बाक़रख़ानी का रवाज हुआ, जो इब्तिदाअन उमरा के दस्तरख़्वान की बहुत तकल्लुफ़ी रोटी थी। लखनऊ में मुहम्मदू ने बाक़रख़ानी पर बहुत तरक़्क़ी देके शीरमाल पकाई, जो मज़े, बूबास, नफ़ासत और लताफ़त में बाक़रख़ानी और तकल्लुफ़ी रोटियों के तमाम असनाफ़ से बढ़ गई। शीरमाल आज तक सिवा लखनऊ के और कहीं नहीं पकती। और पकती भी है तो ऐसी नहीं पक सकती। चन्द ही रोज़ में शीरमाल को ऐसी आम मक़बूलिय्यत[5] हासिल हुई कि वह लखनऊ की नेशनल रोटी क़रार पा गई। यहाँ तक कि जिस दावत में शीरमाल न हो वह मुकम्मल नहीं समझी जाती।

शीरमाल की ईजाद ने मुहम्मदू की इस क़दर क़द्र बढ़ाई कि शाही मजालिस और तक़रीबों के लिए उसे बाज़ औक़ात एक-एक लाख शीरमालों का आर्डर एक दिन में मिला। और उसने भी ऐसा काफ़ी इन्तिज़ाम कर रखा था कि जितनी शीरमालें माँगी जातीं, मुहय्या कर देता। मुहम्मदू का जानशीन इन दिनों अली हुसैन था जो कई महीने हुए मर गया। मगर उसकी दुकान से आज भी जैसी आला दर्जे की शीरमालें मिल सकती हैं, और कहीं नहीं मिल सकतीं।

शीरमाल से भी ज़ियादः मज़ेदार नान-जलेबी होती है, जो ख़ास इहतिमाम[6] से पकवाई जाती है। और वही रकाबदार इसे तैयार कर सकते हैं जो वाक़िफ़ हैं। और बावर्चियों को दावा है कि लखनऊ के बावर्चियों से अच्छी नान-जलेबी कोई नहीं पका सकता। पराठों में लखनऊ उसी दर्जे पर है जो दूसरे शहरों को हासिल है। इसमें बज़ाहिर कोई तरक़्क़ी नहीं हुई। बल्कि कहा जाता है कि देहली के अच्छे नानबाई बहुत आला दर्जे के पराठे पकाते हैं। और सेर भर आटे में पूरा सेर भर घी खपा देते हैं। मगर मैंने ज़मानए क़ियाम देहली में कई बार मशहूर नानबाइयों से पराठे पकवाए। बेशक उन्होंने घी बहुत ख़र्च कर दिया। मगर चूँकि आटे के

---

१ तड़के का नाश्तः २ गौरव-श्री ३ विभिन्न ४ प्रचलित ५ लोकप्रियता ६ सावधानी।

अन्दर घी नहीं दिया था, इसलिए वह उसी वक़्त तक खाने के क़ाबिल थे जब तक ताज़े खा लिए जाएँ। ठंडे होते ही चिमड़े हो गए।

रोटी को तोड़ के और उसमें घी-शकर मिला के मल देना एक आम और मामूली ग़िज़ा है। जिसका अक्सर फ़ातिहों और नियाज़ों में ज़ियादः रवाज है। मगर शाही बावर्चीख़ाने के यहाँ के बावर्ची ऐसा लतीफ़ मलीदा तैयार करते जो बाज़ फ़रमारवाओं को निहायत ही मर्ग़ूब[1] था। और तारीफ़ यह थी कि मुँह में लुक़्मा लेते ही शर्बत बन जाए और मालूम हो कि चबाने या मुँह चलाने की मुतलक़ ज़रूरत नहीं।

इसी रोटी के सिलसिले में यहाँ तक तरक़्क़ी हुई कि सिर्फ़ दूध की पूरियाँ पकाई जाने लगीं, जिनमें आटे का बिल्कुल जुज़ न होता। सिर्फ़ दूध के जुबुन[2] में, गुँधे हुए मैदे की शान पैदा कर ली जाती, और आखिर में यहाँ तक तरक़्क़ी हुई कि दूध की गिलौरियाँ और दीगर अक़्साम[3] की चीज़ें तैयार होने लगीं। इसी तरह ख़ालिस दूध की पंजीरी दस्तरख़्वानों पर आती जो बहुत ही नफ़ीस व लतीफ़ ग़िज़ा और उमरा को बहुत पसन्द थी।

लेकिन मुसलमानों की नेशनल डिश यानी क़ौमी ग़िज़ा पुलाव और क़ोरमा है। लिहाज़: सबसे ज़ियादः नज़ाकत व लताफ़त इन्हीं चीज़ों में दिखाई गई। पुलाव के मुतअ़ल्लिक़ हम बहुत कुछ बयान कर चुके हैं, फिर भी बाज़ बातें बाक़ी रह गईं। दौलतमन्द और शौक़ीन अमीरों के लिए मुर्ग़, मुश्क व ज़ाफ़रान की गोलियाँ खिला-खिला के तैयार किए जाते। यहाँ तक कि उनके गोश्त में इन दोनों चीज़ों की ख़ुशबू सरायत कर जाती और हर रग व रेशा मुअ़त्तर[4] हो जाता। फिर उनकी यख़नी में चावल दम दे दिए जाते।

मोती पुलाव की शान थी कि मालूम होता चावलों में आबदार मोती मिले हुए हैं। इसके लिए मोतियों के तैयार करने की यह तरकीब थी कि तोला भर चाँदी के वर्क़ और माशा भर सोने के वरक़ अंडे की ज़र्दी में ख़ूब हल किए जाते। फिर उस हलशुदा मुरक्कब[5] को मुर्ग़ के नरख़रे[6] में भर के, नरख़रे के हर-हर जोड़ पर बारीक धागा कस के बाँध दिया जाता। और उसे ख़फ़ीफ़ सा जोश देके, चाक़ू से नरख़रे की खाल चाक कर दी जाती, और सुडौल आबदार मोती निकल आते जो पुलाव में गोश्त के साथ दम कर दिए जाते; बाज़ रकाबदार पनीर के मोती बनाते और उस पर चाँदी का वर्क़ चढ़ा देते। बहरहाल ऐसी-ऐसी जिद्दतें अमल में आतीं कि और कहीं लोगों के ख़याल में भी न आई होतीं। बाज़ रकाबदारों ने पुलाव की तैयारी में यह सनुअ़त[7] दिखाई कि गोश्त की छोटी-छोटी चिड़ियाँ बनाके और ख़ूब एहतियात से इस तरह पकाके कि सूरत न बिगड़ने पाए, प्लेट में बिठा दीं। चावलों की सूरत दानों की कर दी और मालूम होता कि हर मेहमान के सामने प्लेट

१ प्रिय २ पनीर ३ प्रकारों ४ सुगंधित ५ मिश्रित, योग ६ गले की नली, श्वासनलिका ७ कला।

में चिड़ियाँ बैठी दाना चुग रही हैं। फूले हुए समोसे, जिनमें से तोड़ते ही लाल निकल कर उड़ जाते, हैदराबाद दकन में ग़ालिबन लखनऊ के रकाबदार पीर अली ने आकर तैयार किए। जो सरकारी डिनरों में मेज़ पर आए और मुअज़्ज़ज़[1] अंग्रेज़ों और लेडियों को बहुत महज़ूज़[2] किया। इसकी ईजाद सबसे पहले नसीरुद्दीन हैदर के दस्तरख्वान पर हुई थी। मगर चिड़ियों वाला मज़्कूरए बाला पुलाव इससे बदरजहा ज़ियादः दिलचस्प सनअ़त था।

एक रकाबदार ने यह सनअ़त दिखाई कि दस्तरख्वान पर बड़े-बड़े सेर-सेर भर के अन्डे उबले हुए और तले हुए पेश किए। जिनमें सफ़ेदी और ज़र्दी उसी निस्बत और वज़अ़ से क़ायम थी जो मामूली अन्डों में हुआ करती है। बाज़ रकाबदारों ने बादाम का सालन पकाया जो बिऐनिही सेम के बीजों के मिस्ल, और मज़े और लताफ़त में उससे बढ़ा हुआ था। वज़ीरे सल्तनत रौशनुद्दौलः के बावर्ची ने कच्चे भुट्टों के लच्छे इस नफ़ासत[3] से काटे कि कहीं टूटने न पाए और उनका रायता ऐसा आला दर्जे का बनाया कि जिसने चखा अश-अश कर गया।

हमारे मोअ़ज़िज़ रक़म-खुशनवीस[4] मुंशी शाकिर अ़ली साहब ने चावल पर क़ुल् हुवल्लाहु लिख के बेमिस्ल कमाल दिखाया है। मगर यहाँ के एक बावर्ची ने, शाही में खशखश के दानों में चारों तरफ़ कटहल के से खार पैदा किए और उसे खास तरकीब से पकाके दस्तरख्वान पर पेश किया था।

पीर अ़ली, लखनऊ का मशहूर रकाबदार, जो हुज़ूरे निज़ाम के बावर्चीखाने में मुलाज़िम था, एक निहायत क़ीमती और लज़ीज़ अरहर की दाल पकाया करता, जो अगले फ़रमाँरवायाने लखनऊ[5] के बावर्चीखानों में पक्का करती थी, और सुल्तानी दाल के नाम से मशहूर थी।

बाज़ रकाबदार मुसल्लम करेले ऐसी नफ़ासत और सफ़ाई से पकाते कि देखिए तो मालूम होता कि इन्हें भाप भी नहीं लगी है। वैसे ही हरे और कच्चे रखे हैं, मगर काट के खाइए तो निहायत ही पुरलुत्फ़ और लज़ीज़ होते हैं। इसी क़िस्म का एक वाक़िअ़: आज ही कल के ज़माने में हमारे मुकर्रम दोस्त सैयदअली औसत साहब को पेश आया। उनका बयान है कि मौजूद: खानदानी रुअ़सायें लखनऊ में से नव्वाब अली नक़ी खाँ ने एक दिन मुझसे कहा, रात का खाना ज़रा इन्तिज़ार करके खाइएगा। मैं कुछ भेजूंगा। रात को हस्बे वादा खाने के वक़्त उनका आदमी एक ख्वान लेके आया। मैंने वफ़ूरे शौक़ से ख्वान अपने सामने मँगवा के खुलवाया, तो उसमें सिर्फ़ एक प्लेट थी और उस पर एक कच्चा कद्दू रखा हुआ था। देख के तबीअ़त निहायत मुनग़्ग़ज़[6] हुई। इन्तिहायें यास[7] से मैंने मामा से कहा, इसे ले जाके रखो, कल पका लेना। मगर शाहज़ादे साहब के आदमी ने हँस के कहा, इसे

---

१ प्रतिष्ठित, सम्भ्रान्त २ आनन्दित ३ सफ़ाई ४ अद्भुत सुलेख लिखनेवाले ५ लखनऊ के पहले के बादशाह ६ रंजीदा ७ अत्यन्त निराशा।

काट कर यूँही खाइए, पकाने की ज़रूरत नहीं। अब मैंने जो उसे काटा तो अजीब लज़ीज़ और मज़े की चीज़ नज़र आई, और ऐसा कभी नहीं खाया था।

रकाबदारों ने, सच यह है कि इस क़िस्म की सन्अ़तों में यहाँ अ़जीब-अ़जीब कमाल दिखाए थे। पीर अली रकाबदार मिठाई का अनार बनाता था, जिसमें ऊपर का छिलका, अन्दर के दाने, उनकी तर्तीब और उनके बीच के पर्दे, सब असली मालूम होते। दानों की गुठलियाँ बादाम की होतीं। नाशपाती के अर्क़ के दाने होते। दानों के बीच के पर्दे और ऊपर का छिलका दोनों शकर के होते।

अ़लल्ख़ुसूस[1] रकाबदार मुरब्बे और अचार वग़ैर और तरह-तरह की मिठाइयाँ तैयार करते, जिनमें सदहा क़िस्म की तरकीबें और अ़जीब-अ़जीब सन्अ़तें और नफ़ासतें दिखाई जातीं। आम का मुरब्बा सबने खाया है, मगर यहाँ रकाबदार मुसल्लम हरी कैरियों का मुरब्बा तैयार करते और उनमें वैसे ही सब्ज़ छिलके अपनी अस्लीयत पर क़ायम रहते। बस यह मालूम होता कि ताज़ी कैरियाँ अभी तोड़ के लाई और शीरे में डाल दी गई हैं।

बावर्चीख़ानः

मज़कूरए बाला[2] तमाम तकल्लुफ़ात ने दावतों और हिस्सों के लिए जो खाने अ़ललख़ुसूस मुन्तख़ब कर दिए थे, उनके मजमूए का नाम तूरा था, जिनमें लाज़िमी तौर पर हस्बे ज़ैल[3] गिज़ाएँ होतीं— १ पुलाव २ मुज़अ़फ़र[4] ३ मुतन्जन[5] ४ शीरमाल ५ सफ़ेद: (मीठे चावल जिनमें ज़ाफ़रान का रंग न दिया गया हो)। ६ बूरानी के प्याले ७ शीरबिरंज[6] के ख्वानचे ८ क़ोरमः ९ तली हुई अरवियाँ गोश्त में १० शामी कबाब ११ मुरब्बा १२ अचार या चटनी। अक्सर जगह तोरे में इनमें से बाज़ चीज़ें कम व बेश[7] भी कर दी जातीं। लंगरे-लखनऊ में अलल्ख़ुसूस यही खाने मक़बूल थे और दावतों और हिस्सों में इनके सिवा और कोई चीज़ कम होती थी। दावतों में यह चीज़ें दस्तरख्वान पर हर शख्स के सामने जुदा-जुदा प्लेटों में चुनी जातीं। और कहीं भेजना होता तो यही तोरा लकड़ीख्वानों में रख के एहतिमाम से भेजा जाता।

अंग्रेज़ों में रिवाज है कि मेज़, फूलों, गुलदस्तों और तरह-तरह की ज़ीनतों[8] से आरास्त: की जाती है। इसका इस क़दर नमूना यहाँ भी था कि अमीरों, नव्वाबों और शाहज़ादों में जो तोरे तक़सीम होते, उनमें खानों के दर्मियान में काग़ज़ के फूलों का एक गुलदस्ता भी रख दिया जाता, जिसको अ़वाम और औसत दर्जे के लोगों ने फ़ुज़ूल समझ के तर्क[9] कर दिया।

---

१ साधारणतया २ ऊपर चर्चित ३ निम्नलिखित ४ एक प्रकार का मीठा पुलाव ५ एक खटमिट्ठा पुलाव ६ खीर ७ न्यूनाधिक ८ शोभाओं ९ ख़त्म कर देना (छोड़ देना)।

जिन मुअज़्ज़ज़ सरकारी और आला दर्जे की ड्योढ़ियों में खाना जाता, उनके रुतबे और दर्जे के मुताबिक़ तोरे में अलवाने नेमत का शुमार भी बढ़ जाता। बादशाह के महल में खास जहाँपनाह के लिए एक सौ एक ख्वानों का तोरा जाता, जिसकी लागत का अन्दाज़: पाँच सौ रुपये का था। फ़रमाँरवायाने अवध में वाजिदअली शाह के वालिद अमजदअली शाह बड़े सिक़:[1] और मुत्तक़ी[2] व परहेज़गार[3] फ़रमाँरवा थे। मनाही[4] से बचते, अवामिरे[5] शरीअत की पूरी पाबन्दी करते और कोई काम बग़ैर जनाब क़िब्लओ क़ाबा की इजाज़त के न करते। उन्होंने जोशे इत्तिक़ा[6] में मुल्क का रुपया अपनी ज़ात पर सर्फ़ करना हराम तसव्वुर किया। और अपने तमाम अइज़्ज़ा[7] से ख्वाहिश की कि हमें दावत में बजाय खाने के तुम लोग नक़्द रुपया भेज दिया करो। नतीजा यह हुआ कि लोग पाँच सौ रुपये भेज दिया करते। मगर उनके साथ खुशनूदिय मिज़ाज के लिए एक तोरा भी ज़रूर भेजा जाता जिसके लिए इसकी पाबन्दी न थी कि एक सौ एक ख्वान हों।

ख्वानों की शान आम सोसाइटियों में यह थी कि लकड़ी के ख्वान, उन पर रंगीन तीलियों का गुम्बदनुमा झावा। उस पर एक सफ़ेद कपड़े का कसना, जो चोटी के ऊपर बाँध दिया जाता। और शाही बावर्चीखाने और मुअज़्ज़ज़ उमरा में दस्तूर था कि उस बन्धन पर लाख लगाकर मुहर भी कर दी जाती ताकि दर्मियान में किसी को तसर्रुफ़[8] का मौक़ा न मिले। फिर उस कसने के ऊपर निहायत ही पुरतकल्लुफ़ रंगीन और अक्सर रेशमी ख्वानपोश होता। यह ख्वानपोश बड़ी सरकारों में लाज़िमी तौर पर अतलस और कमखाब या जर्बफ़्त के होते, और कभी फ़क़त लचका टाँक दिया जाता या कारचोब का काम होता।

मुमकिन है कि यह तरीक़ा दरबारे मुग़लिय: में भी हो और वहीं से लखनऊ में आया हो। मगर हमने इन तकल्लुफ़ात को जिस आला पैमाने पर लखनऊ में देखा। यहाँ खाने पीने के अदना-अदना मामले में यह तकल्लुफ़ात लाज़िमी और तबीअते सानिय:[9] हो गए हैं। किसी मामूली शख्स के लिए भी फ़क़त पानी माँगा जाए तो खिदमतगार निहायत नफ़ासत के साथ गिलास को थाली में रख के और उस पर बुजहरा ढाँक के लाएगा और अदब से पेश करेगा।

इस शौक़, इस नफ़ासत और इन तकल्लुफ़ात ने सौ ही बरस के अन्दर लखनऊ में ऐसे बाकमाल बावर्ची पैदा कर दिए जिनकी हिन्दोस्तान के हर शहर और हर दरबार में शुहरत और क़द्र थी। और मैंने हिन्दोस्तान के तमाम मुसलमान दरबारों और रियासतों में जहाँ गया, लखनऊ ही के बावर्चियों को पाया, जिनको खास

---

१ सदाचारी २ धर्मपरायण ३ संयमी ४ शरीअत की तरफ़ से मना किये हुए काम ५ वह काम जिनको करने का हुक्म शरीअत में हो ६ परहेज़गारी ७ अज़ीज़ों (रिश्तेदारों) ८ इस्तेमाल ९ सहज स्वभाव।

उमरा और वालियाने मुल्क के मिज़ाज में दख़ल था और उनकी बड़ी क़द्र होती थी। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अब हैदराबाद दकन, भोपाल और रामपुर में बड़े-बड़े साहिबे कमाल बावर्ची मौजूद हैं, लेकिन अगर आप उनकी अस्लीयत का पता लगाएँ, उनके खानदान का पता लगाएं, और उनकी तरक़्क़ी की तारीख़ पर ग़ौर करें तो यही साबित होगा कि बावर्ची या तो वह लखनऊ के हैं या लखनऊ से आए हुए बावर्चियों की नस्ल से हैं या किसी लखनवी बावर्ची के शागिर्द हैं।

मिठाइयाँ

हम बावर्चीख़ाने का हिस्सा खत्म कर चुके, मगर अभी मिठाइयों का ज़िक्र बाक़ी है। मिठाइयों का बनाना, हिन्दू हलवाइयों का काम है। और उन्हीं की मिठाइयों से आम पब्लिक आश्ना हुई है। लेकिन मिठाइयाँ तैयार करने में मुसलमान रिकाबदारों[1] का दर्जा बढ़ा हुआ है। रिकाबदार, अवाम की जरूरतों को नहीं पूरा कर सकते इसलिए कि यह हिन्दू हलवाइयों का हिस्सा है। रिकाबदार खास अमीरों और शौक़ीन नफ़ासतपसन्द अमीरों के लिए मिठाइयाँ तैयार करते हैं, जो बेनज़ीर[2] और बहुत ही लज़ीज़[3] होतीं हैं।

हलवाई लखनऊ में दो तरह के हैं, मुसलमान हलवाई और हिन्दू हलवाई। मुसलमान हलवाइयों की शान यह है कि अगर आम क़िस्म की मिठाई ली जाए तो उनकी दुकान की चीज़ हिन्दू हलवाइयों की दुकान से अच्छी नहीं होती। लेकिन अगर फ़रमाइश करके उनसे खास क़िस्म की तकल्लुफ़ी मिठाई बनवाइए तो हिन्दू हलवाइयों की मिठाई से बहुत ज़ियादः अच्छी और बहुत ही नफ़ीस व लज़ीज़ होती है। लेकिन अ़ललअ़ुमूम लखनऊ में जलेबियाँ, इमर्तियाँ और बालूशाही बहुत अच्छी बनती हैं।

मिठाइयों में यह इम्तियाज़ करना दुशवार है कि कौन असली हिन्दुओं की हैं और कौन मुसलमानों के साथ हिन्दोस्तान में आईं। लेकिन नामों और मज़ाक़ पर क़ियास करने से मालूम होता है कि हलवा खालिस अ़रबी चीज़ है जो अ़रब से ईरान होता हुआ हिन्दोस्तान में आया और अपना नाम भी साथ लेता आया। लेकिन बज़ाहिर यह आम फ़ैसला नहीं हो सकता। इसमें तफ़्रीक़[4] है। तर हलवा जो अ़ुमूमन हलवाइयों के यहाँ मिलता है और पूरियों के साथ खाया जाता है, वह खालिस हिन्दू चीज है, जिसे वह मोहनभोग भी कहते हैं। मगर हलवासोहन की चार क़िस्में पपड़ी, जौज़ी, हबशी और दूधिया यह खालिस मुसलमानों की मालूम होती हैं। जदीद अ़रबी मज़ाक़ के हलवे जो जुनूबी हिन्द खुसूसन मद्रास में मुरव्वज हैं, उनका पता नहीं। वह वाक़ई खालिस हलवे हैं जो बराहेरास्त अ़रब से हिन्दोस्तान में आ गए।

---

१ मिठाई-हलवा बनानेवालों २ अनुपम ३ स्वादिष्ट ४ मतभेद।

मगर हिन्दू हलवाइयों की अक्सर मिठाइयाँ भी मुसलमानों के ही ज़माने में ईजाद मालूम होती हैं। मसलन बर्फ़ी का नाम बता रहा है कि उसे फ़ारसी व अ़जमी[1] मज़ाक़ ने ईजाद किया। बालूशाही, ख़ुर्में, नुक़्तियाँ, गुलाब जामुन, दरबिहिश्त वग़ैरः भी अ़हदे इस्लाम की ईजाद हैं।

जलेबी को अ़रबी में ज़लाबियः कहते हैं और साफ़ मालूम होता है कि ज़लाबियः ही से बिगड़ के जलेबी का लफ़्ज़ बना है। इसलिए यह भी उन्हीं अ़रबी व फ़ारसी मिठाइयों में शामिल करने के क़ाबिल है। पेड़ा ख़ालिस हिन्दी मिठाई है और इमर्तियाँ भी हिन्दी है। मगर मुझे बताया गया है कि इमर्ती ख़ास लखनऊ में ईजाद हुई। फ़िलहाल इन मिठाइयों के एअ़्तिबार से लखनऊ की कोई ख़ुसूसीयत नहीं। जो दर्जए बलन्दी हिन्द के तमाम मुमताज़ शहरों को हासिल है, वही लखनऊ को भी हासिल है। बल्कि यह अजीब तमाशा नज़र आता है कि लखनऊ में तो आगरे और पंजाब के हलवाई ज़ियादः मशहूर हैं। और दूसरे शहरों में मुझे यह नज़र आया कि लखनऊ और अतराफ़े लखनऊ के हलवाईयों को ज़ियादः नुमूद[2] हासिल है। दरअस्ल इसको किसी दुकान के चल जाने से तअ़ल्लुक़ है। इसलिए कि जिस हलवाई की दुकान जिस क़दर जल्द चल जाती है, उसी क़दर उसे मिठाइयों में तरक़्क़ी करने का मौक़ा मिल जाता है।

हलवाइयों की निस्बत असली फ़ैसला यह है कि हिन्दू हलवाइयों का दर्जा बहुत बढ़ा हुआ है। मिठाइयों के जितने क़द्रदान हिन्दू हैं, मुसलमान नहीं। मुसलमानों को शायद गोश्तख़ोरी की वजह से अ़लल्अ़ुमूम नमकीन खानों का ज़ियादः शौक़ है। बख़िलाफ़ इनके हिन्दू मिठाइयों के ज़ियादः शौक़ीन हैं। वह फ़क़त मिठाइयों से पेट भर लेते हैं, जो मुसलमानों से ग़ैर मुमकिन है। और हिन्दुओं की रग़बत की वजह से मथुरा, बनारस और अयोध्या जो हिन्दुओं के मज़हबी मर्कज़[3] हैं, मिठाइयों और मज़े के एतिबार से दूसरे शहरों पर फ़ौक़ियत[4] रखते हैं।

मगर हलवासोहन के बनाने में मुसलमान रिकाबदारों के अ़लावः और बहुत से लोगों ने भी शुहरत हासिल की। आख़िर ज़माने में यहाँ के मशहूर ख़ुशनवीस, मुंशी हादीअ़ली साहब ने पपड़ी हलवा सोहन में ख़ास नामवरी हासिल की। वह सेर भर समनक[5] में पच्चीस-तीस सेर घी खपा देते और उनकी टिकियों पर अजीब-अजीब क़िस्म के ख़ूबसूरत तुग़रे बनाते जिनसे हलवासोहन बनाने के साथ ख़ुशनवीसी और नक़्क़ाशी के कमालात भी ज़ाहिर होते।

इसके बाद मैंने मटिया बुर्ज (कलकत्ते में) मुंशीयुस्सुल्तान बहादुर को जो लखनऊ के एक रईसज़ादे थे। अपनी आखों से बारहा देखा कि छटाँक भर समनक में दो ढाई सेर घी खपा देते, जो फ़ी सेर चालीस सेर के क़रीब पड़ा। उनका पपड़ी हलवा सोहन बजाय ज़र्द के धोए कपड़े के मानिंद उजला और सफ़ेद होता।

---

१ विदेशी २ नाम, ख्याति ३ केन्द्र ४ वरीयता, श्रेष्ठता ५ गेहूँ का गूद़।

खाने का रूप-रंग-स्वाद

बावर्ची खाने और खानों की ईजाद व तरक़्क़ी के मुतअल्लिक़ हम काफ़ी दर्जे तक लिख चुके हैं। लेकिन इतना और कहना चाहते हैं कि यहाँ और अमूमन एशियाई मुमालिक[1] में खुशमज़गी पैदा करने के साथ इस बात की भी कोशिश अहम्मीयत[2] के साथ की जाती थी कि लताफ़तें जौक़ के साथ ग़िज़ाओं में आला दर्जे की रूह अफ़ज़ा खुशबुएँ पैदा हों, रंग नफ़ीस और दिलकश रहे। सूरत नज़र-फ़रेब और शौक़ दिलाने वाली हो। अगरचिः हिन्दोस्तान के तमाम शहरों में जहाँ लोगों को अच्छा खाने का शौक़ है, इन तमाम उमूर की कोशिश की जाती है, मगर इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि लखनऊ सब जगह से ज़ियादः कामियाब रहा है। किसी जगह खाने का सच्चा ज़ौक़ चन्द अमीरों और मख़सूस लोगों तक महदूद रहा है। मगर यहाँ क़रीब-क़रीब हर शख्स में एक सही ज़ौक़ पैदा हो गया। अच्छे बावर्ची ही नहीं पैदा हुए बल्कि मुअज़्ज़ज़ और शरीफ़ घरानों की औरतों में रिकाबदारों से ज़ियादः नफ़ासत-मिज़ाजी और ज़ौक़ की खुशसलीक़गी[3] पैदा हो गई। कोई मुअज़्ज़ज़ ख़ानदान नहीं है जिसकी मुहतरम बेगमों में से हर एक खाना पकाने में अच्छा सलीक़ः न रखती हो और उसे किसी अच्छी ग़िज़ा के तैयार करने में दावा न हो।

दूध, दही का हर जगह रवाज है। लखनऊ में इन दोनों चीज़ों के अलावा बालाई की तैयारी में ज़ियादः तवज्जोह हुई। इसलिए कि दूध का लतीफ़-तरीन हिस्सा आ जाता है। अंग्रेज़ी में इसी को 'क्रीम' कहते हैं। जिसका रवाज़ यूरोप में कसरत से है। मगर वहाँ क्रीम उसका नाम है कि दूध थोड़ी देर रखा रहे और जब दुहूनियत[4] का सफ़ेद और लतीफ़ हिस्सा ऊपर आ जाए तो काछ के अलग कर लिया जाए। यहाँ दूध का यह लतीफ़ हिस्सा, हल्की आग पर रख के और जमा के अलग किया जाता है। और बड़ी नफ़ासत से तह पर तह जमा दी जाती है। बालाई की तहों को नफ़ासत और खुशनुमाई से जमाना ऐसा काम है जो लखनऊ के सिवा शाज़ो नादिर ही किसी और शहर के लोगों को आता होगा।

इसको पुरानी ज़बान में मलाई कहते हैं। आसिफ़ुद्दौलः बहादुर नव्वाबे अवध को यह इस क़दर पसन्द थी कि ख़ास एहतिमाम से उनके लिए तैयार की जाती। उन्होंने इसका नाम मलाई के एवज़ बालाई रख दिया। इसलिए कि यह दूध के ऊपर की चीज़ है। अहले लखनऊ को अपने फ़रमाँरवा का यह तसर्रुफ़ बहुत पसन्द आया और बालाई का लफ़्ज़ ज़बानों पर इस क़दर चढ़ गया कि अब लखनऊ में सिवा देहातियों और हिन्दू जुहला[5] के, सब उसे बालाई ही कहते हैं और मलाई का लफ़्ज़ किसी मुहज़्ज़ब शख़्स की ज़बान पर नहीं रहा।

---

१ देशों २ विशेषता ३ शिष्टता-कुशलता ४ चिकनाई ५ अशिक्षित।

इस पर मौलवी मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद मर्हूम ने आबेहयात में एतिराज़ कर दिया और ज़ौक़े सलीम[1] पर मुहव्वल[2] फ़रमाया, जिस मिअ्यार[3] से उनके मिअ्यार मज़ाक़ में "मलाई" का लफ़्ज़ बालाई से ज़ियाद: लतीफ़ व फ़सीह है। किसी लफ़्ज़ को महज़ अपने मज़ाक़ के एतिबार से ग़ैर-फ़सीह कह देना, मेरे नज़दीक एक बेगानगी[4] सी चीज़ है। इसलिए कि हर जमाअ्त को वही अलफ़ाज़ अपने ज़ौक़ में अच्छे मालूम होते हैं जो उन लोगों की ज़बान पर चढ़े हों और उनके लहजे और मुहावरे से मानूस हो गए हों। जिन शहरों के लोग मलाई कहते हैं, उनको बेशक बालाई का लफ़्ज़ गरां गुज़रता होगा। मगर जिस शहर में लोग बालाई कहते हैं और यही लफ़्ज़ के मुहावरे में शामिल हो गया है, उनको जो फ़साहत बालाई में नज़र आती है, मलाई में मुमकिन नहीं। उनको मलाई जाहिलों और गँवारों का लफ़्ज़ मालूम होता है। फ़साहत व लताफ़त का ज़बाने अदाज़ा किसी खास ज़ौक़ या किसी मन्तिक़ से नहीं होता बल्कि जो लोग अहले ज़बान मान लिए जाते हैं, फ़क़त उनका ज़ौक़ और मुहावरा मिअ्यार क़रार पा जाता है और सबको बग़ैर किसी मन्तिक़ व दलील के उनकी पैरवी करना पड़ती है। उर्दू के लिए अब देहली व लखनऊ दोनों अहले ज़बान के मुस्तनद स्कूल समझे जाते हैं। लिहाज़: दोनों मुसल्लमुस्सुबूत मिअ्यारे सुखन[5] हैं, चाहे एक का लफ़्ज़ दूसरे को ग़ैर मानूस ही क्यों न हो। यह और बात है कि लखनऊ की ज़बान को सच्चा और मुस्तनद मिअयार ही न तस्लीम किया जाये। लेकिन इस झगड़े में हम पड़ना नहीं चाहते और ग़ालिबन यह झगड़ा तय भी हो चुका है। बहरहाल अगर दोनों शहर मिअ्यार माने जाएँ, तो मलाई और बालाई बजाय खुद दोनों फ़सीह हैं। मलाई अहले देहली के नज़दीक और बालाई अहले लखनऊ के नज़दीक। किसी को किसी पर एतिराज़ करने की कोई वजह नहीं हो सकती।

परोसना

खाने के पकाने से ज़ियाद: या उसी के बराबर ज़रूरत खाने के निकालने में अच्छा सलीक़: दिखाने और निकालने के बाद उसके आरास्त: करने और सजाने की है। यूरोप का मौजूद: मज़ाक़ यह है कि मेज़ खूब आरास्त: की जाती है, उस पर जा बजा गुलदस्ते लगाए जाते हैं, और बाज़ जगह तकल्लुफ़ के लिए कच्चे चावलों को मुख्तलिफ़ रंगों में रंग के उनसे मेज़ पर हुरूफ़ और नक़्शो निगार बना दिए जाते हैं। ज़ुरूफ़[6] भी निहायत साफ़ सुथरे क़ीमती और अक्सर चाँदी के, काम में लाये जाते हैं। मगर खास खाने की सजावट का अंग्रेज़ी बावर्चियों या खानसामाओं का

---

१ ज़ौक़े सलीम = सही तबीअत २ सिपुर्द किया हुआ, यहाँ आशय है कि बालाई ज़ियाद: अच्छा शब्द है या मलाई, इसके फ़ैसले को ज़ौक़े सलीम के हवाले किया। ३ मापदण्ड ४ अज्ञान ५ बोलचाल के मापदण्ड का प्रमाण ६ बरतन।

चन्दाँ खयाल नहीं होता। यह जुज़ शादियों के केक के, जो उमरा और लार्डों के उरूसी डिनरों में अजीब तकल्लुफ़ात से बुर्जों या ख़ूबसूरत इमारतों की वज़अ में बना के, दावतें वलीमः[1] की मेज़ पर लगा दिए जाते हैं।

इसके ख़िलाफ़, हिन्दोस्तान में दस्तरख़्वान की आरास्तगी की तरफ़ तो कम तवज्जह की जाती है, मगर ख़ुद खाने आला दर्जे की नफ़ासत से निकाल के साजे जाते हैं। उन पर चाँदी-सोने के वरक़ लगाए जाते हैं, पिस्ते और बादाम की हवाइयों से नक़्श व निगार और रंग-रंग के फूल बनाए जाते हैं, खोपरे के वरक़ काट-काट के निहायत ही मौज़ूँ तर्तीब से उन पर आरास्तः किये जाते हैं। इस फ़न में रिकाबदारों को खास कमाल हासिल है। बल्कि उनका काम यही है कि जिस ख़ूबी से ग़िज़ाओं को तैयार करें, उससे ज़ियादः ख़ुशनुमाई से उनको सजें, उनके हर प्लेट को एक गुलदस्ता बना दें।

लखनऊ में यह तकल्लुफ़ात अह्ले पेशा बावर्चियों और रिकाबदारों से शुरू हो के शुरफ़ा के आम घरों में पहुंच गए और ख़ातूनों और बेगमों को इसमें ऐसा अच्छा सलीक़ः हो गया कि जो ख़ूबी प्लेटों और क़ाबों में सजने में अक्सर वह दिखाती हैं, ख़ुद रिकाबदारों से भी मुमकिन नहीं; अगरचिः यह खास उन्हीं का हुनर है। यूरोप के मुहक़्क़िक़ीन[2] ने तय कर दिया है कि औरतें फ़नूने लतीफ़ा से खास मुनासिबत रखती हैं, ख़ुसूसन किसी चीज़ के सजने और आरास्तः करने में उनको बित्तबअ़ मर्दों पर फ़ौक़ियत[3] हासिल होती है। इसका सुबूत हिन्दोस्तान में लखनऊ की उन औरतों की तबीअतदारी से मिल सकता है जो खानों के सजने में कमाल दिखा दिया करती हैं।

हिन्दोस्तान के उरूसी के केक जिनका अभी ज़िक्र हो चुका, चोभे हैं, जो अुमूमन रस्म के तरीक़ से शादियों में दूल्हा-दुल्हन के सामने लगाए जाते हैं। उनको अक्सर घरों की ख़ातूनें ऐसी नफ़ासत मिज़ाजी और ज़िहानतो तब्बाअ़ी से आरास्तः करती हैं कि जी चाहता है, बैठे उन्हें देखा कीजिए।

पानी का इन्तिज़ाम

खाने के साथ ही आबदार खाने की तरक़्क़ियों को भी बयान कर देना लुत्फ़ से खाली न होगा। आबदारखाना, बादशाहों और अमीरों के पानी के इन्तिज़ाम का नाम है। अगले दिनों बर्फ़ न थी और बाज़ मौसमों में ठंडा पानी मिलना बहुत ही दुश्वार होता था। इसके लिए उन दिनों खास क़िस्म के इन्तिज़ाम किए जाते थे। पानी कोरे घड़ों में भर के रखा जाता। नाज़ुक और नफ़ीस आबख़ोरे पीने के लिए मौजूद रहते। घड़ों और आबखोरों पर सुर्ख़ कपड़ा चढ़ा दिया जाता और वह तर रखा जाता, इसलिए कि हवा लगने से भीगा कपड़ा ख़ूब ठंडा हो जाता।

---

१ विवाह-भोज २ जांचने में कुशल, पारखी ३ वरीयता।

यहाँ तक कि गरम हवा और लू भी जितनी ज़ियादः गर्म होती, उतना ही ज़ियादः कपड़े को ठंडा कर देती। और कपड़े की ठंडक अन्दर के पानी को ठंडा करती। अक्सर झंजरियाँ और सुराहियाँ बल्कि घड़े भी मुँह पर कपड़ा बांध के किसी दरख़्त की टहनियों में उल्टे लटका दिए जाते। हवा का अन्दर नफ़ूज़[1] न होने की वजह से पानी न गिरता, और ख़ूब ठंडा हो जाता। बरसात में जब यह तदबीर कामयाब न होती तो अक्सर घड़े भर के कुओं के अन्दर लटका दिए जाते, जहाँ उनमें ख़ूब ख़ुनुकी पैदा हो जाती।

इसके अलावः सबसे बड़ा इन्तिज़ाम यह था कि जस्ते की नाज़ुक सुराहियाँ मौजूद रहतीं और वह नाँदों में शोरा और पानी डाल के उसमें फिराई जातीं। इस तदबीर से थोड़ी देर में पानी में बर्फ़ की सी ख़ुनुकी पैदा हो जाती और उसकी ठंडक, निहायत ही लतीफ़ व ख़ुशगवार होती। इस तदबीर को, सुराहियों का झलना कहते थे।

बाद के ज़माने में बर्फ़ के फ़राहम करने की भी एक माक़ूल और देरपा[2] तदबीर निकाल ली गई थी। चिल्लों के जाड़ों में जब सर्दी ख़ूब शिद्दत पर होती, खेतों और खुले मैदानों में रात को गिली[3] रकाबियों और प्यालों में गर्म-गर्म पानी भर के रख दिया जाता जो सुबह को जमा हुआ मिलता। इस बर्फ़ को उसी वक़्त फ़ौरन ज़मीन के अन्दर गहरे खत्तों में जो पहले से खुदे तैयार रहते, दफ़न कर देते और उनमें वह बर्फ़ जब तक दबी रहती, अपनी हालत पर क़ायम रहती, बहरहाल इस तरीक़े से इतनी बर्फ़ बनाके खत्तों में भर दी जाती कि साल भर के लिए काफ़ी होती और उसी में से रोज़ निकाल ली जाती। मगर यह बर्फ़ इस क़दर साफ़ न होती कि पानी में मिलाई जाए। बल्कि शोरे की तरह इसमें नमक और शोरा मिला के सुराहियाँ झली जातीं या बर्फ़ की क़ुफ़लियाँ जमाई जातीं।

मगर यह इन्तिज़ाम ख़ास बादशाहों या उसके हमरुतबा अमीरों तक महदूद रहता। ग़रीब लोग इससे फ़ायदा न उठा सकते। ग़ुरबा[4] और मुतवस्सित[5] दर्जे के लोग उन्हीं अव्वलुज़्ज़िक्र तदबीरों से काम लेके पानी ठंडा करते और यह एहतिमाम इस क़दर आम हो गया था कि थोड़ा बहुत हर घर में रहता।

बहर तक़दीर, लखनऊ में पानी के लिए यह एहतिमाम उन दिनों हुआ करता और नफ़ासत मिज़ाजी ने यह तकल्लुफ़ात पैदा कर दिए थे कि मिट्टी और जस्त की सुराहियों और ऐसे ही आबख़ोरों पर अक्सर सुर्ख़ शाल बाफ़ (टूल) का कपड़ा चढ़ा होता। और टूल पर रुपहला गोटा ख़ूबसूरती से लपेट के, उनमें ऐसा लुत्फ़ पैदा कर दिया जाता कि पीना दरकिनार, उसके ज़ुरूफ़ देख के आँखों में ख़ुनुकी[6] पैदा हो जाती।

मुझे यह नहीं मालूम कि आबदारख़ाने का यह इन्तिज़ाम जो मैंने बयान किया है, पूरा-पूरा देहली में था भी या नहीं। ग़ालिबन वहाँ ज़रूर होगा। और वहीं से यह सब

१ गुज़र, प्रवेश २ टिकाऊ ३ मिट्टी के ४ ग़रीब लोग ५ मध्यम ६ ठंडक।

चीजें लखनऊ में आई होंगी। मगर मैंने इस एहतिमाम और सामान को जिस तकमील[१] के साथ और जिस तामीम[२] से लखनऊ के लोगों में देखा था, देहली में नहीं देखा। मुमकिन है कि वहाँ भी ऐसा ही हो। लेकिन इसमें शक नहीं किया जा सकता कि लखनऊ में आके, मिट्टी के ज़ुरूफ़ में आव की लताफ़त व नफ़ासत और नज़ाकत बहुत बढ़ गई। इसलिए कि यहाँ की मिट्टी की उम्दगी की वजह से जैसे नाज़ुक व खुशनुमा और खुशक़तअ ज़ुरूफ़े-गिली[३] लखनऊ में वन सकते हैं और कहीं नहीं वन सकते। देहली वालों के पास जस्त की सुराहियाँ ऐसी ही होंगी मगर ऐसी मिट्टी की सुराहियाँ वहाँ किसी को नसीब नहीं हो सकीं। उन ज़ुरूफ़े गिली का हाल हम आइन्दः मुनासिव मौक़े पर बयान करेंगे।

वादशाहों के साथ, जहाँ वह जाएँ, वावर्चीखाना और आवदारखाना भी जाया करता था। लेकिन यहाँ आवदारखाने का एहतिमाम दूसरे उमरा के वहाँ भी इस क़दर बढ़ गया था कि वहुत से उमरा थे जो अपना आवदारखाना अपने साथ रखते। चुनांचिः मिर्ज़ा हैदर साहब का आवदारखाना और भिन्डीखाना इस फ़ैयाज़ी के उसूल पर क़ायम था कि वह जिस शादी की महफ़िल में जाते सारी महफ़िल को पानी और हुक़्क़ा पिलाने का इन्तिज़ाम उन्हीं के सिपुर्द हो जाता और उनकी शिर्कतें महफ़िल बहुत से लोगों के लिए एक निअ़मतें ग़ैरमुतरक़्क़वः[४] और रहमतें इलाही[५] वन जाती।

लिबास (पहनाव)

अब हम इस दरबार और लखनऊ के लिवास पर बहस करना चाहते हैं, जो दरअसल निहायत ही दिलचस्प बहस है। हिन्दोस्तान के लिवास की तारीख निहायत तारीकी[६] में है। मुसलमानों के आने से पेश्तर हिन्दोस्तान में जहाँ तक पता लगाया जाए और क़दीम मूर्तों और आलोज़ वग़ैरः की तस्वीरों पर ग़ौर किया जाए, यही सावित होता है कि मुसलमानों के आने से पहले यहाँ सिये हुए कपड़े का रवाज न था। औरत और मर्द दोनो वे-सी हुई चादरों, सारियों और धोतियों से वदन ढाँकते थे। अरव सैयाह जो फ़ातिहाने इस्लाम से पहले ही यहाँ पहुँच गए थे, उन्होंने सिंध से लेके वंगाले तक हर साहिली[७] शहर और क़रीव के अन्दरूनी इलाक़ों में यहाँ के लोगों को इसी वज़अ में पाया।

पहले अरव मुसलमान जो यहाँ पहुँचे, वह अगरचिः कुर्ते, तहमत, और अवाएँ पहनते थे, मगर लिवास व वज़अ में उन्हें यहाँ के लोगों पर कुछ ज़ियादः फ़ौक़ियत[८] नहीं हासिल थी। लिबास में तरक़्क़ी उस वक़्त से शुरू हुई जव सासानी मुआशरत[९] इख्तियार करके बग़दाद के अव्वासी दरवार ने शुरफ़ाए अरव के लिए पाजामे, अवा व

१ पूर्णता २ व्यापकता ३ मिट्टी के बर्तन ४ आशातीत ५ ईश्वरी कृपा ६ अंधकार ७ तटवर्ती ८ श्रेष्ठता ९ सभ्यता।

क़वा और खुश क़तअ़ अमामे ईजाद किए; जो लिबास में क़ुलिल्य्यतन या ज़ियादःतर सासानी दरबार के उमरा व अ़ायान[1] की वज़अ़ से माख़ूज़[2] था। चन्द ही रोज़ में यही लिबास उन तमाम मुसलमानों का हो गया जो मिस्र से दरियाए सिंध के किनारे तक फैले हुए थे। और आखिर वह इस लिबास को लिए हुए हिन्दोस्तान में आए। तस्वीरों में जो लिबास अहदेअव्वलीन[3] के मुसलमान ताजदाराने हिन्द का नज़र आता है, वह क़रीब क़रीब वही है जो अ़जमी व अब्बासी उमरा व फ़रमाँरवाओं का था। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना था कि यहाँ के सलातीन[4], हिन्दू राजाओं की तक़लीद[5] में जवाहिरात बहुत ज़ियादः पहना करते थे।

देहली में दरबारे मुग़लियः, का आखिरी लिबास जो हमें मालूम हो सका, यह था कि सर पर पगड़ी, बदन में नेमः, जामः, टाँगों में टखनों से ऊंचा तंग मुहरी का पायजामः, पाँव में ऊँची एड़ी का कफ़्शनुमा जूता, और कमर में जामे के ऊपर पटका। बस यही देहली के क़दीम शुरफ़ा की वज़अ़ थी जिसमें मुहम्मदशाह रंगीले के ज़माने तक किसी क़िस्म का रद्दोबदल्[6] नहीं हुआ था। और अगर हुआ भी तो इतना न था कि हमको नज़र आ सके।

बस लिबास में नेमे से मुराद कुहनियों तक की आधी आस्तीनों का शलूका था और सीने पर सामने उसमें घुंडियाँ लगाई जातीं, (कज़ा) इसको नीचे पहन के, उसके ऊपर जामा पहना जाता जो अजमी क़बा में तर्मीम करके बनाया गया था। उसमें गरेबान न होता बल्कि दोनों जानिब के किनारे जो "पर्दा" कहलाते तिर्छे एक दूसरे पर आके, सीने को ढांक लेते। सीने का बालाई हिस्सा जो गले के नीचे होता है उसी तरह खुला रहता जैसे आज कल अंग्रेज़ी कोटों में खुला रहता है। और जिस तरह फ़िलहाल क़मीस, सीने के ऊपर वाले हिस्से को छुपाता है उसी तरह उन दिनों नेमा उसको ढांके रखता। सीने पर जामे का वह पर्दा जो बाईं तरफ़ से आता, नीचे रहता। और दाहिने पहलू पर बन्दों से बाँध दिया जाता और उस पर दाहिनी तरफ़ का पर्दा रहता जो ऊपर बायें पहलू में बाँधा जाता। फिर उसमें कमर के पास से दामनों के अ़िवज़[7] एक इसकर्ट सी जोड़ दी जाती जो टखनों से ऊपर तक लटकटी रहती। इसमें बहुत सी चुन्नट दी जाती और उसका घेर बहुत बड़ा होता। जामे की आस्तीनें आधी कलाई तक बेसिली और खुली रहतीं और वह दोनों जानिब लटका करतीं। इसके नीचे सीधी-साधी तंग मुहरियों का पायजामा होता जो उमरा में मशरूअ़ और गुलबदन का हुआ करता। फिर जामे के ऊपर कमर में पटका बाँध लिया जाता।

दो तीन सदी पेश्तर हमारे बुज़ुर्गों और हिन्दोस्तान के अमीरों और तमाम शरीफ़ों का यही लिबास था। टोपियों, पगड़ियों और पायजामों में जो तर्मीमें[8] हुईं, उनका

१ क़ौम के सरदार २ लिआ हुआ ३ शुरू के बादशाह ४ सुल्तान ५ नक़ल, देखादेखी ६ परिवर्तन ७ बदले ८ परिवर्तन।

मुफ़स्सल[1] व मुशर्रह[2] हाल हम बाद को बयान करेंगे। सरेदस्त हम दर्मियानी हिस्सए-जिस्म के लिबास का ज़िक्र करते हैं, जो सच पूछिए तो असली लिबास है और उसी से इंसान की वज़अ क़तअ मुशख्खस व मुअय्यन[3] होती है। यही उस दौर का दरबारी लिबास था और यही लिबास पहने हुए नव्वाब बुर्हानुल्मुल्क मंसूरजंग और शुजाउद्दौल: देहली से अवध में आए थे। जामा अमूमन बारीक मलमल का होता जो हिन्दोस्तान के मुखतलिफ़ शहरों में निहायत नफ़ीस, बारीक और सुबुक[4] बना करती और सारी दुनिया में मशहूर थी। ढाके की मलमल और जामदानी, आली मर्तब: अमीरों और बादशाहों के लिए मखसूस थी।

इसके बाद ईरानी क़बा से माखूज़ करके बालाबर ईजाद हुआ। जिसमें गोल गरेबान बिल्कुल खुला रहता। इसलिए कि सीने के ढाँकने के लिए नेमा काफ़ी था जो उसके नीचे भी पहना जाता। वह चुन्नट और घेर उसमें से निकाल दिया गया और इस ज़रूरत से कि दामन आगे की तरफ़ न खुलें, दाहिने दामन में एक चौड़ी कली लगा दी जाती। यह कली उस कली की नक़्शे अव्वलीं है जो फ़िलहाल शेरवानियों में बायें जानिब नीचे ले जाके बन्द से बाँधी या हुक़ से अटकाई जाती है। बालाबर भी देहली ही की ईजाद है।

इसी बालाबर पर तरक़्क़ी करके देहली ही में अंगरखा ईजाद किया गया, जिसमें दरअसल जामा और बालाबर दोनों को मिला के एक नई क़तअ पैदा की गई। इसमें सीने पर चोली, क़बा से ली गई। मगर सीना खुला रखने की जगह एक गोल और लम्बोतड़ा गरेबान बढ़ाया गया। जिसके ऊपर गले के नीचे एक हिलालनुमा कंठा लगाया जाता। और वह बायें तरफ़ गर्दन के पास घुंडी तुकमे से अटका दिया जाता। चोली नीची रहती, जिसमें पहले दाहिनी तरफ़ का पर्दा नीचे बग़ल में बन्दों से बाँध दिया जाता; और फिर ऊपर बन्द होते जिससे दोनों तरफ़ के पर्दे सीने के नीचे बीचो-बीच में लाके बाँध दिए जाते। इसमें बायें जानिब थोड़ा सा सीना खुला रहता। चोली नीची रहती और नीचे दामन अगरचि: क़बा के से होते मगर पुराने जामे की यादगार में दोनों पहलुओं पर बग़लों के नीचे चुन्नट ज़रूर रखी जाती।

यह पुराना अंगरखा था जो देहली के आखिरी दौर में रवाज पा चुका था और वहाँ से सारे हिन्दोस्तान में फैल गया। लखनऊ में आने के बाद इस अंगरखे में ज़ियाद: चुस्ती और क़तअदारी पैदा की गई। चोली खूब गोल ऊँची और खिंची हुई चुस्त हो गई। बग़लों की चुन्नट बिल्कुल निकल गई। दामनों में बजाय मोड़ के टाँक देने की संजाफ़ी गोट लगाई गई। फिर उसके बाद नव्वाबज़ादों और शौक़ीन वज़अदारों ने एक कमरतोई के ऐवज़[5] जो चोली के नीचे बन्द लगाने की जगह पर होती, पलेटों की

---

१ विस्तार-पूर्वक २ खोल-खोल कर यानी बिस्तार के साथ ३ निश्चित ४ नाज़ुक, मुलायम ५ बदले।

वज़अ से तीन-तीन कमरतोइयाँ लगाईं। जावजा गोट और कमरतोइयों के पास कटाव का काम बनाया।

देहली में अंगरखे के ईजाद होने के बाद नेमः छूट गया था और बायें जानिब सीने का खुला रहना मायूब[1] न था। बल्कि बज़अदारी ख़याल किया जाता। लखनऊ में इसके नीचे, नेमे के एवज़ शलूका ईजाद हुआ जिसमें आगे की तरफ़ बोताम लगाए जाते। इसलिए कि अब यूरोप के बोताम यहाँ पहुँच गए थे। शलूकों में खास वज़अदारियाँ दिखाई जातीं। नाज़ुकमिज़ाज लोग जाली या बर्लेट के चुस्त शलूके पहनते, जिनमें कच्चे सूत से नक़्शो निगार काढ़े जाते। बाज़ लोग रंगीन शलूके पहनते। इसलिए कि उसके बेल-बूटे और उसका रंग, तंज़ेब के सफ़ेद अंगरखे के नीचे से अपनी झलक दिखाके खास लताफ़त और खास नफ़ासत पैदा करते।

दूसरी तर्मीम बालाबर में दरबार के लखनऊ आने के बाद यह हुई कि चिपकन के नाम से एक चुस्त क़बा ईजाद हुई। जिसमें वैसा ही गोल गरेबान रखा गया; और इसमें अंगरखे की तरह सीने पर पर्दा भी लगाया गया मगर वह पर्दा दाहिनी जानिब क़ौसनुमा सूरत में बोतामों से अटकाया जाता। इसमें दाहिनी जानिब गले के पास से बोतामों को एक खुशनुमा गोलाई लेती हुई कौड़ी तक आती और उसके मुक़ाबिल दूसरी जानिब की क़ौस में असली क़बा में सी दिया जाता। इसमें भी बालाबर की तरह चौड़ी कली ऊपर लगाई जाती, जो बग़ल के नीचे बाईं तरफ़ बोताम या घुंडी से अटका दी जाती। यह चिपकन जो शाली या किसी और भारी कपड़े की होती और जाड़ों के मौसम के लिए ज़ियादः मौज़ूँ थी, एक ज़माने में यहाँ अहले दरबार और खास्सतन् अहलेकार बारियाबाने दरबार का मुअज़्ज़ज़ लिबास थी। उसे अंग्रेज़ों ने बहुत पसन्द किया और अपने मुलाज़िमों को एक मुद्दत तक वही पहनाते रहे।

सबके बाद लखनऊ के बिल्कुल आखिरी अह्द में चिपकन और अंगरखे दोनों के तर्तीब देने से अचकन ईजाद हुई। इसमें अंगरखे और चिपकन का सा गरेबान क़ायम रखा गया जो बीच से सीधा काट के आधा दोनों जानिब सी दिया जाता। और सिलाई की जगह पर संजाफ़ी गोट के ज़रीए से गरेबान की गोलाई और क़तअ बरक़रार रखी जाती। बीच के चाक में जो गले से लेके सीधा कौड़ी तक आता, बोताम लगा दिए जाते। वह बालाबर की कली जो ऊपर लगाई जाती थी, इसमें नीचे कर दी गई ताकि दामन भी न खुले और बालाबर की कली के ऊपर की तरफ़ लगाने से जो बद-मज़ाक़ी ज़ाहिर होती थी, दूर हो जाए। अचकन का नीचे का हिस्सा बिल्कुल चिपकन और अंगरखे का-सा होता। शौक़ीन लोग इसमें भी वैसी ही दर-दामन गोट और उसी तरह की तीन-तीन कमरतोइयाँ लगाते और कटाव का काम बनाते।

यह आखिरी ईजाद अचकन, लोगों को बहुत पसन्द आई। इसका रिवाज शहर

---

[1] बुरा, अशोभन।

से गुज़र के देहातों में भी शुरू हुआ। और आनन फ़ आनन[1] सारे हिन्दोस्तान में फैल गया। यही अचकन हैदराबाद पहुँच के थोड़ी तर्मीम के बाद शेरवानी बन गई। वहाँ उसकी आस्तीनें अंग्रेज़ी कोट की सी कर दी गईं। गरेबान जो गोट लगाके सीने पर नुमायाँ किया जाता था, निकाल डाला गया। क़तअ व बुरीद[2] में अंग्रेज़ी कोट की वज़अ दामनों वग़ैर: में भी इख़्तियार की गई और वह लिबास ईजाद हो गया जो आज कल हिन्दोस्तान में हिन्दू-मुसलमान तमाम लोगों का क़ौमी लिबास कहे जाने के क़ाबिल है। लखनऊ वालों ने भी चन्द रोज़ बाद जब अपनी पुरानी ईजाद में हैदराबाद की मुनासिब इस्लाह देखी तो इसे बहुत ही पसन्द किया और थोड़े ही ज़माने में शेरवानी का रिवाज हर शहर और हर क़रिए की तरह लखनऊ में भी हो गया।

अंगरखे के नीचे जो शलूका पहना जाता था उसके एवज़ पहले ढीला और ऊँचा कुर्ता इख़्तियार किया गया और चन्द रोज़ बाद मग़रिबी असर ने कुर्ता छुड़ा के अंग्रेज़ी क़मीस को रवाज दिया, जिसमें कफ़ और कालर होते हैं। क़मीस और कालर के रवाज ने शेरवानी के तकल्लुफ़ात और बढ़ाए यानी लाज़िमी हो गया कि सफ़ेद कालर ऊपर निकला रहे। और शेरवानी का ऊपर का सिरा गले पर हुक से अटका के, क़मीस के उस बालाई बोताम के नीचे रहे जिसमें कालर लगाया जाता है। आस्तीनें इतनी रहें कि कफ़ों का किसी क़दर हिस्सा निकला रहे। तालीमयाफ़्त: लोगों और मुतवस्सित[3] तबक़े वालों का लिबास दूसरे शहरों की तरह फ़िलहाल लखनऊ में भी यही शेरवानी है। मगर इसको लखनऊ से ख़ुसूसियत नहीं। लखनऊ की ईजाद व इख़्तिराअ[4] का ख़ात्मा अचकन पर हो गया जो अब क़रीब-क़रीब बिल्कुल मतरूक[5] हो गई है।

पगड़ी

दर्मियानी हिस्सए जिस्म के लिबास का हाल हम बयान कर चुके हैं। लिहाज़ा अब उस जुज़ व लिबास की तरफ़ तवज्जुह करते हैं जो सर के लिए मख़सूस है। और इसी लिबास की हिन्दोस्तान में सबसे ज़ियाद: इज़्ज़त व हुर्मत की जाती है। इसलिए कि जिस तरह सर सारे जिस्म में मुमताज़ है, इसी तरह उसके लिबास को भी ज़ियाद: मुमताज़ होना चाहिए। क़दीमुल्‌अय्याम[6] से हिन्दोस्तान में पगड़ी बाँधने का रवाज चला आता है। अगरचि: अरबी व अजमी भी अमामे बाँधे हुए यहाँ आए और उनकी हुकूमत क़ायम हो जाने की वजह से यहाँ की पगड़ियों में बहुत कुछ तग़य्युर[7] हो गया, लेकिन यह नहीं कह सकते कि मुसलमानों के आने से पहले यहाँ पगड़ी न थी।

इब्तिदाई दौर के मुसलमान फ़रमाँरवाओं के अमामे बड़े-बड़े थे और इसी लिहाज से उन तमाम मुअज़्ज़िज़ीन व उमरा और दौलतमन्दों की पगड़ियाँ भी ग़ालिबन बड़ी-बड़ी

---

१ तुरंत, अचानक २ काट-छांट ३ मध्यम ४ आविष्कार ५ छोड़ी हुई ६ पुराना ज़माना ७ परिवर्तन।

होंगी। जिनके नीचे क़दीम तुर्की वज़अ की नोकदार मख़रूती टोपियाँ होतीं जो अफ़ग़ानिस्तान में आज तक मुरव्वज[1] और मौजूद है और इन्हीं से लेके हमारी हिन्दोस्तानी फ़ौज की वर्दियों में शामिल की गई हैं।

सल्तनतें मुग़लिय्यः के अहद में पगड़ियाँ रोज़ बरोज़ छोटी होने लगीं और इसकी वजह यह है कि सर्द ममालिक में जिस तरह सर्दी की मज़र्रत से बचने के लिए जो जो ज़माना गुज़रता है, लिबास वज़नी व गुन्दः होता जाता है, वैसे ही गरम मुल्कों में सुबुक, हल्का और मुख़्तसर होता रहता है। अगले मुसलमान फ़ातेह जैसे भारी और मोटे कपड़े पहने हुए यहाँ आए होंगे, उनके वज़नी होने का अंदाज़ा तो हम फ़क़त क़ियास से कर सकते हैं, मगर अंग्रेज़ों को अपनी आँख से देख रहे हैं कि उनका और उनकी औरतों का लिबास रोज़ बरोज़ किस क़दर सुबुक, हल्का और मुख़्तसर होता जाता है।

इसी उसूल के मुताबिक़ यहाँ पगड़ियाँ रोज़ बरोज़ हल्की और छोटी होती गईं और मुल्क का यह रुजहान दरबार की वज़अ पर भी असर करता गया। दरबारे मुग़लिय्यः के आख़िरी अहद में उमरा और मंसबदारों की पगड़ियाँ बहुत हल्की हो गईं थीं और इसी इख़्तिसार-पसन्दी ने यह बात पैदा की कि पगड़ियों की सदहा क़तएँ हो गईं; और अक्सर उमरा ने अपनी ख़ास बन्दिशें और ख़ास वज़अ की छोटी पगड़ियाँ ईजाद कीं।

पगड़ियों के इख़्तिसार ने तुर्की कुलाह को तर्क करा दिया और यह हालत हो गई कि किसी की पगड़ी के नीचे टोपी होती ही न थी। और बाज़ पहनते भी थे तो किसी बहुत ही बारीक कपड़े की ज़रा सी टोपी जो फूंक में उड़ जाए। उन टोपियों की निस्बत हमें वसूक़ के साथ नहीं मालूम कि किस वज़अ की होती थीं। ग़ालिबन इन टोपियों की क़तअ उन टोपियों की क़तअ से मिलती हुई होगी जो अब मशायख़ और फ़ुक़रा के सरों पर होती हैं; यानी एक छः सात अंगुल की चौड़ी पट्टी का सर के बराबर एक हलक़ः बनाया जाए और ऊपर की जानिब चुन्नट देके वह समेट दिया जाए।

लेकिन चन्द रोज़ में ज़रूरत महसूस हुई कि घर में और बेतकल्लुफ़ी की सुहबतों में पगड़ी उतार के रख दी जाया करे। लेकिन नंगे सर रहना चूंकि मायूब है, इसलिए किसी क़िस्म की टोपी सर पर ज़रूर रहे। इस ज़रूरत को पूरा करने के लिए देहली में ताज की वज़अ से लेके एक कमरख़ी टोपी ईजाद हुई, जिसमें उस गोल हलक़े के ऊपर जो सर पर पहना जाता था, चार कोने निकले रहते। इस वज़अ की टोपी अब भी बाज़-बाज़ उमरा व शाहज़ादगानें देहली के सरों पर नज़र आ जाया करती है। यह टोपी सही मानों में चौगोशियः कहलाती थी। चन्द रोज़ के अन्दर इस टोपी में भी तर्मीम व तनसीख़ का अमल शुरू हुआ और देहली ही में वह कमरख़ी कोने निकाल के, एक गोल

१ प्रचलित।

क़ुब्ब नुमा टोपी ईजाद हो गई जिसमें चार पान ऐसी क़तअ़ से काट के जोड़े जाते कि एक लमबोतड़ा क़ुब्ब: सर पर नज़र आता। यही टोपी पहने हुए लोग लखनऊ में आए और उस वक़्त से उसमें दरबारे लखनऊ का असर पड़ना शुरू हुआ। यहाँ पहली तर्मीम यह हुई कि पानों के जोड़ों पर लम्बी सुराहियाँ बनाई गईं और उन सुराहियों के दर्मियान ख़ुशनुमा चाँद क़ायम किए गए। यह चाँद और सुराहियाँ इस तरह बनाई जातीं कि बारीक तनज़ेब के पानों में नैनसुख की सुराहियाँ और चाँद काट के अन्दर की तरफ़ टाँक दिए जाते जो ऊपर नुमायाँ होके टोपी में एक अच्छी नफ़ासत, सफ़ाई और सादगी पैदा करते। यह टोपी यहाँ बहुत पसन्द की गई। आम लोगों ने यकायक पगड़ी बाँधना छोड़ दिया और हर मुहज़्ज़ब और शाइस्त: आदमी के सर पर यही टोपी नज़र आने लगी।

आम मक़बूलिय्यत ने इसकी क़तअ़ और दुरुस्त की। लमबोतड़ा पान मौक़ूफ़ होके निहायत मुनासिब गोलाई पैदा की गई और लकड़ी और ताँबे के क़ालिब ईजाद हुए ताकि उन पर खींच के यह चौगोशिय: टोपियाँ (जो देहली वाली पुरानी कमरख़ी टोपियों का नाम अपने साथ लेती आई थीं) ख़ूब क़ुब्बेदार और गोल कर ली जाएं।

इतने में नसीरुद्दीन हैदर का ज़माना आया जबकि लखनऊ में मज़हबे शीअ़: को ख़ूब फ़रोग़ था, और मज़हब, सियासत, तमद्दुन और मुआ़शरत [1] हर चीज़ में अपने मज़ाक़ के मुताबिक़ इस्लाहें कर रहा था। ख़ुलफ़ाए अरबअ़ [2] की मुख़ालिफ़त और पँजतन की मुहब्बत ने लखनऊ की दरबारी मुआ़शरत ने (कज़ा) चार के अदद को बुरा और पाँच के अदद को महबूब बना दिया था जिसका असर टोपी पर यह पड़ा कि बरबिनाये बाज़ मुसतनद रिवायात, ख़ुद जहाँपनाह की हिदायत के मुताबिक़, इस चौगोशिय: टोपी में चार की जगह पाँच पान कर दिए गए, जिसकी वजह से इसमें पाँच सुराहियाँ और पाँच पान हो गए और यह नाम भी बजाय चौगोशिय: के पंचगोशिय: क़रार दिया गया। लेकिन असल टोपी में जो तर्मीम हुई थी वह तो इस क़दर मुस्तक़िल हो गई कि चार पानों की टोपियाँ बिल्कुल फ़ना हो गईं और किसी को याद भी न रहा कि कभी इन में फ़क़त चार पान हुआ करते थे। मगर चौगोशिय: का नाम न मिट सका, आज तक बाक़ी है और ज़बान पर वही है। अगरचि: बाज़ लोग पंचगोशिय: भी कहते हैं, मगर ज़ियाद: लोग ऐसे ही हैं जो इस पाँच पान वाली टोपी को आज तक चौगोशिय: कहते हैं।

नसीरउद्दीन हैदर बादशाहे अवध ने यह पाँच पान वाली टोपी इब्तिदाअन् [3] ख़ास अपने लिए ईजाद की थी। और उनकी ज़िन्दगी में रिआ़या में से किसी की मजाल न थी कि इसको पहने। मगर अहले शहर को यह वज़अ़ इस क़दर पसन्द आ गई थी कि उनकी आँख बन्द होते ही हर अदना व आला ने इसी को इख़्तियार कर लिया और

---

१ सभ्यता २ ख़ुलफ़ा ए अरबअ़ = शुरू के चारों ख़लीफ़ा ३ आरम्भ में।

लखनऊ के तमाम मुहज़्ज़ब व शायस्तः लोगों के सरों पर यही गोल क़ुब्बानुमा टोपी नज़र आती थी।

चन्द रोज़ बाद जाड़ों की ज़रूरत से इसी क़िस्म की निहायत नफ़ीस कामदार टोपियाँ ईजाद हो गईं जिनमें पाँचों पानों में ज़र्वफ़्त या ज़री बूटी की ज़मीन पर दूसरे रंग की रेशमी ज़मीन देके, क़ेतून से चाँद और सुराहियाँ बनाई जाती थीं और तमाम वज़अ़दार लोगों के सरों पर जाड़ों के मौसम में इनके सिवा और कोई टोपी न होती। इसके बाद जब चिकन का रवाज हुआ तो मौसमे गरमा के लिए इसी काम की चौगोशियः टोपियाँ ऐसी आला दर्जे की नफ़ीस व खुशनुमा बनने लगीं जो साल-साल भर की मेहनत में तैयार होतीं और दस-दस बारह-बारह रुपये तक इनकी क़ीमत पहुँच गई।

उसी ज़माने में देहली के एक शाहज़ादे वारिदे लखनऊ हुए, जिनकी दरबार और सोसायटी ने बड़ी इज़्ज़त की। वह दो-पलड़ी टोपी पहना करते थे जिसमें सर की लम्बान के मुनासिब दो लम्बे पल्ले बैज़ावी सूरत में काट के जोड़ दिए जाते थे। उनकी यह सादी टोपी अक्सर लोगों को पसन्द आई। इसलिए कि वह निस्बतन ज़ियादः सादी और तैयारी के एतिबार से आसान थी। बहुत से लोगों ने यह टोपी इख़्तियार कर ली। और अवाम में इसका इस क़दर रवाज हुआ कि आज यही दोपलड़ी हिन्दोस्तान की क़ौमी टोपी है। वह शाहज़ादे यहाँ के लोगों में "दोपलड़ी टोपी वाले शाहज़ादे" मशहूर हो गए। और करोड़ों ख़िलक़त के सर उनकी ईजाद और तराश के आज तक ज़ेर बार[1] हैं। यहाँ तक कि शाही के आख़िरी दौर में इसी दोपलड़ी से लेके, यहाँ एक बहुत छोटी पतली टोपी ईजाद हुई, जिसमें आगे-पीछे दोनों तरफ़ दो नोकें निकली होतीं। यह नुक्केदार टोपी कहलाती थी। और इस क़िस्म की भारी काम की टोपियाँ ख़ास शाहज़ादों, साहिबे दौलत रईसों, अइज़्ज़ाए शाही और आला दर्जे के नव्वाबज़ादों के साथ मख़सूस थीं।

अल्‌हासिल् ग़दर के ज़माने तक अहले लखनऊ में दो ही तरह की टोपियों का रवाज था अव्वल चौगोशियः जो मुहज़्ज़ब और सिक़:[2] लोगों के साथ मख़सूस थी। और दूसरी दोपलड़ी जो शाहज़ादों से लेके अदना तबक़े वालों तक थोड़े-थोड़े तग़य्युरे[3] वज़अ़ के साथ मुरव्वज[4] थी और आज आम लिबास है।

ग़ालिबन ग़ाज़िउद्दीन हैदर या नासिरुद्दीन हैदर के ज़माने ही से एक गोल टोपी का भी ख़ास लोगों में रवाज हो गया जो मिन्दील कहलाती। इसकी क़तअ़ डफ़ली की सी होती और अक्सर कारचोब के काम की पसन्द की जाती। दौलतमन्दों और बाज़ नव्वाबज़ादों ने इसको ज़ियादः मुवक़्क़र[5] व मुशय्यन[6] तसव्वुर करके इख़्तियार किया और उसे यह ख़ुसूसीयत दी गई कि बादशाह और शाहज़ादों के सामने बग़ैर पगड़ी बाँधे

१ आभारी २ विश्वसनीय ३ परिवर्तन ४ प्रचलित ५ आदरणीय ६ शानदार।

या कारचोव की मिन्दील पहने, कोई शख्स न जा सकता था। ग़रज़ मिन्दील को दरबार में जगह दी गई। इसी मिन्दील से माखूज़ वह गोल टोपी थी जिसके ऊपर के कोने ज़रा गोलाई लिए होते और जनरैली टोपी कहलाती। यह अ़मूमन सियाह मखमल की होती और उस पर सच्चे सुनहरे कलाबत्तू का सच्चा काम होता। अस्ल में यह टोपी सरकार अंग्रेज़ी की फ़ौज में गोरों को दी गई थी और बज़ाहिर इसमें वर्दी की शान भी थी। मगर अंग्रेज़ों की तक़लीद का ग़ालिबन पहला नमूना यही था कि यह फ़ौजी और जनरैली टोपी, शाहज़ादों और खानदानी अमीरों के लिबास में दाखिल हो गई।

आखिरी शाहे अवध वाजिद अली शाह ने अपने दरबार के खिताबयाफ़्त: मुअ़ज़्ज़िज़ीन के लिए एक नई और अ़जीब क़िस्म की दरबारी टोपी ईजाद की। उसमें काग़ज़ का मिक़वा देके, गोल हलक़ा सादे अतलस या कारचोबी काम का बनाया जाता, जो पेशानी पर ज़ियाद: ऊपर होता। इसमें ऊपर की तरफ़ तनज़ेब, गेरन्ट या जाली की एक बड़ी सी झोली बनाके जोड़ दी जाती। और पहनने में वह झूली पीछे गुद्दी तक लटकती और सर के पिछले हिस्से पर पड़ी रहती। इस दरबारी टोपी का नाम बादशाह ने आलम पसन्द रखा था और अक्सर अवाम उसे झूला कहते। मगर यह इस क़दर ग़ैर-मक़बूल और नापसन्दीद: वज़अ़ थी कि वाजिद अली शाह की जिन्दगी में भी उनके दरबार के बाहर उन लोगों के सरों पर भी नज़र न आ सकती, जिनको वह अ़ता हुई थी। और उनके बाद तो इस क़दर मिट गई कि आज कल के लोगों ने शायद उसे कभी देखा भी न होगा।

ग़दर के बाद लखनऊ में यकायक टोपियों की दुनिया में एक इन्क़िलाबे अज़ीम शुरू हो गया। चन्दरोज़ तक तो चौगोशिय:, दोपलड़ी और मिन्दीलों या पगड़ियों के सिवा सर का कोई लिबास न था। इसके बाद यकायक चौगोशिय: टोपी का रवाज छूटना शुरू हुआ। यहाँ तक कि अब इसके लिए सिर्फ़ चन्द पुराने वज़अ़दार सर रह गए हैं। इन टोपियों से जो सर खाली हो गए उनमें से अक्सर ने दो-पलड़ी इख्तियार की। लेकिन बाज़ जिद्दतें तलाश करने लगे। चन्दरोज़ तक मेरठ की सोज़नकार मिन्दीलनुमा टोपियों का दौर रहा। इसके बाद अंग्रेज़ों की नाइट कैप या कशमीर की ऊनी लम्बी चन्दवेदार टोपियाँ मुरव्वज[1] हुईं, फिर इनकी वज़अ़ से माखूज़ करके गिरन्ट या स्टीन की पतली-पतली टोपियाँ इख्तियार की गईं जो मुख़तसर होते-होते दोपलड़ी के क़रीब पहुँच गई थीं। अब अंग्रेज़ी अ़हद की वज़अ़दारियाँ शुरू हुईं और सर के लिए उनके लिबास से मिलता-जुलता लिबास ढूंढा जाने लगा। बाज़ बुज़ुर्गों ने तो हर तरफ से आंखें बन्द करके बिला तअम्मुल[2] हैट या अंग्रेज़ों की नाइट कैप पहनना शुरू कर दी।

---

१ प्रचलित २ झिझक।

लेकिन अब तुर्की टोपी का दौर शुरू हो गया था। इस टोपी को सैयद अहमद ख़ाँ मर्हूम ने इख़्तियार किया था और मुसलमान जंटिलमैन के लिए पतलून में इसका जोड़ लगाया था। इस वजह से इब्तिदाअन यह टोपी निहायत ही नफ़रत की निगाह से देखी गई। नैचरियों की टोपी इसका नाम पड़ गया। अखबारों में इसपर हज़ारों फब्तियाँ कही गईं। मगर सर सैयद के इस्तिक़लाल ने इसे मुरव्वज कर ही के छोड़ा। उनकी ज़िन्दगी ही में लाखों आदमी इसे पहनने लगे। यहाँ तक कि लखनऊ में भी आ पहुँची; अला रग़मिल मुख़ालिफ़ीन[1] यहाँ भी उसे पहनना शुरू कर दिया। लेकिन अन्दर ही अन्दर उसकी तरफ़ लोगों का रुजहान इस क़दर बढ़ा कि अब सारे हिन्दोस्तान में अक्सर तालीमयाफ़्तः और मुहज़्ज़ब मुसलमान इस टोपी का इस्तेमाल कर रहे हैं।

लखनऊ में मुअज़्ज़ज़ तालीमयाफ़्तः और शायस्तः[2] शीअः हिन्दोस्तान के तमाम शहरों से शायद ज़ियादः हैं और उनमें इस बात की तहरीक बमुक़ाबिल सुन्नियों के बढ़ी हुई है कि हर बात में अपने आपको मुतमाइज़[3] करें और अपने शिआयर[4] व औज़ाअ जुदागानः क़रार दें। इसके साथ यह भी है कि जिस तरह अहले सुन्नत, दौलते उसमानियः के तरफ़दार हैं, शीअः दौलते क़ाचार-ए-ईरान के पैरों व जानिबदार हैं। लिहाज़ा जब लखनऊ में तुर्की टोपी का रवाज बढ़ना शुरू हुआ जो तुर्कों की टोपी है तो वज़अदार शीओं को ख़याल हुआ कि बजाय तुर्की टोपी के, दरबारे अज़ अजम की कुलाहे पापाख़ को अपने लिए इख़्तियार करें। यह तहरीक पूरा काम कर गई और अब यह हालत है कि जो मुसलमान अपनी पुरानी टोपियों को छोड़ कर नई टोपी इख़्तियार करते हैं, वह अगर सुन्नी हैं तो तुर्की टोपी पहनने लगते हैं और अगर शीअः हैं तो ईरान की परशियन कैप को इख़्तियार करते हैं। अगरचिः दोनों फ़रीक़ों में बाज़ ऐसे रौशनख़याल भी मौजूद हैं जो मुसलमानों की इस अंदरूनी एतिक़ादी तफ़रीक़ को मिटाना चाहते हैं और बावजूद सुन्नी होने के ईरानी या बावजूद शीअः होने के तुर्की टोपी पहनते हैं। मगर ऐसे लोग कम हैं। मुसलमानाने शहर के जदीदुल्मज़ाक़[5] लोगों की आम वज़अ् यही है कि शीअः ईरानी, और सुन्नी तुर्की, टोपी पहनते हैं।

मुसलमानों की यह बाहमी[6] तफ़रीक़[7] देखके हिन्दू तालीमयाफ़्तः लोगों ने अलुल्उमूम गोल मिन्दीलनुमा फ़िलट कैप इख़्तियार कर ली जिसको बाज़ मुसलमान भी पहनते हैं लेकिन हिन्दू अंग्रेजीदानों की वज़अ् में बकसरत दाखिल हो जाने की वजह से अंग्रेज़ों ने उसका नाम "बाबूज़ कैप" रख दिया है। मगर अ़वाम हिन्दू हों या मुसलमान हों या सुन्नी, दोपलड़ी पहनते हैं।

ग़दर के बाद जो ज़माना गुज़रा, यह लखनऊ की सोसायटी के लिए अज़ीमुश्शान कौनोफ़साद[8] का ज़माना था। मुआशरत और अख़लाक़ व आदात के साथ लोगों के

---

१ विरोधियों के प्रतिकूल २ सभ्य ३ विशेष ४ निशानियाँ, तौर तरीक़े ५ आधुनिक रुचि रखनेवाले ६ पारस्परिक ७ भेद ८ बनाव बिगाड़।

लिबास और वज़अ् में भी तग़य्युर[1] होने लगा। और तालीमयाफ़्तः जमाअ्त में कसरत से लोग पैदा हो गए जिन्होंने अपनी मुअ्शरत के साथ अपनी वज़अ् भी बिल्कुल छोड़ दी। न उनकी टाँगों में पायजामा रहा, न पिंडे पर अंगरखा, न पाँव में चढ़ौवाँ जूता रहा न सर पर टोपी या पगड़ी। बल्कि एक ही जस्त में वह सातों समन्दर फाँद के हिन्दोस्तान से इंगलिस्तान में कूद पड़े और कोट, पतलून बूट और हैट उनका लिबास हो गया। लेकिन आबादी के ग़ालिब गरोह ने अपनी वज़अ् बरक़रार रखना चाही। ताहम बग़ैर इसके कि वह महसूस करें उनमें भी तग़य्युर हुआ और अंगरखे की जगह शेरवानी उनका क़ौमी लिबास बन गई। लेकिन सर के लिए मालूम होता है जैसे अभी तक कोई ऐसी टोपी नहीं मुन्तख़ब हो सकी जिसको सब बिला तअम्मुल[2] इख़्तियार कर लें।

इस कौनोफ़साद व रद्दोबदल के ज़माने में लखनऊ में बीसियों टोपियाँ पैदा हुईं जो या खुद यहीं की ईजाद थीं या किसी और क़ौम या मक़ाम से माख़ूज़ थीं। इनमें से जो चन्द रोज़ तक ठहर सकीं उन पर लखनऊ के असली मज़ाक़ ने बहुत कुछ तसर्रुफ़ भी किया। मगर आख़िर को तर्क हो गईं। अहले लखनऊ का तबअ़ी रुजहान[3] इस-जानिब है कि हर चीज़ हत्तलइमकान नाज़ुक, नफ़ीस, छोटी, चुस्त व सुबुक हो। हर वज़अ् व लिबास में इन लोगों ने इसी मज़ाक़ का तसर्रुफ़ किया, और अक्सर टोपियों में भी इस क़िस्म का तसर्रुफ़ हुआ। मगर तुर्की टोपी, ईरानी टोपी और हैट में यह लोग मुतलक़ तसर्रुफ़ न कर सके। जिसकी वजह यह है कि यह टोपियाँ दूसरी क़ौमों से बनी बनाई ली जाती हैं और बाहर से आती हैं। और इसी तसर्रुफ़ न हो सकने की वजह से हमारा ख़याल है कि इन टोपियों में से एक भी, बावजूदेकि[4] बकसरत मुरव्वज हो गई हैं, लखनऊ के मज़ाक़ जुदा होने के बाअ़िस यहाँ का क़ौमी लिबास न बन सकेगी। और टोपी का मसलः मूजिदाने लिबास की मजलिस में ज़ेरे ग़ौर व तजवीज़ है।

सर का लिबास

अगरचिः हिन्दोस्तान खुसूसन लखनऊ में सर का क़ौमी लिबास टोपी है। मगर यह न समझना चाहिए कि यहाँ की नज़ाकतपसन्दी ने पगड़ी को फ़ना कर दिया। दरबार में अलल् उमूम पगड़ियों का रवाज था। वह देहली की बावक़अ़त अमीरानः दस्तारें तो बेशक यहाँ नहीं बाक़ी रहीं और उमरा व अइज़्ज़ाए शाही के सरों पर फ़क़त टोपियाँ रह गईं। मगर दरबार के लिए पगड़ियाँ आख़िर अहद तक मख़सूस थीं और आम मुलाज़िमीन का आख़िरी फ़र्ज़ था। और अब भी बड़ी वसीअ् हद तक है कि आक़ा के सामने जायें तो सर पर पगड़ी बाँध के जाएँ।

---

१ परिवर्तन २ झिझक ३ मानसिक झुकाव ४ यद्यपि।

खुद हुक्मरानों के सरों पर पुरानी दस्तार नव्वाब सआदतअली के ज़माने तक रही। नव्वाब बुरहानुल्मुल्क, नव्वाब शुजाउद्दौलः और नव्वाब आसिफ़ुद्दौलः के सरों पर वही देहली के ओहदःदाराने सल्तनत की सी सफ़ेद दस्तार हुआ करती जिस पर बड़े दरबारों के मौक़ों पर जवाहिरात की कलग़ियाँ, मुरस्सअ[1] जेग़े और सरपेच लगा दिए जाते। मगर फ़ी नफ़्सिही वह दस्तारें सादी और सफ़ेद होती थीं। मगर नव्वाब सआदतअलीखाँ के सर पर हमें एक नई क़िस्म की पगड़ी नज़र आती है, जिसको अह्ले लखनऊ अपनी ज़बान में शिमलः कहते थे। यह शिमलः यहाँ इस तरह बनाया जाता कि भराव में कपड़े का एक चौड़ा, पतला कगरदार हल्क़ः सर की नाप के बराबर बनाया जाता जो बीच में खाली और खुला रहता। फिर किसी नफ़ीस रेशमी या शाली कपड़े की पतली-पतली बहुत लम्बी बत्ती बनाके उसके बीसियों पेच इस कपड़े के हलक़े पर नीचे और ऊपर बराबर लपेट के टाँक दिए जाते। इस हलक़े में ऊपर की जानिब एक चौड़ी पट्टी वैसे ही रेशमी या शाली कपड़े की जोड़ दी जाती ताकि वह उस हलक़े को नीचे उतरने से रोके रहे। मगर इससे पूरी चँदिया ढक न सकती थी, इसलिए कि उसके नीचे कोई मामूली दो-पलड़ी या चौगोशियः टोपी ज़रूर रहती। यह था लखनऊ का असली शिमलः जिसको पहले-पहल नव्वाब सआदत अली खाँ ने पहना और ग़ालिबन वह वस्ते हिन्द के हिन्दू और मुसलमान दरबारों की उन पगड़ियों से माख़ूज़ था जो किसी बारीक रंगीन कपड़े की सदहा गज़ की बत्तियों को खास तरतीबों से लपेट कर बनाई जाती थीं। नव्वाब सआदतअलीखाँ ने इस शिमले को खुद ही नहीं पहना बल्कि मुअ़ज़्ज़िज़ीने दरबार और अ़मायदे सल्तनत और वुज़रा को भी वही अता हुआ।

ग़ाज़िउद्दीन हैदर को दौलते इंगलिशिय्यः ने बादशाह बनाके ताज पहना दिया जो दरअसल हिन्दोस्तान और एशिया का ताजे शाही न था बल्कि एक क़िस्म का यूरोप का ताज था। उस वक़्त से फ़रमाँरवायाने लखनऊ ने शिमले या दस्तार को बिल्कुल छोड़ दिया और उनके साथ तमाम शाहज़ादों और अ़मायदे शहर ने भी पगड़ी को खैरबाद कह दी। शाहज़ादे खास मौक़ों पर तो ताज मगर अ़लल्‌उ़मूम मसालेदार भारी काम की नुक्केदार टोपियाँ पहनते और उन्हीं की तक़लीद[2] शहर के दीगर मुअ़ज़्ज़िज़ीन भी करते। लेकिन ओहदेदाराने सल्तनत, वुज़रा और अहलकारों को हुक्म था कि शिमला पहन के सलातीन व वुज़रा के दरबार में आएँ। ग़ाज़िउद्दीन हैदर के ज़माने से अमजद अलीशाह के अहद तक तमाम ओहदेदारों के सर पर वही शिमला रहा करता था जिसकी तस्वीर अपने नाज़िरीन को हमने लफ़्ज़ों में दिखा दी है। वाजिदअली शाह ने जब अपने दरबार की मख़सूस टोपी आलम पसन्द (झोला) ईजाद की तो मामूल हो गया कि जिन लोगों को ज़ियादः तक़र्रुब हासिल होता और "दौलः" के खिताब से सरफ़राज़ होते, उनको आलम पसन्द भी अता होती। इनका

---

१ सजा हुआ २ अनुसरण।

फ़र्ज़ था कि आलमपसन्द पहन के दरबार में आएँ उनसे कम दर्जे के वारियाने हुज़ूर, जो किसी कारख़ाने या महकमे के दारोग़: होते, उनको दारोग़गी के ख़िताब के साथ शिमला अता होता। और वह पुराना शिमला पहनके हाज़िर होते जो पहले-पहल नव्वाब सआदत अली खाँ के सर पर लोगों को नजर आया था। बाक़ी तमाम लोगों को हुक्म था कि किसी क़िस्म की पगड़ी बाँध के दरबार में आएँ और पगड़ी न हो तो टोपी उतार लें। अहलकारों के जिस शिमले का हमने ज़िक्र किया है, उसी क़िस्म का शिमला ग़ालिबन मुर्शिदाबाद के दरबार में भी था और इसी का असर था कि आज से पचास बरस पहले हम कलकत्ता हाई कोर्ट के बंगाली वकीलों को उसी तरह का शिमला पहनते देखते थे। लेकिन वह शिमला दरबारे अवध के शमलों से सुबुक और हमारी नजर में जरा ओछा होता।

अब पगड़ी को सिवा ओहदे:दारों के तमाम ख़ुशबाश लोगों और मुअज़्ज़िज़ीने शहर ने मुतलक़न तर्क कर दिया था। लेकिन इस पर भी दरबार में और नीज़ अवाम में पगड़ी की जो इज़्ज़त दिलों में क़ायम थी और है उसका सुबूत इससे ज़ियाद: और क्या होगा कि शादियों के मौक़े पर अदना और आला तबक़े में दूल्हा के सर पर पगड़ी ही हुआ करती है और लखनऊ के शुरफ़ा में तो अमूमन भारी कमख़ाब के शमले का रवाज है।

यहाँ के दरबार ने मज़कूरः पगड़ियों के अलावः मुलाज़िमीन के मुख़्तलिफ़ तबक़ों के लिए जुदा-जुदा वज़ओं की पगड़ियाँ भी मख़सूस कर दी थीं। अहले क़लम यानी मुहर्रिरों के लिए इसी मज़कूर: शमले की सी सफ़ेद मल-मल की पगड़ी मख़सूस थी। दरबार के हरकारे और चोबदार भी इसी क़तअ़ की पगड़ियाँ पहनते (इस लिए कि वह पगड़ियाँ बाँधी नहीं बल्कि टोपी की तरह पहनी जाती थीं); फ़र्क़ यह था कि हरकारों की पगड़ियाँ सुर्ख़ होतीं और चोबदारों की सफ़ेद बुर्राक़ जिन पर आगे दाहिनी जानिब मुक़य्यश का एक फूल भी टँका होता। हरकारों की पगड़ियों से मिलती-जुलती पगड़ियाँ कहारों की होतीं। उनकी पगड़ियों में दाहिनी जानिब की कोर पर चाँदी की मछलियाँ टँकी होतीं और जिस्म पर सुर्ख़ बानात के ढीले-ढाले चुग़े होते।

इनके अलावः तमाम फ़ौजों और मुअज़्ज़िज़ लोगों ख़िदमतगारों में भी पगड़ियों का रवाज था जो अपनी वज़अ़ पर जुदा और ख़ुदरो सी होतीं।

सबसे ज़ियाद: मुअज़्ज़ज़ व मुहतरम अमामे[1] उलमा के थे और मुनासिब मालूम होता है कि इस मौक़े पर पगड़ियों के सिलसिले में हम उलमाए किराम व मुक़तदायाने उम्मत के अमामों के साथ पूरे ज़िय्ये उलमा[2] से बहस करें। लखनऊ में मुसलमानों के

---

१ शुद्ध अ़िमाम: है पर उर्दू में अमामः (पगड़ी) प्रचलित है, (इमाम पेशवा, सरदार तथा पथ-प्रदर्शक को कहते है, अतः इमामों लिखना ठीक नहीं है।) २ उलमा का लिबास।

दो फ़िर्क़ों के उलमा हैं। अव्वल उलमाए अहले सुन्नत दूसरे मुज्तहिदीन व अफ़ाज़िले शीअ:। इन दोनों की वज़अ़ जुदागान: है। सुन्नियों को तक़द्दुस[1] और सक़ाहत[2] की शान अहले अ़रब के लिबास में नज़र आती है और शीअ़ों को उलमाए फ़ारस व अ़जम की वज़अ़ में। इसी मज़ाक़ व रुजहान के मुताबिक़ दोनों गिरोहों के उलमा का लिबास भी है।

आँहज़रत सलअ़म[3] के अहदे मुबारक में अरबों का अ़मामः सिर्फ़ इस क़दर था कि कोई मुख़्तसर सा कपड़ा सर पर लपेट लिया जाये जिसको न किसी क़तअ़दारी से इलाक़ा था और न किसी वज़अ़दारी से। मगर जब ख़ुलफ़ाए अ़ब्बासीय: के अ़हद में इराक़ मुस्तक़िरे ख़िलाफ़त क़रार पाया तो अ़जमी व सासानी लिबास, अ़मायद व अकाबिरे अ़रब की वज़अ़ में दाख़िल हो गया। बहरहाल जो बड़े-बड़े शानदार अ़मामों और तैलसान[4] वग़ैर: अ़हदे ख़िलाफ़त के उलमाए अरब ने इख़्तियार किए, उनको अरबी लिबास मुश्किल से कहा जा सकता है। हिन्दोस्तान के उलमाए अहले सुन्नत ने अगले दिनों वह अरबी लिबास छोड़ के देहली की दरबारी वज़अ़ इख़्तियार कर ली थी और इस वज़अ़दारी के साथ इस लिबास को निवाहा कि आज हिन्दोस्तान के सारे अबनाए वतन ने इसे छोड़ दिया, मगर वह अभी तक इस पर क़ायम हैं।

चुनांचि: आज तक उलमाए फ़िरंगी महल की अस्ल वज़अ़ यह है कि एक सीधा गोल अ़मामा बाँधते हैं जिस की बन्दिश में बिल्कुल इसकी कोशिश नहीं की जाती कि पेशानी पर मेहराब की क़तअ़ पैदा हो। जिस्म में अगले ज़माने का जामा होता है जो सब जगह बिल्कुल ख़्वाब व ख़्याल हो गया। पाँव में चौड़े और अ़रज़ के पाँयचों का टख़नों से ऊँचा पायजामा होता है और गले में एक पतला सा दोपट्टा होता है। इस वज़अ़ में हमारे दो एक बुज़ुर्गाने फ़िरंगी महल आज भी जुमअ़: की नमाज़ पढ़ाने को आते हैं। मगर घरों में वह मामूली सादी दोपलड़ी या चौगोशिय: टोपी, लम्बा कुर्ता, जिसमें गरेबान का चाक बीच में हो, या अंगरखा और अ़रज़ के पाँयचों का पायजामा पहनते हैं। फ़िलहाल हदीसुल्‌उमर[5] उलमाए फ़िरंगी महल ने अब इस वज़अ़ को छोड़ के उलमाए हरमैन और मुक़्तदायाने शाम व मिस्र की वज़अ़ इख़्तियार करना शुरू कर दी है। जिसे आख़िर में मौलाना शिबली नुअ़मानी ने भी क़ौमी और सरकारी दरबारों के लिए मुन्तख़ब किया था। इन बुज़ुर्गों का जूता भी अगले दिनों घेतला था मगर अब तो ज़ेरपाइयाँ हैं और या लखनऊ या देहली का चढ़व्वाँ जूता।

उलमाए शीअ: की वज़अ़ इससे बिल्कुल जुदा है। वह अव्वल तो सर पर दोपलड़ी टोपी पहनते हैं, मगर आम लोगों के ख़िलाफ़ उसकी सीवन बजाय आगे से

१ पवित्रता २ श्रेष्ठता ३ यह सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम का संक्षिप्त है, संक्षिप्त ही करना था तो केवल स॰ बना दिया जाता, महज़ सलअ़म लिखना ठीक नहीं ४ चादर ५ नई उम्र।

पीछे की तरफ़ रहने के, आड़ी यानी एक कान से दूसरे कान तक रहती है, उस पर बलन्द ऊँचे क़ुब्बे का अमामा अहले अ़जम के अमामे की बन्दिश से मिलता होता है। बदन में लम्बा कुर्ता मगर उसके गिरीबान का चाक बजाय इसके कि सीने के बीच में हो, बायें शाने के पास होता है। अगले दिनों उलमाअे शीअ: के कुर्तों में गिरीबान की जगह दोनो शानों पर हुआ करती थी मगर यह वज़अ़ अब मतरूक[1] हो गई है। जो उलमा ईरान व कर्बला हो आये हैं वह कुर्ते के ऊपर अगली तैलसान[2] पहनते हैं जो यहाँ क़बा कहलाती है। पाँव में चौड़े पाँयचों का पायजामा होता है और अ़लल्अ़ुमूम[3] कफ़्शें पहनते हैं जिनका ज़िक्र जूतों के बयान में आयेगा।

कमर से नीचे का पहनावा

सर और दर्मियानी हिस्स-ए-जिस्म का लिबास का हाल तफ़सील व वज़ाहत से हम बयान कर चुके। अब अस्फ़ले[4] जिस्म के लिबास की तरफ़ तवज्जु: करते हैं; फिर इसके बाद दीगर ज़वायदे[5] लिबास और मुख्तलिफ़ गिरोहों की खास-खास वज़अ़ों का और उनके बाद औरतों के लिबास का तज़्किर: करेगें।

नशेवी[6] हिस्स-ए-जिस्म के लिए अरबों में सिवा तहमत के कुछ न था। अरबी तहमत और हिन्दुओं की धोती दोनों बे-सी हुई पतली चादरें होती हैं। फ़र्क़ यह है कि तहमत सिर्फ़ कमर में लपेट के अटका लिया जाता है। धोती हिन्दोस्तान की मुख्तलिफ़ क़ौमों में खास-खास बन्दिशों से बाँधी जाती है। इसका एक सिरा नीचे से फेर देके पीठ के नीचे घुरस लिया जाता है और दूसरे को बाज़ लोग कमर में लपेट लेते हैं, बाज़ चुन्नट देके और ऊपर से नाफ़ के पास घुरस के आगे लटका लेते हैं। अरबों की तहमत ने बाद के ज़माने में यह तरक़्क़ी की कि उसके दोनों सिरे सी के एक हलक़: बना लिया जाता है और उसमें दोनों पाँव डाल के और कमर के पास उसे समेट के बन्दिश कर दी जाती है।

ज़ुहूरे इस्लाम के वक़्त और उससे मुद्दतों पेश्तर अरबों का क़ौमी लिबासे ज़ेरीं[6] यही था। अमीर व ग़रीब, बादशाह व वज़ीर सब तहमत बाँधते। फ़र्क़ इस क़दर था कि उमरा व मुतकब्बिरीने अ़रब अपनी नख्वत[7] और अपने ग़ुरूर का इज़हार इस तरह करते कि यह तहमत बहुत नीचा और ज़मीन से मिला हुआ होता जिसमें सारे पाँव छुप जाते। उसके दोनों सिरे ज़मीन पर लटकते और रगड़ते हुए चलते। चूँकि इस वज़अ़ में किब्र व नख्वत की बू आती और जो शख्स ऐसा तहमत बाँध के निकलता, दूसरों को अपने सामने ज़लील व हक़ीर खयाल करता, इस वजह से इस्लाम ने इस वज़अ़ की सख्त मुमानिअ़त की। हुक्म दे दिया कि इज़ार (तहमत) टखनों से नीची

---

१ समाप्त २ वह दुपट्टा या रूमाल जो वाइज़ खुत्बे के वक़्त पहनते हैं ३ आमतौर पर ४ नीचे के ५ दूसरे अन्य ६ नीचे का ७ अभिमान, शान व घमंड।

न रहे। उलमा ने इसी हुक्म की बिना पर फ़िलहाल यह फ़तवा दे रखा है कि पायजामा या टाँगों का कोई लिबास टखनों से नीचा न हो। हालाँकि पायजामा न उन दिनों था और न इस हुक्म में शामिल हो सकता है। इसलिए कि नीचे और जमीन पर लोटती हुई इजार बांधने से जो किब्र व नख्वत का खयाल उमरा-ए-अरब में पैदा होता था, हिन्दोस्तान के नीचे पायजामे पहनने वालों में हरगिज़ नहीं होता।

हज़रत रसूले खुदा सलअम के ज़माने ही में पायजामा दीगर ममालिक व अक़वाम से अरब में पहुँच गया था और बाद के ज़माने में बग़दाद के दरबार का और उन अरबों का जो अरब से निकल के दीगर ममालिक में मुतवत्तिन[1] हो गए थे, क़ौमी लिबास बन गया। हिन्दोस्तान में मुसलमानों से पहले धोती के सिवा पायजामा न था। मुसलमान फ़ातेह उसे अपने साथ लाए। जिनमें मिले हुए चन्द ऐसे आबिद व ज़ाहिद मुक़्तदायाने दीन थे जो सुन्नते नुबवी की पैरवी में तहमत ही बाँधे हुए इस सरज़मीन पर आ गए। तहमत चूँकि सुन्नत होने की वजह से एक खालिस दीनी लिबास था, इसलिए बेनफ़्स या दीनदार मुसलमानों या तालिबेइल्मों ही के साथ मखसूस रहा। मगर पायजामा यहाँ की सोसायटी में इस क़दर आम हो गया कि मुसलमान दरकिनार हिन्दुओं और यहाँ की दूसरी क़ौमों में इसका रवाज हो गया। लेकिन ग़ौरतलब यह अम्र है कि मुसलमानों का पहला और असली पायजामा किस वज़अ़ का था? ग़ालिबन वह तंग मुहरी का उटंगा पायजामा जो शरओ़ी पायजामा कहलाता है और अतक़ियाओ अहले सुन्नत में मुरव्वज[2] है, मुसलमानों का पहला पायजामा है, यही बग़दाद में मुरव्वज था। इसी का रवाज ईरान व तुर्किस्तान में हुआ और इसी को पहने हुए मुसलमान हिन्दोस्तान में आए।

हिन्दोस्तान के आखिरी अहद में इसकी क़तअ़[3] में इतना तग़य्युर[4] हुआ कि पाँयचे या मुहरी पिंडली से लिपटी रहती। मगर ऊपर का घेर क़रीब-क़रीब इतना ही होता जितना कि पुराने शरओ़ी पायजामे का था। चन्द रोज़ बाद मुहरी किसी क़दर लम्बी और नीची हो गई मगर टखनों से आगे नहीं बढ़ी। देहली के आखिरी अहद तक वहाँ और सारे हिन्दोस्तान में मुसलमानों का यही पायजामा था। अगर्चिः अदना तबक़े के मुसलमान, हिन्दू अ़वाम की आमेज़िश से धोतियाँ बाँधते थे और मुअ़ज्ज़ज दर्जे[5] के हिन्दू अपने घरों में चाहे धोतियाँ बांधे रहें, मगर मुहज़्ज़ब सुहबतों[6] में आते तो पायजामा पहन कर आते।

उन्हीं दिनों काबुल और क़न्धार में दो मुतज़ाद[7] क़िस्मों के पायजामे मुरव्वज थे। काबुल वालों का पायजामा नीचे मुहरी के पास तंग और ऊपर घेर के पास इतना ढीला होता कि नीचे का जिस्म एक बहुत बड़े झोलदार ग़ुब्बारे में ग़ायब हो जाता। और

१ बस गए २ प्रचलित ३ काट ४ परिवर्तन ५ प्रतिष्ठित वर्ग ६ सभ्य सत्संगों ७ विपरीत।

एक पायजामे में एक-एक और दो-दो थान खर्च हो जाते। यह आज भी अफ़ग़ानियों की टाँगों में नज़र आ सकता है। बखिलाफ़ इसके क़न्धार वाले ऐसा पायजामा पहनते जिसके ऊपर का घेर तो ज़ियादः न होता मगर दोनों पाँयचे कलियाँ जोड़-जोड़ के इतने बड़े और इतने घेर के बना दिए जाते कि जब तक इन्सान उनको घुरस न ले, या हाथ में संभाले न रहे, चलना दुशवार था।

दरबारे देहली में बकसरत क़न्धारी आ-आ के फ़ौज में नौकर हुए। वह लोग चूँकि बड़े बहादुर समझे जाते, इसलिए यहाँ के आम सिपहगरों में उनकी वज़अ़ व लिबास और आदात व खसायल रवाज पाने लगे। और यह उन्हीं की बर्कत और उन्हीं की सुहबत का असर था कि देहली में बाँके बड़े-बड़े कलियोंदार पाँयचों के पायजामे पहनते। देहली के आखिर अहद में बाँकों की वज़अ़दारी व शुजाअ़त[1] इस क़दर पसन्दीदः हो गई कि सदहा शरीफ़ज़ादों ने बाँकों में दाखिल होकर उनकी वज़अ़ इख्तियार कर ली। और शुरफ़ा, जिनमें अक्सर अपनी अस्ली वज़अ़ पर थे और बहुत से बाँके बने हुए थे, लखनऊ में आए।

लखनऊ में आके यक बयक एक ढीला अ़रज के पायचों का पायजामा पैदा हो गया। शुजाउद्दौलः, आसिफ़ुद्दौलः और सआ़दत अली खाँ के ज़माने तक तो इसका पता नहीं चलता। मगर मालूम होता है कि ग़ाज़िउद्दीन हैदर या उनके फ़र्ज़न्द नसीरुद्दीन हैदर के ज़मानों में जबकि यहाँ लिबास व मुआ़शरत[2] में तग़य्युर[3] हो रहा था, इसी बाँकों के कलियोंदार पायजामे से मुख्तसर करके यह पायजामा बना लिया गया। जो न इतना ढीला था कि एक-एक पायजामे में एक-एक थान सर्फ़[4] हो जाए और न चुस्त मुहरी वाले पुराने पायजामे की तरह इतना तंग कि पाँयचे ऊपर चढ़ाना ग़ैरमुमकिन हो। यह नया पायजामा हलका-फुलका और हिन्दोस्तान की गर्मियों में निहायत आरामदेह था। चन्द ही रोज़ में उमरा व मुहज़्ज़ब लोगों में इस क़दर मक़बूल[6] हो गया कि सिवा उन लोगों के जो बाँकपन का दावा रखते थे तमाम अहले फ़ज़्ल व इल्म ज़ुह्हाद व अत्क़िया[5] और सारे शुरफ़ा व उमरा की वज़अ़ में यही पायजामा दाखिल था।

अब लखनऊ में सिर्फ़ दो पायजामे थे, एक तो वही बाँकों का कलियोंदार पायजामा, दूसरा अ़रज के पाँयचों का पायजामा, जो सारे शहर के मुहज़्ज़ब लोगों की वज़अ़ में दाखिल हो गया था और इस शान के साथ कि अक्सर मुहज़्ज़ब व तालीमयाफ़्तः लोग भी गुलबदन और मशरू का सिलवाते और उसके पाँयचों में चौड़ी गोट लगाई जाती। बाँकों वाले अव्वलुज़्ज़िक्र[7] पायजामे को खुद नसीरुद्दीन हैदर ने अपनी वज़अ़ में दाखिल कर लिया। उनको अंग्रेज़ी लिबास का भी शौक़ था। इसलिए

---

१ बहादुरी २ सभ्यता ३ परिवर्तन ४ खर्च ५ लोकप्रिय ६ ईश्वर से भय खानेवाले, धर्मपरायण ७ पूर्वचर्चित।

था कोट पतलून पहनते या कलियोंदार पायजामा, जिसको फ़िलहाल पंजाब वाले ग़रारे-दार पायजामा कहते हैं। नसीरुद्दीन हैदर को यह पायजामा इस क़दर अज़ीज़ था कि अंग्रेज़ों की गौन के मुशाबेह देख के उन्होंने उसे अपने महल की बेगमों को भी पहनाना शुरू किया। और महल की वज़अ् में दाखिल हो जाने का यह असर हुआ कि शहर की तमाम औरतें उसी को पहनने लगीं, जिसका ज़िक्र औरतों के लिबास के बयान में आएगा।

शाही अवध की फ़ौज फ़तहे पंजाब के मौक़े पर अंग्रेज़ों के साथ जाके सिक्खों से लड़ी थी। सिक्ख लोग एक नई क़िस्म का औरेबी तिर्छी काट का तंग और चुस्त पायजामा पहनते थे, जो घुटन्ना कहलाता है। बहुत से पंजाब जानेवालों ने इस वज़अ को बहुत पसन्द किया और घरों में वापस आए तो वही आड़ी काट के घुटन्ने पहने थे। यहाँ के अक्सर लोगों ने यह पायजामा बहुत पसन्द किया और यकायक ऐसा रवाज हुआ कि लखनऊ के तमाम बाँके-तिर्छे, शौक़ीन और अमीरज़ादे घुटन्ना पहनने लगे, जो खूब चुस्त और खूब खिंचा होता और गट्टे पर उसकी शिकनों की बहुत सी चूड़ियाँ रखी जातीं।

लखनऊ में यही तीन पायजामे थे कि अंग्रेज़ी हो गई। बड़े पाँयचों का कलियों-दार पायजामा तो बाँकों और अस्लहा[1] के साथ सारे मर्दों में से फ़ना हो गया। नसीरुद्दीन हैदर की इनायत से फ़क़त औरतों में बाक़ी है। मर्दों में फ़क़त दो पायजामे थे, यानी अरज़ का पायजामा और घुटन्ना। या सुन्नी अहले इत्तिक़ा में से बाज़-बाज़ पुराना शरअी पायजामा पहन लिया करते। अंग्रेज़ी दौर ने पहला असर यह किया कि पायजामों की वज़अ-क़तअ तो वही रही मगर अतलस गुलबदन और मशरूअ के या रंगीन सूती पायजामे मर्दों से बिल्कुल छूट गए। चन्द रोज़ बाद अलीगढ़ कालिज के सोशल स्कूल से अंग्रेज़ी नक़्ल के पायजामे ईजाद हुए जो न इतने तंग होते हैं कि पिंडली से लिपटे रहें और न इतने ढीले कि पाँयचा ऊपर तक चढ़ा लिया जा सके। अंग्रेज़ी तालीम पानेवालों और सारे हिन्दोस्तान के अक्सर शरीफ़ज़ादों में अब इसी पायजामे का रवाज बढ़ता जाता है। अगर्चिः अक्सर तालीमयाफ़्तः जो तहज़ीबे जदीद के मल-ए-आला तक पहुँच गए हैं अपना सारा लिबास छोड़कर कोट-पतलून पहनने लगे हैं। मगर लखनऊ में आज भी बाज़ गिनती के ऐसे सिक़:[2] लोग नज़र आ सकते हैं जो पुरानी क़तअ के अरज़ के पायजामे पहनते हैं और अपनी वज़अ नहीं छोड़ते।

अंगरखे या चिपकन वग़ैरः के ऊपर अगले दिनों दोशाले का रवाज ज़ियादः नज़र आता है। और यही शाही दरबारों से खिलअत में अता हुआ करता था। इसके साथ शाली रूमाल ओढ़ने का भी एक मामूली हद तक रवाज था। यही दोनों चीज़ें देहली से लखनऊ में आईं मगर लखनऊ में ज़ियादः रवाज रूमाल ओढ़ने का था। जाड़ों

---

१ हथियार २ सभ्य-शिष्ट।

में अक्सर शाली रूमाल और सर्दी के औक़ात में दोशाला ओढ़ा जाता। लखनऊ में दरबार क़ायम होने के बाद जब गर्मियों के लिए लिबास में नफ़ासत व लताफ़त और सबुकी[1] को तरक़्क़ी होने लगी तो बाबरलेट और चिकन के रूमाल ईजाद हुए। और तमाम सफ़ेदपोश शरीफ़ों का यह लिबास हो गया कि सर पर क़ालिब चढ़ी चिकन की चौगोशिय: टोपी, बदन में अंगरखा, पाँव में अरज़ के पाँयचों का पायजामा और कन्धे पर हलका चिकन या जाली का रूमाल। शुरफ़ाए लखनऊ की यह पहली आम वज़अ थी जिसको मीर अनीस मर्हूम का खानदान इन्हीं अगले तकल्लुफ़ात के साथ आज तक निबाह रहा है।

लिबास में सबसे आखिरी और बड़ी अहम चीज़ जूता है। मुसलमानों के आने से पहले हिन्दोस्तान में जूते का मुतलक़ रवाज न था। इसलिए कि चमड़े के इस्तेमाल से हिन्दू लोग मजहबन एहतिराज करते थे। बल्कि जूते के ऐवज[2] यहाँ लकड़ी की खड़ाँवें पहनी जातीं जो आज कल के बाज़ फ़क़ीरों और मुरताज[3] ऋषियों के अलाव: क़दीम राजाओं में भी मुरव्वज थीं। मुसलमान अपने साथ मुखीत लिबास के साथ चमड़े के जूते भी लाए। मुसलमानों का पहला जूता अरबों में फ़क़त एक चमड़े का तला था जो पट्टे या बन्धनों के ज़रीए से पाँव में अटका लिया जाता। अजमियों और रोमियों का चमड़े का मोज़ा जूते से पहले अरबों में पहुँच गया था। फिर जब अरबी दरबार शाम व इराक़ यानी रोम के आग़ोश में क़ायम हुए तो चमड़े के जूतों का रवाज शुरू हुआ। मगर वह पहले जूते बज़ाहिर सीधी-सादी ज़ेर-पाइयाँ थे। इन्हीं को पहने हुए मुसलमान हिन्दोस्तान में आए।

देहली के उमरा और बादशाह अगले दिनों अपनी तस्वीरों में ऊँची एड़ी की कफ़्शनुमा जूतियाँ पहने नज़र आते हैं। देहली के आखिर अहद में चढ़व्वाँ जूता ईजाद हुआ जिसकी इब्तिदाई वज़अ यह थी कि आधा पंजा और गट्टे से नीचे तक पाँव उसमें छुप जाता। उसके सिरे पर चौड़ी नोक पंजे पर झुका के बिठा दी जाती। यह पहला दिल्लीवाल जूता था। जिसका पचास साल पेश्तर ज़ियाद: रवाज था इसके बाद सलीमशाही जूता निकला, जो ग़ालिबन जहाँगीर के ज़माने में ईजाद हुआ। इसकी नोक आगे निकली और उठी हुई होती और नोक का थोड़ा सा बारीक सिरा ऊपर मोड़ दिया जाता। ईजाद के बाद इस पर कलाबत्तू का मज़बूत काम बनने लगा। जो बिल्कुल सच्चा और क़ीमती होता। अगर्चि: यह काम दिल्लीवाल और सलीमशाही दोनों वज़अ के जूतों पर बनाया जाता, मगर सलीमशाही जूते का बहुत ज़ियाद: रवाज हुआ और उसने चन्द रोज़ में पुराने दिल्लीवाल को मिटा दिया। और इसकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि अब जबकि अंग्रेज़ी वज़अ-क़तअ ने हमारे सारे लिबास और हमारी तमाम चीज़ों को मिटा दिया, वह आज तक बाक़ी और मक़बूले आम है। और अक्सर हिन्दोस्तानी वज़अ पसन्द करनेवाले वज़अदार

१ हलकापन, मृदुलता २ बदले ३ तपस्वी।

भारी से भारी लिबास पर उसी को पहनते हैं और फ़िलहाल लखनऊ में भी बहुत से लोग इसको पहनते हैं।

मगर लखनऊ में बअहदे शाही एक नई क़तअ का खुर्दनोका[1] जूता ईजाद हुआ जिसको यहाँ के वज़अदारों ने इब्तिदाअन बहुत पसन्द किया था। इसमें नोक बिल्कुल न होती। बल्कि जो नोक दिल्लीवाल और सलीमशाही में ऊपर निकाली जाती, इसमें सीने के बाद उलट के अन्दर कर दी जाती। नोक के पास फ़क़त ज़रा सा उभार रहता। यह जूते लाल नरी के निहायत ही सबुक और साफ़ बनाए जाते और नफ़ासत व सबुकबारी के अगले मज़ाक़ ने उसको यहाँ तक सबुक किया कि बाज़ मोचियों के हाथ का जोड़ा चार-पाँच पैसों भर से ज़ियादः न होता। अगर्चिः अवाम और देहातियों के लिए इसी वज़अ के चमड़ौधे जूते इतने भारी होते कि सेर-सेर, डेढ़-डेढ़ सेर से कम न होता और फिर कड़वा तेल पिला-पिला के और भारी कर लिए जाते।

थोड़े दिनों बाद लखनऊ में इस खुर्दनोके[2] जूते की आराइश व ज़ेबाई की तरफ़ तवज्जुह हुई। पहले जाड़े गर्मियों के खुश्क मौसम के लिए काशानी मखमल के और बरसात के लिए कीमुख्त[3] के बनना शुरू हुए। और इसमें कोई शक नहीं कि बानात का जूता निहायत ही नफ़ीस, सादा, सबुक और खुशनुमा होता। कीमुख्त सब्ज़ ज़ंगारी रंग का होता जो घोड़े या गधे की खाल से बनता और इसमें कटहल के खारों की तरह दाने उभार के पैदा किए जाते और तारीफ़ यह थी कि बरसात में चाहे कितना ही भीगे उसके रंग-रूप में फ़र्क़ न आता। खुद कीमुख्त के बनाने का फ़न अगर्चिः बाहर से आया था, मगर लखनऊ में इसके बहुत से कारखाने जारी हो गए और सब जगह से अच्छा बनने लगा। चन्द रोज़ बाद जूतों की आराइश में और तरक़्क़ी हुई और सलमे सितारे के कारचोबी काम के जूते बनने शुरू हुए। जिनमें मुक़य्यश के फुन्दने लगा के अजीब चमक-दमक और आब व ताब पैदा कर दी जाती। इसके बाद जब झूठा सलमा और कलाबत्तू आया तो झूठे काम के चढ़व्वें जूते बनने लगे जो बहुत सस्ते दामों में अजब बहार दिखाया करते।

लेकिन चढ़व्वें के साथ ही साथ यहाँ एक घेतला जूता मुरव्वज[4] था जो दरअस्ल पुराने कफ़शनुमा जूतों से माखूज़[5] था और आलीमर्तबः अमीरों और अक्सर आला तबक़ के शरीफ़ों में अललअुमूम[6] पहना जाता था। दरअस्ल यही हिन्दोस्तान का पुराना क़ौमी जूता था और उसी की यादगार हैदराबाद की चप्पल और दीगर मक़ामात के देसी जूते हैं। और यही अगले अहले दरबार और वतनी बुज़ुर्गाने सल्फ़ के पाँव में नज़र आता है। घेतले में इतनी तरक़्क़ी हुई कि उसकी नोक बजाय मुख्तसर रहने के, हाथी की सूँड की तरह बहुत बढ़ाके और फैलाके पंजे के ऊपर एक बड़े हल्क़े की

१ खुर्द = छोटा, खुर्द नोका छोटी नोक वाला २ छोटी नोकवाले ३ दानेदार चमड़ा ४ प्रचलित ५ लिया हुआ ६ आमतौर पर।

सूरत में लपेट दी गई। यह जूता अवध के अगले बादशाहों और वुज़रा व उमरा सबके पाँव की ज़ीनत हुआ करता। चढ़व्वें जूते ने ईजाद होने के बाद इसकी जगह लेना शुरू की। यहाँ तक कि ग़दर होते-होते घेतला फ़क़त औरतों के पाँव में रह गया। जिनके नाज़ुक पाँव का वह आम लिबास था और मर्दों की पोशाक से वह बिल्कुल खारिज हो गया। लेकिन कफ़्शें अपनी असली सूरत पर आज तक बाक़ी हैं जो शीआने अली के अतक़िया व सुलहा खुसूसन मुजतहिदीन के साथ मखसूस हैं।

घेतले जूतों, कफ़्शों और उन पर जो कारचोबी काम बनाया जाता है, उसने मुसलमानाने लखनऊ में दो खास पेशे पैदा कर दिए, जिन पर बहुत से लोगों की मआश[1] का दारोमदार हो गया। पहले तो मुसलमान मोची, जिनकी यहाँ एक मुस्तक़िल क़ौम और ब्रादरी है। यह लोग सिवा घेतले जूते बनाने के और किसी क़िस्म का जूता बनाना अपनी शराफ़त के खिलाफ़ जानते हैं। लखनऊ में इन लोगों के बहुत से घर थे और सब सच्चे मुसलमान, सफ़ेदपोश, और बमुक़ाबिल दूसरे अदना तबक़े वालों के मुमताज़ थे। और अगले दिनों फ़ारिग़ुलबाली[2] से बसर करते थे। लेकिन अब क़दीम वज़अ व लिबास के बदलने का यह नतीजा हुआ कि मर्दों के बाद औरतों ने भी घेतला जूता बिल्कुल छोड़ दिया। और बाज़ार जो आला दर्जे के घेतले जूतों से भरा रहता था, उसमें अब अगर किसी दुकान पर इस वज़अ का एक-आध जोड़ा मिल भी जाता है तो बहुत ही ज़लील व हक़ीर, पुराना, माँद और मैला होता है। नतीजा यह हुआ कि मुसलमान मोचियों का गिरोह बिल्कुल तबाह हो गया। उनके बीसियों घर उजड़ गए। और जो बाक़ी हैं, क़ारे फ़ना के बिल्कुल किनारे हैं। लेकिन उन लोगों की वज़अदारी की दाद देना चाहिए कि लुट गए और तबाह हो गए मगर यह न गवारा किया कि घेतले जूतों के अिवज़[3] स्लीपरें या बूट बनाएँ और रफ़्तारे ज़मानः का साथ दे के, पहले से ज़ियादः तरक़्क़ी करें।

दूसरा गिरोह, अहले हर्फ़ः, जो उनकी जूतियों के सदक़े में पैदा हुआ, जूतों की झूठी ओधियाँ बनाने वालों का है। ओधी, कारचोबी काम के उन मुखतलिफ़ क़तअ के टुकड़ों को कहते हैं जो ज़नाने या मर्दाने जतों पर लगाए जाते हैं। ओधियाँ यहाँ बहुत ही नफ़ीस ज़र्क़-बर्क़ आला दर्जे की ऐसी नफ़ीस बनती थीं जैसी कहीं न बन सकती थीं। और उनकी माँग इस क़दर बढ़ी हुई थी कि आबादी का एक मुअ़तद्बिहि[4] हिस्सा उन्ही की तैयारी पर ज़िन्दगी बसर कर रहा था।

बहरहाल, घेतले जतों के फ़ना होने से इन दोनों गिरोहों को नुक़सान पहुँचा। अब घेतले के अिवज़ औरतों में अमूमन स्लीपरों का और खास घरानों या खास मौक़ों के लिए तमाम बीबियों में आला दर्जे के पम्प शूज़ का रवाज है। दौलतमन्द घरानों में घेतला जूता छोड़के टाट बाफ़ी (यानी कारचोबी काम के) बूट पहनना शुरू किए

१ जीविका २ निश्चितता ३ बदले ४ शुमार के क़ाबिल, काफ़ी, पर्याप्त।

थे। उनके चन्द ही रोज़ बाद चमड़े के बूट, बग़ैर खोले पाँव से उतर सकें, पहने जाने लगे। और अब तो आलामामूल पम्प शूज़, और जिन लोगों ने पूरी अंग्रेज़ी वज़अ् इख़्तियार कर ली है, उनकी बेगमें तो हर क़िस्म के लेडीज़ शूज़ पहनने लगी हैं।

मुनासिब मालूम होता है कि इसी सिलसिले में औरतों के आम लिबास को भी बयान करके हम वज़अ् व लिबास की बहस को ख़त्म कर दें।

औरतों का लिबास

हिन्दोस्तान में औरतों का क़दीम लिबास सिर्फ़ एक बे-सी हुई लम्बी चादर थी, जो आधी कमर से लपेट के बाँध ली जाती और आधी कन्धे या सर पर डाल के ओढ़ ली जाती। इसके साथ सीने का एक लिबास भी हिन्दुओं के पुराने ज़माने से चला आता है जो बलन्दि-ए-हिन्द में, अँगया और जुनूबी हिन्द में चोली कहलाता है। यह लिबास श्रीकृष्ण के ज़माने में भी मालूम होता है कि मौजूद था। आख़िरी ज़माने में चोली और अँगया की तफ़रीक़ यूँ हुई कि दक्खिन में एक झोलदार पट्टी से पीछे से आगे की तरफ़ लाके दोनों छातियों के दर्मियान में गिरः देके, या बोताम लगा के कस दी जाती है और दोनों छातियाँ इस झोल में किसी क़दर उभार के साथ दबी और कसी रहती हैं। यही दक्खिन की चोली है। ख़िलाफ़ इसके बलन्दि-ए-हिन्द में अँगया यूँ बनती हैं कि पिस्तानों के मुनासिब नाप के कपड़े की दो कटोरियाँ बनाई जाती हैं जो दो तीन अंगुल तक बाहम सी के जोड़ दी जाती हैं। और उनके बालाई कोनों पर जाली की दो छोटी-छोटी आस्तीनें लगा दी जाती हैं और उन आस्तीनों के नीचे दोनों पहलुओं पर दो-दो बन्द लगा दिए जाते हैं। इस तरह तैयार करके और दोनों हाथों को आस्तीनों में डालके यह अँगिया पहन ली जाती है। आस्तीनें बहुत ही छोटी आधे बाज़ुओं से भी कम रहती हैं और छातियों की कटोरियों में डाल के पीठ पर बन्द खींच के नीचे-ऊपर दो बन्दिशें दे दी जाती हैं। बख़िलाफ़ चोली के, अँगिया छातियों को असल से ज़ियादः उभार के नुमायाँ कर देती है।

बहरहाल यह पुराना हिन्दू लिबास है। और हम नहीं जानते कि मरोरे ज़मानः से इसमें क्या इस्लाहें[1] या तरक़्क़ियाँ हुईं। बादियुन्नज़्र[2] में अँगिया ज़ियादः तरक़्क़ी-याफ़्तः और बाद की इस्लाह मालूम होती है।

इसके सिवा हिन्दू ज़माने में औरतों का और कोई लिबास नहीं मालूम होता। सिये हुए कपड़े और कुर्ता पायजामा मुसलमान अपने साथ लाए। मुसलमानों की औरतें मुल्के अजम से अरज़ के ढीले पायचों के पायजामे पहने हुए यहाँ आईं जो टख़नों पर चुन्नट दे के बाँध दिये जाते थे। चन्द रोज़ बाद वह पायजामे तंग मुहरी के घुटन्ने हो गए। जिनका घेर ऊपर से ढीला-ढाला होता। रफ़्तः रफ़्तः उनमें खिंचाव का शौक़

१ सुधार २ प्रथम दृष्टि।

वढ़ता गया। यहाँ तक कि ऊपर का घेर भी कम हो गया और पायचों की मुहरियाँ तो इस क़दर तंग हो गईं कि पहनने के वाद कस के सी ली जातीं और उतारते वक़्त टांके तोड़ने की ज़रूरत लाहिक़ होती[1]। जैसे पायजामे आज भी बहुत से शहरों में मुरव्वज हैं।

लखनऊ में मुसलमान वेगमों की वज़अ[2] इब्तिदाअन[3] तो यह तंग मुहरी का पायजामा, सीनों पर छोटी और तंग आस्तीनों की खिंची हुई अँगिया और पेट और पीठ छुपाने के लिए एक अजीव व ग़रीव कुर्ती जो आगे की तरफ़ उस हद तक काट दी जाती जहाँ तक अँगिया का तसर्रुफ़ रहता। इसमें न आस्तीनें होतीं और न सीने पर इसका कोई हिस्सा रहता। दो लम्वे वन्दों के ज़रीए से, जो शानों पर से होके आके पेट और पीठ पर मुअल्लक़ होती, इसके ऊपर तीन गज़ का चुना हुआ वारीक दुपट्टा जो सर से ओढ़ा जाता। मगर आखिर में फ़क़त शानों पर पड़ा रहने लगा।

हिन्दोस्तान के मौसम और मिजाजों की नज़ाकत ने महरम, कुर्ती और दोपट्टे सवको रोज़-व-रोज़ सुवुक[4] करना शुरू किया। यहाँ तक कि लाही की अँगिया और करेव के दोपट्टे वज़अदार अमीरज़ादियों के फ़ैशन में दाख़िल हो गए। नसीरुद्दीन हैदर वादशाह के ज़माने से घुटन्ने रुख़सत हो गए और उनकी जगह वड़े-वड़े घेरदार पायचों के कलियोंदार पायजामे जो कमर के पास वहुत ही तंग होते और चोरकली यानी मियानी ख़ूव खिंची रहती, अललअुमूम रवाज पा के औरतों की ख़ास वज़अ क़रार पा गए। यह पायचे आगे की तरफ़ एक नफ़ासत व ख़ुशनुमाई के अन्दाज़ से नाफ़ के नीचे घुरस लिए जाते ताकि चलने फिरने में ज़मीन पर लोट के ख़राव और मैले न हों। ग़दर के क़रीव ज़माने या शाही अहदे आखिर में वारीक कपड़ों और आधी आस्तीनों के तंग शलूकों का रवाज हो गया। जो कुर्ती के एवज़ पहले तो महरम के ऊपर पहने जाने लगे, मगर चन्द रोज़ वाद उन्होंने महरम की ज़रूरत भी उड़ा दी, मगर अव भी वहुत ही वारीक कपड़ों के इस्तेमाल किए जाने की वजह से यह लिवास नंगा मालूम होता। ख़ुसूसन इसलिए कि वाहें विल्कुल नंगी रहतीं। नतीजा यह हुआ कि शलूकों के एवज़ किसी क़दर ढीले कुर्तों का रवाज होने लगा। लेकिन अव यक व यक कुर्तों की जगह अंग्रेज़ी जाकेट और वाड्स पहने जाने लगे।

अव हर सूवे और हर शहर की वज़अों का मुक़ावला और इसके साथ वाहमी इख़्तिलात[5] से होने लगा है। कज़ा व कज़ा वाज़ मुसलमानों या ख़ुद ख़ातूनों को सारी ज़ियादः ख़ुशनुमा नज़र आने लगी जिसकी वजह से लखनऊ की औरतें आधे के क़रीव पुरानी वज़अ छोड़ के सारियाँ वाँधने लगी हैं। और कहा जाता है कि इसमें ज़ियादः सादगी है। मैं अगरचिः इसके ख़िलाफ़ नहीं हूँ कि औरतें अपने हुस्न में जिद्दत और ताज़गी पैदा करने के लिए मुख़्तलिफ़ लिवासों को पहनें और वमिसदाक़[6] 'हर लहज़ः व वज़अेदिगर आँ यार वर आयद' (वह यार हर क्षण नये रूप में निकलता है)।

---

१ आ पड़ती २ रूप ३ आरम्भ ४ हल्की ५ आपसी मेल ६ कहने के अनुसार।

नई-नई वज़ों से अपने शौहरों की दिलदारी करें। लेकिन मैं इसके सख्त खिलाफ़ हूँ कि अपनी क़ौमी वज़अ बिल्कुल छोड़ दी जाए और मुआशरती[1] ख़सायस[2] बिल्कुल फ़ना[3] कर दिए जाएँ। सारी एक ग़ैर मुख़य्यत[4] कपड़ा और तमद्दुने[5] इंसानी के बिल्कुल इब्तिदाई और ग़ैर मुतमद्दिन[6] ज़माने की यादगार है। सादगी बेशक दिलकश चीज़ है। लेकिन बहुत सी क़ैदों और ख़ुसूसीयतों के साथ; वर्ना पूरी सादगी तो उर्यानी[7] में है। ख़ुद लिबास, फ़ितरते इंसानी को अपने तफ़न्नुन का जामा पहनाना है। इसलिए मेरी समझ में नहीं आता कि सारी में क्या ख़ास ख़ूबी व ख़ूबसूरती है।

जिस तरह मर्द की तबीयत का ख़ास्सः है कि अपनी हसीन तरीन मनकूहा से उकता के दूसरी जवान औरतों की तरफ़ मायल होता है, इसी तरह हमारे नौजवान अपनी बीवियों की वज़अ से सेर हो के दूसरी क़ौम की औरतों के लिबास पर फ़रेफ़्तः हो जाते हैं। मगर ख़ूब याद रखिए कि जिस तरह आप उनके लिबास पर फ़रेफ़्तः हैं, उसी तरह दूसरी क़ौमों के मर्द आपकी औरतों के तरक़्क़ीयाफ़्तः लिबास में ज़ियादः दिलकशी और रौनक़ पाते हैं। नफ़सानी ख़्वाहिशात का एक मुग़ालतः[8] है जो फ़िलहाल आपकी नज़र में अपनी औरतों के लिबास को मायूब[9] साबित करके बार-बार मुल्क में यह बहस पैदा करता है कि हिन्दोस्तानी मुसलमानों की बीवियों के लिए मुनासिब क्या है।

हम इस मसले पर अच्छी तरह बहस करते अगर हमें यक़ीन होता कि ख़ालिस औरतों की इख़्लाक़ी व मुआशरती इस्लाह की ग़रज़ से यह मसला पैदा हुआ है। दरअसल यह मसला उसी तक़ाज़ा-ए-तबअ से पैदा हुआ है जिसने नौजवानों को कोट-पतलून पहनाया, हैट से उनके सरों को ज़ीनत दी और सिवा रंगत के उनमें कोई चीज़ अपनी नहीं बाक़ी रखी। लिहाज़ा हमको यक़ीन है कि यह मसलः फ़क़त इस जोश में पैदा हुआ है कि मर्दों की तरह औरतें भी अंग्रेज़ी लिबास इख़्तियार करें। हम ख़ूब जानते हैं कि इस बारे में लिखना-पढ़ना और कहना-सुनना सब बेकार है। इसलिए कि जब तक अंग्रेज़ी साये और स्कर्ट और बांट (अंग्रेज़नों की टोपी) पहनने का फ़ैसला न कर दिया जाएगा हमारे मुसलिहाने मुआशरत और नक़्क़ाल, मूजिदाने फ़ैशन को चैन न आएगा। इसके सिवा चाहे और कैसी ही अच्छी इस्लाह व तर्मीम की जाएगी, उनका इत्मीनान न होगा।

ग़रज़ इस अंजाम को सोच के, इस बारे में अख़बारों और रिसालों के सफ़हे[10] सियाह करने का कोई नतीजा नहीं।

---

१ सभ्यता २ विशेषताएँ ३ समाप्त ४ बे सिला ५ सभ्यता ६ असभ्य ७ नग्नता ८ धोखा ९ बुरा १० पृष्ठ।

औरतों के लिबास का असर मर्दों की वज़अ् व लिबास पर

लिबास के मुतअ़ल्लिक़ लखनऊ में तराश व खराश और कपड़ों की नौअ़िय्यत[1] में रोज़ ब रोज़ तरक़्क़ी होती रही। गर्म मुल्क होने की वजह से हिन्दोस्तान के अदना तबक़े वाले सिवा सतरपोशी[2] के अपना सारा पिंडा बरहनः रखते हैं। यह सिर्फ़ इफ़्लास और अहले मुल्क की कम मायगी के बाअ़िस नहीं, वल्कि मौसम और आब व हवा के तक़ाज़े से है। इसका असर देहली में भी यह था कि बजाय गुन्दः और गराँ कपड़ों के सुबुक और नाज़ुक कपड़े इख्तियार किए गए। यहाँ इससे भी ज़ियादः तरक़्क़ी हुई। और चूँकि अब सिपःगरी व जंगजूई की बहुत ही कम ज़रूरत बाक़ी थी, ऐश परस्ती और औरतों की सुहबत बहुत बढ़ती जाती थी, इसलिए मर्दों पर औरतों का असर पड़ने लगा। जो एतिदाल[3] से बाहर हो गया और जिस क़िस्म की ज़ीनत व आराइश औरतों के लिए मौज़ूँ है, मर्दों ने अपनी वज़अ़ और अपने लिबास में इख्तियार करना शुरू कर दी।

खुसूसन उस ज़माने से जब कि यहाँ के हुक्मरानों ने अपने लिए नव्वाब का लफ़्ज़ छोड़ के, बादशाह का लफ़्ज़ इख्तियार किया, नेशापुरी और सालारजंगी खानदान के लोग, जो मोतदबिह[4] वसीक़े और पेंशनें पाते थे, बिल्कुल खानःनशीन[5] कर दिए गए, तो उनको सिवा औरतों के किसी की सुहबत ही न नसीब होती थी। इसका लाज़िमी नतीजा था कि उनकी वज़अ़ और लिबास ही में ज़नानापन नहीं पैदा हुआ बल्कि उनकी ज़बान भी औरतों की-सी हो गई। और चूँकि वही शहर के रईस और वज़अ़दार तसव्वुर किए जाते, लिहाज़ा अक्सर अवाम ने भी उनकी पैरवी शुरू कर दी। और बखिलाफ़ दीगर मक़ामात के रईसों के, यहाँ लखनऊ में यह आम वज़अ़ हो गई कि सर पर माँग, उस पर मसाले की कामदार टोपी, कानों तक बाल, जिनकी कंघी करने में माथे पर दोनों जानिब पट्टियाँ जमाई जातीं, मुँह में पान, होठों पर लाखा, पिन्डे पर तीन-तीन कमरतोइयों का चुस्त अँगरखा, उसके नीचे गुलबदन का रेशमी खिंचा हुआ घुटन्ना, हाथों में मेंहदी, पाँव में टाटबाफ़ी यानी कामदार बूट, जाड़ों में अँगरखे की जगह नीले, ज़र्द या सब्ज़ व सुर्ख अतलस या गिरन्ट का रुईदार दुगला।

जाड़ों में यहाँ के बाज़ मुअ़ज़्ज़ज़ लोग अ़मूमन शाल की क़बाएँ पहनते। मगर दोशाले और शाली रूमाल को सब पसन्द करते। इसका नतीजा था कि जैसा शाल लखनऊ वालों में अब भी कहीं-कहीं निकल आता है वैसा शाल हिन्दोस्तान क्या मानी शायद खुद कश्मीर में भी अब नसीब न हो सकेगा।

शाल का शौक़ यहाँ तक बढ़ा कि बहुत से शाल बुननेवाले और हज़ारों रफ़ूगर और शाल के धोनेवाले कश्मीरी अपना वतन छोड़-छोड़ के लखनऊ में आ बसे।

---

१ प्रकार २ तन ढकने ३ संतुलन ४ अधिक, पर्याप्त ५ पृथक्, अलग।

जिनका गुज़श्तः पचास साल में अब नाम व निशान भी बाक़ी न रहा। उनमें से कोई बचा भी तो उसने कोई और पेशा इख़्तियार कर लिया। मुहर्रम चूंकि लखनऊ में एक बहुत अहम चीज और अज़ादारी का ज़माना था, इसलिए सोगवारी और नफ़ासत व नज़ाकत का लिहाज़ रख के, यहाँ मुहर्रम के लिए खास लिबास और खास ज़ेवर ईजाद हो गया। सियाह और नीले रंग ग़म व सोगवारी के रंग समझे गए। और सब्ज़ रंग इसलिए कि बनी अब्बास के अहद में उनके सियाह रंग के मुक़ाबिल बनी फ़ातमा का रंग सब्ज़ था। चुनांचिः आज भी ईरान व हिन्द के बाज़ फ़ात्मी अपने सब्ज़ अमामों से सैयदों की उस क़दीम वज़अ का सुबूत दे दिया करते हैं। बहर तक़दीर मुहर्रम में सुर्ख रंग ममनूअ[1] क़रार पाया। सब्ज़, नीला और सियाह रंग और उनके साथ ज़र्द रंग भी इस मौसम के लिए मुनासिब समझे गए। चुनांचिः यहाँ मुहर्रम में तमाम औरतों का लिबास इन्हीं मज़कूरः रंगों से मुनासिब जोड़ लगा के मुन्तखब किया जाता। सारा ज़ेवर बढ़ा दिया जाता। हत्ताकि चूड़ियाँ तक उतार डाली जातीं, जिनके ऐवज़ कलाइयों के लिए रेशम की सियाह सब्ज़ पहुँचियाँ और कानों के लिए सियाह व ज़र्द रेशम के करनफूल ईजाद हुए, जो सोने-चाँदी के ज़ेवर से भी ज़ियादः नफ़ासत के साथ उनकी ज़ेबाई व रानाई[2] बढ़ा दिया करते हैं।

मुहर्रम तो निहायत ही अहम महीना था, यहाँ हर मौसम और हर ज़माने के मुनासिब ऐसी-ऐसी ईजादें औरतों के लिबास में रोज़ होती रहती थीं जिनको सारा हिन्दोस्तान हैरत की निगाहों से देखता था और सच यह है कि आज से पचास साल पेश्तर लखनऊ में औरतों के लिबास की तराश-खराश और रोज़-रोज़ की ताज़ा जिद्दतों को जो देखता, वह फ्रांस और लन्दन के फ़ैशन बदलने को भूल ही जाता और इसी बिना पर अक्सर ज़बानों पर जारी हो गया कि लखनऊ मशरिक़ का पैरिस है। और बहुत से सादगीपसन्द और तरक़्क़ीयाफ़्तः मुआशरत से महरूम रहनेवाले इन तकल्लुफ़ात पर एतिराज़ करते हैं और यह नहीं देखते कि जिन दरबारों और जिन शहरों में तमद्दुन तरक़्क़ी करता है, वहाँ मुआशरत और सुहबत के हर शुअबे[3] में ऐसी ही बातें पैदा हो जाया करती हैं जो एक फ़लसफ़ी की नज़र में लग्व[4] व फ़ुज़ूल हों मगर वज़अदारों की सुहबतें और शाइस्तः लोगों की महफ़िलें उनको निहायत ही अहम और ज़रूरी तसव्वुर करती हैं।

मर्दों पर औरतों की वज़अ ग़ालिब आने का असर अगर कपड़ों की नज़ाकत और तेज़ भड़कीले रंगों तक महदूद रहता तो बहुत ग़नीमत होता। यहाँ तो बहुत से लोगों की यह हालत हो गई कि मियाँ-बीवी के दगलों, दोपट्टों, दुलाइयों, रज़ाइयों और पायजामों में किसी क़िस्म का फ़र्क़ ही नहीं रहा। बजुज़ इसके कि गोटा, पट्ठा और ज़ेवर औरतों के साथ मखसूस था। मर्द शोख रंगों के नाज़ुक रेशमी कपड़े बग़ैर

---

१ निषिद्ध २ सुन्दरता ३ विभाग ४ व्यर्थ।

गोटे-पट्ठे के पहनते मगर यह मज़ाक़ ग़दर के बाद अंग्रेज़ी असर से घटने लगा और अब सिर्फ़ चन्द गिनती के लोगों के सिवा किसी में नहीं बाक़ी रहा।

मर्द खिदमतगारों और उनके मुख्तलिफ़ तबक़ात की तरह यहाँ औरतों के मुख्तलिफ़ तबक़ों की भी खास-खास वज़क्षें क़रार पा गईं। अंग्रेज़ों के खानसामा[1], कोचमैन और साईस मुख्तलिफ़ वर्दियों में रहते हैं। मगर वह वर्दियाँ उनका असली लिबास नहीं क़रार पा सकीं कि अपने घरों में भी वह उनको पहना करते हों। बखिलाफ़ इसके लखनऊ में ज़नाने-मर्दाने नौकरों और अन्दर-बाहर के तमाम मुलाज़िमों के लिए जो खास-खास लिबास मुक़र्रर हो गए थे, वही उनकी असली वज़अ् क़रार पा गई। मसलन जैसे ड्योढ़ी के पहरे वाले सिपाहियों और चोबदारों, हरकारों वग़ैरः की खास और जुदा-जुदा वज़क्षें थीं। वैसे ही ज़नानी महल-सराओं में महलदारों, मुग़लानियों और कहारियों की वज़क्षें इस क़दर मुमताज़ थीं कि दूर से देखते ही इंसान समझ जाएगा कि यह औरत महलदार है, यह खवास है, यह मुग़लानी है और यह कहारी है; और फिर लुत्फ़ यह कि उनके लिबास में वर्दी की शान नहीं पैदा होने पाई।

खिदमतगारों और उन्हीं की तरह पेश-खिदमतों का अलबत्ता वही लिबास था जो खुद मियाँ-बीवियों का लिबास था। जिसकी वजह यह थी कि यह दोनों गिरोह अपने मालिक या मालिकः का उतारन यानी उनके उतरे हुए कपड़े पहना करते हैं।

लिबास के बाद औरतों के लिए सबसे अहम चीज़ ज़ेवर है और औरतें अक्सर अपनी मखसूस दौलत व जायदाद अपने ज़ेवर को समझती हैं, जिसका यह लाज़िमी नतीजा है कि अक्सर सूबजाते हिन्द में भद्दे और भारी ज़ेवर का ज़ियादः रवाज है ताकि वह क़ीमत में ज़ियादः हों। ज़ेवर के भारी होने का शौक़ अवध के देहात में और अ़मूमन हिन्दोस्तान के तमाम शहरों में रोज़ व रोज़ बढ़ता जाता है। मगर लखनऊ में देहली के शरीफ़ खानदानों की मुअ़ज़्ज़िज़ खातूनें आईं, तो इब्तिदाअन[2] वही ज़ेवर जिसका सारे हिन्दोस्तान और खुद देहली में रवाज था, पहने हुई थीं। मगर यहाँ आने के चन्द रोज़ बाद जब यहाँ की तर्मीम शुदः[3] मखसूस मुआ़शरत[4] क़ायम हुई तो ज़ेवर में फ़क़त ज़ीनत व आराइश का खयाल बाक़ी रह गया। और हर क़िस्म का ज़ेवर रोज़ व रोज़ सुबुक, हलका, नाज़ुक और खुशनुमा होता गया। यहाँ तक कि आखिर अह्द में उमरा और दौलतमन्द घरानों की बीवियों की यह वज़अ् हो गई कि सादे बग़ैर मसाले और गोटे-पट्ठे के कपड़े पहनतीं और ज़ेवर की क़िस्म की दो ही एक चीज़ों पर जो बहुत ही नाज़ुक, सुबुक और क़ीमती होतीं किफ़ायत करतीं। और अगर गले और नाक कान में मुतअ़द्दिद[5] चीज़ें पहनतीं भी तो वह बहुत ही हलकी होतीं। इसका नतीजा यह हुआ कि जैसा सुबुक और हलका ज़ेवर लखनऊ में बनने लगा, कहीं न बन सकता था।

---

१ रसोइए २ आरम्भ में ३ सुधारी हुई ४ सभ्यता ५ कई।

नाक में नथ, हिन्दुओं के अहद से निहायत ही ज़रूरी ज़ेवर और सुहाग की निशानी समझी जाती थी, जो ख़याल बाहमी मेल-जोल से मुसलमानों में पैदा हो गया। चुनांचि: देहात वालियाँ आज भी इसके भारी करने में यहाँ तक मुबालग़: करती हैं कि चार-चार पाँच-पाँच तोले की नथें पहन लेती हैं जिनसे अक्सर नथने फट जाते हैं, मगर दोबारा नाक छिदवाई जाती है ताकि नाक नथ से ख़ाली न रहे। लखनऊ की बीवियों ने नथ को उड़ा ही दिया, और उसकी जगह सोने की मुरस्सअ़[1] कील पहनने लगीं। जो बहुत ही नफ़ीस और ख़ूबसूरत ज़ेवर साबित हुई। और नज़ाकतपसन्दी ने इन कीलों को भी इतना मुख़्तसर और सुबुक कर दिया कि सुबुक नाक की कीलें, लखनऊ के सुनारों और साद:कारों के सिवा और कहीं के कारीगर नहीं बना सकते।

अब इधर पच्चीस-तीस साल से बुलाक़ का रवाज बहुत बढ़ गया है। अगरचि: यह कोई पसन्दीद: मज़ाक़ नहीं मगर ज़ेवर के इख़्तिसार और आमपसन्दी ने इसे इस क़दर तरक़्क़ी दी है कि अब बहुत कम औरतें हैं जो बुलाक़ न पहनती हों।

फ़िलहाल मुख़्तलिफ़ शहरों के बाहमी मेल-जोल से ज़ेवर बनाने के फ़न में हर जगह तरक़्क़ी हो रही है और ख़ास-ख़ास ज़ेवरों के लिए ख़ास-ख़ास शहर मशहूर हो गए हैं। मगर ग़दर से पेश्तर जब रेलवे ने बिलादे हिन्द में यह बाहमी मुवानसत[2] व यकरंगी नहीं पैदा की थी, लखनऊ से अच्छे सुनार और कारीगर कहीं न मिल सकते थे। लेकिन अब बहुत से शहर इस फ़न में लखनऊ से बढ़ते जाते हैं। ख़ुसूसन शहरे देहली, मग़्शूश[3] चाँदी के सुबुक ज़ेवर बनाने में हिन्दोस्तान के तमाम शहरों से सबक़त ले गया है। मगर फिर भी अक्सर मक़ामात के नफ़ीसमिज़ाज घराने लखनऊ ही के बने हुए ज़ेवर और यहाँ के चाँदी के ज़ुरूफ़[4] को ज़ियाद: पसन्द करते हैं। यह बहस लखनऊ की सनअ़तों में हमें बार-बार छेड़नी पड़ेगी, इसलिए यहाँ इतने ही पर क़नाअ़त करते हैं।

सोसाइटी के रहन-सहन के तौर तरीक़े

खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की बहस ख़त्म करो; अब हम उन चीज़ों की तरफ़ तवज्जुह करते हैं जिनको सोसाइटी और मेल-जोल से ख़ुसूसियत है और जिन पर मुनासिब और अपने मज़ाक़ का तसर्रुफ़ करके लखनऊ ने उन्हें अपना बना लिया।

दुनिया के हर मुल्क में मेल-जोल और मुआ़शरत का एक तमद्दुन क़ायम हो जाता है, जिसमें ज़ियाद:तर तअ़ल्लुक़ वज़अ़-क़तअ़ अख़लाक़ व आ़दात, निशस्त-बर्ख़ास्त[5] तर्ज़े कलाम[6] तरीक़-ए-मज़ाक़, मकान और फ़र्नीचर वग़ैर: को होता है। और इन बातों

१ जड़ी हुई २ आपसी मेल-जोल ३ मिलावट वाली ४ बर्तन ५ उठना-बैठना ६ बोल-चाल का ढंग।

के बाद उस सामानें ज़िन्दगी को, जिसकी उस सोसाइटी को ज़रूरत हो, फ़ितरी तौर पर यह चीज़ें, हर गिरोह, हर तबक़े और हर शहर व क़र्ये[1] में पैदा हो जाती हैं और आज भी दुनिया में फिर के देखिए तो हर जगह सोसाइटी की खास नौअियत और उसके खुसूसियात नज़र आ जाएँगी। मगर जिन मक़ामों में कोई मुअज़्ज़ज़ दरबार क़ायम हो जाता है और इल्म व अदब को तरक़्क़ी होती है, वहाँ की सोसाइटी एक बड़े हिस्स-ए-मुल्क को अपना तावेअ़[2] बना के उसके हर शहर व क़र्ये की मुआ़शरत[3] का मर्जअ़[4] और उसूलें तहज़ीब का मर्कज़[5] बन जाती है।

हिन्दोस्तान में तहज़ीब व तमद्दुन और आदाबें सोसाइटी का असली मर्कज़ यक़ीनी तौर पर देहली थी। इसलिए कि बहुत सी सदियों तक वह हिन्दोस्तान में हुकूमत का मर्कज़ और इल्म व फ़न का मंशा व मुस्तक़र[6] रह चुकी है। सारा हिन्दोस्तान उसके ज़ेरें नगीं[7] और वहाँ की सुहबत के तर्बियतयाफ़्त: तमाम सूबों के हाकिम और अदब आमोज़ हुआ करते थे। लखनऊ के लिए उसके मुक़ाबिल में न कोई खुसूसियत[8] है और न उसे कोई इम्तियाज़[9] हासिल हो सकता है। मगर इस महल पर लखनऊ का नाम लिया जाने की अगर कोई वजह हो सकती है तो वह यह है कि ज़माने के इत्तिफ़ाक़ से पिछली सदी में वही देहली की मुआ़शरत पूरी-पूरी लखनऊ में मुन्तक़िल हो आई, और वहीं के उमरा व शुरफ़ा, उलमा व शुअ़रा[10] अत्तिक़या[11] व सुलहा[12] सब के सब लखनऊ में चले आए। और जो दरबार देहली में उजड़ता था, लखनऊ में आ के जमा होता। इसलिए वहाँ के तमाम वज़अ़दार लोग एक-एक करके सब यहीं चले आए। और यहाँ इत्मीनान हासिल हो जाने की वजह से अपनी तरक़्क़ीयाफ़्त: मुआ़शरत पर और तरक़्क़ियाँ करने लगे। और फिर लुत्फ़ यह कि देहली वालों की जो मुआ़शरत अवध में आ के क़ायम हुई थी, उसमें सिवाय देहली वालों के कोई ग़ैर शख्स न था। हत्ताकि लखनऊ के पुराने मुअज़्ज़ज़ बाशिन्दों को भी इसमें बिल्कुल जगह नहीं मिली।

लिहाज़: लखनऊ की मुआ़शरत दरअसल देहली की मुआ़शरत और वहीं की तरक़्क़ीयाफ़्त: सोसाइटी का आखिरी नमूना है। इस पिछली सदी में देहली के पुराने तमद्दुन के दो स्कूल हो गए थे। एक वह जो खास देहली में मौजूद था और दूसरा वह जो लखनऊ में मुन्तक़िल हो आया लेकिन इसमें शक नहीं कि ज़वाल के पेश्तर की आख़िरी सदी में उस स्कूल के लिए जो देहली में था, दरबारें मुग़लिय: के कमज़ोर पड़ जाने और दौलतमन्दी के मिट जाने की वजह से मैदानें तरक़्क़ी में आगे क़दम बढ़ाने का वैसा मौक़ा नहीं नसीब था, जैसा लखनऊ वाले देहली के स्कूल को हासिल था। और यही वजह हुई कि उस ज़माने में लखनऊ का तमद्दुन तरक़्क़ी कर रहा था, और देहली के क़दीम तमद्दुन की तरक़्क़ी रुक गई थी।

---

१ गाँव २ अधिकार में ३ सभ्यता ४ शरणस्थल, पनाहगाह ५ केन्द्र ६ स्थान ७ मातहत, अधीन ८ विशेषता ९ विशेषता, बड़ाई १० कवि ११ पहरेजगार १२ सदाचारी जन।

अलग़रज़ यही तरक़्क़ियाँ लखनऊ की सोसाइटी की खुसूसियात हैं। बल्कि ग़ौर करने से यह नज़र आता है कि देहली के तमद्दुन व मुआशरत को क़दीम शहनशाही दरबार की बरकतों से जो तरक़्क़ी हासिल हुई थी, पिछले दौर में तिजारत-पेशा जाहिल क़ौमों के ग़लबे और क़दीम खानदानी शुरफ़ा के दीगर बिलाद में मुन्तशिर होने या खानानशीन हो जाने के बाइस वह भी तशरीफ़ ले गई। और सच यह है कि अवध के शाही दरबार के टूट जाने के बाद से बैरूनी लोगों के मेल-जोल और पुराने मुहज़्ज़ब खानदानों और उनके असर के मिट जाने की वजह से जो तहज़ीब लखनऊ में पैदा हुई थी, वह भी रोज़ ब रोज़ रुखसत होती जाती है।

मगर हमें उस बदतमीज़ी की सोसाइटी और उन मुतमर्रिदाना[1] अख्लाक़ व आदाब से बहस नहीं जो ग़दर के बाद से लखनऊ में पैदा होना शुरू हुए और तरक़्क़ी करते जाते हैं। हमारी ग़रज़ महज़ उस तहज़ीब को बताना है जो लखनऊ के शाही दरबार के आग़ोश में परवरिश पा के यहाँ की सुहबतों में पैदा हो गई थी।

यहाँ की मुआशरत के मुतअल्लिक़ अपने इस मज़मून के सिलसिले में हम मुंदर्ज-ए-ज़ैल[2] उमूर को बयान करना चाहते हैं १ मकान २ फ़र्नीचर ३ वज़अ-क़तअ ४ अख्लाक़ व आदाब ५ निशस्त-बर्खास्त ६ साहब सलामत व मिज़ाज पुर्सी ७ तर्ज़े कलाम ८ तरीक़-ए-मज़ाक़ ९ शादी व ग़मी की महफ़िलें १० मजलिसें ११ मौलूद शरीफ़ की महफ़िलें। फिर इनके बाद हम उन चीज़ों को बयान करेंगे जो लवाज़िमे सुहबत और सामाने मुआशरत हैं।

मकान— देहली और लखनऊ में मकानों के मुतअल्लिक़ पुराना मज़ाक़ यह था कि ज़ाहिरी नुमाइश और शानदारी सिर्फ़ शाही क़स्रों[3] और ऐवानों के लिए मख्सूस थी, जो उमरा व तुज्जार[4] अपने रहने के लिए जो मकान तामीर कराते, वह अन्दर से चाहे कैसी ही वसीअ[5] और नफ़ीस हों मगर उनकी ज़ाहिरी हालत बिल्कुल मामूली मकान की-सी होती। और उसमें मस्लहत यह थी कि जो मकान ज़ाहिर में शानदार होते, अक्सर बादशाहों को पसन्द आ जाते, और बनवानेवालों को उनमें रहना बहुत कम नसीब होता। साथ ही यह भी था कि रिआया में से किसी का तामीरे-मकान में शाहाना उलुल्अज़मी[6] दिखाना, तमर्रुद व सरकशी पर महमूल किया जाता और उसे सलामती के साथ ज़िन्दगी बसर करना दुशवार हो जाता।

इसी वजह से आपको देहली में मक़बरों के सिवा क़दीमुल् अय्याम की एक भी ऐसी इमारत नज़र न आएगी, जो आलीशान हो और रिआया में से किसी आली मर्तब: अमीर या दौलतमन्द ताजिर की बनवाई हुई हो। लखनऊ में भी इब्तिदाअन यही हाल था। नव्वाब आसिफ़ुद्दौल: और नव्वाब सआदत अली खाँ के ज़मानों में दौलतमन्द

---

१ उद्दण्ड २ निम्नलिखित ३ महलों ४ व्यापारी ५ बड़े ६ शान व शौकत।

फ़्रांसीसी ताजिर मसीव मार्टन ने दो एक आलीशान इमारतें तामीर कीं मगर उनकी तामीर में अस्ल मंशा यह था कि फ़रमाँरवाए शहर को पसन्द आएँ और उसके हाथ फ़रोख़्त कर डाली जाएँ। उन्हीं इमारतों में लामाटीनियर कालेज है, जिस पर नव्वाब सआदत अली ख़ाँ की जुज़रसी[1] की वजह से स्टेट का क़ब्ज़ा न हो सका। यह वही कोठी है, जो फ़िलहाल अवाम में "मार्कीन साहब की कोठी" के नाम से मशहूर है।

इसके बाद यहाँ के एक वज़ीर रौशनुद्दौल: ने अपने रहने के लिए एक उम्द: इमारत बनवाई थी, जिसका अंजाम यह हुआ कि सल्तनत के हुक्म से ज़ब्त कर ली गई और इंतिज़ाअ़[2] सल्तनत के वक़्त उसका शुमार मक़बूज़ाते शाही में था। चुनांचि: अंग्रेज़ी दौर में वह सरकारी जायदाद होने के बाअ़िस गवर्नमेंट के क़ब्ज़े में आ गई और रौशनुद्दौल: के वर्स: को नहीं दी गई। मगर आज तक वह रौशनुद्दौल: ही की कोठी कहलाती है। गोकि इसमें साहब डिप्टी कमिश्नर बहादुर और उनके असिस्टेन्ट इजलास करते हैं।

रिआया के आम मकानों की वज़अ़ यहाँ यूरोप के कोठीनुमा मकानों से बिल्कुल जुदागान: होती है। यूरोप में मकान के अन्दर सहन की ज़रूरत नहीं है। इसलिए कि मर्दों की जगह औरतें भी पर्दा न करने की वजह से बाहर खुली फ़ज़ा में हवा खा लेती हैं। लिहाज़ा वहाँ के ख़िलाफ़ यहाँ ज़रूरत है कि मकान के अन्दर सहन हुआ करे ताकि औरतें घर के अन्दर ही खुली फ़ज़ा का लुत्फ़ उठा सकें।

इस ज़रूरत और यहाँ की मुआशरत के दीगर तक़ाज़ों ने यहाँ के मकानों की आम क़तअ़ यह कर दी है कि बीच में सहन, उसके गिर्द इमारत, उस इमारत में एक रुख सदर क़रार दे दिया जाता है और उधर ईंट-चूने के सुतूनों पर कम अज़ कम तीन और कभी इससे ज़ियाद: मेहराबदार दर क़ायम किये जाते। मेहराबें अुमूमन शाहजहाँनी मेहराबों के नमूने की होती हैं यानी इसमें छोटी-छोटी क़ौसों को ख़ुशनुमाई से जोड़ के बड़ी मेहराब बनाई जाती है। सदर में अक्सर ऐसी मेहराबों के दोहरे-तेहरे हाल हुआ करते हैं। पिछला हाल कभी दरवाज़े लगा के एक बड़ा कमरा बना दिया जाता है और अक्सर यह भी होता है कि तक़रीबन कमर तक उसकी कुर्सी बलन्द करके शहनशीन बना दिया जाता है।

इन बड़े हालों के दोनों पहलुओं पर कमरे होते हैं। और हाल की छत इतनी ऊँची होती है कि पहलू में तले-ऊपर दो कमरे हाल की एक छत के अन्दर आ जाते हैं।

अब सहन के दोनों पहलुओं पर उसके तूल के मुनासिब दालान, कमरे और कोठरियाँ बना दी जाती हैं। जिनमें बावर्चीख़ाना, पायख़ाना, मोदीख़ाना, ज़ीना, कुआँ और मामा असीलों के रहने के मक़ामात होते हैं। सदर दालान के मुक़ाबिल जानिब भी अगर ज़रूरत मालूम हुई या इस्तिताअत हुई तो वैसे ही आलीशान दालान

---

१ कृपणता, किफ़ायतशारी २ पतन।

इधर बना दिये जाते हैं, जैसे कि सदर जानिब होते हैं। दरवाज़ा अक्सर पहलू में यानी उन समतों में होता है जिधर बावर्चीख़ाना और शागिर्द पेश: के रहने के कमरे होते हैं। जिसके सामने अन्दर के रुख पर मुक़ाबिल और एक पहलू में क़द्दे आदम से ज़रा बलन्द एक दीवार क़ायम कर दी जाती है, ताकि दरवाज़े के अन्दर का सामना न रहे।

ग़रीबों और औसत दर्जे वालों के मकानों में अक्सर पुख़्त: मेहराबों के ख़िवज़ उसी वज़ा के चोबी सेहदरे क़ायम करके, दालान बना दिये जाते हैं। जिनमें सदर में और कभी उसके मुक़ाबिल जानिब भी दालान दर दालान होते हैं। इस क़िस्म के जो मकान ज़ियाद: मुकम्मल होते हैं, उनमें चारों तरफ़ सेहदरे और दालान होते हैं। और उनके पहलुओं में एक-एक दरवाज़े की कोठरियाँ निकलती हैं, जो मुख़्तलिफ़ ज़रूरियात का काम देती हैं और उन्हीं में से किसी में बाहर का दरवाज़ा होता है।

यह यहाँ के मकानों का एक आम ख़ाका था। मगर इसी मजमूई वज़ा को क़ायम रख के अक्सर मकानों में नीचे और हर जगह ऐसी हिकमत और ख़ुश असलूबी से यकदरे, कमरे और कोठरियाँ निकाली जाती हैं कि तअज्जुब होता है कि इतनी थोड़ी सी जगह में इतनी मकानियत क्योंकर आ गई।

फ़न्ने इमारत की तारीख़ पर नज़र डालिए तो नज़र आएगा कि इब्तिदाअन पस्त इमारतें बनती थीं। फिर बलन्द और मज़बूत मगर सादी इमारतें बनने लगीं। इसके बाद ज़ेब व ज़ीनत के लिए उन पर नक़्शोनिगार बनने लगे। पच्चीकारी की ईजाद हुई और अजीब व ग़रीब तरीक़े से रंग आमेज़ियाँ की जाने लगीं। लेकिन बावजूद इन सब कमालों के अब तक बड़े-बड़े चौड़े आसारों की दीवारें होतीं और उनमें बड़े-बड़े हाल और दीवानख़ाने बना दिये जाते।

सबके बाद का कमाल हिन्दुस्तानी इमारत में यह था कि दर्ज़ी की-सी कतर-ब्योंत करके थोड़ी सी ज़मीन में बहुत ज़ियाद: मकानियत निकाल दी जाए। इमारत का यह कमाल ख़ास देहली से शुरू हुआ। वहीं इसने बड़े आला दर्जे तक तरक़्क़ी कर ली। वहाँ से सब जगह फैला और लखनऊ में इसने सब मक़ामात से ज़ियाद: तरक़्क़ी की।

आजकल बड़े-बड़े उस्ताद इंजीनियर मौजूद हैं, जिन्होंने बड़ी-बड़ी आलीशान इमारतें बनवाई हैं। वह नुमायशी तौर पर इमारत की एक निहायत ही ख़ूबसूरत और शानदार शक्ल क़ायम कर देंगे। लेकिन यह काम फ़क़त पुराने कारीगरों का हिस्सा है कि ज़मीन के एक छोटे टुकड़े पर आलीशान इमारत बना के खड़ी कर दें। और उसमें मुहन्दिसान:[1] कमाल से इतने दालान, कमरे, कोठरियाँ और सहनचियाँ निकाल दें कि देखनेवाले की अक़्ल चक्कर में आ जाए। अन्दरूनी पर्दे की दीवारें इतनी पतली, नाज़ुक, सुबुक और उसके साथ मज़बूत हों कि मालूम हो, ईंट-चूने की दीवारें नहीं, लकड़ी की स्क्रीनें हैं।

---

१ इंजीनियरी।

इमारत में लखनऊ की यही खुसूसीयत थी, जिसको अगले दरबार ने नश्वोनमा[1] दिया। मगर अब अंग्रेज़ी अहृद में यह कमाल नाक़दरी की वजह से मिटता जाता है। पुराने कारीगर फ़ना हो गये और जो दो एक बाक़ी हैं उनकी क़द्र नहीं।

मगर पुराने ज़माने से ही हिन्दू-मुसलमान के मकानों में एक बैयिन फ़र्क़ चला आता है, जो आज तक मौजूद है। हिन्दू अपने मकानों में सहन बहुत छोटा और तंग रखते हैं। और बिला लिहाज़ इसके कि हवा और रौशनी का गुज़र होगा कि नहीं, मकानीयत बढ़ाते चले जाते हैं। बखिलाफ़ इसके मुसलमान खुले हवादार मकान चाहते हैं और मकानीयत उसी दर्जे तक बढ़ाते हैं, जहाँ तक कि हवादारी और रौशन रहने में फ़र्क़ न आये। लेकिन बावजूद मुसलमानों के इस मज़ाक़ के, अगले कारीगरों ने उनके हवादार मकानों में भी इस क़दर मकानीयत निकाली है कि देखनेवाले अश्-अश् कर जाते हैं।

इसके अलावा उस ज़माने के बाकमाल मेअ्मार दरवाज़ों, कमरों की मेहरावों और दालानों और कमरों की दीवारों पर मुख्तलिफ़ रंगों से ऐसे नफ़ीस और आला दर्जे के नक़्श व निगार बनाते थे जैसे अब मुश्किल से बन सकते हैं। और आजकल मुसव्वरी का फ़न बेशक तरक़्क़ी कर गया है, मगर मेअ्मार जैसी नक़्क़ाशी दरोदीवार पर किया करते थे, वह हट गई, और अहृदे जदीद की सादगीपसन्दी की वजह से रोज़ ब रोज़ मिटती जाती है। ताहम अब भी यहाँ इस काम के बाज़ उस्ताद मेअ्मार ऐसे पड़े हैं कि उनकी-सी नक़्क़ाशी शायद किसी शहर के मेअ्मार न कर सकेंगे। नक़्शोनिगार ही नहीं, वह छतों और दीवारों पर आला दर्जे की तस्वीरें भी बना सकते हैं।

मेअ्मारों ही पर मुनहसिर नहीं, उस वक़्त के बढ़इयों को भी यही कमाल हासिल था। वह चाहे आला दर्जे की मेज़ें, कुर्सियाँ और अलमारियाँ या रेलगाड़ियाँ न बना सकें, मगर सुतूनों, मेहरावों और दरवाज़ों की चौखट-बाज़ुओं पर ऐसे नफ़ीस व नाज़ुक नक़्शोनिगार खोद के बना दिया करते थे, जैसे आज मुश्किल से बन सकेंगे।

घरू साज-सज्जा व लिबास

मुआशरत में दूसरी चीज़ मकानों का फ़र्नीचर यानी वह सामान है, जिससे मकान आरास्त: किये जाते हैं। उन दिनों आजकल की-सी मेज-कुर्सियाँ न थीं, बल्कि खास हिन्दुस्तानी और इस्लामी मज़ाक़ का सामान था। मकानों में तख्तों के चौके होते, पलंग होते, या तख्तों के ऊपर बिछाने के लिए नाज़ुक और खुशनुमा पलँगड़ियाँ होतीं। ग़रीबों और मुतवस्सित हैसियत[2] वालों के यहाँ बानों के पलंग होते और उमरा के घरों में अलूलअुमूम[3] निवाड़ के पलंग हुआ करते।

नफ़ीस तबअ लोगों के घरों की यह शान होती कि झाड़ू दी हुई है। दीवारों

---

१ फलना-फूलना २ मध्यम श्रेणी ३ आम तौर पर।

पर सफ़ेदी फिरी है। छत पर उजली सफ़ेद छतगीरी खिची हुई है, जिसके चारों तरफ़ चुन्नट दी हुई झालर लटक रही है। दालान, कमरे या सहन में तख़्तों का चौका है। उस पर दरी है और दरी पर सफ़ेद बुर्राक़ चाँदनी, जो इस नफ़ासत से खींच के बिछाई गई है कि शिकन का कहीं नाम नहीं। चारों कोनों पर संगमरमर के गुम्बदनुमा मीर फ़र्श, फ़र्श के कोनों को दबाए हुए हैं, ताकि हवा में चाँदनी उड़ न पाए या उसमें शिकनें न पड़ें।

ऊपर उजला फ़र्शी पंखा है, इसका भी बाद के ज़माने में रवाज हुआ। वरना दरअस्ल उन मक़ानों की ज़ीनतदस्ती पंखों से होती जो हस्बे मर्तब: और दर्जा व रुतबा, बड़े तकल्लुफ़ व इहतिमाम से बनाये जाते। और उनका हाल हम आइन्द: किसी मौक़े पर बयान करेंगे। उस चौके या फ़र्श पर, ख़्वाह कमरे के अन्दर हो या बाहर एक जानिब जो सदर मक़ाम क़रार पा जाता, निवाड़ का नफ़ीस और ख़ूबसूरत पलंग बिछा होता। पलंग के ऊपर गर्मियों में दरी और जाड़ों में तोशक होती और उसके ऊपर एक उजली चादर बिछी रहती। पलंग की चादर में शाही महलों या उनकी हमरुतब: महलसराओं में एक नीची ज़मीन के क़रीब तक की चुन्नटदार झालर चारों तरफ़ टँकी होती, जो पलंग में एक ख़ास शान पैदा कर देती। चारों पायों पर बिछौने के चारों कोने रेशम की रंगीन डोरियों से एक ख़ुशनुमा बन्दिश से बाँध दिये जाते ताकि लेटने और करवटें बदलने में बिछौना खिचने और अपनी जगह से सरकने और हटने न पाये।

सिरहाने पलंग की अर्ज़ के बराबर मुरब्बअ[1], मुस्ततील[2] क़तअ के पतले-पतले चार निहायत ही नर्म तकिये होते। यह तकिये अक्सर शालबाफ़ (टूल) के होते और उन पर तनज़ेब या पतली नैनसुख के सफ़ेद ग़िलाफ़ चढ़े होते, जिनमें टूल की सुर्ख़ी अपनी झलक दिखाती और वह पराठे की पर्तों की तरह तले-ऊपर रखे जाते। फिर उनके ऊपर उसी कपड़े के दो नन्हे-नन्हे गलतकिये होते ताकि करवट से लेटने में गालों के नीचे रहें। यह गलतकिए हाथ की हथेली से ज़ियाद: बड़े न होते। इसके बाद बिछौने के दोनों जानिब, दोनों पट्टियों के जानिब दो गोल तकेनियाँ रहतीं, जिनको करवट लेते वक़्त रानों के नीचे दबा लेने में आराम मिलता; पाँयती दुलाई, रज़ाई या लिहाफ़, मौसम के मुनासिब लगा दिये जाते; और दिन को जब कोई लेटनेवाला न होता, सारे पलग पर एक पलंगपोश पड़ा रहता।

चौके पर पलंग के आगे सदर-नशीनी के लिए फ़र्श के ऊपर एक क़ालीन मसनद की वज़अ में बिछा दिया जाता। और क़ालीन पर पलंग से मिला हुआ गाव होता, जिस पर रोज़ के इस्तेमाल के लिए तो सफ़ेद ग़िलाफ़ रहता मगर आला तक़रीबों[3] के मौक़ों पर निहायत क़ीमती रेशमी और अक्सर कारचोबी[4] काम के ग़िलाफ़ चढ़ा दिये जाते।

---

१ वर्गाकार २ लम्बे (आयताकार) ३ उत्सवों ४ क़सीदाकारी।

और अगर चौके पर पलंग न होता तो उसके किसी एक रुख पर, जो मुनासिब मालूम हो, मसनद तकिया होता और उस पर निशस्त होती।

दीवारों पर अगरचि: कभी-कभी तस्वीरें होतीं। मगर तस्वीरों का जिस क़दर अब रवाज है, उन दिनों न था। बल्कि तस्वीरों के ख़िवज़ उम्द: क़तआत[1] जिन पर बड़ी नफ़ासत से नक़्श व निगार बनाये जाते, फ़्रेम में जड़ के दीवारों पर लगा दिये जाते। इन क़तआत का उस ज़माने में रुअसा को इस क़दर शौक़ था कि इन्हीं के लिखने और तैयार करने पर ख़ुशनवीसों की ज़िन्दगी बसर होती। और सच यह है कि इसी शौक़ ने उस ज़माने में वह नामवर व बाकमाल ख़ुशनवीस पैदा कर दिये जो सिवा क़तआत लिखने के, किताबत को अपने लिए तंग और अपने मामूली शागिर्दों का काम समझते।

तख़्तों के अलावा सहन, ड्योढ़ी, और दरवाज़े के बाहर की निशस्त के लिए मोढ़े होते जो अगरचि: अब भी कहीं-कहीं नज़र आ जाते हैं, मगर उन दिनों शरीफ़ों का कोई घर इनसे ख़ाली न था। यह सेंठे और बानों से बनाये जाते, और जिन घरों में इनका ज़ियाद: एहतिमाम होता, उनमें उन मोढ़ों पर बकरी की ख़ुश्क खाल, जिसमें बाल मौजूद होते, चढ़ा दी जाती। या मज़बूती के लिए वही बालदार चमड़ा फ़क़त उनके किनारों पर चढ़ा होता। यह मोढ़े उन दिनों बड़ी बकारआमद चीज़ थे।

उमरा के सिवा जो, ज़नाने और मर्दाने दो मकान रखते थे, अवाम और अक्सर मुतवस्सित तबक़े वाले फ़क़त एक ही मकान पर ज़िन्दगी बसर करते। अब अलल्‌उमूम कोशिश की जाती है कि हर मकान में दरवाज़े के पास कोई बैरूनी कमरा ज़रूर मौजूद हो। उन दिनों इसका चन्दाँ[2] ख़याल न था। बल्कि ड्योढ़ी में और उसमें गुंजाइश न होती तो दरवाज़े के बाहर यही मोढ़े डाल के लोग अहबाब से मिलते और इसमें कोई मुज़ायक़ा[3] न समझा जाता।

कमरों और दालानों के अन्दर अक्सर ताक़ों पर ख़ुशनुमाई व ज़ेबाइश के लिए काग़ज़ के गुलदस्ते रख दिये जाते।

दालानों की मेहराबों के लिए उमूमन[4] पर्दे ज़रूरी समझे जाते, मगर आजकल सेंठों, सिर्कियों या टाट के पर्दों का जो रवाज है, उन दिनों न था। बल्कि इस क़िस्म के पर्दे मायूब[5] समझे जाते। और इनकी जगह तूल या जाजम के रुईदार पर्दे तैयार कराये जाते, जो अक्सर बँधे रहते। फ़क़त ज़रूरत के औक़ात में खोल के लटका दिये जाते। ज़नानी महलसराओं के बैरूनी दरवाज़ों पर भी इसी क़िस्म के पर्दे होते, जिसके पास कोई मामा[6] या कहारी अक्सर खड़ी नज़र आती।

वज़अ क़तअ—इसका ज़िक्र लिबास के सिलसिले में आ चुका है। मगर इस

---

१ मिसरा, कविता का अंश २ ज़रा भी, ३ हरज ४ प्रायः ५ बुरे, ऐबदार ६ घर का कामकाज करनेवाली नौकरानी।

मौक़े पर हमें यह बताना है कि उन दिनों शुरफ़ा के मज़ाक़ में अपने घर पर अन्दर या बाहर पूरे कपड़े पहनने की ज़रूरत नहीं समझी जाती। बल्कि सर से पाँव तक बरह्ना[1] रहना और फ़क़त एक तूल की ग़र्क़ी यानी मुख्तसर-सी लुंगी बांधे रहना मायूब न था। यह ग़र्क़ी इस क़तअ की होती कि जाँघिया की तरह बजुज़ सतरपोशी के टाँगें भी नंगी रहतीं। फ़िलहाल हमारे शुरफ़ा अपने घर पर भी अन्दर या बाहर बनियाइन, कुर्ता और पायजामा पहने रहना लाज़िमी समझते हैं। मगर जिस अह्द का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उन दिनों हर घर में बज़ाहिर इतने कपड़े पहने रहना वज़अदारी के ख़िलाफ़ था। उस वक़्त बहुत से ऐसे लोग थे जो फ़क़त घर से निकलते वक़्त अँगरखा, पायजामा पहन लेते। और इस तरीक़े से एक शोब[2] को महीनों तक निबाह ले जाते और कपड़ों की यह हालत होती कि मालूम होता आज ही धो के आये हैं। मामूल था कि धोबी के यहाँ से आया हुआ अँगरखा पहना जाता तो उसके दामन, गोट और आस्तीनें चुनी जातीं। इस चुनावट के निशान महीनों उसी तरह बरक़रार रहते।

हाँ औरतों के लिबास में अलबत्ता कोई फ़र्क़ न आता। वह अपने घर में उतने ही कपड़े पहने रहतीं, जितने कहीं मेहमान जाने में पहनतीं। यह और बात है कि आने-जाने का जोड़ा भारी और क़ीमती होता और घर में पहनने का मामूली। किसी के यहाँ मेहमान जाने की सूरत में मर्द और औरत दोनों उम्दः नफ़ीस और भारी पोशाकें पहन के जाते और लिबास की उम्दगी की वजह से मर्दानी व ज़नानी दोनों सुहबतें बहुत साफ़-सुथरी और बारौनक़ रहतीं।

डाढ़ी, मूँछ व बालों को साज-सिंगार

मर्दों की वज़अ मुसलमानों में क़दीमुल् अय्याम से यह चली आती थी कि सर पर बाल, कतरी हुई मूँछें और डाढ़ी गोल और मुक़त्तअ। मज़हबी लोग उलमा व ज़ुह्हाद डाढ़ी को हस्बे सुन्नते नुबवी बिलकुल छोड़ दिया करते थे। और मूँछों के क़स्र[3] में कभी इतना मुबालग़ः करते कि मुँड़ा डालते। लेकिन उमरा व शुरफ़ा की वज़अ यह थी कि डाढ़ी के लिए नीचे गले के पास और ऊपर गालों पर हदें क़ायम की जातीं और जो बाल ज़ियादः बढ़ जाते उनको काट के डाढ़ी में गोलाई पैदा करके उसकी दराज़ी[4] की एक हद मुक़र्रर कर दी जाती। सबसे पहले शहंशाह अकबर ने डाढ़ी को खैरबाद कही। और इसके बाद जहाँगीर के मुँह पर भी डाढ़ी न थी। अकबर और जहाँगीर के दरबारियों पर इसका चाहे किसी हद तक असर पड़ गया हो मगर उमराए-इस्लाम की वज़अ वही रही जो पहले से चली आती थी।

लखनऊ में दरबार क़ायम होने के बाद डाढ़ी में क़स्र शुरू हुआ और होते-होते अक्सर के मुँहों पर से डाढ़ियाँ ग़ायब हो गईं। ग़ालिबन इसका यह असर हो कि

---

१ नग्न २ धुलाई ३ कम करना (कराना) ४ साइज़, लम्बाई।

हममज़हवी[1] की वजह से यहाँ के दरवार पर ईरानियों का असर पड़ रहा था। और वहाँ शाहाने सफ़विय्यः के अह्द से वादशाहों और अमीरों में डाढ़ी की वह अहम्मीयत नहीं वाक़ी रही थी जो आग़ाज़े इस्लाम से चली आती थी। या तो मुसलमानों में किसी की डाढी मूँड़ देना सज़ा देने या उसकी तज़लील व तहक़ीर करने के लिए था, या ईरान में डाढ़ी न रखना शाने अमारत व हुकूमत में दाखिल हो गया। लखनऊ में खानदाने नेशापुरी के पहले वानी नव्वाव वुर्हानुल्मुल्क के मुँह पर मुक़त्तअ डाढ़ी थी। शुजाउद्दौलः ने डाढ़ी मुँड़ाई और उसके वाद से यहाँ के तमाम उमरा और वादशाह डाढ़ियाँ मुँड़ाते रहे। इसका लाज़िमी नतीजा यह था कि आम शीओं से डाढ़ी का रवाज उठ गया। फिर वाद के ज़माने में वहुत से सुन्नियों ने भी डाढ़ियाँ कतरवाईं या मुँड़वा लीं। डाढ़ी मुँड़ाने का शौक़ पैदा होने के वाद तरह-तरह की वज़अें निकलने लगीं। किसी ने कानों के नीचे छोटी-छोटी क़लमें निकालीं। किसी ने ठेके रखवाए। किसी ने वड़े-वड़े गलमुच्छे रखे। अतराफ़ व जवानिवे लखनऊ के क़साइयों और वाज़ शहर के सुन्नियों ने भी यह वज़अ इख्तियार की कि डाढ़ी रखते मगर राजपूतों और हिन्दी पठानों के मज़ाक़ के मुताबिक़ डाढ़ी के बीच में ठुड्डी के पास माँग निकाल के, दोनों तरफ़ के वालों को कानों की तरफ़ चढ़ाते और इस वज़अ पर डाढ़ी को क़ायम रखने के लिए घण्टों ढाटा वाँधे रहते। फिर उस चढ़ी हुई डाढ़ी के साथ मूँछें भी कंघी करके और वाँध-वाँध के ऊपर के रुख पर चढ़ाई जातीं। चुनांचिः यही वज़अ यहाँ और सारे हिन्दुस्तान में सिपःगरी और शुजाअत[2] की अलामत तसव्वुर की जाती।

सर के मुतअल्लिक़ हज़रत सरवरे कायनात सलअम के मुवारक अह्द में आम मज़ाक़ था कि सर पर वड़े-वड़े वाल होते जो हज के ज़माने में मुँड़ा या कटवा दिए जाते।

मगर अरव ही में ज़हूरे इस्लाम के चन्द रोज़ वाद सर मुँड़ाने का आम रवाज हो गया और यही रवाज ईरान में मालूम होता है। और मुसलमान इब्तिदाअन जव लखनऊ में आए हैं, उस वक़्त उनकी वज़अ अुमूमन यही थी कि मुँड़े हुए सर और उन पर अमामे। हिन्दुओं में मुसलमानों के आने के वक़्त सर पर वाल रखने का रवाज था। यही वज़अ यहाँ के मुसलमानों को पसन्द आई। चुनांचिः आखिरी अह्द में उलमा व अतक़िया और मशायख व सूफ़ियः के सिवा देहली के शरीफ़ व वज़ीअ[3] की आम वज़अ यह थी कि सर पर वाल होते जो कानों तक रहा करते; सिवा वाँकों के, जो नई-नई धजें निकाला करते।

इसी वज़अ में शुरफ़ा-ए-देहली लखनऊ में आए। यहाँ आके नाज़ुक मिज़ाजियाँ वढ़ीं, खुदआराई के शौक़ में तरक़्क़ी हुई और नज़ाकत व सफ़ाई से कंघी करके माथे पर औरतों की तरह पट्टियाँ जमाई जाने लगीं। और ऐसी धज पैदा हो गई कि नौखेज़[4] लड़कों में औरतों की-सी दिलकशी पैदा हो गई। फिर चन्द रोज़ के वाद जव अंग्रेज़ों से

१ सहधर्मी २ वहादुरी ३ नीच ४ नवयुवक।

सीख के औरतों ने माथा खूब खोल के बाल उलटना शुरू किए तो यह वज़अ भी बाज़-बाज़ मर्दों ने इख़्तियार कर ली।

अब ग़दर के बाद जब अंग्रेज़ी वज़अ-कतअ इख़्तियार की जाने लगी तो सारे हिन्दोस्तान के लोगों की तरह यहाँ भी बाल कट के अंग्रेज़ी फ़ैशनों के हो गये और जितने मुँहों पर डाढ़ियाँ बाक़ी रह गई थीं, वह भी तशरीफ़ ले गईं।

औरतों के बालों की वज़अ ग़ालिबन् लखनऊ में वही होगी जो देहली में थी। लेकिन यहाँ शाही में दूल्हनों और बनाव-चुनाव करनेवाली औरतों की चोटियों में बड़े-बड़े रगीन दोपट्टों के मूबाफ़[1] होते जो खूब पेच दे के, मुअख्ख़िरे दिमाग़ से कमर तक बट के लटका दिए जाते। और ज़ियाद: तकल्लुफ़ के वक़्त उनमें चौड़ा लचका लपेट दिया जाता और मालूम होता कि बड़ी भारी मोटी चोटी सर-ता-पा चाँदी की है। माथे पर मेहराबदार पट्टियाँ जमाई जातीं और उनके बीच में चाँद टीके के गिर्द सुनहरी या रुपहली अफ़शाँ और सितारों से नक़्शोनिगार बनाए जाते।

हाथों-पैरों में मेंहदी औरतों के लिए लाज़िमी थी। मगर उनके साथ रंगीन-मिजाज मर्दों ने भी कस्रत से मेंहदी लगाना शुरू कर दी थी। जिसको देखके बाहर वाले लखनऊ के मर्दों में ज़नाना-पन पाते और उनका नाम रखते।

मुआशरत में चौथी चीज़ अख़लाक़ व आदात है। इस बात में लखनऊ वालों ने खुसूसीयत के साथ नमूद हासिल की। यही चीज़ लखनऊ में ख़ास तौर पर क़ाबिल लिहाज़ है और इस पर बहस करना सबसे ज़ियाद: अहम है। दरअस्ल लखनऊ में एशियाई तहज़ीब को इन्तिहाई तरक़्क़ी हो गई और किसी मक़ाम के लोगों में मुआशरत के वह क़वाअिद नहीं मल्हूज़े ख़ातिर[2] रहते, जिनके अहले लखनऊ आदी हो गये हैं।

तहज़ीब दरअस्ल उन अख़्लाक़ी तकल्लुफ़ात का नाम है जिनको कोई क़ौम तक़ाज़ा-ए-शराफ़त समझने लगे। आजकल हम अक्सर लोगों को यह कहते देखते हैं कि मिलने-जुलने में चुनाँ व चुनीं और मुआशरत के तकल्लुफ़ात एक क़िस्म की फ़ुज़ूल रियाकारी[3] हैं। मगर यह उनकी ग़लती है। यूँ तो फ़ुज़ूल रियाकारी लिबास और बूदोबाश का इन्तिज़ाम भी है। और वहीमीयत[4] की ज़िन्दगी को छोड़ के, इंसानीयत की ज़िन्दगी इख़्तियार करने के तमाम उमूर फ़ुज़ूल रियाकारी कहे जा सकते हैं। अस्ल यह है कि जिन लोगों को इंसानी तहज़ीब नहीं आती और मुहज़्ज़ब लोगों से मिलने का सलीक़ा नहीं होता, उन्होंने अपने लिए उज़्रदारी का बहाना इस बात को क़रार दे लिया है कि हमें शहर वालों या मुहज़्ज़ब लोगों की ऐसी दिखावे की बातें नहीं आतीं। मगर ग़ौर करो तो इंसानीयत ही दिखावा है। अच्छा पहनना, अच्छा सामाने मआशत[5] रखना, अच्छा खाना और हर काम में सफ़ाई का ख़याल करना, सब दिखावा है।

---

१ चोटी गूँधने का फ़ीता २ ध्यान में ३ ढोंग, पाखण्ड ४ हैवानीयत, पशुत्व ५ जीवन का सामान।

तह्ज़ीबे अख्लाक़ का पहला उसूल यह है कि मेल-जोल में दूसरे को हर लुत्फ़ और नफ़े की बात में अपने ऊपर फ़ौक़ीयत[१] दी जाए और आपको उसके पीछे और उससे अदना दर्जे पर रखा जाए। किसी की ताज़ीम[२] के लिए उठ खड़ा होना, उसके लिए सदर की जगह का खाली करना और उसे सदर में बिठाना, उसके सामने अदब से दो-ज़ानू बैठना, उसकी बातों को तवज्जुह से सुनना और आजिज़ी के लहजे में जवाब देना, यह सब बातें दूसरे को अपने ऊपर फ़ौक़ीयत देने की हैं। और यह जिस दर्जे तक वज़अदार शुरफ़ाए लखनऊ में मुरव्वज[३] थीं, लखनऊ के अहदे शबाब के ज़माने में और कहीं न थीं।

यह तो वह बातें हैं जिनको मिलने-जुलने के तर्ज़े अमल से तअल्लुक़ है। मगर यही चीज़ें जब अख्लाक़ व आदाब में पूरी तरह पैदा हो जाती हैं तो इंसान में ईसारे-नफ़स[४] का माद्दः पैदा हो जाता है और वह आमादः हो जाता है कि दोस्तों के साथ हर तरह की रिफ़ाक़त और हर बात में उनकी इआनत[५] करे। अहदे शाही में यह चीज़ अहले लखनऊ में पूरे कमाल के साथ पैदा हो गई थी और इसी का नतीजा है कि यहाँ कसरत से ऐसे लोग पैदा हो गए थे जिनका बज़ाहिर को ज़रीअ-ए-मआशत[६] न था, उनके अहबाब ऐसे मख्फ़ी[७] तरीक़ों से उनकी कफ़ालत[८] करते कि किसी को कभी पता भी न चल सकता और ज़राअिअ[९] मआश[१०] मख्फ़ी[११] रहने के बाअिस वह सफ़ेदपोशी और अमीरानः वज़अ के साथ बड़े-बड़े अमीरों की सुहबतों में खड़े होते और किसी के सामने उनकी नाक नीची न होती। लखनऊ ऐसे लोगों से भरा हुआ था कि इन्क़िलाबे सल्तनत हो गया और यक ब यक उनके बसर करने के ज़रीअे मफ़्क़ूद[१२] हो गये। उमरा के ईसार[१३] की इस शान ने यहाँ शराफ़त का यही मेअयार क़रार दे दिया था कि दूसरों के साथ ऐसे अखलाक़ से पेश आएं और उनकी खातिरदाश्त में ऐसी फ़ैयाज़ी दिखाएँ जिसमें एहसान रखने का नाम को भी शाइबः[१४] न हो। दुनिया के तमाम बड़े शहरों में बड़े-बड़े ताजिर और दौलतमन्द मौजूद हैं जो लाखों रुपये मुस्तहक़ों को दे डालते हैं, मगर उनके तर्ज़े अमल से ज़ाहिर होता है कि एक पैसा भी उन्होंने बेग़रज़ी से नहीं सर्फ़ किया। बखिलाफ़ इसके, लखनऊ वालों की दोस्तपरवरी और शरीफ़नवाज़ी ऐसी थी कि दुनिया को देने और लेनेवाले में कोई फ़र्क़ न नज़र आता।

इसमें शक नहीं कि जब बादे इन्क़िलाबे सल्तनत बड़े-बड़े उमरा मुफ़्लिस व नादार हो गए और वह गिरोह, जो मख्फ़ी ज़राए मआश[१५] पर बसर कर रहा था, फ़ाक़े करने लगा, तो उमरा फ़ैयाज़ी व ईसारे नफ़्स[१६] का जौहर दिखाने से मअज़ूर[१७] हो गये। मगर ज़ाहिरी अख्लाक़, जो सिरिश्त[१८] में दाखिल हो गया था, वैसा ही बाक़ी

---

१ बढ़ोतरी २ सम्मान ३ प्रचलित ४ दूसरों के लिए वासनाओं और सुखों का त्याग ५ मदद ६ जीविका-साधन ७ परोक्ष (छिपे) ८ खर्च की ज़िम्मेदारी ९ साधन १० रोज़ी ११ गुप्त १२ समाप्त १३ स्वार्थभाव १४ संदेह १५ जीविका का साधन १६ त्याग १७ मजबूर १८ फ़ितूरत, स्वभाव।

रहा। और उसका नतीजा यह हुआ कि बहुत से लोगों की यह हालत हो गई कि अपनी बातों से आला दर्जे की मेहमाननवाज़ी की उम्मीद दिलाते हैं, मगर उनके मेहमान हूजिए, तो इसके खिलाफ़ ज़ाहिर होता है। इसी को अक्सर लोगों ने रियाकारी व लफ़्फ़ाज़ी समझ रखा है। मगर अफ़सोस यह रियाकारी नहीं बल्कि हौसलामन्दी है। जिसकी इस्तिताअत[1] नहीं, एतिराज़ न कीजिए बल्कि उनकी हालत पर तरस खाइए।

लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि दौलतमन्दी के ज़माने में चूंकि शहर की आबादी का ज़ियादः हिस्सा उमरा व शुरफ़ा और अहबाब की मख़्फ़ी दस्तगीरी पर बसर कर रहा था, इसकी वजह से मेहनत, जफ़ाकशी और वक़्त की क़द्र व क़ीमत जानने का माद्दः अलल्‌उमूम लखनऊ में फ़ना हो गया और जो मशाग़िल उन्होंने इख्तियार किए, वह उन्हें तरक़्क़ी-ए-क़ौमी की शाहराह से रोज़ व रोज़ दूर करते गए। उनके मश्‌ग़ले लह्‌व व लअिब[2] के सिवा कुछ न थे। बेफ़िक्री और फ़िक्रे मआश से सबुकदोश[3] होने ने उन्हें कबूतरबाज़ी, बटेरबाज़ी, मुर्ग़बाज़ी, चौसर, गंजफ़े और शतरंज का शाइक़[4] बनाया। जिन कामों पर वह आमदनी का ज़ियादःतर हिस्सा सर्फ़ करने लगे और "अन्देश-ए-फ़र्दा" के लफ़्ज़ से सारी आबादी ना-आशना थी। कोई अमीर न था जो इन मुज़ख्‌रफ़[5] कामों में से किसी एक का दिलदादः न हो और उसके शौक़ ने और बहुतों को भी इस काम में न लगाया हो।

अय्याशी और तमाशबीनी से दुनिया का कोई शहर खाली नहीं। ख़ुसूसन् यूरोप की-सी बदतमीज़ी और बदसलीक़गी की अय्याशी ख़ुदा न करे कि हमारे शहरों में पैदा हो। लेकिन लखनऊ में शुजाउद्दौलः के ज़माने में रंडियों से तअल्लुक़ात पैदा करने की जो बुन्‌याद पड़ी, तो रोज़ व रोज़ उसे तरक़्क़ी ही होती गई। अमीरों की वज़अ में दाखिल हो गया कि अपना शौक़ पूरा करने या अपनी शान दिखाने के लिए किसी न किसी बाहरी हुस्न-फ़रोश से ज़रूर तअल्लुक़ रखते। हकीम महदी का-सा क़ाबिल व होशियार और मुहज़्ज़ब व शाइस्तः शख्स, जो वज़ीरे आज़म के रुतबे तक पहुँच गया था, उसकी तरक़्क़ी की बुन्‌याद पियारो नाम की एक रंडी से पड़ी। जिसने घड़ौत[6] की रक़म अपने पास से अदा करके उसे एक सूबेः की निज़ामत का उह्‌दः दिलवा दिया था। इन बेअिऽतिदालियों[7] का एक अदना करिश्मः यह था कि लखनऊ में मशहूर था कि "जब तक इंसान को रंडियों की सुहबत न नसीब हो, आदमी नहीं बनता"। आखिर लोगों की अख्लाक़ी हालत बिगड़ गई और हमारे ज़माने तक लखनऊ में बाज़ ऐसी रंडियाँ मौजूद थीं जिनके घर में अलानियः और बेबाकी[8] से चला जाना और उनकी मुहबत में रहना मायूब न समझा जाता। बहर तक़दीर इस चीज़ ने एक बड़ी हद तक इनके आदात व खसाइल बिगाड़ दिए। गोकि इसके नतीजे में उन्हें निशस्त[9] व बर्खास्त[10] का सलीक़ः भी आ गया।

---

१ सामर्थ्य २ खेलकूद व मनोरञ्जन ३ अनुत्तरदायी ४ शौक़ीन ५ बेहूदः ६ ज़मानत (सिक्योरिटी) का धन ७ मर्यादा से बाहर ८ धृष्टता, निर्लज्जता ९ बैठना १० उठना।

रहे औरतों के अख्लाक़ व आदात, इस बारे में हमारा आम दावा है कि जिन लोगों में ज़िनाकारी का शौक़ हो, उनमें औरतें पारसा नहीं हो सकतीं। ताहम इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि लखनऊ में औरतों के अख्लाक़ उतने खराब नहीं हुए जितने कि मर्दों के खराब हुए थे। मिलनसारी और अपनी मिलनेवालियों के साथ अदब व ताज़ीम से मिलना औरतों में भी वैसा ही था जैसा मर्दों में था। किसी ज़माने में चरखा कातना शरीफ़ औरतों का शरीफ़ान: मश्ग़ल: समझा जाता था। अब अगर्चि: सूत की कलों ने इस मश्ग़ले को बेकार और बेनतीजा कर दिया मगर शौक़ीन व इमारत[1] ने इससे पहले ही यह मश्ग़ल: यहाँ की औरतों से छुड़ा दिया था। यहाँ इसके एवज़ औरतों को सीने-पिरोने, काढ़ने, घरों की सफ़ाई का इन्तिज़ाम करने, मामाओं, लौंडियों और पेशख़िदमतों से काम लेने और बनने-संवरने का ज़ियाद: शौक़ था और बीवियों को घर के कामों और शौहर और बच्चों के कपड़ों से इतनी फ़ुर्सत न मिलती थी कि जिन लहव व लअिब[2] के कामों में मर्द मुब्तला हो गए थे, उनमें वह भी मुब्तला हों। दरहक़ीक़त उस दौर में मर्द घरों में बैठे खेला करते थे। घर-बार और दुनिया का सारा कारखाना औरतों के दम से चल रहा था।

मगर अमीरों के महलों में जब सारा कारोबार मामाओं, मुग़लानियों, पेशख़िदमतों और अन्नाओं के हाथ में हो गया तो आली मर्तब: बेगमों के सामने मुजरा करने के लिए डोमनियों के तायफ़े मुलाज़िम हुए। और जिन महलों में मुस्तक़िल तौर पर डोमनियाँ नौकर न थीं, वहाँ शहर की आम डोमनियों की जल्द-जल्द आमदोरफ़्त रहती; और आए दिन वह तबला-सारंगी लिये ड्योढ़ी पर खड़ी ही रहतीं। इसलिए उनके सैकड़ों तायफ़े शहर में मौजूद थे। डोमनियों का मज़ाक़, जहाँ तक मुझे मालूम है, निहायत फ़ुह्श और बेहूद: हुआ करता है। और उनकी सुहबत औरतों पर कोई अच्छा असर नहीं डाल सकती है। चुनांचि: जिस तरह मर्दों की बदअख्लाक़ी की बाअिस रंडियाँ थीं, औरतों का अख्लाक़ बिगाड़ने का बाअिस डोमनियाँ हो गईं।

लेकिन शुरफ़ा के खानदान डोमनियों की सुहबत से बचे हुए थे। और इसलिए उनकी औरतें इस मज़र्रत[3] से बची रहीं जो उम्द: खसाइल[4] व आदात का बेहतरीन नमूना हैं। लखनऊ की औरतों का कैरक्टर है कि वह शौहर पर अपनी हर चीज़ को क़ुर्बान करने को तैयार रहती हैं। अपनी हस्ती को शौहर की हस्ती का एक ज़मीम: तसव्वर करती हैं। और बाज़ और शहरों की औरतों की तरह, जो खानादारी के सलीक़े में लखनऊ वालियों से बदर्जहा बढ़ी होती हैं, यहाँ की औरतों को कभी यह खयाल नहीं पैदा हुआ कि अपना रुपया शौहर से छुपा के कहीं अलग जमा करें। और शौहर की बीमारी में भी अपनी दौलत सर्फ़[5] करने में तअम्मुल[6] करें। लखनऊ की औरतें वहाँ की औरतों की-सी हुनरमन्द नहीं और घर-गृहस्ती के काम में उनके

---

१ अमीरी २ खेल-कूद ३ हानि ४ आदर्शों ५ खर्च ६ हिचकें।

मुक़ाबिल फूहड़ हैं, हद दर्जे की मुस्रिफ़ हैं, चटोरी हैं, मगर शौहर का साथ देने और उस पर अपनी जान क़ुर्बान कर देने में सबसे अव्वल हैं।

उठक-बैठक का सलीक़ः व शिष्टता

मुआशरत[1] में पाँचवी चीज़ निशस्त[2] व बर्ख़ास्त[3] है। हर मुतमद्दिन् क़ौम में निशस्त व बर्ख़ास्त के मुख़्तस[4] क़वानीन[5] और उसूलें मौज़ूअः हुआ करते हैं। और उन्हीं से उस क़ौम की तरक़्क़ी व तहज़ीब का दर्जा क़ायम हुआ करता है। अगर आप ईसाइयों के मुतमद्दिन्[6] शहरों पैरिस, लन्दन और बर्लिन में या मुसलमानों के मुहज़्ज़ब बिलाद क़ुसतुनतुनियः, तिहरान और शीराज़ में जाइए और वहाँ के मुहज़्ज़ब लोगों की सुहबत में शरीक हूजिए तो नज़र आएगा कि उनमें निशस्त व बर्ख़ास्त के क़वानीन किस क़दर सख़्त हैं। मगर हिन्दोस्तान के बड़े ताजिरानः शहरों में आप जाएँ और वहाँ के उमरा व मुअज़्ज़ज़ीन से मिलें तो आपको अख़्लाक़ी क़वानीने तहज़ीब का बिल्कुल पता न चलेगा। मगर उन शहरों में जहाँ कोई ख़ास दरबार क़ायम है या रह चुका है, मसलन् हैदराबाद दकन[7] भोपाल और रामपुर वग़ैर, मुअज़्ज़ज़ वतनी दरबारों के क़ायम होने की बर्कत से अवाम व ख़वास सबमें हिफ़्ज़े मरातिब[8] के क़वाअिद नज़र आयेंगे। बख़िलाफ़ ताजिरानः शहरों के, जहाँ तमीज़दारी, अदब और हिफ़्ज़े मरातिब का नाम व निशान भी न होगा।

देहली में अगले दिनों से अख़्लाक़ी उसूल यक़ीनन् सब जगह से ज़ियादः बढ़े हुए होंगे। इसलिए कि वहाँ का दरबार सबसे बड़ा था और सदियों से क़ायम चला आता था। मगर वहाँ तिजारत-पेशा अक़्वाम[9] के सोसाइटी पर ग़ालिब आने की वजह से अगली सारी तहज़ीब ख़ाक में मिल गई। निशस्त व बर्ख़ास्त की बुन्याद अमारत[10], रियासत और हुकूमत से पड़ती है। हुकूमत व रियासत बताती है कि छोटों को बड़ों से और बड़ों को छोटों से क्योंकर मिलना चाहिए। और बराबर वालों से कैसा बर्ताव करना चाहिए। मगर तिजारत को इन अमारत के चोंचलों और अख़्लाक़ी तकल्लुफ़ों से दुश्मनी है। वह मामलत और ख़ुदग़रज़ी के आग़ोश में पलती है और सेल्फ़ सैक्रीफ़ाइस यानी अपने वक़्त और अपने रुपये, अपने हुनर और अपनी दौलत को बेवजह किसी पर क़ुर्बान कर देने को हिमाक़त और लग़्वियत बताती है। बख़िलाफ़ इसके रियासत का जौहर यह है कि बेग़रज़ी के साथ अपने तरफ़दारों या क़ाबिल लोगों से मुराआत[11] की जाय। और इसका यह लाज़िमी नतीजा है कि जहाँ तिजारत को फ़रोग़ होगा और ताजिरों की मुआशरत, ख़ुशबाश अमीरों और शरीफ़ों की मुआशरत पर आ जायेगी, वहाँ कोई अख़्लाक़ी क़ानून नहीं बाक़ी रह सकता। चुनांचिः इस चीज़

१ सभ्यता २ बैठना ३ उठना ४ विशेष ५ नियम ६ सभ्य ७ दक्षिण ८ पद का लिहाज़ ९ जातियाँ १० लक्षण ११ रिआयत।

ने देहली के अगले अज़ीमुश्शान दरबारों की सारी आन-बान मिटाकर रख दी और वह बात नहीं बाक़ी रही जो उसकी नामवरी की तारीख के शायाँ थी।

देहली की तह्ज़ीब को जब ताजिरों का हुजूम तबाह करने लगा तो उसने अपने क़दीम वतन से भागके लखनऊ के छोटे दरबार में पनाह ली, जो अर्गाचि: छोटा था मगर उसके सवाद में दाखिल होने के बाद किसी को न नज़र आ सकता था कि दुनिया में यहाँ से बड़ा और कोई दरबार भी है। फिर यहाँ आजादी से बैठकर शुरफ़ा-ए-देहली ने अपनी क़वानीनें निशस्त व बर्खास्त को बरतना शुरू किया तो चन्द ही रोज़ में यह हालत हो गई कि अकेला लखनऊ ही सारे हिन्दोस्तान में तह्ज़ीब व शाइस्तगी और आदाबे निशस्त व बर्खास्त का मर्कज़ था। और तमाम शहरों के मुहज़्ज़ब लोग अहले लखनऊ की तक़लीद[1] और पैरवी कर रहे थे। इन मरातिब का क़ायम करना कि किस शख्स का इस्तिक़्बाल दरवाज़े तक आकर करना चाहिए, किसके लिए फ़क़त खड़े हो जाने की ज़रूरत है, किसके लिए नीमखेज़[2] होके और किसके लिए अपनी जगह पर बैठे ही बैठे "आइए तशरीफ़ लाइए" कह देना काफ़ी है, ज़ियाद:तर अपने दिली फ़ैसले और इज्तिहाद पर मौक़ूफ़ है और इस इज्तिहाद का मलक: लखनऊ के शुरफ़ा को हासिल है, और किसी को नहीं।

यहाँ कोई बराबर वाला आयेगा तो खड़े होके ताज़ीम देंगे। उसके लिए बेहतरीन जगह खाली करेंगे और जब तक वह बैठ न जायेगा, खुद न बैठेंगे। उसके सामने अदब और तमीज़दारी से बैठेंगे, चेहरा बश्शाश रखेंगे ताकि उसको किसी क़िस्म का तनग़्गुस[3] न हो और जब वह कोई चीज़ देगा तो अदब से तस्लीम कर लेंगे। इसका पूरा खयाल रखेंगे कि हमारी कोई हरकत उसे नागवार न हो। और उसकी सुहबत में किसी और ज़रूरी काम की तरफ़ तवज्जुह करेंगे तो उससे मअ्ज़िरत ख्वाह[4] होके और माफ़ी माँग के तवज्जुह करेंगे। कहीं उठके जाने की ज़रूरत पेश आयेगी तो उससे इजाज़त लेके जायेंगे। अगर उसके साथ जाने की नौबत आये तो रास्ते में उसके पीछे रहेंगे, और उसे आगे बढ़ायेंगे। उसूले तह्ज़ीब की पाबन्दी में वह भी इसरार करेगा कि "पहले आप तशरीफ़ ले चलें"। लेकिन इधर से बार-बार यही कहा जायेगा कि "जनाब आगे तशरीफ़ ले चलें, मैं किस क़ाबिल हूँ"। और अगर वह किसी तरह न माने और मजबूर ही कर दे तो शुक्रगुज़ारी में आदाब बजा के आगे क़दम बढ़ायेंगे भी तो इस अंदाज़ से कि उसकी तरफ़ पीठ न हो।

अक्सर लोग इन आदाब का मज़हक:[5] उड़ाते हैं और ज़र्बुलमसल[6] हो गया है कि चन्द लखनऊ वाले "पहले आप", "पहले आप" कहते रहे और रेल छूट गई; चुनांचि: दोनों स्टेशन पर पड़े रह गये। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि हर चीज़ का एअ्तिदाल[7] से गुज़र जाना बदनुमा और मुज़िर[8] हो जाता है। मगर क्या इससे यह

१ अनुकरण २ आधा उठकर ३ नागवारी ४ आज्ञा लेकर ५ मज़ाक़ ६ कहावत, लोकोक्ति ७ औसत, समुचित ८ हानिकारक।

साबित नहीं होता कि आदाबे मुआशरत की निग:दाश्त अहले लखनऊ के अख्लाक़ में इस हद को पहुँच गई है कि उनके बरतने में उन्हें ज़रर[1] पहुँच जाने का भी ख़याल नहीं रहता ? जो लोग तहज़ीब व शाइस्तगी से मुअर्रा[2] हैं, जो एतिराज़ चाहे करें। लेकिन एक मुहज्ज़ब और शाइस्त: आदमी इन बातों को बजाय ऐब के, अख्लाक़ी जौहर तस्लीम करेगा।

अब तो सब शहरों की तरह यहाँ भी मेज़-कुर्सियों और अंग्रेज़ी फ़र्नीचर का रवाज हो गया है, मगर पहले निशस्त फ़र्श की थी, जो हस्बे हैसियत व दौलत, क़ीमती व पुर-तकल्लुफ़ हुआ करता। और कोई हमरुतब: ग़ैर या बुज़ुर्ग और वाजिबुत्तअ्ज़ीम[3] शख्स आ जाता तो उसे गाव के आगे बिठा के, सब लोग हाज़िरीने सुहबत की तादाद के मुताबिक़ छोटा या बड़ा हल्क़:[4] बाँध के मुअद्दब और दो-ज़ानू बैठ जाते। जिस किसी से वह बात करता, वह शख्स हाथ जोड़के निहायत ही फ़रोतनी[5] से जवाब देता और उसके सामने ज़ियाद: बातें करना या अपनी आवाज़ को उसकी आवाज़ पर बलन्द करना अख्लाक़ी जुर्म ख़याल करता।

लेकिन अगर सब बराबर वाले हरीफ़ाने सुहबत और याराने हम-मज़ाक़ होते तो निशस्त में बेतकल्लुफ़ी रहती। और बावजूद हमरुतब: और हमसिन होने के, बेतकल्लुफ़ी पर भी सब एक-दूसरे का अदब करते। इसका ख़याल रहता कि किसी की तरफ़ पीठ न हो, और कोई ऐसी बात न होने पाए जिससे किसी की सुबुकी या उसकी इज़्ज़त करने से बेपरवाई साबित हो। नौकर और ख़िदमतगार पास या उस फ़र्श पर न बैठ सकते, जिस पर याराने सुहबत बैठे होते। वह तामीले अहकाम के लिए सामने अदब से खड़े होते या नज़र से ग़ायब किसी क़रीब ही ऐसे मकान पर ठहरते जहाँ तक आवाज़ पहुँच जाए। और उनका हर वक़्त खड़ा रहना या ज़ियाद: बातें करना बदतमीज़ी समझा जाता।

वह खासदान या हुक़्क़ा लाके लगाते तो साहबेख़ाना अपने हाथ से दोस्तों के सामने बढ़ाता और वह उठके और तस्लीम करके लेते। बेतकल्लुफ़ी की सुहबतों में ख़ुर्दों[6] का बेज़रूरत आना नामुनासिब था। अगर कभी ज़रूरत से वह आ जाते तो बाप के आगे दोस्तों को निहायत ही अदब से झुकके आदाब बजा लाते। और उनके आते ही बुज़ुर्गों की सुहबत, बेतकल्लुफ़ से मुहज्ज़ब बन जाती। और जिस तरह वह ख़ुर्द सबकी बुज़ुर्गी का अदब करता, उसी तरह बुज़ुर्ग उसकी ख़ुर्दी का पास करके अपनी बेतकल्लुफ़ियाँ छोड़ देते।

यहाँ की सुहबत में रोज़ के मिलनेवालों से मुसाफ़हे[7] या मुआनिक़े[8] का रवाज न था। मुसाफ़ह:, मुक़्तदायाने क़ौम[9] की दस्तबोसी[10] तक महदूद[11] था। और

---

१ हानि २ दूर या अलग (ख़ाली) ३ सम्मान योग्य ४ घेरा ५ आजिज़ी ६ छोटों ७ मुलाक़ात के समय हाथ मिलाना ८ गले मिलना ९ क़ौम के अगुआ लोग १० हाथ चूमना ११ सीमित।

मुआनिक़: सिर्फ़ उन दोस्तों के लिए था, जो किसी सफ़र से वापस आएँ या मुद्दत के बाद मिलें।

ज़नाने में मर्द जाते तो औरतों का एहतिराम करते। उनके सामने मुमकिन न था कि वह ज़ियाद: बेतकल्लुफ़ी बरतें या उनमें ज़ियाद: निशस्त रखें। मियाँ-बीवी में बेतकल्लुफ़ी लाज़िमी थी। लेकिन घर की बुज़ुर्ग औरतों के सामने वह भी हरगिज़ बेतकल्लुफ़ न होते। देहात के शुरफ़ा में मामूल था कि नई दूल्हन जब तक चार-पाँच बच्चों की माँ न हो जाए, घर की तमाम औरतों के सामने शौहर से पर्दा करती और मजाल न थी कि कोई अज़ीज़ मर्द या औरत उसे शौहर के पास या शौहर को उसके पास जाते देख ले। यह सख्ती शहर के शुरफ़ा में न थी। शहर के ख़ानदानों में मियाँ-बीवी इब्तिदा ही से एक दस्तरख्वान पर खाना खाते। मगर यह मायूब था कि मामाओं और पेशख़िद्मतों के सामने भी बाहम बेतकल्लुफ़ी इख़्तियार करें।

औरतों की बाहम सुहबत, सिवा बड़े-बड़े अमीरों के घरानों के, निस्बतन् बेतकल्लुफ़ रहती। इनमें मेहमान आनेवाली बीवियों के साथ एक मुख़्तदिल[1] दर्जे तक तकल्लुफ़ रहता। मगर उस तकल्लुफ़ के साथ ख़ुलूस[2] और यकजिहती[3] का इज़्हार ज़ियाद: होता।

लुत्फ़े-सुहबत और मिलने-जुलने के तरीक़े

निशस्त-बर्ख़ास्त ही के सिलसिले में हमें यह भी बता देना चाहिए कि यूरोप या अरब व अजम की तरह हिन्दोस्तान में बाहम मिलने-जुलने और लुत्फ़े-सुहबत उठाने के लिए क्लबों और सोसाइटियों का रवाज न था। यूरोप में हर जगह ऐसे क्लब या ऐसी सोसाइटियाँ क़ायम हैं, जिनमें जाके लोग अहबाब और हम-मज़ाक़ लोगों से मिलते और उनकी सुहबत से लुत्फ़ उठाते हैं। अरबों, ईरानियों और तुर्कों में चाय-ख़ाने या क़हव:ख़ाने मेल-जोल और मुबादलए ख़यालात[4] का ज़रीअ: बन गए हैं। जिस तरह आप देखते हैं कि जिस जगह दो-चार अंग्रेज़ होते हैं, वहाँ अपना एक क्लब क़ायम कर लेते हैं और फ़ुर्सत के औक़ात में वहाँ जाके अख़्बार पढ़ते और अहबाब से मिलते हैं। उसी तरह जिस शहर में ईरानियों और अरबों की काफ़ी तादाद होती है, वहाँ उनका कोई चायख़ाना या क़हव:ख़ाना खुल जाता है और उसमें जिस वक़्त देखिए उनका कोई न कोई गिरोह ज़रूर मौजूद होता है जो वहाँ चाय और हुक़्क़े पीते, खाने खाते और साथ बैठके गप्पें उड़ाते हैं।

बख़िलाफ़ इसके, हिन्दोस्तान में कभी इस क़िस्म के क्लबों या चायख़ानों का रवाज न था और न आज तक है। सरकारे अंग्रेज़ी ने जा ब जा[5] शहरों में इस मज़ाक़

---

१ मध्यम २ निष्कपटता, निश्छलता ३ दोस्ती, आपसदारी ४ विचारों का आदान-प्रदान ५ जगह-जगह, जहाँ-तहाँ।

के पैदा करने की कोशिश की, बड़े-बड़े मसारिफ़[1] का बार उठाके चायखाने खुलवाए मगर कामयाबी न हुई। आज से तीस-पैंतीस साल पेश्तर खास लखनऊ के चौक में मीर मुहम्मद हुसैन साहब मर्हूम डाइरेक्टर ज़िराअ़त[2] व तिजारतें रियासतें निज़ाम ने, हैदराबाद जाने से पहले, गवर्नमेण्ट की इआनत से एक चायखाना खुलवाया था, जिसमें फ़र्नीचर भी अच्छा था और सिवा नाजाइज़ चीज़ों के, हर क़िस्म के मशरूबात[3] तैयार रहते थे। मगर किसी ने तवज्जुह न की और आखिर मीर साहब को नुक़सान उठाके उसे बन्द कर देना पड़ा।

यहाँ का पुराना मज़ाक़े सुहबत यह है कि हर महल्ले में या आबादी के हर हल्क़े में कोई खुशहाल या दौलतमन्द शख्स अपने घर में लोगों के आने और उठने-बैठने का सामान करता है। अहबाब की तवाज़ुअ़ व खातिरदाश्त के लिए हुक़्क़े, पान वग़ैर: ज़रूरी चीज़ों को वह अपने ज़ाती सर्फ़ से मुहय्या करता है और उसके हम-मज़ाक़ बिला नाग़: और पाबन्दी से आते हैं। देर तक सुहबत रहती है, बज्लःसन्जियाँ[4] और लतीफ़ागोइयाँ होती हैं। और जब तक सुहबत क़ायम रहे, हुक़्क़े-पान से तवाज़ुअ़[5] होती रहती है। और फिर नदीमानें सुहबत के मज़ाक़ के एतिबार से उनकी महफ़िलों का रंग भी बदलता जाता है। अर्काने महफ़िल अगर अदब और शेअ़रो सुखन का मज़ाक़ रखते हैं, तो शाइरी-नस्सारी[6] और सुखनआफ़रीनी[7] व सुखनसंजी[8] का चर्चा रहता है और अगर उलमा व फ़ुज़ला हैं तो आलिमान: मज़ाक़ के साथ इल्मी मबाहिस[9] छिड़ते हैं। अगर मुहज़्ज़ब उमरा की सुहबत है तो वज़अ़ व लिबास, सामानें ऐश, खाने-पीने और हर चीज़ के बरतने और हर मज़ाक़ के इख्तियार करने में इन्तिहा दर्जे की नफ़ासत व शाइस्तगी और रख-रखाव के साथ तमीज़दारी ज़ाहिर की जाती है। अगर रंगीनमिज़ाज अ़य्याशों की सुहबत है तो उसमें बाज़ारी महलक़ाएँ[10] भी शरीक होती हैं और नाज़आफ़रीनी व नाज़बरदारी की अदाएँ नज़र आती हैं। यह ख़याल रखना चाहिए कि यूरोप की तरह यहाँ मर्दों की किसी सुहबत में शरीफ़ व पाकदामन औरतें नहीं शरीक हो सकतीं। और अहबाब की महफ़िल में जब कोई औरत नज़र आ जाए तो यक़ीन जान लीजिए कि वह अ़िस्मतफ़रोश बाज़ारी रंडी है। इसका नतीजा यह है कि यूरोप की सुहबतों में शरीफ़ व शाइस्तः औरतों के शरीक होने की वजह से बाज़ारी औरतों का दर्जा और मर्तबः सोसाइटी में इस क़दर गिर गया कि किसी शरीफ़ खानदान का दरवाज़ा उनके लिए नहीं खुल सकता और न शुरफ़ा के क्लबों और सोसाइटियों में वह क़दम रख सकती हैं।

---

१ खर्चे २ खेती-बाड़ी ३ पेय ४ विनोद-परिहास, हँसी-मज़ाक़ की बातें ५ आतिथ्य, आवभगत, सत्कार ६ गद्य-काव्य-रचना ७ पद्य-रचना, ८ काव्य-मर्मज्ञता ९ साहित्यिक शास्त्रार्थ या चर्चाएँ १० सुन्दरियाँ।

बखिलाफ़ इसके कि एक हद तक सारे हिन्दोस्तान में और इसी तरह लखनऊ में बाज़ारी औरतों को यह रुतबा हासिल हो गया कि मुहज़्ज़ब व शाइस्तः उमरा की महफ़िलों में उनके पहलू ब पहलू बैठें। और यहाँ इस मज़ाक़ में यहाँ तक तरक़्क़ी हुई कि बाज़ मुअ़ज़्ज़ज़ रंडियों ने भी अपने घरों में ऐसी ही निशस्त व बर्ख़ास्त की सुहबतें क़ायम कर दीं, जिनमें जाते बहुत से मुहज़्ज़ब लोगों को भी शर्म नहीं आती। लखनऊ में चौधराइन, बी हैदर जान और इसी पाये की चन्द और रंडियों के मकान अच्छे खासे शुरफ़ा के क्लब थे। जिनमें साहिबे महफ़िल यानी उन बी साहब की तरफ़ से हुक़्क़े-पान की बख़ूबी ख़ातिर की जाती। अंग्रेज़ी मज़ाक़ ने अब इतनी इस्लाह ज़रूर की है कि अगर्चिः तरह-तरह की नई बदअख़्लाक़ियाँ पैदा हो गई हैं, मगर रंडियों के घरों में अ़लानियः बैठके लुत्फ़े-सुहबत उठाना ज़रा मायूब समझा जाने लगा है।

बहरहाल लखनऊ के क्लब खुशबाश लोगों और अमीरों के घर थे। यहाँ यह तरीक़ा निहायत ही मायूब था और अब तक है कि साझे की हाँडी पकाई जाए या हाज़िरीने महफ़िल चन्दा देके और अपने-अपने दामों का हुक़्क़ा-पान या खाना-पानी एक साथ बैठके खाएँ-पिएँ। यहाँ चन्दे के डिनर क़ौम के लिए मार्जे-शर्म और खिलाफ़े-शराफ़त थे। और यहाँ की दावतें, आम इससे कि ख़ुशी की तक़रीब में हों या महज़ दोस्तानः हमसुहबती के लिए, फ़क़त एक शख्स की तरफ़ से हुआ करतीं। दूसरा अगर इस्तितात्र्अत[1] रखता हो तो अपनी तरफ़ से पूरी दावत दे सकता है। यह नहीं कर सकता कि अपनी दावत में मुझसे खाने के पाँच रुपए लेके मुझे भी शरीक करे।

देहली के ताजिरों में पत्ती पड़ने का रवाज है यानी बहुत से ताजिर मिलके चन्दा जमा करते हैं और उस रक़म से कोई दावत या रक़्सो सरूद[2] की सुहबत किसी घर में या बाहर की तफ़र्रुजगाहों[3] में की जाती है। मगर हमें यक़ीन है कि यह तरीक़ा वहाँ की तिजारत ने ज़वाले[4] सल्तनत के बाद निकाल लिया है। शुरफ़ा-ए-देहली का यह मज़ाक़ हरगिज़ न था। इसलिए कि वहाँ के शुरफ़ा में होता तो लखनऊ में भी होता। जो मुआ़शरत में देहली का शागिर्द और उसी के अगले निखरे मज़ाक़ का नामलेवा है।

साहब-सलामत व खैर-आफ़ियत

साहब-सलामत और मिज़ाजपुर्सी— आदाबे मुआ़शरत में छठी चीज़, जो सब बातों से ज़ियादः अहम और ज़रूरी है, सलाम करना और जिससे मिलें उसका मिज़ाज पूछना है। इस्लाम का क़दीम मज़हबी और सीधा-सादा सलाम, "अस्सलामु अ़लैक्",

---

१ सामर्थ्य २ नाच-गाना ३ (तफ़रीह की जगहों) खुले मनबहलाव के स्थानों ४ पतन।

और बहुत से लोग हों तो "अस्सलामु अलैकुम्" है। इसके साथ ही वह लोग इस सलाम के बाद हर मिलनेवाले से सुबह को मिलें तो "सब्बहकुमुल्लाहु बिल्खैरि" यानी अल्लाह तुम्हारी सुबह खैर से गुजारे, और शाम को मिलें तो "मस्साकुमुल्लाहु बिल्खैरि" कहा करते थे। यही सलाम और मिज़ाजपुर्सी अरबों की थी, जिसे तालीम देते हुए वह मग्रिब उन्दुलुस (स्पेन) तक चले गए। और मश्रिक़ में हिन्दोस्तान तक चले आए। यूरोप में यही तरीक़ए साहब सलामत उनसे अहले फ़िरंग ने सीखा। और मश्रिक़ में ईरानियों, तूरानियों और हिन्दोस्तानियों ने सीखा। चुनांचिः यूरोप में असली सलाम, जो इस्लाम का ख़सीसः[१] था, वह तो ग़ायब हो गया, फ़क़त सलाम के बाद वाली दुआएँ "सब्बहकुमुल्लाहु बिल्खैरि" और "मस्साकुमुल्लाहु बिल्खैरि" बाक़ी रह गईं। और इन्हीं का तर्जुमः "गुड मार्निंग" और "गुड ईवनिंग" आज तक हम साहब-सलामत में अंग्रेजों की ज़बान से सुनते हैं। फ़्रांसीसी में "बूनस्तीन" "बूनशोर" और "बूनस्वार" यानी तुम्हारी सुबह, दिन और शाम अच्छी हों, कहा जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि इन मग्रिबी क़ौमों को साहब-सलामत का यह सबक़ उन्दुलुस के अरब फ़ातहों[२] से मिला है।

हिन्दोस्तान और ईरान में चूंकि बुज़ुर्गों की परस्तिश का रवाज था और यह चीज़ इन मश्रिक़ी लोगों के रग व पै में समाई हुई थी, इसलिए खाली खूली "अस्सलामु अलैकुम्" के अल्फ़ाज, जो अफ़रादे क़ौम[३] की मसावात[४] को क़ायम करते थे, दौलतमन्दों को अपने तबख़्तुर[५] और अपनी निख़वत[६] के जोश में बहुत फीके और अपनी शान से कम नज़र आए। ख़ुसूसन् जब यहाँ शहन्शाही दरबार क़ायम हुआ और ताजदारों ने अपनी ताज़ीम व तक्रीम कराने में सारे इस्लामी आदाब को मिटा दिया, दरबारियों को अपने सामने उसी तरह हाथ बाँध के खड़े होने और अपनी ताज़ीम में झुकने का हुक्म दिया, जिस तरह बन्दे खुदा के सामने हाथ बाँध के खड़े होते और रुकूअ व सुजूद करते हैं, तो शाही दरबारों की पैरवी में आम उमरा और दौलतमन्दों ने भी बजाय "अस्सलामु अलैकुम्" के दीगर ताज़ीमी अल्फ़ाज़ सलाम के लिए मुक़र्रर किए। मसलन् तस्लीम और कोर्निश, आदाब, बन्दगी और खुदपरस्त व खुदा-फ़रामोश, उमराए इस्लाम की बरकत से फ़िलहाल यह सब अल्फ़ाज हमारे सलाम हैं। अरब में "अस्सलामु अलैकुम्" कहने के साथ सिवा खन्दःजबीनी[७] के और कोई हरकत नहीं की जाती थी। फ़क़त सलाम के बाद एक हाथ से मुसाफ़हः किया जाता। मुसाफ़हे में हाथ को हरकत दी जाती और उसी के साथ "सब्बहकुमुल्लाहु बिल्खैरि" या "मस्साकुमुल्लाहु बिल्खैरि" कहा जाता। इस अरबी तर्ज़[८] साहब-सलामत की यादगार में अब यूरोप में सर की एक ख़फ़ीफ़ हरकत के साथ "गुड मार्निंग" वग़ैरः कहते और हाथ को मिलाके झटका देते हैं। बख़िलाफ़ इसके हिन्दोस्तान में अब पूरा सलाम यह है कि मज़कूर-ए-बाला

---

१ विशिष्टता २ विजेताओं ३ क़ौम के लोगों ४ बराबरी ५ इतराना, घमण्ड करना ६ घमण्ड ७ प्रसन्नमुद्रा।

अल्फ़ाज़ कहने के साथ, हाथ को सर या पेशानी पर रखते और रुकूअ़ के दर्जे तक या इससे किसी क़दर कम झुकते हैं। यह झुकना और पेशानी पर हाथ रखना खालिस हिन्दू असर और मुश्रिकानः जज्बात की यादगार है। इन दोनों वातों में इशारा है कि हम आपके क़दमों पर सर झुकाते और आपके सामने ज़मीनबोस होते हैं।

इसी क़दर बादशाहों और अमीरों के दरवारों में सलामों की तादाद[1] मुक़र्रर थी। कहीं सात सलाम किए जाते और कहीं तीन। आ़म बुज़ुर्गों और दोस्तों से मिलने में एक सलाम काफ़ी था। लखनऊ में चूंकि आदाब व हिफ़्ज़े मरातिब[2] का ज़ियादः खयाल था, इसलिए खुर्दों[3] का सलाम बुज़ुर्गों से और नीज़ मुतवस्सित[4] दर्जे वालों का मुअ़ज्ज़ज़ लोगों से यह है कि अल्फ़ाज़े मज़्कूरः में से किसी एक को ज़बान से अदा करने के साथ दाहिने हाथ को सीने या चेहरे के सामने तक उठा के कई बार हरकत दी जाये। खुर्दों के लिए आज तक यह निहायत ही पसन्दीदः और सआ़दतमन्दानः[5] सलाम है। यह हाथ को कई बार हरकत देना मुतअ़द्दिद[6] सलामों का इशारा है। अ़ला हाज़ल्क़ियास अक्सर लोग तस्लीम और कोर्निश को जमअ़[7] के सीग़ों में इस्तेमाल करके कहते हैं "तस्लीमात" और "कोर्निशात" यह भी सलाम के तअ़द्दुद[8] की यादगार है।

अब हम मज़्कूर-ए-बाला मुरव्वजः[9] अल्फ़ाज़े सलाम के मानी और उनकी शान व अस्लियत जुदा-जुदा बयान करते हैं। तस्लीम के मानी अ़रबी में "सलाम करना" है। बज़ाहिर "अस्सलामु अ़लैकुम्" को छोड़ के फ़ेल[10] का सीग़ः इस्तेमाल करना लग़ो-सा मालूम होता है। फिर यहाँ की सोसाइटी में यह समझा गया कि बजाय सलाम करने के "मैं सलाम कर रहा हूँ" कहने में ज़ियादः इज़हारे ताज़ीम होता है। कोर्निश तुर्की ज़बान का लफ़्ज़ है जो तुर्की फ़ातिहाने हिन्द के साथ यहाँ आया। इसके मानी सलाम के लिए झुकने के हैं। लिहाज़ा इसमें भी झुकके ज़मीनबोस और क़दमबोस होने का खयाल मौजूद है। आदाब फ़क़त अदब की जमअ़[11] है। सलाम के महल पर इसके ज़बान पर लाने का मंशा यह है कि अदब व ताज़ीम के जितने तरीक़े हैं, उन सबको बजा लाता हूँ। बन्दगी, यह तमाम अल्फ़ाज़े सलाम से ज़ियादः ज़लील और मुश्रिकानः लफ़्ज़ है। बन्दगी के मानी पूजने और इबादत करने के हैं। सलाम में इसका मंशा इसके सिवा और कोई नहीं हो सकता कि हक़्क़े-अ़बूदीयत[12] बजा लाता हूँ, जो मुसलमानों के अ़काइद की रू से खुदा के सिवा और किसी के मुक़ाबिल नहीं कहा जा सकता।

बखिलाफ़ इन हिन्दोस्तानी सलामों के, अ़रब में जो अल्फ़ाज़ "अस्सलामु

---

१ संख्या २ हैसियत और दर्जे का लिहाज़ ३ छोटों ४ मध्यम ५ आज्ञानुवर्ती ६ कई, अनेक ७ बहुवचन ८ बार-बार ९ प्रचलित १० क्रिया ११ बहुवचन १२ पूजने का हक़।

अ़लैकुम्" कहे जाते हैं, उनका लुग़वी[1] तर्जुमा यह है कि 'तुम पर सलामती", या साफ़ उर्दू में यूँ कहिए "तुम सलामत रहो" यानी सलाम करना दरअस्ल हर मिलनेवाले को सलामती की दुआ देना है। इस्लाम ने इस पर तरक़्क़ी यह की कि सलाम ख़ुदा का पयाम[2] है, जो रसूले ख़ुदा सल्लअ़म ने मुसलमानों को पहुँचाया और क़ियामत तक आपका यह पैग़ाम हर मुसलमान दूसरे मुसलमान को पहुँचाता रहेगा। अस्सलामु अ़लैकुम् में सलाम पर जो अलिफ़्-लाम् लगा हुआ है, उसमें साफ़ इसी जानिब इशारा है कि वह सलाम, जो हज़रते-रिसालत का पयाम है, तुमको पहुँचे।

इस्लाम के अस्ली सलाम के इन मानों और इसके मक़सद को समझ के हर शख़्स अन्दाज़ा कर सकता है कि यह सलाम क़ौमी मसावात का ख़याल दिलाने और तमाम पैरवाने रिसालते मुहम्मदी में क़ौमीयत व उख़ूवत पैदा करने का ज़रीअ़:[3] है। मगर अफ़्सोस, मुसलमानों ने इसको छोड़ दिया। और हमारा फ़ुज़ूल तक्ब्बुर[4] हमें यह ख़याल दिलाता है कि किसी मामूली मुसलमान का हमसे मिलते वक़्त अस्सलामु अ़लैकुम् कहना हमारी तौहीन करना है। इस पर तुर्रः यह हुआ कि शीअ़: व सुन्नी के इख़्तिलाफ़ ने चूँकि यह शान पैदा कर दी है कि दोनों बजाय एक क़ौम बनने और एक जमाअ़त साबित होने के, एक-दूसरे से जुदा और मुमताज़ रहना चाहते हैं। अ़वाम ही नहीं दोनों फ़रीक़ों के मुतअख़्ख़िर[5] उलमा व मुसन्निफ़ीन[6] तक ने अपने फ़रीक़ को दूसरे के आ़दात व अत्वार से नफ़रत करने का सबक़ दिया है। इस रुजहान का नतीजा यह हुआ कि अ़रब व अ़जम तक में तो शीअ़: व सुन्नी दोनों का सलाम "अस्सलामु अ़लैकुम्" था, मगर हिन्दोस्तान ख़ुसूसन् लखनऊ के शीओं ने "अस्सलामु अ़लैकुम्" को सुन्नियों के सर मार के अपने लिए "सलामुन् अ़लैकुम्" के अल्फ़ाज़ मख़सूस कर लिये हैं। वह ज़ियारते अइम्म:[7] पढ़ते हैं, तो वही पुराने अल्फ़ाज़ मसलन् "अस्सलामु अ़लैक या अबा अ़ब्दिल्लाहि अ़लैहिस्सलामु" कहते हैं। मगर मिलने-जुलने वालों से जब साहब सलामत करते हैं, तो कहते हैं, "सलामुन् अ़लैकुम्" इसलिए कि "अस्सलामु अ़लैकुम्" सुन्नियों का सलाम है।

ताहम ज़ियाद:तर यह अगला अ़रबी सलाम सुन्नी और शीअ़: दोनों में मज़हबी लोगों के लिए मख़सूस हो गया है। या मज़हबी शान व वज़अ़ में दाख़िल है। वर्ना उमरा की सोसाइटी में "आदाब व तस्लीम" का आ़म रवाज है। बन्दगी भी अक्सर लोग कहते हैं, मगर यह लफ़्ज़ औरतों में ज़ियाद: मुरव्वज है।

लखनऊ में पुराना, मुहज़्ज़ब और शाइस्त: लोगों का सलाम यह था कि छोटा, बड़े से, या ग़रीब, अ़मीर से निहायत झुकके तस्लीम या आदाब कहे। जवाब में बुज़ुर्ग ख़ुर्दों से कहें— जीते रहो, बड़े हो, साहबे इक़बाल हो। उमरा ग़रीबों के लिए

१ शाब्दिक २ सन्देश ३ साधन ४ तकब्बुर, अहंकार, घमण्ड ५ अन्तिम ६ लेखकों ७ इमामों (इमाम का बहुवचन)।

बग़ैर झुके फ़क़त हाथ उठा दें या हाथ उठाने के साथ उन्हीं अल्फ़ाज तस्लीम व आदाब का इर्शाद: करें या बन्दगी कह दें। मगर बराबर वालों का तरीक़ा जवाब देने में यह था कि राह चलते में साहब-सलामत हो तो उसी तरह झुकके तस्लीम या आदाब कहें। अगर किसी महफ़िल में बैठे हों तो पूरी तरह उठ खड़े हों और झुकके जवाब दें।

सलाम के बाद एक दूसरे से कहे— मिजाजे शरीफ़ या मिज़ाजे अक़्दस या मिज़ाजे आली या मिज़ाजे मुबारक या मिज़ाजे मुअल्ला। और दूसरा हाथ जोड़के कहे— दुआ करता हूँ। तक़रीबन् सारे हिन्दोस्तान में मुहज्जब व शाइस्त: लोगों का तरीक़-ए-सलाम व मिज़ाजपुर्सी यही है। मगर लखनऊ में और चन्द शहरों में, जहाँ हिन्दोस्तानी रियासत क़ायम है और कोई दरबार मौजूद है, इन तरीक़ों के अदा करने में ज़ियाद: एहतिमाम किया जाता है। और इसमें कमी होना बद्तमीज़ी खयाल की जाती है।

मगर अब चन्द रोज से खुसूसन् लखनऊ में अवाम अहले-हर्फ़ और अदना तबक़े वालों में, अगले दरबार और उसके आदाब के मिट जाने से, अस्सलामु अलैकुम् कहने का बहुत रवाज हो गया है। खुदा करता, उमरा भी इसकी पैरवी करते, और अदना व आला का इम्तियाज बिल्कुल उठ जाता।

सभ्यता के साथ बातचीत करने का ढंग

तर्जे़कलाम— आदाबे मुआशरत में सातवीं अहम चीज़ गुफ़्तगू और तर्ज़े कलाम है। दुनिया में हर शख़्स की शाइस्तगी और अदबी क़ाबिलीयत का पहला अंदाजा उसके अल्फ़ाज़ और उसके अंदाज़े-गुफ़्तगू से होता है। दुनिया की हर इक़बालमन्द क़ौम सबसे पहले अपनी ज़बान की इस्लाह[1] करती और उसे तरक़्क़ी देती है।

तहज़ीब व शाइस्तगी का तक़ाज़ा यह है कि ज़बान पर मक्रूह व फ़ुहश अल्फ़ाज़ न आएँ। जो अल्फ़ाज़ व खयालात मुखातब को नागवार गुज़रें, उसके सामने ज़बान से न निकलें। और अगर कभी नागवार मज़ामीन के ज़ाहिर करने की ज़रूरत पेश भी आए तो वह ऐसे अल्फ़ाज़ और ऐसे अुनवान से अदा किए जाएँ कि मुखातब को गराँ न गुज़रें। और अगर गराँ गुज़रें भी तो उनकी गराँनी में एक गून: गवाराई[2] व लुत्फ़ पैदा हो जाए। इस बार-ए-खास में अहले ज़बाने लखनऊ और यहाँ के शाइस्त: लोगों को जो कमाल हासिल है, हिन्दोस्तान के और किसी शहर वालों में न नज़र आएगा। अगर्चि: मौजूद: तालीम व तहज़ीब ने एक हद तक यह खूबी हर जगह अन्दाज़े गुफ़्तगू में पैदा कर दी है, मगर अंग्रेज़ी असर से मुअर्रा करके देखिए तो बिज़्ज़ात यह शाइस्तगी व शुस्तगी ज़बान अहले लखनऊ ही का हिस्सा नज़र आएगी।

बाहर के लोग इसका यहाँ तक लोहा माने हुए हैं कि लखनऊ वालों के सामने

---

१ भाषा की शुद्धि २ सह जाने की झलक।

गुफ़्तगू करते झेंपते, और जिस क़दर शाइस्तगी उनमें है, उसको भी भूल जाते हैं। और इसके बाद जब अपनी सुहबतों में बैठते हैं तो यह कहके अपनी कमज़ोरी का इल्ज़ाम दूर करते हैं कि हम सादगी से साफ़-साफ़ बातें करते हैं और हमें लखनऊ वालों की तरह से चुनाँ-चुनीं नहीं आती। मगर दरअस्ल यह उज़्र बदतर अज़्गुनाह है। मैंने ईरानियों को देखा कि उनके सामने हिन्दोस्तानी बात करना भूल जाते हैं। हिन्दोस्तान में देखा कि फ़्रांसीसियों के सामने अंग्रेज़ों की ज़बान से एक लफ़्ज़ निकलना भी मुश्किल हो जाता है। इसी तरह अरबों की तलाकते लिशानी[1] की यह हालत थी कि उनके सामने ग़ैरमुल्क वालों की ज़बान न खुल सकती थी और अरब लोगों का ख़याल हो गया था कि ज़बान ख़ुदा ने फ़क़त हमको दी है, और सारी दुनिया हमारे मुक़ाबिल गूँगी है। इसी ख़याल का नतीजा था कि मासिवा अरब के तमाम दुनिया के लोगों को वह "अजम" कहते, जिसके लुग़वी[2] मानी गूँगे के हैं। बिऐनिही यही हाल हिन्दोस्तान में हर शहर के लोगों के मुक़ाबिल लखनऊ वालों का है कि वह फ़साहत व बज़्लःसंजी[3] में सबको दबाके सुहबत पर छा जाते हैं और अपने सामने किसी को ज़बान नहीं खोलने देते।

शाइस्तगी-ए-ज़बान में सबसे पहली चीज़ यह है कि मुख़ातब को किन ज़मायर[4] से याद किया जाए। और सब ज़बानों में मुख़ातब के लिए दो ज़मीरें हैं— एक वाहिद[5] की और एक जमअ[6] की। और मुअज़्ज़ज़ मुख़ातब के लिए वाहिद[7] की जगह हर ज़बान में ताज़ीमन जमअ की ज़मीर[8] इस्तेमाल की जाती है। फ़ारसी में वाहिद मुख़ातब की ज़मीर "तू" है और जमअ की "शुमा"। अरबी में वाहिद की 'क' और "उन्त" और जमअ की "कुम्" और "उन्तुम्"। अंग्रेज़ी में "यू" के लफ़्ज़ से मुअज़्ज़ज़ शख़्स को मुख़ातब किया जाता है। बख़िलाफ़ इन सब ज़बानों के उर्दू में मुख़ातब के लिए वाहिद की तो एक ही ज़मीर "तू" है। मगर जमअ की दो ज़मीरें हैं "तुम" और "आप"। और इन तीनों ज़मीरों के लिए मुख़ातब का दर्जा और मर्तबः मुक़र्रर है। एक बहुत अदना शख़्स को "तू" कहेंगे। अदना दर्जे के लोगों में जो ज़रा इम्तियाज़ रखता हो, उसे और अपने ख़ुर्दों[9] को "तुम" कहेंगे। और जो हमरुतबः मुअज़्ज़ज़ व तालीमयाफ़्तः शरीफ़ हो, उसे "आप" कहेंगे। अगर्चिः मुअज़्ज़ज़ दर्जे के लोग कभी बेतकल्लुफ़ी में अपने अक़रान व अम्साल और अपने हमसिनों को भी "तुम" कहने लगते हैं, मगर जिन लोगों से बेतकल्लुफ़ी न हो, उनको तुम कहना, उर्दू में, ख़ुसूसन् अहले लखनऊ में अख़्लाक़ी व अदबी जुर्म है।

उर्दू ज़बान में और ख़ास लखनऊ वालों में मुख़ातब के इतने ही दर्जे नहीं, बल्कि इनसे भी बढ़कर बहुत से अल्फ़ाज़ हैं जिनका शुरफ़ा व मुअज़्ज़ज़ीन के मुक़ाबले

---

१ ज़बान की तेज़ी २ शाब्दिक ३ हास-परिहास ४ सर्वनामों ५ एक वचन ६ बहुवचन ७ एक वचन ८ सर्वनाम ९ छोटों।

में इस्तेमाल करना लाज़िमी है— जनाब, जनाबे वाला, जनाबे आली, हज़रत, हज़रते वाला, हुज़ूर, हुज़ूरे वाला, हुज़ूरे आली, क़िब्ल:, क़िब्ल: व काब:, सरकार और इसी क़िस्म के चन्द और अल्फ़ाज़ उर्दू में मुअ़ज़्ज़ज़ मुख़ातब की निस्बत हस्बे दर्जा इस्तेमाल किए जाते हैं, जो लखनऊ वालों की ज़बान पर चढ़े हुए हैं। और इनका सही इस्तेमाल जिस क़दर अहले-लखनऊ जानते हैं, और किसी दूसरे शहर के लोग नहीं जानते।

हमारा दावा है कि इतने ताज़ीमी अल्फ़ाज़े ख़िताब दुनिया की किसी ज़बान में नहीं हैं। हिन्दोस्तान में वह ज़माना गुज़र गया, जब उर्दू यहाँ की तमाम ज़बानों की अदब-आमोज़[1] थी, और अब अदबे उर्दू की शागिर्दी से आज़ाद होके सब ज़बानें कोसे लिमनिल्मुल्की[2] बजा रही हैं। बंगाली, पंजाबी, गुजराती, सिन्धी, मराठी, कन्नडी, तिलंगी वग़ैर: सबको अपनी अदबी तरक़्क़ी व फ़साहत का दावा है। मगर हम मज़्कूर: हिन्दोस्तानी ज़बानों को और इनके साथ सारी दुनिया की मशहूर ज़बानों फ़ारसी, अ़रबी, अंग्रेज़ी और फ़्रांसीसी को भी चैलेंज देते हैं कि अगर उनको उर्दू से ज़ियाद: अदबी वुसअ़त व फ़साहत का दावा है, तो मुख़ातब के लिए अपनी लुग़तों में इतने लफ़्ज़ निकाल दें जितने कि उर्दू में मौजूद हैं। सच यह है कि बावजूद अपनी कमउमरी और अपने महदूद रक़ब-ए-तसर्रुफ़ के, उर्दू चन्द ही रोज़ में शाइस्तगी, लताफ़त और मुनासिबाते इल्मे मज्लिस के एतिबार से उस दर्ज-ए कमाल को पहुँच गई थी, जो दुनिया की किसी ज़बान को नहीं हासिल है। अस्ल हक़ीक़त यह है कि उर्दू किसी मुल्क, किसी सूबे, किसी गिरोह, किसी मज़हब की ज़बान न थी, बल्कि यह वह ज़बान थी जो शाही दरबार से शुरू होके हिन्दोस्तान के हर शहर में मुहज़्ज़ब व शाइस्त: लोगों, निखरी सुहबत वालों, साहिबाने इल्म व फ़ज़्ल, शाअ़िरों और अदब व अख़लाक़ के शैदाइयों की ज़बानों पर जारी हो गई थी। लिहाज़ा इसकी बुनियाद ही तहज़ीब व शाइस्तगी के हाथों से पड़ी और आख़िर तक निखरे मज़ाक़ वालों और शैदाइयाने सुख़न के साथ मख़्सूस रही। इसी का नतीजा है कि उर्दू बोलनेवालों की मजारिटी (Majority) किसी सूबे में नहीं, मगर याद रखना चाहिए कि हर जगह के मुहज़्ज़ब व शाइस्त: लोग इसके बोलनेवाले हैं। यह पैदा इसीलिए हुई थी कि हिन्दोस्तान में आला दर्जे की और सारी दुनिया से ज़ियाद: शाइस्त: सोसाइटी पैदा कर दे। मगर बदनसीबी से अंग्रेज़ी दौर में जब मग़रिबी मुआ़शरत व अदब ने जगह पकड़ी तो हिन्दोस्तानियों के बाहमी और क़दीमफ़ितरी तअ़स्सुबात[3] ने यह रंग दिखाया कि मुसलमान इस पर नाज़ करने लगे कि (उर्दू) हमारी ज़बान है और हिन्दुओं ने, यह ख़याल करके कि इस ज़बान में हम मुसलमानों का मुक़ाबल: न कर सकेंगे, इसे मुसलमानों ही के सर मारा और दामन झटक के अलग हो गए। इससे उर्दू को नुक़सान पहुँचा और रोज़ व रोज़ ज़ियाद: नुक़सान पहुँचेगा। लेकिन बावजूद इसके इससे इन्कार नहीं किया

---

१ अदब सिखानेवाली २ अपने-अपने मुल्कों का डंका ३ भेद-भाव।

जा सकता कि जो रसीलापन, जो अदबी ख़ूबियाँ इसमें हैं, न नई पैदा की हुई हिन्दी ज़बान में हैं और न हिन्दोस्तान की किसी और ज़बान में।

अंग्रेज़ हों या अरब, अफ़ग़ानी हों या ईरानी, जब उर्दू बोलते हैं तो मुख़ातब के लिए सिवा "तुम" के और कोई लफ़्ज़ उनके ख़याल में नहीं आता। इसलिए कि इस क़िस्म का और कोई लफ़्ज़, जो "तुम" से ज़ियादः शाइस्तः व तरक़्क़ीयाफ़्तः हो, उनकी ज़बान में मौजूद ही नहीं है।

अंग्रेज़ी में ख़िताब के और अल्फ़ाज़ हैं, मसलन् योर आनर, योर एक्सीलेन्सी, योर हाइनेस, योर मैजिस्टी वग़ैरः। मगर वह आला दर्जे के उमरा और बादशाहों के लिए ख़ास हैं, उनके सिवा और किसी की निस्बत नहीं इस्तेमाल किए जा सकते। इस क़िस्म के मुख़तस्सुल् अश्ख़ास अल्फ़ाज़ उर्दू में भी हैं। मसलन् जहाँपनाह, साहिबे आलम, मुर्शिदज़ादः, नव्वाबसाहब, नव्वाबज़ादः, साहबज़ादः। यह ख़ास आला तबक़े के लोगों के ख़िताबात हैं, जिनके साथ जनाब या हुज़ूर के अल्फ़ाज़ मिला के ख़िताब किया जा सकता है। और ग़ालिबन् इस क़िस्म के मख़्सूस ख़िताबात हर ज़बान में मौजूद होंगे। मगर मज़्कूर-ए-बाला[1] ताज़ीमी अल्फ़ाज़, जो उर्दू ज़बान में हर मुअ़ज़्ज़ज़ व शाइस्तः इन्सान की निस्बत इस्तेमाल किए जा सकते हैं, उर्दू के सिवा किसी और ज़बान में नहीं नज़र आते।

मिज़ाजपुर्सी को देखिए, हर ज़बान में इसके लिए मामूली अल्फ़ाज़ हैं, मगर उर्दू में अदब व एहतिराम की निगःदाश्त के लिए मिज़ाजे आली, मिज़ाजे मुबारक, मिज़ाजे अक़दस, मिज़ाजे मुक़द्दम, मिज़ाजे मुअ़ल्ला, वग़ैरः कहके मुअ़ज़्ज़ज़ मुख़ातब की ख़ैरियत दर्याफ़्त करते हैं। यह अल्फ़ाज़ अगर्चिः अब तरक़्क़ी उर्दू के साथ हर जगह और हर शहर में फैल रहे हैं, मगर इनके इस्तेमाल में जो इज्तिहादी मलकः शुरफ़ाए लखनऊ को हासिल है, और किसी जगह के लोगों को नहीं नसीब हो सकता।

शुरफ़ाए लखनऊ में एक ख़ास बात यह है कि "शीन" "क़ाफ़" दुरुस्त रहेगा और तमाम अरबी हरफ़ों को हत्तल्इम्कान[2] उनके अस्ल मख़्रज[3] से अदा करेंगे। फ़ारसी तर्कीबों में इज़ाफ़त नुमायाँ तौर पर अदा की जाएगी। उलमा और ज़ी-इल्म लोगों से बातें करेंगे तो अरबी व फ़ारसी अल्फ़ाज़ को ज़ियादः इस्तेमाल करेंगे। और उनके सही तलफ़्फ़ुज़ से अदा करेंगे। अतिब्बा[4] से गुफ़्तगू होगी तो अरबी के तिब्बी मुस्तलहात[5] को काम में लाएँगे। जाहिल नौकरों और अवाम से बात करेंगे तो अरबी अल्फ़ाज़ से बचेंगे। औरतों से बातचीत होगी तो उनके मुहावरों और मसलों को गुफ़्तगू में सर्फ़ करेंगे।

ख़ुर्द[6] बुज़ुर्ग से, अदना आला से या आमी आलिम से, गुफ़्तगू करेगा तो हर

---

१ उपरोक्त २ यथासंभव ३ उच्चारण-संस्थान ४ वैद्य, हकीम ५ पारिभाषिक शब्दावली ६ छोटा।

लफ़्ज़ और हर फ़िक़रे में अदब व ताज़ीम का ख़याल रखेगा, आवाज़ मुनासिब दर्जे तक पस्त और नीची रहेगी। इसी तरह बुज़ुर्ग ख़ुर्दों से, आला तबक़े वाले अदना लोगों से, उलमा अ़वाम[1] से बात करेंगे तो उनके लहजे, उनके अंदाज़ और उनके अल्फ़ाज़ में शफ़क़त[2] व मुहब्बत के जज़्बात मुज़्मर[3] होंगे।

इन बातों का लिहाज़ रखने और मज़्कूर-ए-बाला[4] अदब व ताज़ीम के अल्फ़ाज़ व ज़मायर[5] इस्तेमाल करने से अहले लखनऊ की ज़बान इस क़दर शाइस्त: और शुस्त: व रुफ़्त: हो गई है कि यहाँ के अ़वाम और जुहला, दूसरे शहरों के अक्सर शुअ़रा[6] व फ़ुसहा से ज़ियाद: अच्छी उर्दू बोलते हैं। और जो शाइस्तगी व तमीज़दारी इनसे ज़ाहिर हो जाती है, किसी और मक़ाम के क़ाबिल व ज़ी-इल्म लोगों से भी नहीं ज़ाहिर हो सकती। मगर अफ़्सोस ! लखनऊ मिटा जाता है, अब यहाँ बैरूनी लोगों का ऐसा तूफ़ाने बेतमीज़ी बपा[7] है, यहाँ के शाइस्त: लोग इस तरह बेकार होके कोने में बैठ गए हैं, और क़ानूनी आज़ादी ने जुहला व अ़वाम को इस दर्जे बेबाक व बद्तमीज़ बना दिया है कि यह तमाम अदबी ख़ूबियाँ ख़ाक में मिल रही हैं और चन्द रोज़ बाद शायद इनका पता भी न हो।

हँसी-मज़ाक़ में सावधानी

आदाबे मुआ़शरत में आठवीं चीज़ तरीक़ए मज़ाक़ है। अ़रब का पुराना मक़ूल: बल्कि मशहूर हदीसे नुबवी है कि "कलाम में ज़राफ़त[8] वैसी ही है, जैसे खाने में नमक"। सच यह है कि शोख़ी व ज़राफ़त के बग़ैर न कलाम में मज़ा पैदा होता है और न सुहबत में जान पड़ती है। मगर इसी ज़राफ़त में अगर बेएहतियाती हो जाए तो वही सख़्त फ़ित्न: व फ़साद का बाअ़िस हो जाती है। ज़राफ़त ने बातों-बातों में अक्सर तलवार चला दी है और पुराने जानी दोस्तों को घड़ी भर में दुश्मन बना दिया है। ग़ौर से देखो तो साफ़ नज़र आ जाएगा कि इन ख़राबियों का बाअ़िस शराफ़त नहीं, बल्कि ज़राफ़त में बेएहतियाती करना या एतिदाल से बाहर हो जाना हुआ करता है।

जो ज़बान जितनी ज़ियाद: तरक़्क़ी करती है, उसी क़दर उसमें मज़ाक़ व ज़राफ़त के पहलू बढ़ते जाते हैं। कलाम में ज़राफ़त जिन तरीक़ों से पैदा हो जाती है, उनका महसूर करना[9] बहुत दुश्वार है। सदहा तरीक़े हैं, जिनसे एक फ़सीहुल्बयान[10] शख़्स इज्तिहादी तौर पर फ़ायदा उठा लिया करता है और उनके मुतअ़ल्लिक़ तफ़्सीली बहस करने के लिए एक मुस्तक़िल किताब चाहिए। हमें इस मौक़े पर फ़क़त इस क़दर कहना है कि ज़ियाद:तर बिनाए ज़राफ़त ऐसे अल्फ़ाज़ हुआ करते हैं, जो मुख़्तलिफ़

---

१ आम लोग (यहाँ अर्थ है ग़ैर आ़लिम) २ स्नेह ३ (छुपा हुआ) मिले ४ उपरोक्त ५ सर्वनामों ६ कवियों ७ मौजूद, छायी ८ हंसी-मज़ाक़ ९ घेरे (सीमा) में बांधना १० उत्तम भाषा बोलनेवाला।

मानी रखते हों और बाज मानों से किसी पर तारीज[1] होती हो। और कभी ज़राफ़त में ऐसे अल्फ़ाज़ से भी काम लिया जाता, बल्कि किसी इन्सान या चीज को किसी ऐसी चीज़ से तश्बीह दी जाती है, जो बावजूद ग़ैरमुतनासिब[2] होने के मुशाबेह[3] हो। फिर उस तश्बीह को ऐसे अ़ुन्वान और पहलू से अदा करना कि उसमें ब एवज़ तश्बीह के इस्तिआ़रे[4] की शान पैदा हो जाए। अ़ला हाज़ल्क़ियास[5] कभी अपने आप को या किसी और को इस क़दर बढ़ाना या इतना घटाना कि अस्ली दर्जे से बहुत दूर हो जाए। इन सब बातों के लिए सलीक़े की ज़रूरत है। अच्छा सलीक़ा रखनेवाला सख्त से सख्त तारीज़ कर जाता है और नागवार से नागवार तश्बीह दे देता है, मगर किसी का दिल मैला नहीं होता या किसी को इज़्हारे नागवारी की गुंजाइश नहीं मिलती। बखिलाफ़ इसके अगर किसी बदसलीक़ा शख्स ने यह काम करना चाहा तो लोग बिगड़ खड़े होते हैं और अ़दावत[6] पर आमाद: हो जाते हैं। इसका जैसा अच्छा सलीक़ा लखनऊ के अ़वामुन्नास[7] को है, और जगह के खास लोगों में भी नहीं नज़र आता।

एक बंगाली आ़लिम डाक्टर अघोरनाथ ने, जो बड़े आ़लिम व फ़ाज़िल, फ़लसफ़े में यकताए रोज़गार, लिट्रेचर के डाक्टर और उर्दू के अच्छे माहिर थे, ज़बान उर्दू पर एतिराज़ करने के अ़ुन्वान से मुझसे कहा, साहब यह कौन सी ज़बान की खूबी है कि एक दफ़ा मैंने एक सुह्बत में कहा, "हम आजकल दूध पिया करते हैं", इस पर सब लोग बेसाख्त: हँस पड़े। मैंने कहा— उर्दू का यही आ़ला दर्जे का हुस्न है। आप चूँकि इस ज़बान में नाक़िस हैं, इसलिए आपको बजाय अपने ऐब के, यह ज़बान का ऐब नज़र आया। हर ज़बान में ज़ूमानिअ़ैन लफ़्ज़ हुआ करते हैं और ज़बानदानों का काम यह है कि तमाम ज़म[8] पहलुओं को बचा के, लफ़्ज़ों को इस्तेमाल किया करें। अंग्रेज़ी में लफ़्ज़ "कनसीव" के मानी "खयाल करने" के भी हैं और "हामल: होने" के भी। एक मशहूर लाट साहब ने पार्लीमेन्ट में तीन बार कहा, "आई कनसीव" और आगे सोचने लगे। किसी ने पुकार के कह दिया, जनाब ने तीन बार "आई कनसीव" कहा और हुआ कुछ भी नहीं। यानी तीन बार हमल रहा और पैदा कुछ न हुआ, इस पर सबने क़ह्क़हा लगाया और वह लाट साहब झेंप गए। इसी तरह उर्दू में हज़ारहा अल्फ़ाज़ हैं, जिनमें मुख्तलिफ़ पहलू निकलते हैं। बोलनेवाला इनके इस्तेमाल का सही सलीक़ा न रखता होगा तो बात-बात पर हँसा जाएगा।

यही मज्कूर ए बाला[9] "दूध पीने" का जुम्ल: है। हिन्दोस्तान में "दूध पीना" शीर-ख्वार बच्चों का काम है और किसी आ़क़िल बालिग़ के लिए कहना कि "यह दूध पीते हैं" ऐब होने के अ़लाव: इन मानों में मुस्तामल[10] होता है कि अभी नासमझ

---

१ दूसरे पर बात ढालना, कटाक्ष, व्यंग्य २ अनुचित ३ खपती, मिलती-जुलती ४ रूपक ५ इसी प्रकार ६ दुश्मनी ७ जनसाधारण ८ बुरे ९ उपरोक्त १० प्रयोग।

और नादान हैं। इस पहलू के बचाने के ख़याल से अहले लखनऊ यह कभी न कहेंगे कि मैं दूध पीता हूँ। बल्कि इस मज़मून को यह ऐब का पहलू बचा के मुख़्तलिफ़ अ़नवानों से अदा करेंगे "कि मैं आजकल दूध को इस्तेमाल करता हूँ", "आजकल मेरी ग़िज़ा दूध है।" "दूध-चावल खाता हूँ।" लखनऊ वालों की इन एहतियातों को देख के आगरे के एक क़ाबिल व ज़बां-दाँ को धोखा हुआ कि लखनऊ की ज़बान "दूध खाना" है, "दूध पीना" नहीं। लखनऊ के एक साहब से उनसे इस बारे में इख़्तिलाफ़ हुआ। और हकम[1] के तौर पर मुझसे दर्याफ़्त किया गया। मैंने कहा, दूध पीने की चीज़ है, कोई इसकी निस्बत खाने का लफ़्ज़ कैसे इस्तेमाल कर सकता है। हाँ! यह ज़रूर है कि ज़म का पहलू बचाने के लिए अहले लखनऊ दूध पीने का लफ़्ज़ अपनी निस्बत इस्तेमाल न करेंगे।

एक इसी मुहावरे पर मुनहसिर नहीं, उर्दू में सदहा अल्फ़ाज़ में मुख़्तलिफ़ मुहावरों और मानों की वजह से ज़म के पहलू पैदा हो गए हैं, और हर अहले-ज़बान का काम है कि उनसे बचे। या कोई शख़्स किसी की निस्बत मज़ाक़न् इस्तेमाल कर जाए तो उसका फ़र्ज़ है कि समझे और जवाब दे, वर्नः समझ लिया जायेगा कि वह ज़बान से नावाक़िफ़ है।

अहले लखनऊ में शोख़ी व ज़राफ़त बहुत है। वह अपने कलाम में सदहा अ़नवानों से ज़राफ़त पैदा कर दिया करते हैं। और जो इस फ़न में जितना ज़ियादः कमाल रखता है, उतना ही ज़ियादः अहले-सुख़न की महफ़िलों में चमकता और मुमताज़ साबित होता है। मैं यह नहीं कहता कि और मक़ामात के लोगों में यह मलका नहीं है, और कस्रत[2] से है। और अब उर्दू ज़बान सारे हिन्दोस्तान में इस तरह तरक़्क़ी कर रही है कि हर जगह आला दर्जे के ज़रीफ़ पैदा होते जाते हैं और सुख़नदानी व सुख़नफ़हमी का शऊर बढ़ रहा है। मगर लखनऊ वालों में यह मलका तबीअ़ते-सानविय्य:[3] बन के उनकी फ़ित्रत व जिबिल्लत[4] बन गया है। और लताफ़ते कलाम के साथ बज्ल:संजी व ज़राफ़त में जैसा बेतकल्लुफ़ और सुथरा मज़ाक़ उनका नज़र आएगा, औरों का नहीं हो सकता।

ख़ुशी व ग़म की महफ़िलें

आदाबे मुआ़शरत में नवीं चीज़ शादी और ग़मी की महफ़िलें हैं। मुसलमानों की अगली दौलतमन्दी व हुकूमत ने उनकी औरतों की अरमानें व मुक़ाबिल अक्सर मक़ामात के, यहाँ बहुत बढ़ा दी हैं। विलादत[5] से लेकर शादी तक लड़के की हर ख़ुशी व कामियाबी एक तक़रीब[6] बन जाती है। पैदाइश के बाद ही छठी, चिल्ला और दर्मियान के नहान, अक़ीक़:, खीर चटाई, दूध बढ़ाई, बिस्मिल्लाह, ख़त्नः और सबसे बढ़के

---

१ पञ्च २ अधिकता ३ स्वाभाविक रुचि ४ जन्मजात स्वभाव ५ जन्म ६ उत्सव।

अक़्दे निकाह, यह सब बजाय ख़ुद शादी की तक़्रीबें हैं। अक्सर बच्चों की सालगिर: हुआ करती है। मज़्कूर: तक़्रीबों के अलाव: ग़ुस्ले सिहत या किसी ख़ास मक़्सद के पूरा होने पर भी ख़ुशी की ग़ैरमामूली तक़्रीबें हो जाती हैं।

इन सब तक़्रीबों में क़राबत वाली बीबियाँ और पास-पड़ोस की बहुत सी शिनासा औरतें जमा हो जाती हैं। ज़नानी महफ़िलें मुरत्तब होती हैं, जिनमे तख़्तों के चोकों पर, और ज़ियाद: मिहमान हों तो ज़मीन पर दरी चाँदनी का उजला फ़र्श बिछता है। दौलतमन्द घरों में चाँदनी पर तीन तरफ़ या फ़क़त सदर में पुरतकल्लुफ़ क़ीमती क़ालीन बिछते हैं। कँवल और मिरदंगे[1] रौशन होती हैं और डोमनियो का ताइफ़: सामने बैठ के मुजरा करता है। नाचनेवाली डोमनी घुँघरू बाँध के नाचती और भाव बताती है। मुजरे के दरमियान में वक़्तन् फ़ वक़्तन्[2] डोमनियाँ हँसानेवाली नक़्लें करती हैं। बहरहाल मसर्रत के वल्वले और ख़ुशी के चहचहे होते हैं और डोमनियाँ अगर्चि: मुजरे में अक्सर बेएतिदालियाँ करने लगती हैं, और सुह्बत में बेहयाई व बेशर्मी को बढ़ा देती हैं, मगर निशस्त व बर्खास्त के सलीक़े, बीबियों के बाहम रब्त व ज़ब्त और उसके साथ हिफ़्ज़े मरातिब में कोई फ़र्क़ नहीं आने पाता। हर तक़्रीब के मुतअल्लिक़ सदहा रस्में हैं, जिनका अंजाम पाना ज़रूरी समझा जाता है। इन रस्मों की मुहाफ़िज़[3] और बरक़रार रखनेवाली बड़ी-बूढ़ी औरतें और उनके साथ डोमनियाँ हुआ करती हैं, जिनको इन रस्मों के बहाने बहुत कुछ मिल जाता है।

अक्सर तक़्रीबों में रतजगा ज़रूर हुआ करता है और यही एक चीज़ है जो हिन्दोस्तानी औरतों के एतिक़ाद में ख़ालिसतन् लिवज्हिल्लाह[4] है और जिसमें डोमनियाँ "अल्लाह मियाँ की सलामती" का नग़्म: गाती हैं। शब ज़िन्द:दारी होती है, मगर इबादत के लिए नहीं, बल्कि गाने-बजाने, रात भर धमा-चौकड़ी मचाने और सुबह होते मस्जिद में जाके अल्लाह मियाँ का ताक़ भरने के लिए, जिनकी नज़र के लिए गुलगुले और ख़ुदा रहम मख़्सूस चीज़ें हैं। इन तक़्रीबों में यही कार्रवाई देहात में भी हुआ करती है, मगर वहाँ बदतमीज़ी व बदसलीक़गी होती है तो शहर वालियों में नफ़ासत, सफ़ाई, ख़ुशतर्तीबी और शाइस्तगी।

पैदाइश से शादी तय होने तक के रुसूम

जिन शादी की तक़्रीबों का हम ज़िक्र कर चुके हैं और उनकी ज़नानी महफ़िलों की एक आम तस्वीर गुज़श्त: मौक़े पर दिखा दी है, उनकी मुफ़स्सल[5] तश्रीह यह है कि छठी उस तक़्रीब का नाम है जबकि ज़च्चगी[6] के बाद माँ और बच्चे को पहली दफ़ा नहलाया जाता है। ज़च्च: को तेज गरम पानी से नहलाना एक तिब्बी[7] इलाज

---

१ शीशे के फ़ानूस जिस पर शमअ रौशन करके रखते थे २ समय-समय पर ३ रक्षक ४ ईश्वर के लिए ५ विस्तारपूर्वक ६ प्रसव ७ हकीमी चिकित्सा।

है। लेकिन यह ग़ुस्ले विलादत चूँकि एक ख़ुशी के मौक़े पर होता है, इसलिए इसको निहायत अहम्मीयत दी जाती है। और चूँकि अुमूमन् ज़च्चगी के छठे रोज़ यह पहला नहान होता है, इसलिए इसका नाम ही छठी पड़ गया। और इसमें ज़च्चः बड़े एहतिमाम से नहलाई जाती है, फिर बच्चा नहलाया जाता है और इनके बाद तमाम औरतें, जो मेहमान होती हैं, यके बाद दीगरे, सब नहाती हैं। ज़च्चः और बच्चे के लिए नये जोड़े हस्बे हैसियत तैयार किये जाते हैं। और साथ ही सब औरतें कपड़े बदलती हैं। इस नहान में जो तरह-तरह की रस्में बरती जाती हैं, वह बेहद व बेशुमार हैं। और ग़ालिबन् हर शहर व क़र्यः[1] बल्कि हर खानदान में कुल्लीयतन[2] यकसाँ और जुज़अन्[3] मुख्तलिफ़ और नई हैं।

दुलहन के मैके या दीगर अइज़्ज़ः[4] की तरफ़ से इस मौक़े पर ज़च्चः और बच्चे के जोड़े, तौक़, हँसली और कड़े, नन्हे बच्चे के क़ाबिल खिलौने, झुनझुने, चटवे। उनके साथ मुर्ग़ियाँ और ख़ुदा जाने क्या-क्या चीज़ें बड़ी धूम-धाम, जुलूस और बाजों के साथ आती हैं। ज़नाने में रक़्स व सुरोद[5] की महफ़िलें गर्म होती हैं, और इतनी इस्तिताअ़त न हो तो खुद घर वाली औरतें, ढोल सामने रख के, गा-बजा लेती हैं।

यही शान बाद के दो नहानों यानी बीसवीं और चिल्ले के नहानों की होती है। अगर ख़ुदा ने इत्मीनान दिया है तो दोनों मौक़ों पर महफ़िले ऐश व निशात गर्म होती है, वर्नः फ़क़त चिल्ले के नहान में ज़ियादः धूम-धाम होती है, और बीसवीं के नहान की तक़्रीब मामूली होती है।

अ़क़ीक़ः—मुसलमानों की खालिस मज़्हबी रस्म है, जिसका आग़ाज़ बनी इस्राईल के ज़माने से आले इब्राहीम में चला आता है। यहूद, पैदाइश के आठवें दिन बच्चे को मस्जिदे अक़्सा में ले जाके उसका सर मुँड़ाते और क़ुर्बानी करते थे और उनका मुक़्तदा खास तरीक़ों से उसके लिए बरकत की दुआ़ किया करता था। यही तरीक़ः मुसलमानों में भी रस्मे इब्राहीमी और सुन्नते मुहम्मदी की हैसियत से आज तक जारी चला आता है। अगर्चिः अब विलादत के बाद आठवें दिन अ़क़ीक़े की क़ैद उठ गयी है मगर अक्सर बच्चे की उम्र के पहले ही साल में हो जाया करती है। इसमें बच्चे को नहला के नये कपड़े पहनाये जाते हैं और इसके बाद अइज़्ज़ः[6] व अह्बाब[7] के मज्मे में नाई उसका सर मूँड़ता है। और जैसे ही वह सर में उस्तरा लगाता है, बच्चा अगर लड़का है तो दो और लड़की है तो एक बकरा क़ुर्बानी किया जाता है। मुँड़ जाने के बाद सर में संदल[8] लगाया जाता है, अइज़्ज़: व अक़ारिब[9] हस्बे हैसियत बच्चे को कुछ रूनुमाई[10] देते हैं। क़ुर्बानी का गोश्त ग़ुरबा[11] और अइज़्ज़: में तक़्सीम[12] कर दिया

---

१ गाँव २ अधिकतर ३ कोई-कोई ४ नातेदार ५ नाच-गाना ६ रिश्तेदार ७ दोस्त ८ चंदन ९ क़रीबी व रिश्तेदार १० मुँहदिखाई ११ ग़रीबों १२ विभाजित।

जाता है। और घर में ख़ुशी का जलसा होता है और उसी क़िस्म की महफ़िल मुरत्तब हो जाती है जैसी कि और तक़्रीबों में होती है।

खीर चटाई—इस तक़्रीब से बच्चे को दूध के अलावः और ग़िज़ाओं के देने का आग़ाज़[1] होता है, जो अक्सर उस वक़्त हुआ करती है जब बच्चा चार-पाँच महीने का हो चुकता है। अक्सर घरों में ग़िज़ा का आग़ाज़ खीर से किया जाता है जो ख़ास एहतिमाम से पकाई जाती है और ख़ास तौर पर क़राबतदार ख़ातूनों की मौजूदगी में बच्चे को चटाई जाती है, जबकि वह नये कपड़े पहने होता है और सब बीवियाँ तरक़्क़ी उम्र की दुआओं के साथ उसके हाथ में रुपये देती हैं और वही महफ़िलें तरब क़ाइम हो जाती है जो हर तक़्रीब में नज़र आती है।

दूध बढ़ाई—यह तक़्रीब उस मौक़े पर होती है, जब बच्चे का दूध छुड़ाया जाता है। इसमें अ़मूमन् खजूरें पकाई जाती हैं। ताकि बच्चा अगर दूध के लिए ज़िद करे तो बहलाने के तौर पर उसके हाथ में दे दी जाया करे। मगर अ़मूमन् रवाज है कि इतनी मिक़्दार में पकाई जाती हैं कि जिन-जिन घरों से हिस्सःदारी है उनमें तक़्सीम भी हो सकें। दूध के छुड़ाने का आम तरीक़ः यह है कि माँ या मुर्ज़िअ़ः[2] की छातियों में पानी में घोल के एलुवा या कोई कड़वी चीज़ लगा दी जाती है, जिसकी कड़वाहट से घबरा के बच्चा दूध छोड़ देता है। और जब पीने के लिए ज़िद करता और बहलाए नहीं बहलता तो फिर यही कार्रवाई की जाती है और दो एक दफ़ा में उसे दूध से नफ़्रत हो जाती है। दूध बढ़ाई का ज़मानः अलल्अ़ुमूम[3] उस वक़्त होता है जब बच्चा दो साल का हो जाय। हनफ़ीयों में मुद्दतें रिज़ाअ़त अढ़ाई बरस है *। यानी अढ़ाई बरस के बाद दूध छुड़ाना लाज़िमी है। लेकिन रवाज इससे कम ही ज़माने का है। यह और बात है कि बाज़ औरतें तीन-तीन, चार-चार साल दूध पिलाती रहती हैं। मगर यह बात अ़मूमन् नफ़्रत की नज़र से देखी जाती है, इसलिए कि शरअ़[4] के ख़िलाफ़ है। इस तक़्रीब में भी जिन घरों को ख़ुदा ने इस्तिताअ़त दी है, उनमें बहुत अच्छी चहल-पहल हो जाती है और रक़्स व सुरोद[5] की महफ़िल गर्म होती है।

बिस्मिल्लाह— यह तक़्रीब उस दिन होती है, जिस रोज़ लड़के को पहले-पहल पढ़ने के लिए बिठाते हैं। और इसका ज़मानः अज़् रूए मुरव्वजः[6] वह ख़याल किया गया है जब बच्चा चार साल, चार महीने और चार दिन का हो जाए। और इस चार के अदद ने इस तक़्रीब में इस क़दर ख़ुसूसीयत[7] पैदा कर ली है कि 'चार साल, चार

---

१ प्रारम्भ २ धाय, दूध पिलानेवाली स्त्री ३ आम तौर पर ४ इस्लामी क़ानून ५ नाच-गाना ६ प्रचलित रवाज के अनुसार ७ विशेषता।

* एक कथन के अनुसार हनफ़ीयों के यहाँ दूध पिलाने का ज़मानः २ साल है। अल्बत्तः अहले हदीस के यहाँ अढ़ाई वर्ष है।

महीने, चार दिन के बाद चार घण्टे और चार मिनट का भी लिहाज़ किया जाता है। वक़्ते मुक़र्ररः पर कोई मुह्तरम[1] मौलवी साहब या कोई बुज़ुर्गे ख़ानदान लड़के को जो नहला-धुला के नये कपड़े पहना के दूल्हा बना दिया जाता है, पढ़ाने के लिए ले के बैठते हैं। "अलिफ़्-बे" की किताब, उसके सामने रखते हैं और 'बिस्मिल्लाह' कहला के अरबी के दुआइयः अल्फ़ाज़ "रब्बि यस्सिर् व ला तुअस्सिर् व तम्मिम् बिल्ख़ैरि" कहलाते हैं जिनके मानी यह हैं कि "ख़ुदावन्दा! आसान कर और दुश्वार न कर और ख़ैरियत से ख़त्म कर"। फिर अलिफ़्, बे कहला के मिठाई तक़्सीम होती है, अज़ीज़ व क़रीब लड़के को हस्बे तौफ़ीक़ देते हैं और उस दिन से उसकी तालीम शुरू हो जाती है।

ख़त्नः—यह भी सुन्नते इब्राहीमी और आले इब्राहीम की पुरानी और ज़रूरी रस्म है, और चूँकि हिन्दोस्तान में सिर्फ़ मुसलमानों के साथ मख़्सूस है और ख़याल किया जाता है कि इस कार्रवाई के बाद से लड़का मुसलमान हो जाता है, इसलिए इस रस्म का आम नाम ही "मुसलमानी" पड़ गया। इसमें बच्चे के अज्ज़ाए मख़्सूस के मुँह पर की खाल काट ली जाती है, जिसका काटना तिब्बी और डाक्टरी उसूल से भी बाज़ अम्राज़[2] व शिकायात से बचने के लिए निहायत मुफ़ीद है। यह एक क़िस्म का आप्रेशन है, जिसको हमारे क़दीम सर्जन (जर्राह), जो अमूमन् नाई होते हैं, निहायत ख़ूबी और ग़ैरमामूली फुर्ती से अंजाम देते हैं। उनको अच्छा मुआवज़ः[3] और इन्आम दिया जाता है और इस रस्म के अंजाम देते वक़्त मर्दाने में अक्सर अइज़्ज़ः[4] व अह्बाब[5] बुला के बिठा लिये जाते हैं। और ज़नाने में मिह्मान बीवियों का मज्मा होता है। ख़त्नः होते ही मिठाई तक़्सीम होती है। जिनको इस्तिताअत होती है, दावत करते हैं और फिर उस रोज़ ख़ुशी की तक़्रीब होती है जब ज़ख़्म अच्छा होने के बाद लड़का ग़ुस्ले सिह्हत करे। अक्सर ख़ानदानों और मिन्नत मुराद वाले घरानों में उस रोज़ लड़का दूल्हा बना के घोड़े पर चढ़ाया जाता है और बरात बड़े जुलूस और धूम-धाम के साथ किसी दरगाह में जाती है, जहाँ चादर और मिठाई चढ़ा के, लड़का उसी शान से घर वापस आता है, जहाँ ख़ुशी के चहचहे और ऐश व शादमानी के जलसे नज़र आते हैं। इस रस्म के अदा होने का ज़मानः मुख़्तलिफ़ है। बाज़ लोग छठी या चिल्ले ही में बच्चे का ख़त्नः करा देते हैं। मगर आम रवाज उस वक़्त है जब लड़का छः, सात बरस का हो जाए।

एक और तक़्रीब रोज़ःकुशाई की भी है। यह उस वक़्त होती है जब लड़का या लड़की नौ-दस बरस की उम्र को पहुँच जाये और उससे पहले-पहल रोज़ः रखवाया जाए। इसमें अलल्अमूम बहुत से रोज़ेदारों की दावत की जाती है। जिनके लिए कस्रत से इफ़्तारियाँ तैयार की जाती हैं और लड़का उनके साथ बैठ के इफ़्तार करता है। और अगर लड़की है तो मेहमान रोज़ःदार बीवियों के साथ रोज़ः खोलती है।

---

१ सम्मानित, श्रेष्ठ २ रोग ३ बदला ४ रिश्तेदार ५ दोस्त।

इसमें गाना-बजाना कम होता है, मगर शौक़ीन और रंगीन-मिज़ाज लोगों के लिए यह बहाना भी महफ़िलें रक़्स व सुरोद गर्म करने के वास्ते काफ़ी हो जाता है।

इसी क़िस्म की कार्रवाइयाँ ग़ुस्ले सेहत की तक़रीबों और मिन्नत-मुराद पूरी होने के मौक़ों पर हुआ करती हैं। और सिवा उन खास बातों के जो इस तक़रीब से तअल्लुक़ रखती हों, बाक़ी सब बातें उनमें भी वही होती हैं जो और तक़रीबों में बयान की गईं।

सबसे बड़ी और अहम तक़रीब शादी या अक़्दे निकाह है। यह वह ज़रूरी तक़रीब है जिसकी बेएतिदालियों की बदौलत सैकड़ों खानदान बर्बाद व तबाह होते चले जाते हैं। और वजह यह है कि खुशी के जोश और शाहिदे आर्ज़ू से हम-किनार होने की महवियत[1] में किसी को न अपनी हालत व इस्तिताअत का ख़याल रहता है, न अपने अंजाम व मआले कार का। नतीजा यह होता है कि क़र्ज़ ले के, जायदादें बेच के, दोस्तों-अज़ीज़ों से माँग के, या जिस तरह कोई रक़म मिल सके फ़राहम करके, अरमानें पूरी की जाती हैं। और शादी के खत्म होते ही यह हालत होती है कि अक्सर घरों में फ़ाक़े की नौबत आ जाती है।

शादी और निकाह चूँकि इन्सानी ज़िन्दगी का अहमतरीन वाक़िअ: है, इसलिए इसको हम ज़रा तफ़्सील व तश्रीह से बयान करना चाहते हैं। शादी की निस्बत अक्सर मश्शाताओं के ज़रीए से ठहरती है। हिन्दोस्तान के तमाम बड़े शहरों में, ख़ुसूसन् उनमें जहाँ अगले तमद्दुन् ने तरक़्क़ी की थी, औरतों का एक खास पेश: है मश्शात:गरी। शुअरा के कलाम और लुग़त में मश्शात: उस औरत से मुराद है जो आली मर्तब: खातूनों की कंघी-चोटी करती, कपड़े और ज़ेवर पहनाती और उन्हें बना-चुना के सँवारती और आरास्त: करती है। मगर सोसाइटी में मश्शात: उन औरतों को कहते हैं जो शादी के पयाम ले जाती, निस्बतें ठहराती और शादियाँ कराती हैं। ग़ालिबन् इस पेशे की इब्तिदा उन्हीं औरतों से पड़ी जो हसीनों को बनाया, सँवारा करती हैं और आख़िर में शादी ठहरानेवाली औरतों का नाम मश्शात: पड़ गया। यह बड़ी चालाक और मक्कार औरतें हुआ करती हैं। हर लड़के का पयाम जब किसी घर में ले जाती हैं, तो उसकी दौलतमन्दी, तालीम, सआदतमन्दी, ख़ुश-अख़्लाक़ी और ख़ूबसूरती की इस क़दर तारीफ़ करती हैं कि लड़की वालों की नज़र में उसे मसनवी मीर हसन का शहज़ादए बे-नज़ीर साबित किए बग़ैर दम नहीं लेती हैं। इसी तरह जब किसी लड़की की बात लड़के वालों के यहाँ ले जाती हैं तो उसके हुस्न व जमाल, नाज़ व अंदाज़ और ख़ूबी व रानाई[2] के बयान में ऐसे लक़्लक़े बाँध देती हैं कि मालूम होता है जिस लड़की का ज़िक्र कर रही हैं वह इंसान नहीं कोह क़ाफ़ की परी या शहज़ादी बदरे मुनीर है।

---

१ तल्लीनता २ सौन्दर्य।

मश्शातः के पयामरसानियों के बाद अगर्चिः तहक़ीक़ व जुस्तजू मर्द ही करते हैं, मगर निस्वत ठहरने में ज़ियादः दख़ल दोनों घरों की औरतों को ही हुआ करता है, जो अपना इत्मीनान करके मर्दों की रज़ामन्दी हासिल करती हैं और निस्वत ठहर जाती है। दोनों ख़ानदानों में बच्चों के पैदा होते ही अरमान-भरी मायें निस्वत ठहरा लिया करती हैं। उनके लिए मश्शातः की ज़रूरत नहीं पेश आती बल्कि दूल्हा को बे-ग़ुल व ग़श ठीकरे की मंगी दुलहन मिल जाती है और शादी से पेश्तर की रस्में, जिनको निस्वत ठहरने से तअ़ल्लुक़ है, उनकी नौबत नहीं आती। गोया पैदा होते ही मँगनी हो जाती है।

नये घरों में जब पयाम जाता है तो अक्सर लड़का अपने चन्द अज़ीज़ों और मख़्सूस दोस्तों के साथ "बर दिखव्वा" के नाम से दुलहन वालों के वहाँ बुलाया और ऐसी जगह बिठाया जाता है जहाँ से औरतें भी उसे ताक-झाँक के देख सकें। घर वाले मर्द जमा हो के उससे मिलते और हस्बे हैसियत ख़ातिर मुदारात[1] करते हैं। इसी तरह लड़के की माँ-बहिनें एक मुक़र्ररः तारीख़ पर दुलहन के घर में जातीं और मिठाई खिलाने या किसी और बहाने से दुलहन का चेहरा देखती है, जो आ़म तौर पर उनसे छुपाई और पर्दे में रखी जाती है। मगर बाज़ शरीफ़ घरों में दूल्हा नहीं बुलाया जाता बल्कि ख़ानदान के मर्द किसी न किसी अ़ुन्वान से लड़के की ला-इल्मी में उसे देखते और उसका हाल दर्याफ़्त कर लेते हैं और यूँ ही लड़की की हालत का भी पता लगा लिया जाता है।

इन तरीक़ों से जब लड़के वाले लड़की को और लड़की वाले लड़के को पसन्द कर लेते हैं, जिसमें सूरत-शक्ल, हालत व हैसियत के अलावः शराफ़ते ख़ानदान को भी बहुत कुछ दख़ल होता है, तो मँगनी की रस्म अ़मल में आती है। इसमें दूल्हा की तरफ़ से मिठाई आती है, फूलों का गहना जाता है और एक सोने की अँगूठी जाती है, जिसे बाज़ घरानों में दूल्हा की अज़ीज़ औरतें ख़ुद जा के पहनाती हैं।

मँगनी की रस्म अदा हो जाने के बाद समझा जाता है कि निस्वत ठहर गई। और उस वक़्त से दोनों जानिब मामूल हो जाता है कि जब कोई तक़रीब हो तो समधियाने में ख़ास एहतिमाम से हिस्से जायें। और जो हिस्सा लड़के या लड़की के लिए होता है, वह बड़ा होता है और ख़ुसूसीयत के साथ मुशय्यन[2] व बा-वक़्अ़त[3] बना दिया जाता है। इसी असना में अगर मुहर्रम आ गया तो दोनों जानिब से एहतिमाम और तकल्लुफ़ के साथ गोटा, इलाइचियाँ, चिकनी डलियाँ और आला दर्जे के कारचोबी और रेशमी बटवे समधियाने में भेजे जाते हैं।

बरात यानी निकाह के दिन से चन्द रोज़ पहले दुलहन माँझे बिठा[4] दी जाती है,

---

१ आवभगत, सत्कार २ शानदार, सुन्दर ३ प्रतिष्ठित, सम्मानित ४ ब्याह के दो-तीन दिन पूर्व पीले कपड़े पहनकर एकान्तवास।

जबकि उसे माँझे का ज़र्द जोड़ा[1] पहनाया जाता है, उस वक़्त से रोज़ उसके बुटना लगता है और ब-जुज़ ख़ास ज़रूरतों के, वह पर्दे से बाहर नहीं निकलती। जिस दिन वह माँझे बैठती है, उसी रोज़ रस्म है कि उसका झूठा बुटना, उसकी झूठी मेंहदी, मिस्री का कूज़: और बहुत सी पींडियाँ एक शानदार जुलूस और बाजे के साथ दूल्हा के घर भेजी जाती हैं। जो पींडियाँ ख़ास दूल्हा के लिए होती हैं, वह जुदागान: ख्वानों में मुम्ताज़ व मख्सूस होती हैं। इन्हीं के साथ दूल्हा के लिए माँझे का ज़र्द भारी जोड़ा, एक रंगी हुई मुनक़्क़श चौकी और लोटा-कटोरा भी होता है। लोटा-कटोरा चौकी पर नाड़े से कस के बाँध दिए जाते हैं और जुलूस में यह चीज़ें इस तर्तीब से होती हैं कि बाजे वालों और जुलूस के बाद सबसे आगे चौकी होती है, उसके बाद ख्वानों में दूल्हा की मख्सूस चीज़ें होती हैं, जो अ़मूमन् कच्चे तवाक़ों में रखी होती हैं। और उनके बाद बहुत से ख्वानों में आ़म क़िस्म की पींडियाँ होती हैं। दुलहन की छोटी बहिनें और डोमनियाँ फ़ीनस और डोलियों पर सवार होके जाती हैं, जो दूल्हा के घर पहुँच कर, एक पींडी और मिस्री के सात-सात टुकड़े करके, वह सब टुकड़े दूल्हा को डहका-डहका के खिलाती हैं। इस रस्म की निस्बत क़ियास किया जाता है कि ख़ालिस हिन्दी रस्म है, जिसको न अ़रब से तअ़ल्लुक़ है, न अ़जम से। इसलिए कि माँझे और उसके साथ कँगने की इब्तिदा हिन्दोस्तान के सिवा और किसी जगह नहीं साबित होती।

माँझे के दस-बारह रोज़ से ज़ियाद: ज़मान: गुज़रने के बाद उसी शान व शौकत और जुलूस के साथ दूल्हा के घर से दुलहन के यहाँ साँचक़ जाती है। साँचक़, तुर्की लफ़्ज़ और तुर्की रस्म है। और मालूम होता है कि तुर्क व मुग़ल इस रस्म को अपने साथ हिन्दोस्तान में लाये। इसमें दूल्हा के यहाँ से दुलहन के लिए चढ़ावे का जोड़ा जाता है जो अ़मूमन् बहुत भारी और कारचोबी होता है। इसके साथ दुलहन के लिए सुनहरी मुक़य्यश का सेहरा, चाँदी का छल्ला, सोने की अँगूठी, दो-एक और चीज़ें हुआ करती हैं। और वह ज़ेवर होता है जिसको पहना के वह रुख्सत की जाएगी। और फूलों का गहना होता है। जोड़े के साथ शकर के नुक़्ल, शकर के क़ुर्स और मेवा जाता है। साँचक़ के लिए ख़ास एहतिमाम से मुक़य्यश और रंगीन घड़े तैयार कराए जाते हैं। फिर बाँस और काग़ज़ के रंगा-रंग तख्तों पर चार-चार घड़े लगा के चौघड़े बना दिए जाते हैं और दौलतमन्दी व अमारत की शान के मुनासिब इन चौघड़ों की तादाद बढ़ती जाती है और अक्सर सौ-सौ की दो-दो सौ के शुमार को पहुँच जाते हैं, मगर इनके अन्दर चन्द गिन्ती के नुक़्लों या पाव आध सेर शकर के सिवा कुछ नहीं होता। उनके मुँहगड़ों पर अ़मूमन् सोहे का कपड़ा नाड़े से बँधा होता है और जुलूस में इन सब घड़ों के आगे चाँदी की एक दही की मटकी रहती है, जिसमें दही भरा होता है। और उसके मुँह पर भी सोहा नाड़े से बाँध दिया जाता है और उसके गले में मुबारक फ़ाली[2]

१ हल्दी की रस्म के बाद वर-कन्या को पहनाये जानेवाला कपड़ा २ शुभ शकुन।

के लिए दो-एक मछलियाँ भी बँधी होती हैं। यह चीजें जब दुलहन के घर पहुँचती हैं तो अइज़्ज़ः व अक़ारिब में तक़सीम होती हैं।

शादी, और दुलहन की रुख़्सती

साँचक़ के दूसरे ही रोज़ शब को दुलहन के घर से बड़े जुलूस और रौशनी के साथ मेंहदी जाती है। ख़याल किया जाता है कि ग़ालिबन् यह अरबिय्युल्अस्ल रस्म है। इसमें दरअस्ल दुलहन वालों की तरफ़ से दूल्हा के लिए वह जोड़ा जाता है जिसे पहनकर वह ब्याहने को आएगा। इस जोड़े में अलल्अ़ुमूम क़दीम अहले मुग़लीयः की दरबारी वज़अ़ का ख़िल्अ़त[1], शम्लः[2], जीग़ः[3], सरपेच और मुरस्सअ़[4] कलग़ी होती है। नसीब हुआ तो उसके साथ मोतियों का हार भी भेजा जाता है। मज़्कूरः चीज़ों के अ़लावः रेशमी पायजामा और जूता वग़ैरः मामूली चीजें भी होती हैं। अक्सर एक तिलाई[5] अँगूठी भी जाती है। इस जोड़े के साथ दूल्हा के लगाने के लिए पिसी हुई तैयार मेंहदी भी भेजी जाती है जिसको बहुत से तबाक़ों[6] में फैला के रखते हैं और उसमें सब्ज़ व सुर्ख़ शमओं को नस्ब करके रौशन कर देते हैं। इस तरह के मेंहदी के बहुत से तबाक़ रौशन होते हैं जो मेंहदी के जुलूस में एक ख़ास शान और आनबान पैदा कर देते हैं। मेंहदी के इन रौशन तबाक़ों के साथ सौ-पचास तबाक़ों में मलीदः होता है जो ख़ुर्मों को कूट के बनाया जाता है, और जैसी हैसियत होती है, उसी के मुनासिब कस्रत से भेजा जाता है। इस मौक़े पर जोड़े के साथ दूल्हा के लिए सोने का सेहरा भी भेज दिया जाता है।

मेंहदी के दूसरे दिन दूल्हा की तरफ़ से बरात जाती है। बरात जाने का अगला ज़रूरी वक़्त पहर रात रहे यानी तीन बजे शब का था। लेकिन अब यह वक़्त छूटता जाता है और बजाय पहर रात रहे के, पहर दिन चढ़े यानी नौ दस बजे सुबह को बरातें जाने लगी हैं। इस ताख़ीर[7] की इब्तिदा वाजिद अली शाह, आख़िर बादशाहे अवध के ज़माने से हुई। उनकी बरात जाने में इत्तिफ़ाक़न् देर हो गई और दिन निकल आया था। लोगों ने आसानी और रौशनी के सामान की तख़्फ़ीफ़[8] के ख़याल से इसी वक़्त को इख़्तियार करना शुरू कर दिया। चुनांचिः अब अ़ुमूमन् इब्तिदाए रोज़ में बरात जाती है और दो पहर को अक़्द हो जाता है।

बरात में हत्तल्इम्कान[9] पूरा जुलूस जमा किया जाता है। मुरव्वजः तीन बाजे—यानी पुराना ढोल, ताशे और झाँझें, रौशन-चौकी और अर्गन बाजा ज़रूर होते हैं। इससे तरक़्क़ी हुई तो घोड़ों पर नौबत, नक़्क़ारः, झंडियाँ, बर्छे बरदार, हाथी, ऊँट,

---

१ राज की ओर से सम्मानार्थ दिये जानेवाले वस्त्र २ पगड़ी ३ पगड़ी में बांधने का एक रत्नजटित आभूषण ४ जड़ाऊ, सुसज्जित ५ सोने की ६ परातें ७ विलम्ब, देर ८ कमी ९ यथासम्भव।

घोड़े। और इससे भी ज़ियादः हौसला हुआ तो इन्हीं बाजों के मुतअद्दिद गिरोह बढ़ा दिए जाते हैं। दूल्हा वही जोड़ा पहन के जो मेंहदी के साथ आया था और सेहरा बाँध के अलल्अ़मूम घोड़े पर और आला तबक़े के उमरा के यहाँ हाथी पर सवार हो के, सारे जुलूस और बाजों के पीछे आहिस्तः आहिस्तः ज़ीनत व विक़ार से रवाना होता है। दूल्हा को "नौशः" यानी नया बादशाह कहते हैं। और ख़याल भी यही है कि दूल्हा एक दिन के लिए बादशाह बना दिया जाता है। मगर ग़ौर-तलब यह अम्र है कि जब दूल्हा को बादशाह बनाते हैं तो उसके सर पर शम्लः क्यों होता है? ताज क्यों नहीं पहनाते? इससे इस बात का सुबूत मिलता है कि हिन्दोस्तान में मुसलमान सरीरआरा[1] ताज नहीं पहनते थे, बल्कि सबके सरों पर कलग़ीदार शम्ले होते थे। अंग्रेज़ों ने ग़ाज़िउद्दीन हैदर के ज़माने से शाहाने अवध को ताज पहना दिया। मगर वतनी सोसाइटी ने इस ताज को क़बूल नहीं किया और अपने बादशाहों की वज़्अ़ वही रखी जो पुरानी थी और इसी नमूने का बादशाह अपने "नौ शाहों" को बनाते हैं। दूल्हा के पीछे फ़ीनसों और डोलियों में सवार दूल्हा की माँ-बहिनें और अज़ीज़ व क़रीब औरतें और डोमनियाँ होती हैं। चलते वक़्त घर में जो सदहा रस्में और टोटके होते हैं, बहुत हैं, और लग़्व होने की वजह से ज़ियादःतर क़ाबिले लिहाज़ भी नहीं।

इस शान से जब बरात दुलहन के घर पहुँचती है तो अ़मूमन् दुलहन उस वक़्त नहलाई जा चुकती है और उसके ग़ुस्ल का पानी बाहर ला के दूल्हा की सवारी के घोड़े या हाथी के पाँव के नीचे डाल दिया जाता है। दुलहन को यह ग़ुस्ल सात दिन के बासी ठण्डे पानी से दिया जाता है जो कलस का पानी कहलाता है। और जाड़ों के मौसम में ग़रीब दुलहन के लिए इस पानी में नहाना क़ियामत से कम नहीं होता। चौकी पर पान बिछा के वह नहलाई जाती है और यही पान उस इक्कीस पानों वाले बीड़े में शामिल होते हैं जो सबसे पहले सुसराल में खिलाया जाता है।

अब दूल्हा सवारी से उतर के जनाने में जाता है। वहाँ रस्सी नँघाई जाती है और तरह-तरह की बीसियों और रस्में अमल में आती हैं जो हर गिरोह और हर ख़ानदान में जुदा-जुदा और अ़जीब व ग़रीब होती हैं। यह वक़्त अ़लल्अ़मूम वह होता है जब दुलहन नहा तो चुकती है मगर अभी कपड़े नहीं पहनाए गए होते हैं। वह एक चादर में लिपटी होती है और उसके हाथ पर मिस्री रख के दूल्हा को खिलाई जाती है जिसमें सालियाँ, ज़िन्दःदिल औरतें और डोमनियाँ क़ैदें बढ़ा-बढ़ा के दूल्हा के लिए हर काम मुश्किल कर देती हैं।

शादी की यह पहली हफ़्तख़्वाँ* तय करके दूल्हा बाहर मर्दाने में आता है,

---

१ तख़्त पर बैठनेवाला अर्थात् बादशाह।

* सात पढ़ाई करनेवाला; कैकाऊस की रिहाई के लिए माज़न्दराँ तक रुस्तम ने सात दिन में जो रास्ता तय किया था उसे "हफ़्तख़्वाने रुस्तम" कहते हैं, अतः 'हफ़्तख़्वाँ' का अर्थ लिया जाता है 'कठिन काम'।

जहाँ वज़्मे निशात मुरत्तब होती है। अइज़्ज़:[1] व अह्बाब[2] पुरतकल्लुफ़ कपड़े पहने, क़रीने से साफ़-सुथरी दरी चाँदनी और क़ालीनों के फ़र्श पर बैठे होते हैं। और सामने मर्दाना या ज़नाना ताइफ़: खड़ा मुजरा करता होता है। श्रैन मह्फ़िल के दरमियान में और सदर मक़ाम पर दूल्हा के लिए ज़रनिगार मसनद तकिया होता है, जिस पर दूल्हा को उसके हम-उम्र लड़के ला के बिठा देते हैं और उसके दोनों तरफ़ ख़ुद बैठ जाते हैं ताकि दूल्हा उनके साथ आज़ादी से बातें कर सके।

दूल्हा के लिए लाज़िम है कि अपनी हर वज़अ़, हर हरकत से शर्मीलापन ज़ाहिर करे। वह न तो बेतकल्लुफ़ बातें कर सकता है, न कोई उसकी आवाज़ सुन सकता है, न किसी से वह बेतकल्लुफ़ी से मिल-जुल सकता है। मुँह पर सेहरा होता है और फिर सोने के सेहरे पर फूलों का सेहरा बाँध के, इस क़ाबिल नहीं रखा जाता कि कोई वग़ैर कोशिश और देर तक मेहनत के उसकी सूरत देख सके। मह्फ़िले निशात में बैठने बल्कि अक्सर अक़्द हो जाने के बाद सेहरा उठा के शम्ले में लपेट दिया जाता है ताकि चेहरा खुल जाए। मगर अब भी उसके लिए लाज़िम है कि एक हाथ से मुँह पर रूमाल रखे रहे, जो इज़्हारे शर्म की एक अलामत है। और अब चेहरा खुलने के बाद भी इस रूमाल की वजह से उसकी सूरत देखने के शाइक़ीन को वग़ैर देर तक इस फ़िक्र में लगे रहने के कामयाबी नहीं हो सकती।

दूल्हा के बाहर आकर थोड़ी देर बैठने के बाद अक़्दे निकाह का इन्तिज़ाम होता है, जिसके लिए यह सब बखेड़ा किया गया है। अगर शीअ़: खा़नदानों की शादी है तो दो मुज्तहिद साहब तशरीफ़ लाते हैं, एक लड़के के नाइब व वकील बन के और दूसरे लड़की के नाइब व वकील बन के। लड़की वाले ख़ुद पर्दे के पास जा के या आदिल शाहिदों से तस्दीक़ फ़र्मा के लड़की की शर्ई मुख़्तारी हासिल करते हैं और उसके बाद दोनों दूल्हा के सामने बैठ के दूल्हा-दुलहन की जानिब से क़िर्अत व सिह्ते मख़ारिज से ईजाब व क़बूल के सीग़े अदा करते हैं। और अगर ख़ानदान सुन्नी है तो कोई मुह्तरम मौलवी साहब और अगर कोई गाँव हुआ तो वहाँ के मुक़र्रर: ख़ानदानी क़ाज़ी साहब आके निकाह पढ़ाते हैं। जिसका तरीक़: यह होता है कि लड़की के अज़ीज़ों में से कोई साहब उसके वकील व मुख़्तार बन के आते हैं और वह शाहिदों को पेश करते हैं कि फ़लाँ लड़की ने मुझे अपना वकील इन दोनों शाहिदों के सामने मुक़र्रर किया और मुझे अपने अक़्द का इख़्तियार दिया। क़ाज़ी साहब उन शाहिदों पर इत्मीनान करके और मिक़्दारे मह्र को उन वकील साहब से दर्याफ़्त करके, दूल्हा को कलमए-शहादत पढ़ाते, मुसलमान के लिए जिन-जिन चीज़ों पर ईमान लाना ज़रूरी है, उनका अ़रबी में इक़्रार कराते और उसके बाद तीन बार यह कह के कि "फ़लाँ लड़की के साथ इतने मह्र पर हमने तुम्हारा अक़्दे निकाह कर दिया", दूल्हा से

१ सम्बन्धी २ दोस्त।

इक़रार कराते हैं कि "मैंने क़बूल किया"। इसके बाद एक दुआइयः ख़ुत्वः पढ़के लोगों से कहते हैं, "मुबारक", साथ ही मुबारक-सलामत का ग़ुल होता है। नुक़्ल और छुहारे, जो सीनियों में भरे सामने रखे होते हैं, उनको हाज़िरीन में लुटा देते हैं।

मुज्तहिद या मौलवी साहब के आने के वक़्त गाना मौक़ूफ़ हो जाता है। और बादे अक़्द मौलवी साहब चले जाते हैं तो फिर रक़्स[1] व सुरोद[2] की महफ़िल गर्म हो जाती है। और इसके बाद दूल्हा फिर अन्दर ज़नाने में बुलाया जाता है। औरतों की दुनिया में रुसूम और शरायतें अक़्द के अस्ली लवाज़िम[3] के बजा लाने का ख़ास यही वक़्त है। ज़नाने में इस मौक़े पर रुसूमें निकाह के ज़िमन में दूल्हा के साथ हर क़िस्म का तमस्ख़ुर[4] किया जाता है और उसके परेशान करने में कोई कार्रवाई उठा नहीं रखी जाती। इन तमाम रुसूम के बजा लानेवाली सालियाँ और डोमनियाँ होती हैं। दरहक़ीक़त नाकतख़ुदा[5] नौजवानों के लिए शादी एक पुरअस्रार[6] लाज (फ़रामिशन ख़ाना) है, जिसमें बीसियों ऐसे मराहिल पेश आते हैं जो उसके वहम व गुमान में भी नहीं होते। दुलहन ओढ़-लपेट के एक ग़ैरमुतहर्रिक[7] गठरी की तरह उसके सामने ला के रख दी जाती है। अभी तक उसे रुख़सती का जोड़ा नहीं पहनाया गया होता। लाते वक़्त कोशिश की जाती है कि पहली आमद में दुलहन की एक लात दूल्हा के पड़ जाए। फिर टोने गाए जाते हैं। दूल्हा से बीवी की ग़ुलामी, ज़लील-तरीन ग़ुलामी और ख़ुदा जाने कैसी-कैसी ख़िद्मतें बजा लाने का इक़्रार कराया और वादा लिया जाता है। इसके बाद आर्सी-मुस्हफ़ की रस्म अदा होती है, जिसके लिए दूल्हा-दुलहन के दर्मियान रिहल पर क़ुर्आन शरीफ़ और उस पर आईनः रखा जाता है। और उस आईने में दूल्हा को दुलहन का पहला जल्वः दिखाया जाता है। मगर लाज़िम है कि चेहरा देखने से पहले दूल्हा सूरः इख़्लास पढ़ ले। इस जल्वे में दुलहन आँखें बन्द किए रहती है। औरतें दूल्हा से आँखें खोलने के लिए तरह-तरह की इल्तिजाएँ[8] कराती हैं और इसी सिल्सिले में हर क़िस्म की इताअ़त[9] और ग़ुलामी का उससे इक़्रार करा लेती हैं। बड़ी मुश्किलों और ख़ुशामदों के बाद दुलहन आँखें खोल के एक नज़र देखती और फिर आँखें बन्द कर लेती है और इसी पर रुसूम का ख़ातिमः हो जाता है।

अब दूल्हा बाहर रुख़्सत कर दिया जाता है कि दुलहन को कपड़े पहनाए जायें, ज़ेवर पहनाया जाए, बनाई-सँवारी और सुसराल जाने के लिए तैयार की जाए। उस वक़्त डोमनियाँ बाबुल यानी रुख़सती का नग़्मए जाँ गुदाज़ गाती हैं और ख़ुशी का घर, मातमकदः बन जाता है। जब दुलहन बना-चुना के तैयार कर दी जाती है, उस वक़्त

१ नाच २ गाना ३ आवश्यक नियम ४ मज़ाक़ ५ अविवाहित ६ रहस्यपूर्ण ७ अचल ८ ख़ुशामद ९ आज्ञाकारी।

मैके के तमाम अज़ीज़ दोस्त और सब मिलनेवाले आते, रो-रो के दुलहन को रुख्सत करते और जो कुछ तौफ़ीक़ हो, रुपया या ज़ेवर उसे देते हैं।

शादी में जिहेज़ के सामान

इसी असना में जिहेज़ का सामान निकाला जाता है। उसकी फ़र्द ला के दूल्हा वालों के सामने पेश कर दी जाती है। जिसमें, वह तमाम ज़ेवर जोड़े, ज़ुरूफ़[1], पलंग और चोकी और जो कुछ चीजें दी जाएँ, दर्ज होती हैं। तमाम चीज़ों का फ़िहरिस्त[2] से मुक़ाबल: कर लिया जाता है और अब दुलहन रुख्सत होने के लिए बिल्कुल तैयार होती है। उसका लिबास कोई भारी कामदार जोड़ा नहीं होता बल्कि एक सोहे यानी टूल (लाल तूल) पर की तंज़ेब का कुर्ता और सादा रेशमी पायजामा पहने होती है। और उनमें भी सादगी का इस क़दर लिहाज़ रहता है कि गोट तक नहीं लगाई जाती। और नाड़े का इज़ारबन्द पड़ा होता है।

उसके सिंगार और कपड़े पहनाने के वक़्त डोमनियाँ "बाबुल" यानी मैका छूटने का राग गाती रहती हैं, जो निहायत पुरहसरत[3] और जिगरगुदाज़[4] होता है। एक अजीब रंज व अलम[5] का समाँ बँध जाता है। हर शख्स मलूल व हज़ीं[6] होता है। तमाम अइज़्ज़:, मिलनेवाले और खानदान के दोस्त अहबाब मिल-मिल के और सोज़ोगुदाज़ के अल्फ़ाज़ के साथ लड़की को रुख्सत करते हैं। वह खुद ज़ारोक़ितार रोती होती है। और फ़ीनस ड्योढ़ी में लगा दी जाती है। उस वक़्त दूल्हा फिर अन्दर बुलाया जाता है कि आ के अपनी दुलहन को ले जाए। वह आता और दुलहन को अपनी गोद में उठा के फ़ीनस में बिठा देता है।

रुख्सत से पहले, ज़नाने में दूल्हा को सलाम कराई दी जाती है और तमाम अइज़्ज़: व अक़ारिब, दोस्त अहबाब बक़द्रे हैसियत देते हैं। उसी वक़्त बाहर शर्बत पिलाई होती है, जिसमें शर्बत का कण्टर और गिलास फ़क़त रस्म के तौर पर लाया जाता है, पीता कोई नहीं, मगर तमाम हाज़िरीने महफ़िल शर्बत की थाली में हस्बे हैसियत व तौफ़ीक़ रुपया डालते हैं। और इस तरह अन्दर-बाहर जो कुछ रुपया सलाम कराई और शर्बत पिलाई में जमा होता है, दूल्हा को दे दिया जाता है।

अब बरात उसी धूम-धाम और उसी शान व शौकत से दूल्हा के घर की तरफ़ वापस रवाना होती है। *वापसी के इस जुलूस में जो इज़ाफ़: होता है,* उसमें सबसे पहले तो दुलहन की फ़ीनस है, जो दूल्हा के घोड़े के आगे रहती है और निहायत ही मुम्ताज़ होती है। पुरतकल्लुफ़ छटका पड़ा होता है, दोनों जानिब कहारियाँ छटके को पकड़े हुए साथ रहती हैं। इर्द-गिर्द दूल्हा के मुलाज़िमों या मख्सूस लोगों का हुजूम रहता है। और दूल्हा के बाद फिर और सब साथ वाली औरतों की फ़ीनसें रहती हैं।

---

१ बर्तन २ सूची ३ कष्टपूर्ण, दर्द-भरा ४ हृदय-विदारक ५ दुःख ६ रंजीदः।

सबसे ज़ियादः नुमायाँ चीज़ इस जुलूस में जिहेज़ का सामान होता है। यह सब सामान सारे जुलूस और बाजेवालों के पीछे और दुलहन की फ़ीनस के आगे इस तर्तीब से जाता है कि ताँबे का एक-एक बर्तन एक-एक चंगेर में रखा होता है और एक मज़्दूर के हाथ में होता है। चीनी और शीशे के ज़ुरूफ़[1], किश्तियों में लगे होते हैं। उनके बाद सन्दूक़ वग़ैरः होते हैं, जिनमें दुलहन के जोड़े होते हैं। इनके बाद पलंग होता है जिसमें रेशमी तोशक, लिहाफ़, तकिये, चादर, सब सामान तैयार मौजूद होता है। और बिछौना रेशमी डोरियों से पायों में बँधा होता है और डोरियों के दोनों सिरों पर ख़ास वज़अ के नुक़्रई[2] गभ्भे लटकते होते हैं। लड़की को मुआशरत का सभी सामान दिया जाता है। आईनः, कंघी, सिंगार की ज़रूरी चीज़ें, तेल, इत्र और अगर इस्तिताअत हो तो चाँदी का पानदान, ख़ासदान, लोटा, कटोरा और बाज़ और चीज़ें दी जाती हैं। बहरहाल यह सब चीज़ें बाजों और बरात के जुलूस और दूल्हा के दरमियान में रहता है। और सबके पीछे डोलियों पर खाने की देगें होती हैं। यह बहोड़े का खाना कहलाता है, जिसको अमूमन् लड़की वाले दूल्हा को देते हैं।

इस शान से जब बरात दूल्हा के घर पहुँचती है तो ख़ुशी के शादियाने बजते हैं, डोमनियाँ पहले से पहुँच के बनड़े का गाना शुरू करती हैं जो ख़ास शादी के गीत हैं। और इस मुबारक सलामत के ज़ोर-शोर में दुलहन उतारी जाती है। बाज़ ख़ानदानों में यहाँ भी उसे दूल्हा ही गोद में ले के उतारता है। और बाज़ घरानों में दूल्हा की माँ-बहिनें आ के उतारती हैं। अन्दर उसे ले जा के बिठाते ही दूल्हा से उसके दामन पर नमाज़े शुक्रानः पढ़ाई जाती है। दुलहन के पाँव धुला के, पानी मकान के चारों कोनों में डाल दिया जाता है। रूनुमाई[3] होती है, जिसमें तमाम औरतें और अज़ीज़ मर्द जी खोल-खोल के रुपया या ज़ेवर देते हैं और मुँह खोल-खोल के उसकी सूरत देखते हैं।

इस नये घर में पहली रात दुलहन के लिए निहायत सख़्त पाबन्दियों और शर्मीलेपन से बसर करने की रात होती है। न वह किसी से बोल सकती है, न बातें कर सकती है, न किसी को आँख भर के देख सकती है। सिवा मैके की साथ वालियों के और किसी से कुछ नहीं कह सकती। और इसी मुसीबत से बचाने के लिए सुबह होते ही उसका भाई या और रिश्तेदार चौथी लेने को आ पहुँचता है और जहाँ तक बनता है, सवेरे ही सवार करा ले जाता है। इस मर्तबः भी दुलहन अगर्चिः इम्तियाज़[4] और शान से जाती है, मगर जुलूस और बाजे की ज़रूरत नहीं। दूल्हा भी दुलहन के साथ जाता है और उसके साथ सात तरह की तरकारियाँ और सात क़िस्म की मिठाइयाँ जाती हैं।

दिन गुज़र के, उसी रात को दुलहन के घर में चौथी खेली जाती है। दुलहन

१ बर्तन २ रुपहले ३ मुँहदिखाई ४ प्रमुखता।

को वह वर का जोड़ा उतार के चढ़ावे का जोड़ा पहनाया जाता है जो सब जोड़ों से ज़ियादः भारी, कामदार और निहायत ही पुरतकल्लुफ़ होता है। यह जोड़ा पहना के, उसका खूब बनाव-चुनाव किया जाता है। दूल्हा की तरफ़ से उसकी वहिनें और रिश्तेदार औरतें भी आ जाती हैं। और इस मज्मे में दूल्हा-दुलहन मिठाई से और दूल्हा की साथ वालियाँ और दुलहन वालियाँ तरकारी और फूलों की छड़ियों से बाहम लड़ती हैं। यानी मिठाई और तरकारियाँ एक-दूसरे के खींच-खींच के मारती और छड़ियों के हाथ रसीद करती हैं। कभी दिल्लगी-दिल्लगी में लड़ाई तेज़ भी हो जाती है और बाज़ औरतें ख़फ़ीफ़-सी[1] चोट भी खा जाती हैं।

चौथी के दो-चार रोज़ बाद फिर दुलहन दूल्हा के घर में आती है और उसके बाद अलल्‌अ़ुमूम चार चाले हुआ करते हैं। चाले का लफ़्ज़ चाल और चलने से निकला है। मतलब यह है कि दुलहन अपनी सुसराल में बुलाई जाती है। मगर यह बुलाना खुद उसके मैके में नहीं, बल्कि मैकेवालियों में होता है। यानी उसकी खालाएँ, फूफियाँ, ममानियाँ हिम्मत करके बारी-बारी उसे अपने यहाँ बुलाती हैं, जहाँ वह मअ़[2] दूल्हा के जाती है। और इन नये जोड़े के रख-रखाव के लिए खास एह्‌तिमाम और इन्तिज़ाम किया जाता है। फ़क़त एक रात-दिन दूल्हा-दुलहन मिह्‌मान रहते हैं और रुख़सत करते वक़्त उन्हें जोड़ा, सलाम करायी और जेवर वग़ैरः बक़द्रे हिम्मत और इस्तिताअ़त दिए जाते हैं।

यह थी लखनऊ वालों की शादी, जिसकी बहुत सी रस्मों को छोड़कर उसका एक इज्माली[3] खाका नाज़िरीने "दिलगुदाज़"[4] को दिखा दिया गया। देहात वालों की शादी का तरीक़: बजुज़ अक़्दे निकाह के, और तमाम बातों में बदला हुआ है। वहाँ भी माँझा होता है, मगर दूल्हा के लिए माँझे का ज़र्द जोड़ा उसकी वहिनें और अज़ीज़ औरतें लाती हैं। दुलहन के घर से धूम-धाम और जुलूस और बाजे के साथ माँझा नहीं आता। न दूल्हा के यहाँ से साँचक़ आती है और न दुलहन के घर से मेंहदी आती है। बल्कि साँचक़ और मेंहदी का मक़्सद बरात ही के दिन एक और तरीक़े से पूरा हो जाता है, वह यह कि बरात जब दुलहन के वहाँ पहुँचती है तो उसके मकान से ज़रा फ़ासिले पर ठहर जाती है। वहाँ से पहले बजाय साँचक़ के, बरी के नाम से दुलहन का जोड़ा और उसके साथ और बहुत से जोड़े और सुहाग की चीज़ें, जो ज़रूरी समझी जाती हैं, कुछ शकर, कुछ खीलें, ख्वानों पर लगा के, बाजे के साथ दुलहन के दरवाज़े पर भेजी जाती हैं। दूल्हा के अइज़्ज़: व अह्‌बाब साथ जाते हैं, जो उन सब चीज़ों को दुलहन वालों को अ़लानियः दिखाते और उनके सिपुर्द करते, शर्बत पीने के बाद वापस आते हैं।

इसके थोड़ी देर बाद इसी तरीक़े से दुलहन की तरफ़ से बरी आती है, जिसमें दूल्हा का जोड़ा होता है। यह बरी देहातियों में मेंहदी की क़ाइममक़ाम है। इसके

१. हल्की-सी २ सहित ३ संक्षिप्त ४ दिलगुदाज़ (हृदयद्रावी) पत्रिका पढ़नेवाले।

बाद वह जोड़ा पहन के, जिसमें जामः, नीमः, पगड़ी, मिक़्ना[1], सेहरा, फूलों की बद्धियाँ और जूता वग़ैरः होता है, रवाना होता है। अब बरात दुलहन के दरवाज़े पर जाती और उस मक़ाम में ठहरती है जो महफ़िले निकाह के लिए मुंतख़ब[2] किया गया हो। यहाँ रात भर नग़्मः व सुरोद व नाच-गाने की महफ़िल गर्म रहती है, बजुज़ उस वक़्त के जब क़ाज़ी साहब आ के निकाह पढ़ाएँ। निकाह का वही तरीक़ः है जो शहरवालों में बयान किया गया। अक़्द के बाद लड़की वाले बरात का खाना देते हैं। शहर में बजुज़ बहोड़े के खाने के, बरात को खाना देना लाज़िमी नहीं है। बल्कि दूल्हा ख़ुद खिला-पिला के ले जाता है। मगर देहात में लड़की वालों का अहम्तरीन फ़र्ज़ बरात को खिलाना है, जिसमें ज़रा भी कमी रह जाए तो उनके ख़याल में बरादरी में नाक कट जाती है।

यह खाना पूरा तूरा होता है। जिसमें पुलाव, ज़र्दः, क़ोरमः, ख़मीरी रोटियाँ, शीरमाल लाज़िम हैं और हर अदना व आला को बिला इस्तिस्ना व इम्तियाज़ पूरा तूरा दिया जाता है। खाना लेते वक़्त लड़के वाले निहायत बेहमीयती और बेशर्मी से चूँटी-चूँटी के लिए खाना माँगते हैं। घोड़ों और बैलों के लिए दाना-चारा ज़रूरत से बहुत ज़ियादः तलब करते हैं। और लड़की वालों पर फ़र्ज़ है कि ज़बान से नहीं न निकले। किसी चीज़ के देने से इंकार किया और आबरू ख़ाक में मिल गई और सब किया-धरा बर्बाद हो गया।

इसके बाद रुख़सती और वापसी का क़रीब-क़रीब वही तरीक़ः है जो शहर वालों में है। हाँ, एक रवाज यह भी है कि देहात में बरात के साथ औरतें नहीं जातीं। और न दुलहन के साथ कोई मुअज़्ज़ज़ ख़ातून आती है। दाई और ख़ादिमः की हैसियत से दो-एक अदना दर्जे की औरतें अल्बत्तः चली आती हैं। मासिवा इसके देहात में दुलहन पर भी बहुत ज़ियादः सख़्तियाँ होती हैं। उसका फ़र्ज़ है कि चौथी में वापस आने की घड़ी तक सुसराल में जिस तरह रख दी जाये, रखी रहे। न खाये, न पिए; न पेशाब-पाख़ाने को जाए; न बोले, न चाले; न चेहरे पर से हाथ हटाए और न आँखें खोले। इसलिए कि यह सब बातें बेहयाई व बेशर्मी में दाख़िल हैं। और इस अन्देशे से कि दुलहन को सुसराल में जा के पाख़ाने-पेशाब की ज़रूरत न पेश आए, दो दिन पहले से उसका खाना-पानी बन्द कर दिया जाता है। और ज़ियादः मुसीबत यह है कि देहात की दुलहन अक्सर दूसरे गाँव में ब्याह दी जाती है और आमद-रफ़्त में दो-दो, तीन-तीन दिन मंज़िलें तय करना होती हैं। ज़ाहिर है, ऐसी हालत में दुलहन बेचारी पर कैसी सख़्त मुसीबतें गुज़रती होंगी।

देहात में साँचक़ और मेंहदी के तर्क हो जाने और बरात खिलाने में सख़्तियाँ होने की वजह ग़ालिबन् यह है कि ज़ियादःतर बरात सफ़र करके एक बस्ती से दूसरी बस्ती में जाती है, जिसकी वजह से यह मुम्किन नहीं होता कि एक दिन एक जुलूस यहाँ से

१ दूल्हा के ओढ़ने का महीन कपड़ा, जिस पर सेहरा रहता है २ निश्चित।

जाए और दूसरे दिन दूसरा जुलूस वहाँ से यहाँ आए और फिर तीसरे रोज बरात रवाना हो। अला हाजल्क़ियास बरातियों को, गोकि दूल्हा अक्सर अपने घर से खिला के ले जाता है, लेकिन लड़की वाले के घर पहुँचते-पहुँचते सारे बराती भूखे बंगाली होते हैं और कँगलों की-सी शान दिखाने लगते हैं।

मय्यित (मृतक-संस्कार)

ख़ुशी की तक़रीबों को हम बक़द्रे जरूरत बता चुके। अब ग़मी की सुहूबतों का बयान कर देना भी ज़रूरी है। मगर यह सारे हिन्दोस्तान में आम हैं। जहाँ तक मैंने ग़ौर किया, उनमें लखनऊ की कोई ख़ुसूसीयत नहीं नजर आती। ग़मी का बाइस किसी का मरना होता है। लिहाजा मरने के दिन अइज़्ज़: व अहूबाब को खबर कर दी जाती है। और जिन लोगों को मज्बूरी मानिअ[1] नहीं होती, जरूर आते हैं। औरतें जो आती हैं, अपनी डोली या सवारी का किराया आप देती हैं। शादी की तक़रीबों में और आम क़िस्म की आमद[2] व रफ़्त[3] में लाजिम है कि मिहूमान आनेवालियों का किराया दिया जाए। मगर ग़मी का घर इस तक्लीफ़ से मुस्तस्ना[4] कर दिया गया है।

इसके बाद मुर्दे को नहलाते हैं। शीओं के यहाँ मामूल[5] है कि ग़ुस्ल के लिए जनाज: पहले ग़ुस्लख़ाने में ले जाया जाता है, जहाँ ग़स्साल, जो नहलाने में निहायत मश्शाक़[6] मगर इसके साथ क़सिय्युल्क़ल्ब[7] मशहूर हैं, मुर्दे को ग़ुस्ल दे के कफ़न पहनाते हैं। मगर सुन्नियों के यहाँ मुर्द: अपने घर ही में नहलाया जाता है और ख़ुद अइज़्ज़: व अक़ारिब या दोस्त-अहूबाब नहलाते हैं। अक्सर मर्द और औरतें, जो जियाद: मश्शाक़ हों, बुला लिये जाते हैं। और अक्सर जगह यह होता है कि कोई शरअ़ाँ मौलवी साहिब या और कोई पढ़े-लिखे वाक़िफ़कार बुजुर्ग बताते जाते हैं कि इस तर्तीब से नहलाना चाहिए और मस्नून[8] ग़ुस्ले मैयित[9] क्या है।

ग़ुस्ल के बाद कफ़न पहनाया जाता है, जिसमें इजार, एक कफ़नी, जो कुर्ते के नाम से मशहूर है, पहना के ऊपर से दो चादरें लपेट दी जाती हैं और सर और पाँव के पास और कमर में कपड़े की चिटें फाड़ के बाँध दी जाती हैं, ताकि खुलने न पायें।

इसके बाद अगर शीओं का जनाज: है तो सन्दूक़ में रख के, उस पर कोई दोशाला डाल के, जनाजे को शामियाने के साये में ले जाते हैं और साथ-साथ कोई शख़्स क़िर्अत व अदाए मख़ारिज से सूर: ए रहूमानि की बाज आयतें पढ़ता जाता है। सन्दूक़, शामियाने के उठानेवाले अलल्अ़ुमूम शुहदे होते हैं, जिनका मुद्दतें दराज से मुर्दे उठाना पेश: हो गया है। मगर इन लोगों की बेहूदगियों और बदतमीजियों से शीओं में यह

---

१ बाधक २ आना ३ जाना ४ अलग ५ नियम ६ निपुण ७ कठोर-हृदय ८ वह क़ानून जो इस्लामी-धर्मशास्त्र से सुन्नत (जाइज़) हो ९ मृतक का स्नान।

ख़याल पैदा हुआ है कि जनाज़ों को ख़ुद उठाना चाहिए। जिसके लिए मुतअद्दिद कमेटियाँ शहर में क़ाइम हो गई हैं, और उनके पुरजोश और दीनदार अर्कान तलाश में रहते हैं कि कोई मर जाए तो उसके जनाज़े को ख़ुद अपने एहतिमाम में ले के मज़्हबी आदाब और एहतियातों से उठाएँ।

सुन्नियों में मैयित को किसी हल्की चारपाई पर लिटा के, और ऊपर से चादर डाल के ले जाते हैं। अगर औरत का जनाज़ः हो तो चारपाई पर बाँस की खपाचों को क़ौसनुमा[1] सूरत में क़ाइम करके, और उनके सिरों को दोनों जानिब चारपाई में अटका के, ऊपर से चादर डालते हैं। इसको 'गह्वार:[2] बनाना' कहते हैं और इसकी ज़रूरत महज़ पर्दे के ख़याल से पैदा हुई है। सुन्नियों में जनाज़े को ख़ुद अइज़्ज़: व अह्बाब अपने कन्धों पर उठा के आहिस्तः आहिस्तः कलिमः पढ़ते हुए ले जाते हैं और नमाज़े जनाज: पढ़ाई जाती है।

क़ब्र, यहाँ अ़मूमन् सन्दूक़ी खोदी जाती है, जिसमें इन्सान के सीने तक एक चौड़ा हौज़ खोदा जाता है, फिर उसके अन्दर दोनों जानिब किनारे छोड़ के एक दूसरा पतला हौज़ खोदा जाता है। वह भी इन्सान की कमर से कम गहरा नहीं रहता। जब क़ब्र ख़ूब साफ़ कर ली जाती है, तो मुर्दे को उसमें निहायत एह्तियात से उतारते हैं, ताकि हाथ से गिरने और चोट खाने न पाये। क़ब्र में अ़मूमन् सिरहाना शिमाल[3] की तरफ़ रखा जाता है और मुर्दे का मुँह ढेलों वग़ैर: की आड़ लगा के क़िब्ले की तरफ़ कर दिया जाता है। इसके बाद बन्द खोल देते हैं और अक्सर अइज़्ज़: को मुँह खोल के मैयित की आख़िरी सूरत भी दिखा दिया करते हैं। इस मौक़े पर शीअ़ों के वहाँ तल्क़ीन[4] पढ़ी जाती है। जिसकी सूरत यह है कि कोई सिक़:[5] और मुत्तक़ी[6] बुज़ुर्ग क़ब्र में उतर के मुर्दे का शानः[7] हिलाते जाते हैं और एक अ़रबी इबारत पढ़ते जाते हैं, जिसमें मैयित की तरफ़ ख़िताब करके बताया जाता है कि वहाँ नकीरैन[8] आकर सवाल करें तो तुम यह जवाबात देना, जिसके सिलसिले में तमाम अ़क़ाइदे दीनियः की तालीम कर दी जाती है। इसके बाद अन्दरूनी हौज़ पर तख़्ते जमा दिए जाते हैं। और अगर उनमें दराज़ या झिरी हो तो मिट्टी के ढेले रख-रख के इत्मीनान कर लेते हैं कि मिट्टी अन्दर न जाएगी। क़ब्र में काफ़ूर और ख़ुशबू तो कफ़न ही में मौजूद होती है। बाज़ लोग केवड़े की बोतल भी डाल देते हैं, और इसके बाद ऊपर से मिट्टी डाल के क़ब्र का ऊपर वाला हौज़ भर दिया जाता है और क़ब्र की सूरत बना दी जाती है।

मिट्टी देने को लोग बड़ा अहम और ज़रूरी काम तसव्वुर करते हैं। और जब क़ब्र में मिट्टी डाली जाने लगती है, तो हाज़िरीन में से हर शख़्स, आ़म इससे कि कोई

---

१ धनुषाकार २ पालना, हिंडोला ३ उत्तर ४ नसीहत, अमल, वाज़ ५ सच्चरित्र, धर्मपरायण ६ संयमी ७ कंधा ८ वे दो फ़िरिश्ते जो मरनेवाले से क़ब्र में सवाल-जवाब करते हैं।

हो, तीन मर्तबः हाथ में मिट्टी ले के क़ब्र में डालता है और क़ुर्आन की तीन आयतें पढ़ता है, जिनका तर्जुमः यह है कि "हमने तुमको इससे (मिट्टी से) पैदा किया, हमने तुमको फिर इसी में पहुँचाया और हम फिर आइन्दः (रोज़े क़ियामत में) तुमको इससे निकाल के खड़ा करेंगे"।

बहरहाल जब क़ब्र बन के तैयार हो जाती है तो उस पर वही चादर, जो जनाज़े पर पड़ी थी, या फूलों की चादर डाल दी जाती है और फ़ातिहः पढ़ के और दुआए मग़्फ़िरत करके लोग वापस आते हैं।

मरनेवाले के घर में उसकी वफ़ात के दिन चूल्हा नहीं जलता, बल्कि जनाज़े के घर से निकलने के बाद किसी अज़ीज़ व क़रीब के घर से पक्का पकाया खाना आ जाता है, जिसको लोग दफ़्न से वापस आ के खाते हैं, और उसी वक़्त तमाम मिहमान उस खाने से पेट भरते हैं। तीन दिन तक मामूलन् यही होता है कि घर में खाना नहीं पकता, यह तरीक़: अस्ल में आग़ाज़े इस्लाम और ख़ुद हज़रत रिसालत अलैहिस्सलाम से शुरू हुआ, जबकि हज़रत जाफ़रे तैयार की शहादत का हाल सुनकर और उनके घर वालों को रोता-पीटता देखकर आपने खाना भिजवा दिया था। मगर लोगों ने इस शाइस्तः बुनियाद पर जो इमारत यहाँ क़ाइम कर ली है, वह निहायत लग़्व और शर्मनाक है। किसी के मरते ही, घर में जितना खाना तैयार हो, फेंक दिया जाता है, घड़ों-मटकों का पानी बहा दिया जाता है, और उसका सबब, औरतें बच्चों से यह बयान करती हैं कि फ़िरिश्तए मौत जिस छुरी से जान लेता है, उसको खाने-पीने की चीज़ों से धो डालता है।

मरने के तीसरे दिन और कभी मुनासिब दिन देख के चौथे रोज सिवुम होता है। दरअस्ल इसका आग़ाज़[1] इससे हुआ कि यह दिन इसलिए मुक़र्रर था कि लोग आकर मरासिमे ताज़ियत[2] अदा करें और पसमांदों[3] की तसल्ली व तशफ़्फ़ी[4] करें। मगर यह ख़याल करके कि एक मज्मए कसीर[5] का ख़ाली बैठा रहना अच्छा नहीं मालूम होता, यह तर्ज़े अमल इख़्तियार किया गया कि जो लोग आएँ, बैठकर क़ुर्आन मजीद की तिलावत करें। और दो-एक बार पढ़ के उनका सवाब मर्हूम की रूह को बख़्शें। चन्द रोज में ताज़ियत का ख़याल जाता रहा और फ़क़त यह रह गया कि उस रोज़ कितने लोग आए और कितने क़ुर्आन मरनेवाले को बख़्शे गए। ख़त्मे सुहूबत के वक़्त पहले मुख़्तलिफ़ लोग क़ुर्आन के चन्द रुकूअ और आख़िर की छोटी सूरतें पढ़ के फ़ातिहः के लिए हाथ उठाते हैं। इसमें एक नया लग़्व तरीक़: यह इख़्तियार किया गया है कि थोड़ा घिसा हुआ सन्दल, एक प्याले में तेल और थोड़े फूल ला के हाज़िरीन

---

१ आरम्भ २ किसी के मर जाने पर उसके घर शोक प्रकट करने जाने की रस्म ३ मृतक पुरुष के बाल-बच्चों ४ सान्त्वना, ढाढ़स ५ बहुत से लोगों का जमाव, भीड़।

में से हर एक के सामने पेश किये जाते हैं। हर शख्स एक फूल उठा के तेल में डालता है और वह सन्दल और तेल और फूल ले जा के मर्हूम की तुर्बत[1] पर डाल दिए जाते हैं।

उसी रोज शाम को पहले बड़ी फ़ातिह:ख्वानी होती है। और घर में पहली बार खाना पकता है। अगर्चि: अद गुर्बत[2] ने हमदर्दों की इस क़दर कमी कर दी कि मैयित के घर खाना भेजनेवाले बहुत कम रह गए हैं और अक्सर ग़रीब घर वालों को इससे पहले ही खाना पकाने पर मज्बूर हो जाना पड़ता है, लेकिन मुरव्वज:[3] तरीक़: यही है कि तीजे यानी सिवुम से पहले बाहर ही के खाने पर बसर हो।

सिवुम और चिहिलुम के फ़ातिहों ने अवाम में अजब शान पैदा कर ली है। अस्लीयत तो इसी क़दर है कि जहाँ तक हो सके ग़रीबों और मुहताजों को खाना खिलाया जाए और उसका सवाब मरनेवालों को पहुँचा दिया जाए। हिन्दोस्तान में हिन्दुओं में मुर्दों की तेरहवीं और बरसी होते देख के, मुसलमानों का जी चाहा कि हम भी इसी क़िस्म का काम नामवरी और धूम-धाम से करें। इस शौक़ के तक़ाज़े ने तीजे, दसवीं, बीसवीं, चिहिलुम और देसे के नाम से ग़मी की तक़रीबें पैदा कर दीं। जिनमें होता वही ईसाले सवाब[4] है, मगर दिखावे, नाम पैदा करने और बरादरी को खाना देने की शान से। फिर उस पर क़ियामत यह हुई कि अवाम में यह अक़ीद:[5] पैदा हुआ कि इन हमारे मुरव्वज: फ़ातिहों में, जो कुछ दिया जाता है, वह खुदा के हुक्म से बिजिंसिही[6] मुर्दे को पहुँचा दिया जाता है। इस अक़ीदे ने फ़ातिहों में यह शान पैदा कर दी कि गोया मुर्दे की दावत की जाती है। वह खाने ज़ियाद: एहतिमाम से दिए जाते हैं जो मर्हूम को मर्ग़ूब[7] थे। हालाँकि खैरात का उसूल यह चाहता है कि जिस ग़रीब को खिलाया जाये उसकी पसन्द का लिहाज़ रखा जाये, ताकि उसके खुश करने से सवाब में तरक़्क़ी हो।

इसी क़दर नहीं, फ़ातिहों में तो अब यह होता है कि चार-चार, पाँच-पाँच जोड़ खाने के निकाल के एक पाक व साफ़ मक़ाम पर तर्तीब से चुने जाते हैं। आबखोरे में पानी भी ला के रख दिया जाता है। इसलिए कि खाने में मुर्दे को पानी पीने की भी ज़रूरत होगी। फिर इसके लिए कपड़ों के नये और हत्तलइम्कान नफ़ीस और क़ीमती कपड़े, ओढ़ना, बिछौना, जानमाज़[8], नई क़लई किये हुए तांबे के बर्तन, लोटा, कटोरा, पतीली वग़ैर: भी खाने के बराबर रख दिये जाते हैं और जब यह सब सामान तैयार हो जाता है तो कोई मुल्ला आ के फ़ातिह: करता यानी क़ुर्आन की चन्द मख्सूस आयतें और छोटी-छोटी सूरतें पढ़कर दुआ करता है "कि खुदावन्दा! इन चीज़ों का सवाब फ़लाँ शख्स को पहुँचा"। इस तरीक़े से अवाम को इत्मीनान हो जाता है कि यह चीजें मुर्दे को पहुँच गईं और वह सब खानें और चीजें किसी मुहताज या दीनदार मुसलमान के घर पहुँचा दी जाती हैं।

---

१ क़ब्र २ ग़रीबी ३ प्रचलित ४ मुर्दों की रूहों को क़ुर्आन पढ़ने या खाना खिलाने का सवाब (पुण्य) पहुँचाना ५ विश्वास ६ वैसे ही ७ पसन्द ८ नमाज़ पढ़ने की दरी या चटाई।

इन चीज़ों से खुद मर्हूम के मुनमत्तिअ़[1] होने के ख़याल ने दिलों में यहाँ तक रुसूख़[2] पैदा कर लिया है कि बाज़ अदना तबक़े की जाहिल औरतें फ़ातिहे की चीज़ों के पास बन-सँवर के खुद भी बैठ जाती हैं कि मर्हूम शौहर इन खानों और कपड़ों से लुत्फ़ उठाएगा तो खुद उनके हुस्न व जमाल की लज्ज़त से क्यों महरूम[3] रह जाए।

फ़ातिहों में खाना फ़ातिहे की ज़रूरत से बहुत ज़ियादः पकवाया जाता है, जो हस्बे तौफ़ीक़ अइज़्ज़ः व अह्बाब में, जिनसे हिस्स:दारी है, तक़्सीम होता है। और तमाम घर के परजों, धोबी, नाई, हलालख़ोर[4] वग़ैरः को दिया जाता है, जिन्होंने फ़ातिहों के, शानदार तक़्रीबें बन जाने की वजह से अपने हुक़ूक़[5] पैदा कर लिये हैं।

गोकि हमने यह सब कार्रवाइयाँ फ़ातिहए सिवुम[6] के ज़िम्न[7] में बयान कर दी हैं, लेकिन इनकी तामील ज़ियादः अहम्मीयत के साथ चिहिलुम में होती है। जो कहने को मरने के चालीसवें दिन, मगर अज़् रूए अ़मल दरआमद चालीस से दो-चार रोज़ कम ज़माने में हुआ करता है। और फ़ातिहे दसवीं, बीसवीं के भी गो इम्तियाज़ से होते हैं और हर जुमेरात का दिन ख़ानदान के बुज़ुर्गों के फ़ातिहे के लिए मुक़र्रर हो गया है, मगर अ़लल्‌अ़ुमूम सिवुम और चिहिलुम के फ़ातिहे ग़ैरमामूली एहतिमाम से होते हैं। और हज़रात इमामियः के यहाँ हर ग़मी के फ़ातिहे में लुज़ूम[8] के साथ मज्‌लिसे अ़ज़ाए आले अ़बा अ़लैहिमुस्सलाम भी होती है।

ग़मी की तक़्रीबों के खुसूसीयात हमने बयान कर दिये। अब रहा महफ़िलों की निशस्त का तरीक़ः, वह वही है जो दूसरी तक़्रीबों में अर्ज़ कर दिया गया। यह खुशी और ग़मी की वह तक़्रीबें थीं, जो अख़्लाक़ी व मुआ़शरती तरीक़े से मुरव्वज[9] हैं। मज़्हब ने जिन महफ़िलों को रवाज दिया है, उनको हम आइन्दः बयान करेंगे।

मय्यित के बाद मृत्यु-शोक मनाने की मज्‌लिसें

आदाबे सुह्बत में दसवीं चीज़ सुह्बतें यानी अ़ज़ादारी की मज्‌लिसें और मौलुद शरीफ़ की महफ़िलें हैं। मज्‌लिसों का आ़म रवाज शीओं में है और मौलुद शरीफ़ का सुन्नियों में। अगर्चिः दोनों में दोनों फ़रीक़ों के लोग शरीक होते हैं, बल्कि यह भी होता है कि बाज़ मुहिब्बे[10] अहले बैत सुन्नी, मज्‌लिसें अ़ज़ा[11] करते हैं और शीअ़ः हज़रात के यहाँ मौलुद शरीफ़ की महफ़िल होती है, मगर लखनऊ की ख़ास चीज़, जिसने लखनऊ की सोसाइटी पर असर डाला और नीज़ सोसाइटी उससे मुतअस्सिर हुई, वह मज्‌लिसें हैं। मौलुद की महफ़िलों में कोई खुसूसीयत नहीं, जैसी सारे हिन्दोस्तान में हुआ करती हैं यहाँ भी होती हैं। गो इसमें शक नहीं कि बाज़ उमरा के यहाँ

---

१ लाभ उठाने २ पैठ, पहुँच ३ वञ्चित ४ भंगी ५ अधिकार ६ तीजे ७ अन्तर्गत ८ अनिवार्य आवश्यकताओं ९ प्रचलित १० प्रेम करनेवाले ११ मृत्यु-शोक पर महफ़िल।

मौलुद में भी क़रीब-क़रीब वही शाइस्तगी व तहज़ीब नज़र आती है, जो शीओं की शाइस्तगी की वजह से मजालिस में हुआ करती है।

अज़ादारी की मज्लिसें बहुत कसूरत से होती हैं। और अगर कोई शख्स चाहे और पता लगाता रहे तो साल भर वग़ैर मिहनत-मज़दूरी के महज़ मजालिस की शिर्कत से अपना पेट पाल सकता है और फ़क़त फ़ैयाज़[1] व अक़ीदतमन्द शीओं की फ़ैयाज़ी पर जी सकता है। मजालिस ही की बरकत से मुख्तलिफ़ क़िस्म के ज़ाकिर पैदा हो गये, जो जुदा-जुदा अुन्वानों से मसाइवे सय्यिदुश्शुहदा अलैहिस्सलाम को बयान करके रोते और रुलाते हैं। इनमें सबसे पहले उलमा व मुज्तहिदीन का बयान है। इनके बाद हदीसख्वाँ हैं, जो अहादीस को सुनाकर ऐसी पुरदर्द और सोज़ोगुदाज़ की आवाज़ में फ़ज़ाइले अइम्मए इत्हार व मसाइवे आले रसूल बयान करते हैं कि सामिअीन[2] वेइख्तियार रोने लगते हैं। और कैसा ही संगदिल हो, ज़ब्ते गिर्यः[3] नहीं कर सकता। इन्हीं से मिलते-जुलते वाक़िअ़ःख्वाँ हैं, जो वाक़िआते मसाइवे अहले बैत को ऐसे अल्फ़ाज़ और ऐसी फ़सीह[4] व बलीग़[5] इबारत में सुनाते हैं कि जी चाहता है, सुनते रहिए और रोते जाइए। वाक़िअ़ःख्वानी की फ़साहत ने दरअस्ल दास्तानगोई को बे-मज़ः कर दिया है। इनके बाद मर्सियःख्वाँ या तहतुल्लफ़्ज़ख्वाँ[6] हैं, जो मर्सियों को शाइरानः अंदाज़ से सुनाते हैं। मगर इस सादगी से सुनाने में भी चश्म व अब्रू[7] और हाथ-पाँव के हरकात व सकनात से वाक़िआत की ऐसी सच्ची और मुकम्मल तस्वीर खींच देते हैं कि सामिअीन को अगर रिक़्क़त[8] से फ़ुर्सत मिली तो दाद देने पर मज्बूर हो जाते हैं। इसी मर्सियःख्वानी की ज़रूरत व क़द्र ने मीर अनीस और मिर्ज़ा दबीर पैदा किए, जो कमाले शाइरी की आलातरीन शहनशीन पर पहुँच गए। था तो यह मसल मशहूर थी कि "बिगड़ा शाअ़िर मर्सियःगो", या लखनऊ के कमाले मर्सियःगोई ने सारे हिन्दोस्तान से मनवा लिया कि आलमे शेअ़रोसुखन में मर्सियःगोई का रुत्बः दीगर अस्नाफ़े सुखन ब-दर्जहा बढ़ा हुआ है। क़द्रदानी ने बीसियों मर्सियःगो और सदहा मर्सियःख्वाँ पैदा कर दिए जो मुहर्रम और दीगर अय्यामे अज़ादारी में लखनऊ से निकल के हिन्दोस्तान के बिलाद दूर व दराज़ में फैल जाते हैं और वहाँ की सुहबतों में अपने कमालात का सिक्कः बिठा के वापस आते हैं। मर्सियःख्वानों के बाद सोज़ख्वाँ हैं। यह लोग नौहों और मर्सियों को उसूले मूसीक़ी[9] की पाबन्दी में गा के सुनाते हैं। इनमें अ़लल्अ़ुमूम तीन आदमियों का गिरोह होता है। दो सुर देते हैं, जो बाज़ू कहलाते हैं, और तीसरा शख्स, जो बीच में बैठता है, सोज़ सुनाता है। इन लोगों ने भी उसूले मूसीक़ी के बरतने और रागों और धुनों के अदा करने में इस दर्जे तरक़्क़ी की

---

१ दानी २ श्रोतागण, सुननेवाले ३ रोने पर क़ाबू रखना ४ सरल और सुन्दर ५ आलंकारिक ६ नज़्म या ग़ज़ल को (मातम के वक़्त) साधारण ढंग से पढ़नेवाला ७ नेत्र और भृकुटी ८ रोदन ९ गानविद्या के सिद्धान्त।

है कि गवैयों को पीछे डाल दिया। और लखनऊ में बहुत से इस पाये के सोज़ख्वाँ पैदा हुए कि बड़े-बड़े उस्ताद गवैये उनके आगे कान पकड़ने लगे। बहरहाल जो दर्जए कमाल मर्सियःगोइयों ने शाइरी में हासिल किया, वही सोज़ख्वानों ने मूसीक़ी में।

यह सब फ़न महज़ मज्लिसें अज़ा की बरकत से पैदा हुए। और इन सबने अ़लावः अदबे उर्दू को बेइन्तिहा तरक़्क़ी देने के, नज़्म व नस्रे उर्दू की दुन्या में यह खास शान पैदा कर दी कि इंसानी जज़्बात को जिस तरह चाहें, हरकत में लाएँ। और जिस क़िस्म के जज़्बात और जैसे जोश को चाहें, पैदा कर दें। इस फ़न को बा-जाब्तः तौर पर यूनानियों ने तरक़्क़ी दी थी, जिन्होंने अपनी तक़्रीरों[१] को मुअस्सिर[२] बनाने के लिए पता लगाया था कि किन अल्फ़ाज़, किन हरकात, कैसे लहजे और किन आवाज़ों से इंसान के दिल में खुशी या ग़म या रहम या क़हर व ग़ज़ब का जोश पैदा किया जा सकता है।

इसके बाद कभी इस फ़न की तरफ़ किसी क़ौम ने तवज्जुः नहीं की। यहाँ तक कि अब यूरोप के ऑरेटरों और स्पीकरों ने इस फ़न को ज़िन्दः करना शुरू किया। मगर लखनऊ में महज़ ज़ाकिरी के तुफ़ैल में इस फ़न को खुद ब खुद इस क़दर तरक़्क़ी हो गई कि यूरोपवाले भी शायद इस दर्जे से आगे न बढ़ सके होंगे।

मज्लिसों में खत्म के वक़्त शर्बत पिलाना या मिठाई या खाना तक़्सीम करना लाज़िम है। मगर मुहज़्ज़ब और दौलतमन्द लोगों ने अब यह निहायत ही शाइस्तः तरीक़ः इख्तियार कर लिया है कि जिन हज़रात को बुलाना होता है, उनके पास दावत के रुक़्ओं के साथ हिस्सः भी भेज दिया जाता है। मज्लिस से आते वक़्त हाथ में हिस्सः ले के चलना बहुत से मुहज़्ज़ब और खुशहाल लोगों को तहज़ीब के खिलाफ़ और निहायत मुब्तज़ल[३] मालूम होता था। गोकि अ़वाम और बाज़ारी लोग इसमें मुज़ायक़ः[४] नहीं समझते, मगर खुशहाल और वज़अ़दार लोगों को यह गराँ गुज़रता था। अगर खिदमतगार मौजूद न हो तो बहुत से लोगों को मज्बूर होना पड़ता था कि मज्लिस ही में किसी दोस्त या ग़रीब आदमी को अपना हिस्सः दे दें।

मज्लिस की निशस्त की शान यह है कि लकड़ी का एक मिम्बर, जिसमें सात-आठ ज़ीने होते हैं, दालान या कमरे के एक जानिब रखा होता है और लोग चारों तरफ़ दीवार के बराबर पुरतकल्लुफ़ फ़र्श पर बैठते हैं। और अगर मज्मा ज़ियादः हुआ तो बीच की जगह भी भर जाती है। जब काफ़ी आदमी जमा हो जाते हैं, तो ज़ाकिर साहब मिम्बर पर रौनक़-अफ़्रोज़[५] होकर, पहले हाथ उठाकर कहते हैं— फ़ातिहः। साथ ही तमाम हाज़िरीन हाथ उठा के चुपके-चुपके सूरः फ़ातिहः पढ़ लेते हैं। इसके बाद अगर वह हदीसख्वाँ या वाक़िअ़ःख्वाँ हुए, तो किताब खोल के बयान करना शुरू करते हैं। और अगर मर्सियःख्वाँ हुए, तो मर्सियः के औराक़[६] हाथ में ले के मर्सियः

---

१ बातचीत २ प्रभावशाली ३ हीनकार्य, अशोभन ४ आपत्ति, हरज ५ शोभित ६ पृष्ठ।

सुनाने लगते हैं। मुज्तहिदों और हदीसख्वानों के बयान को लोग खामोशी व अदब से सुनते और रिक़्क़त के मौक़ों पर ज़ारोक़िताार रोते हैं। मगर मर्सियों के सुनते वक़्त मज्मऐ हाज़िरीन से बजुज़ रिक़्क़त के बन्दों के, जबकि रोने से फ़ुर्सत नहीं मिलती, बराबर सदाए आफ़्रीं व मर्हबा बलन्द होती रहती है।

सोज़ख्वां मिम्बर पर नहीं बैठते, बल्कि लोगों के बीच में एक जानिब बैठ के नौहे और मर्सिए सुनाते और अक्सर दाद भी पाते हैं।

अक्सर मज्लिसों में मुख्तलिफ़ ज़ाकिर यके बाद दीगरे पढ़ते हैं। अ़ुमूमन् हदीसख्वानी के बाद मर्सिय:ख्वानी और उसके बाद सोज़ख्वानी होती है। सोज़ख्वानी चूंकि दरअस्ल गाना है, इसलिए इसका रवाज अगर्चि: लखनऊ ही में नहीं, सारे हिन्दोस्तान में कसरत से हो गया है, मगर मुज्तहिदीन और सिक़: और पाबन्दे शरअ़ बुज़ुर्गों की मज्लिसों में सोज़ख्वानी नहीं होती। मुज्तहिदीन के यहाँ की मज्लिसों में पाबन्दिए दीन का बहुत खयाल रहता है। खुसूसन् यहाँ ग़ुफ़्रांमआब के इमामबाड़े में नवीं मुहर्रम को जो मज्लिस होती है, वह खास शान और इम्तियाज़ रखती है और इसकी शिर्कत के शौक़ में लोग दूर-दूर से आते हैं। इसमें अस्नाए बयान में ऊंट हाज़िरीन के सामने लाए जाते हैं, जिन पर कजावे या महमिलें[1] होती हैं और उन पर सियाह पोशिशें पड़ी होती हैं। और मोमिनीन को यह मंज़र[2] नज़र आ जाता है कि दश्ते कर्बला में अहले बैत का लूटा, मारा और तबाहशुद: क़ाफ़िल: किस मज़्लूमी[3] व सितमज़दगी की शान से शाम की तरफ़ चला जाता था। हाज़िरीन पर इस अलमनाक[4] मंज़र का ऐसा असर पड़ता है कि हज़ारहा हाज़िरीन में से दस-बीस को ग़श ज़रूर आ जाता है, जो बड़ी मुश्किल से उठाकर अपने घरों को पहुँचाए जाते हैं।

खानदाने इज्तिहाद से मजालिस में इस ड्रेमेटिक शान की इब्तिदा होने का यह अंजाम हुआ कि अक्सर अक़ीदतमन्द उमरा जिद्दततराज़ियाँ[5] करने लगे। और बाज़ बुज़ुर्गों ने तो यहाँ तक तरक़्क़ी की कि मज्लिसों का बिल्कुल ड्रामा बना दिया। चुनांचि: मौलवी महदी हुसैन साहिब मर्हूम के यहाँ मज्लिसों में वक़्तन् फ़ वक़्तन् थिएटर के ऐसे पर्दे खुलते, जिनके ज़रीए से वाक़िआते कर्बला के पुरअलम सीन पेशे नज़र कर दिए जाते और हाज़िरीन पर अ़जब रिक़्क़त का आलम तारी होता। इससे भी ज़ियाद: तरक़्क़ी मर्हूम के यहाँ ज़नानी मज्लिसों में होती, जिनमें शहर की हज़ारों औरतें जमा हो जातीं। और बजाय इसके कि ज़ाकिर हदीसख्वानी करें, स्टेज पर कर्बला के सीन ज़िन्द: ऐक्टरों और ऐक्ट्रेसों के ज़रीए से दिखाए जाते। जहाँ तक मुझे मालूम है, उलमाए मुज्तहिदीन ने इन बिद्‌आ़त[6] को पसन्द नहीं किया। मगर अ़वामुन्नास की दिलचस्पी इनमें रोज़ ब रोज़ बढ़ती ही जाती है।

अस्ल हक़ीक़त यह है कि शीओं की मज्लिसों ने लखनऊ की मुआ़शरत पर बहुत

---

१ हौदे २ दृश्य ३ सताया हुआ ४ कष्टप्रद ५ नई नई खोजें ६ धर्म में नई बातें पैदा करना।

नुमायाँ असर डाला है। और इनके ज़रीए से आदावे सुह्‌वत और तह्‌ज़ीव व शाइस्तगी को वहुत ज़ियादः तरक़्क़ी हो गई है। और मर्सियों के ज़ौक़ ने शाइरी व मूसीक़ी को ज़िन्दः ही नहीं कर दिया, वल्कि इन दोनों फ़नों का सच्चा मज़ाक़ मर्दों से तजावुज़ करके[1] पर्दानशीन शरीफ़ खातूनों तक पैदा कर दिया। और मैं समझता हूँ कि यह चीज़ यूरोप के सिवा, जहाँ रक़्स[2] व सुरोद[3] लड़कियों की तालीम में दाखिल है, एशिया के किसी शहर में न पैदा हो सकेगी।

मज्‌लिसों के अलावः एक और तरह की मह्‌फ़िलें भी शीओं में होती हैं, जो "सुह्‌वत" के नाम से याद की जाती हैं। इनका ज़मानः ९ रवीउल्‌अव्वल यानी ईदे शुजाअ् के दिन से शुरू होकर, चन्द रोज़ तक वाक़ी रहता है। मजालिसें अज़ा जिस तरह अह्‌ले वैत के मसाइव[4] पर रोने और आँसू वहाने के लिए हैं, इसी तरह यह सुह्‌वतें इस ग़रज़ से की जाती हैं कि ड्रेमेटिक तरीक़े से दुश्मनाने अह्‌ले वैत की तौहीन व तज़्लील[5] की जाए और उनको वे-तकान गालियाँ दी जाएँ। और चूँकि शीओं के खयाल में अह्‌ले वैत के सबसे वड़े दुश्मन उम्मुल्‌मोमिनीन हज़रत आइशः सिद्दीक़ियः रज़ियल्लाहु अन्‌हा और हज़रत उमर फ़ारूक़ रज़ि० थे, इसलिए इन्हीं दोनों मुह्‌तरम नामों की तौहीन करना और उनके पुतले वना के, ज़िल्लत व नफ़्रत के साथ जलाना, इन सुह्‌वतों का मक़्सूदे अस्ली हो गया है। इनमें किसी सुन्नी के जाने की कोई वजह नहीं है, इसलिए कि वह अपने मुक़्तदाओं की तौहीन को गवारा नहीं कर सकते। मगर सुना जाता है कि यह निहायत ही वदतह्‌ज़ीवी व फ़ह्‌हाशी[6] की शर्मनाक मह्‌फ़िलें होती हैं, जिनमें इब्तिज़ाल इस दर्जे तक तरक़्क़ी कर जाता है कि कोई मुहज़्ज़व शीअः वग़ैर रूही तक्लीफ़ उठाए वापस नहीं आ सकता। इन सुह्‌वतों ने भी शीओं के मज़ाक़ पर वड़ा असर डाला है और इसी असर का नतीजः है कि ज़रा-ज़रा सी वातों पर सुन्नी-शीओं में लड़ाइयाँ हो जाती हैं।

शीओं की इन मज्‌लिसों और सुह्‌वतों के वाद सुन्नियों की मजालिसे मौलुद शरीफ़ हैं। इनकी निशस्त और शान वैसी ही होती है जो मज्‌लिसों की है। मगर फ़र्क़ यह है कि सुन्नियों के यहाँ मिम्‌वर नहीं होता। वल्कि एक मुम्ताज़ जगह पर कोई चौकी विछा दी जाती है, उस पर तकल्लुफ़ का फ़र्श कर दिया जाता है और उस पर वैठ के वाइज़ या मौलुदख्वाँ साहिव मौलुद सुनाते हैं। पहला तरीक़ः यह था कि कोई मौलवी साहिव हालाते विलादते सरवरे आलम वयान कर देते और ज़िक्रे विलादत के वक़्त सव लोग खड़े हो जाते। मौलुदख्वाँ साहिव मसर्रते विलादत में कोई नज़्म पढ़ते और लोगों पर गुलावपाश से केवड़ा छिड़का जाता या कोई वाइज़[7] न मिलता तो कोई पढ़ा-लिखा आदमी मौलवी ग़ुलाम, इमाम, शहीद का मौलुद शरीफ़ पढ़ के सुना देता। मगर अवाम के लिए मौलुदख्वानी का यह तरीक़ः इत्मीनानवख्श न

---

१ पार करके २ नृत्य ३ गाना ४ मुसीवतें ५ अपमान ६ अश्लीलता ७ धर्मोपदेशक, वाज़ कहनेवाला।

साबित हुआ। और सोज़ख्वाँ की देखा-देखी ऐसे मौलुदख्वाँ पैदा हो गए जिनके साथ दो सुर मिलाने वाले होते हैं और उनके बीच वह बैठकर तरन्नुम[1] के खास लहजे में वाक़िआतें विलादत बयान करते हैं और दर्मियान-दर्मियान में बराबर अश्आर[2] व क़साइद[3] गाए जाते हैं, जिनमें दोनों बाज़ू उनका साथ देते हैं। मगर सोज़ख्वानों ने तो मूसीक़ी को ज़िन्दः कर दिया और मौलुदख्वाँ गानेवालों ने, सच यह है कि मूसीक़ी का गला घोंटने में कोई कस्र उठा नहीं रखी।

लेकिन मौलुदख्वानी के एतिबार से लखनऊ को कोई खुसूसीयत नहीं हासिल है। इसलिए कि इसी तर्ज़ से और इसी शान की मौलुदख्वानी सारे हिन्दोस्तान के सुन्नियों में जारी है। मुसलमानों के हिन्दोस्तान आने के ज़माने ही से मज्लिसें समाअ की बुनयाद पड़ गई। मगर उससे सिवा इसके कि क़व्वालों का एक गिरोह पैदा हो गया, जो रुत्बे और मूसीक़ीदानी में ढाड़ियों[4] और गवैयों से गिरा हुआ समझा जाता है, फ़न्ने मूसीक़ी को कोई नुमायाँ नफ़ा नहीं हासिल हो सका। हालाँकि सोज़ख्वानी ने एक सदी के अन्दर ही मूसीक़ी को अपनी लौंडी बना लिया और हाकिमानः शान से उस पर तसर्रुफ़[5] करने लगी।

सुहबत में ज़रूरी चीज़ें

मज्लिसों और महफ़िलों का हाल हम बयान कर चुके। अब ज़रूरत मालूम होती है कि हम लवाज़िमें सुहबत[6] को भी शरह व बस्त[7] से बता दें। इसलिए कि यह वह चीज़ें हैं, जिनसे मुआशरत और वज़्अे सुहबत का हाल आईने की तरह रौशन हो जाता है। लवाज़िमें सुहबत बहुत ज़ियादः बल्कि बेशुमार हैं, जिनको हम वक़्तन् फ़ वक़्तन् बताएँगे। मगर फ़िलहाल सबसे मुक़द्दम चीज़ हुक़्क़ः, खासदान, लुटिया और उगालदान[8] हैं। यह इस क़दर ज़रूरी अश्या[9] है कि रुअसा[10] के हमराही खिदमतगारों के पास लाज़िमी तौर पर रहा करती हैं। चन्द रोज़ पेशतर आला तब्क़े के दौलतमन्दों के हमराह एक खिदमतगार के हाथ में हुक़्क़ः भी रहा करता था। मगर अब यह तरीक़ः छूट गया। हुक़्क़ः दरअस्ल देहली की ईजाद है। और वहीं शाही भिण्डी-खानों में मुख्तलिफ़ वज़ओं के हुक़्क़े तैयार हो गए थे। लखनऊ ने जो कुछ तरक़्क़ी की वह सबसे पहले पेचवानों, चिलमों और चम्बरों[11] की शक्ल और क़तअ की इस्लाह से मुतअल्लिक़ है। देहली के हुक़्क़े भद्दे और बदसूरत थे। लखनऊ में निहायत मौज़ूँ और खुशनुमा बना दिए गए। फिर ताँबे, पीतल, फूल और जस्त के हुक़्क़ों के अलावः

१ स्वर-माधुर्य २ शेर (बहुवचन) ३ क़सीदे, पद्यात्मक प्रशंसा ४ घूम-घूमकर जन्मोत्सव पर गानेवाली एक नीच जाति की स्त्रियाँ ५ अधिकार ६ सुहबत से सम्बन्धित वस्तुएँ ७ विस्तार ८ थूकने का बर्तन, पीकदान ९ वस्तुएँ १० रईस लोग ११ चिलम को ऊपर से ढँकनेवाली चीज़।

मिट्टी के हुक़्क़े ऐसे ख़ुशनुमा बन गये, जो लोगों को अपनी नफ़ासत व नज़ाकत के लिहाज़ से निहायत ही पसन्द आए। और अक्सर लोगों को मिट्टी के नाज़ुक, सुबुक, ख़ुशनुमा और सोंधे हुक़्क़े, पुरतकल्लुफ़ क़ीमती हुक़्क़ों से ज़ियादः अच्छे मालूम हुए।

हुक़्क़ों की शक्ल में इस्लाह व तरक़्क़ी होने के बाद, ख़ुद तम्बाकू में अजीब-अजीब लताफ़तें और ख़ूबियाँ पैदा की गईं। तम्बाकू को गुड़ या शीरे में मिला के कूट लेना ग़ालिबन् देहली ही की ईजाद है, जिसकी वजह से पीने की तम्बाकू की इस्लाह में हिन्दोस्तान को दुन्या के सारे और सफ़ह ए ज़मीन की तमाम क़ौमों पर फ़ौक़ीयत[1] हासिल है। तम्बाकू सारी दुनिया में पिया जाता है। चुरट, सिगरेट और पाइप के लिए तम्बाकू की इस्लाह में अगर्चिः यूरोप ने बेइन्तिहा कोशिशें कीं और तरह-तरह की नफ़ासतें पैदा कर दीं, लेकिन यह तदबीर किसी को न सूझ सकी कि शीरः या गुड़ मिला के तम्बाकू की तल्ख़ी[2] और गुलूगीरी[3] मिटाई जाए और धुएँ में लुत्फ़ और क़ियाम पैदा किया जाए। इसके बाद लखनऊ ने यह तरक़्क़ी की कि ख़मीरः[4] मिला के और ख़ुशबुएँ शरीक करके तम्बाकू-सी बदबूदार नागवार चीज़ को इस क़दर ख़ुशआयन्द[5] और लतीफ़[6] बना लिया कि चिलम भर के रखते ही सारा कमरा ख़ुशबू से महक उठता है, और जो हुक़्क़ः न पीते हों, उनका भी जी चाहने लगता है कि दो-एक कश खींच लें। हिन्दोस्तान के बाज़ ख़ित्तों का तम्बाकू बहुत अच्छा होता है और उन शहरों के नाम से तम्बाकू भी मशहूर हो गया है, मगर वह शुह्रत किसी इंसानी कोशिश का नतीजः नहीं। कोशिश और तदबीर से जो नफ़ासत तम्बाकू में लखनऊ ने पैदा की है, और किसी शहर को नसीब नहीं हुई। अक्सर शहरों के लोग ख़मीरे को नहीं पसन्द करते या शाकी हैं कि इससे नज़लः हो जाता है, मगर यह महज़ उनके आदी न होने की वजह से है, और वैसा ही है जैसा अंग्रेज़ों को क़ोर्मः[7] नापसन्द है, या उसे हज़म नहीं कर सकते। तम्बाकू के साथ हुक़्क़े के तमाम लवाज़िम में तरक़्क़ी हुई। चिलमें भी पहले से ज़ियादः नाज़ुक व नफ़ीस और ख़ुशनुमा हो गईं। चम्बरों में भी तरक़्क़ी होती रही। चम्बरों में ख़ूबसूरत तेहरी नुक़्रई ज़ंजीरें लगाई गईं। तरह-तरह की मुँहनालें ईजाद हुईं, फिर फूलों के नफ़ीस और दिलफ़रेब हुक़्क़े ईजाद हुए। ग़रज़ यहाँ की सोसाइटी ने हुक़्क़े को सँवार के और आरास्तः करके दुलहन बना दिया।

हुक़्क़े के बाद नहीं बल्कि इससे भी ज़ियादः अहम चीज़ लवाज़िमे सुह्बत में 'ख़ासदान' है, जिसकी बार-बार ज़रूरत पेश आया करती है, और बाहर आने-जाने में ख़िदमतगारों के पास रहता है। ख़ासदान वह चीज़ है, जिसमें पानों की गिलौरियाँ बना के रखी जाती हैं। पान, हिन्दोस्तान की क़दीम चीज़ है। हिन्दुओं के ज़माने से इसकी अहम्मीयत चली आती है। अगले दिनों राजाओं और बादशाहों को जब कोई

१ श्रेष्ठता २ कड़वापन ३ गला रुंधना, ४ पीने का सुगन्धित तम्बाकू ५ सुन्दर ६ मृदुल ७ शोरबेदार गोश्त।

बड़ी मुहिम पेश आती या कोई ज़िम्मेदारी का काम लेना होता तो पान का बीड़ा (गिलौरी) बना के सामने रखते और कहते कि कौन इसे उठाएगा ? जिसका मतलब यह होता कि इस मुहिम पर कौन जाएगा ? या इस ज़िम्मेदारी के काम को कौन अंजाम देगा ? अर्कानें दौलत या आम हाज़िरीनें दरबार में से जो कोई इस बीड़े को उठा लेता, वह गोया वादः करता कि इस काम को मैं अंजाम दूँगा, या इस मुहिम को मैं सर करूँगा। यह रस्म तो मिट गई, मगर यह कहावत आज तक ज़बानों पर मौजूद है कि "फ़लाँ शख्स़ ने इस काम का बीड़ा उठाया है"। यानी इसको अपने ज़िम्मे लिया है।

पुराने दरबारों में हाज़िरीन को इक्राम[1] व इन्आम के साथ पान भी मर्हमत[2] हुआ करते। जिसका ज़िक्र इब्नें बतूतः ने भी अपने सफ़रनामे में किया है। जिससे साबित होता है कि पान, हिन्दोस्तान की तारीख़ी चीज़ है। चुनांचिः चाहिए था कि मुरूरें ज़मानः[3] से पानों और पान के सामान को यौमन् फ़ यौमन्[4] तरक़्क़ी होती रहती। मगर हमें बिल्कुल नज़र नहीं आता कि पान जब तक देहली में था, उसको क्या तरक़्क़ी हुई। इसके मसाले के जो अज्ज़ा[5] क़दीमुल्अय्याम से चले आते हैं, आख़िर तक वही क़ाइम रहे, और उनकी भी किसी क़िस्म की इस्लाह नहीं हुई। इसके मसालों में कत्था, चूना, डलियाँ और इलाइचियाँ क़दीम ज़माने ही से मुंतख़ब हो चुकी थीं। तम्बाकू भी लखनऊ में आने से पहले ही इसके अज्ज़ा में शामिल हो चुका था। मगर इसका बिल्कुल पता नहीं लगता कि अगली बीसियों सदियों और सैकड़ों गुज़श्तः दरबारों और सल्तनतों ने इसको कौन सी ख़ास तरक़्क़ी दी। लखनऊ में पान का रवाज देहली की बनिस्बत बहुत ज़ियादः हो गया। इसके लिए ख़ास क़िस्म के ज़ुरूफ़[6] ईजाद हुए। और इसकी तमाम चीज़ों को जुदा-जुदा तरक़्क़ी हासिल हुई। पहले तो ख़ुद पानों यानी इसके पत्तों की इस्लाह हुई। हिन्दोस्तान के बाज़ शहरों, मसलन् महोबे वग़ैरः के पान क़ुदरती तौर पर बहुत अच्छे और आला दर्जे के होते हैं। अत्राफ़े लखनऊ में अगर्चिः पान कस्रत से पैदा होते हैं, मगर इनमें बिज़्ज़ात कोई ख़ास ख़ूबी व फ़ौक़ीयत नहीं होती। मगर यहाँ के तरक़्क़ीपसन्द उमरा की तवज्जुः से तम्बोलियों (पान-वालों) ने सन्अती[7] उसूल पर पानों को तरक़्क़ी देना शुरू की और इस दर्जे पर पहुँचा दिया कि यहाँ के पान सब जगह से बढ़ गए। वह पानों को महीनों ज़मीन में दफ़न करके रखते हैं, यहाँ तक कि उनका कच्चापन दूर हो जाता है, हराइन्द[8] बिल्कुल नहीं बाक़ी रहती है, रगें नाज़ुक और नर्म हो जाती हैं, रंग में सफ़ेदी और पुख़्तगी आ जाती है। कच्चे पान में जो एक तरह की तेज़ी होती है, वह भी जाती रहती है। और ऐसा नर्म और नाज़ुक और लतीफ़ हो जाता है कि किसी जगह का पान मज़े और लुत्फ़ में उसका मुक़ाबलः नहीं कर सकता। यही बने हुए पान, "बेगमी पान" कहलाते हैं, जो दूर-दूर के शहरों में जाते और निहायत ही शौक़ और बड़ी क़द्र से लिये जाते हैं।

---

१ सम्मान २ प्रदान ३ समय बीतने ४ दिन-ब-दिन ५ अंश, वस्तुएँ ६ बर्तन ७ औद्योगिक ८ हरेपन की बू।

पान के पत्ते के बाद चूना है। हर जगह और हर शहर में मामूली चूना इस्तेमाल होता है, जो अक्सर छना हुआ साफ़ भी नहीं होता। मासिवा इसके चूना निहायत ही तेज़ और अक्काल[1] चीज़ है। नया ताज़ः चूना हुआ या ज़रा ज़ियादः हो गया तो मुँह कट जाता है। इन मज़र्रतों[2] से बचने के लिए यहाँ यह तदबीर की जाती है कि उसे खूब छान के और साफ़ करके इसमें थोड़ी सी बालाई[3] या ताज़े दही का तोड़ छान कर मिला देते हैं। इस तरीक़े से लखनऊ के नफ़ीसमिजाज लोगों के पानदानों में ऐसा अच्छा ख़ुशगवार, लतीफ़ और बेज़रर[4] चूना होता है कि और जगह नहीं नसीब हो सकता।

दूसरी चीज़ पान के लवाज़िम में से कत्था है। कत्था बजाय ख़ुद निहायत ही बक्ठी, कड़वी और बदमज़ा चीज है। पान में वह फ़क़त चूने की इस्लाह और अच्छा रंग पैदा करने की ग़रज़ से इस्तेमाल होता है। लेकिन इसका बक्ठापन बहुत नागवार गुज़रता है, जो आदत हो जाने से चाहे गवारा हो जाए मगर इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि एक बदमज़ा चीज़ है। कत्थे के बनाने की यह तदबीर तो सब जगह अ़ाम है कि छोटे-छोटे टुकड़े करके उसे पानी में पकाते हैं और सब जोश खाकर वह सुर्ख़ शर्बत-सा हो जाता है, तो कपड़े में छानकर, पानी में रख के जमा लेते हैं। अ़ाम तौर पर सब जगह इतना ही होता है, मगर यहाँ एक तबाक़ या तवे में राख भर के, उस पर एक कपड़ा डालते हैं और उस कपड़े पर इस जमे हुए कत्थे को रोटी की तरह फैला देते हैं और उस पर बार-बार पानी छिड़कते जाते हैं। पानी उसकी सुर्ख़ी को लेकर, जिसमें बक्ठापन होता है, राख में जज़्ब[5] हो जाता है। इस तरह साफ़ करते-करते कत्थे का फ़क़त वह लतीफ़तरीन हिस्सः बाक़ी रह जाता है, जो धोए कपड़े-सा सफ़ेद और निहायत ही नफ़ीस होता है। फिर उसमें केवड़े की ख़ुशबू देकर या केवड़े के फूलों में रखकर ख़ुश्क कर लेते हैं। इस तदबीर पर बाज़ और मक़ामात में भी अब अ़मल होने लगा है, मगर यह ईजाद लखनऊ ही की है। और जिस तक्मील[6] के साथ यहाँ इस पर अ़मल होता है और कहीं हो भी नहीं सकता। अब इस क़िस्म का कत्था अक्सर ताजिर लखनऊ में तैयार करके फ़रोख़्त[7] भी करने लगे हैं, जिनमें से हमारे मुकर्रम मेहरबान क़ाज़ी मुहम्मद यूनुस साहिब मुक़ीमे महमूदनगर लखनऊ ने बहुत शुहरत हासिल की है। मगर नफ़ासतपसन्द उमरा के घरों में, जो सफ़ेद, अच्छा और साफ़ कत्था ख़ुद ही बना लिया जाता है, वह इस क़दर नफ़ीस होता है कि उसकी नफ़ासत को बाज़ार वालों का तैयार किया हुआ कत्था, चाहे कैसा ही अच्छा हो, नहीं पहुँच सकता। दकन[8] के शहरों पूना वग़ैरः में एक नई तरह का बना हुआ ख़ुश्क कत्था बाज़ार में मिलता है, जो सूखा ही पान में डाला जाता है। वहाँ के लोगों को वह

---

१ काट लेनेवाला २ हानियाँ ३ मलाई ४ हानि-रहित ५ शोषित ६ पूर्ति ७ बिक्री ८ दक्षिण।

कत्था पसन्द भी है, मगर हम बावजूद कोशिश के उसकी खूबियों को न महसूस कर सके और न समझ सके। इसलिए कि बज़ाहिर वह किरकिरा भी हुआ करता है और बकठापन उसमें अस्ली बे-बने कत्थे से भी ज़ियादः होता है।

पान के मसालों में तीसरी चीज़ डलियाँ हैं, जो सरौते से काट के और छोटे-छोटे टुकड़े करके पान में डाली जाती हैं। उनका काटना एक मामूली चीज़ था, मगर लखनऊ में अब डलियों का काटना भी एक सन्अ़त बन गया है। इसलिए कि अब अक्सर ख़ातूनें बाजरे के दानों के बराबर बारीक काटती हैं, जिसमें सब दाने बराबर और यकसाँ होते हैं। और फिर इस शर्त के साथ कि चूरा ज़ियादः न निकले और डली का कोई हिस्सः ज़ाए[1] न होने पाये।

इलाइचियों में किसी इस्लाह की गुंजाइश अभी तक महसूस नहीं हुई। इसलिए कि जैसी आती हैं वैसी ही इस्तेमाल होती हैं, मगर तकल्लुफ़ात ने इतना ज़रूर किया है कि ख़ास तक़रीबों में और ख़ास मौक़ों पर उनमें चाँदी का वरक़ लगा दिया जाता है, और जब ख़ासदान या थाली में रखी जाती हैं तो मालूम होता है कि चाँदी के चमकते टुकड़े रखे हैं।

इसके बाद तम्बाकू है। तम्बाकू का इस्तेमाल धुएँ की सूरत में जिस तरह आ़लमगीर[2] है, उसी तरह खाने में भी इसका रवाज बढ़ता जाता है। इंगलिस्तान में मैंने बहुत से अंग्रेज़ों को देखा जो तम्बाकू की ख़ुश्क पत्ती मल के फाँक लिया करते हैं। हिन्दोस्तान में भी मुद्दत से ख़ुश्क तम्बाकू के खाने का रवाज चला आता है। जिसको देहली में उसकी सुनहरी रंगत के लिहाज़ से ज़र्दः कहते हैं। पहले फ़क़त ग़ैरमुदब्बिर[3] और ग़ैरइस्लाहशुदः[4] पत्ती को पान में डालकर खाया करते थे। मगर अगले ही दिनों में यह भी रवाज था कि बहुत से घरों में तम्बाकू की पत्ती में इसके डंठलों को उबालकर और उसके अरक़ में चन्द एतिदाल पर लानेवाले ख़ुशबूदार मसाले मिलाकर तम्बाकू की कड़वाहट अपने मज़ाक़ के मुताबिक़ घटा या बढ़ा दी जाती और लताफ़त व ख़ुशगवारी के साथ इसमें एक जाँफ़िज़ा[5] ख़ुशबू भी पैदा कर दी जाती। मगर यह तदबीर मख़्सूस घरों और ख़ानदानों तक महदूद[6] थी, आ़म लोग तम्बाकू की पत्ती ही बग़ैर बनाए खाते, जो हर पान में मौजूद रहा करती। लेकिन अब तक़रीबन् बीस बरस हुए मुंशी सैयिद अहमद हुसैन साहिब ने अपनी ईजाद से एक ख़ास क़िस्म का बना हुआ तम्बाकू, जिसकी सूरत टुर्रेदार बारूत की-सी होती, मुल्क के सामने पेश किया। और वह ऐसा मक़्बूल हुआ कि चन्द ही साल के अन्दर बे-बनी पत्ती के खाने का रवाज क़रीब-क़रीब उठ गया।

---

१ बरबाद २ विश्वव्यापी ३ जो शुद्ध न हो ४ जो दुरुस्त न हो ५ आनन्दवर्द्धक ६ सीमित।

तम्बाकू, और पान वग़ैरः की इस्लाह में तरक़्क़ी

तम्बाकू में पत्ती की इस्लाह से पहले, जिसका सेहरा हमारे मुकर्रम दोस्त मुंशी सैयिद अहमद हुसैन साहिब के सर है, इस्लाह की एक और कामियाब कोशिश की गई। वह यह कि तम्बाकू की पत्ती और डंठलों को खूब अच्छी तरह उबालकर, उसका अरक़ निकाल लिया जाता है, और पकाते-पकाते वह इस क़दर गाढ़ा कर दिया जाता है कि लेई या ताज़ी अफ़्यून[1] की-सी शक्ल हो जाती है। फिर उसमें मुश्क, केवड़ा और बहुत सी मुनासिब खुशबूएँ मिला के इस दर्जे लतीफ़ व मुअत्तर[2] बना दिया जाता है कि पान के साथ रत्ती भर क़िवाम खा लीजिए तो तम्बाकू का मज़ः आने के साथ मुँह में दिन भर खुशबू आती रहती है। फिर नफ़ासतमिज़ाजी ने इस पर और ज़ियादः तरक़्क़ी की यानी इस क़िवाम की नन्ही-नन्ही गोलियाँ बनाई जाती हैं, और हर गोली एक खूराक की मिक़दार में होती है। फिर गोलियों पर चाँदी या सोने के वरक़ लपेटकर ऐसा खुशनुमा और दिलफ़रेब बना दिया जाता है कि मालूम होता है, मोती रखे हुए हैं। क़िवाम और गोलियों को मुफ़्तीगंज की एक बेगम साहिब बेमिस्ल बनाती थीं। खास लखनऊ वालों को उनके हाथ की बनी हुई गोलियों के सिवा किसी कारखाने की गोलियाँ नहीं पसन्द थीं। मगर उन्हीं के ज़माने में असग़र अली मुहम्मद अली के कारखाने ने इन दोनों चीज़ों को तैयार करके सारे हिन्दोस्तान के सामने पेश कर दिया। चन्द रोज़ बाद उन बेगम साहिब का इन्तिक़ाल हो गया और हर जगह असगर अली के कारखाने ही के क़िवाम और गोलियों का रवाज हो गया। बाद अज़ाँ और बहुत से लोगों और मुतअद्दिद[3] कारखानों ने उन चीज़ों को अपने एहतिमाम से तैयार किया, मगर अभी तक कोई असग़र अली मर्हूम के कारखाने से सबक़त[4] नहीं ले जा सका। लेकिन क़िवाम और गोली में एक ऐब था, वह यह कि चाहे खुशबू देर तक ठहर जाए, मगर तम्बाकू का मज़ः और उसका कड़वापन पहली ही पीक में जाता रहता। इसी ऐब को मिटाने के लिए मुंशी सैयिद अहमद हुसैन साहिब ने यह जदीद मुदब्बिर व मुअत्तर पत्ती ईजाद की, जिसकी तल्ख़ी[5] और इत्रीयत[6] आख़िर तक पान का साथ दिए जाती है। और इसी खूबी का नतीजः है कि यकायक दुनिया का रुख़ इस तरफ़ फिर गया। और क़िवाम और गोलियाँ गो अब भी तैयार की जाती हैं; मगर तक़्वीमे पारीनः[7] हो गईं। और उनका मज़ाक़ घटने की यही रफ़्तार रही तो उम्मीद है कि थोड़े ही ज़माने में बिल्कुल मिट जाएँगी।

पान ही के मुताबिक़ या उसकी मुनासिबत से लखनऊ में चन्द और ईजादें हुईं, मसलन् ऐसी इलाइचियाँ ईजाद की गईं कि एक इलाइची खा लीजिए तो मुँह पान से ज़ियादः सुर्ख़ हो जाए। इनकी तैयारी में अगर्चिः पान ही के अज्ज़ा से काम लिया

---

१ अफ़ीम २ सुगन्धित ३ अनेक ४ आगे (बढ़ाकर) ५ कड़वापन ६ सुगन्ध ७ फटी जन्त्री।

जाता है, जो रंग मिलाकर इलाइची के छिलकों में भर दिए जाते हैं, मगर बजुज़ इसके कि रंग चोखा आता है, वह पान का बदल नहीं हो सकतीं। और किसी के पान खाने की ग़रज़ इन मस्नूई[1] इलाइचियों से नहीं हासिल हो सकती। इसी तरह एक और क़िस्म की इलाइचियाँ तैयार की गईं, जिनमें मिस्सी भर दी जाती है। और औरतें बजाय इसके कि देर तक बैठ के मिस्सी मलें, इस क़िस्म की एक इलाइची पान में डाल के खा लें तो मिस्सी ख़ुद ब ख़ुद लग जाती है। और गहरी नीलगोनी ख़ूब अच्छी तरह रीख़ों में जमकर बैठ जाती है। मगर इन दोनों क़िस्म की इलाइचियों से वह मक़सद बख़ूबी न हासिल हो सका, जिसके लिए ईजाद की गई हैं। मसलन् सुर्ख़ इलाइचियाँ पान का बदल नहीं हो सकतीं और सियाह इलाइचियों में उम्दः मुक्षत्तर मिस्सी की ख़ुशबू नहीं होती। इसलिए आम-पसन्द और मक़बूल न हो सकीं और आज तक इनसे बजुज़ मज़ाक़ और दिल्लगी के, कोई ज़रूरी काम नहीं लिया जा सकता, जो लाज़िम-ए-मुआशरत हो।

इसी सिल्सिले में हमें चिकनी डली को भी बयान कर देना चाहिए, जो अगर पान का जुज़् बे मालायनफ़क[2] नहीं तो इसके लवाहिक़[3] में ज़रूर है। बाज़ लोग मामूली डलियों के अ़िवज़ इसे पान में खाते हैं और पान में न खाएँ तो बहुत से लोग इसे तनहा मुँह में रखते हैं, जो इलाइची के साथ मिलकर बहुत लुत्फ़ देती है। ख़ुसूसन् हिन्दू अह्बाब चूंकि मुसलमानों के हाथ की गिलौरी नहीं खा सकते, इसलिए उनकी ख़ातिर व तवाज़ुअ़ महज़ चिकनी डली और इलाइची ही से होती है, लिहाज़ा वह भी मुआशरत का एक ज़रूरी सामान बन गई है।

चिकनी डली दरअस्ल वही डली है जो पानों में डाली जाती है, मगर मुदब्बिर और इस्लाहशुदः। यह लखनऊ या देहली या हैदराबाद या दीगर मुतमद्दिन् शहरों में नहीं बनती बल्कि जहाँ पैदा होती है, वहीं से बनी-बनाई आती है। कहा जाता है कि अस्ली डली को दूध में डाल के उबालते और पकाते हैं। ख़ैर जिस तरह बनती हो, इसमें एक लुआ़ब[4] पैदा हो जाता है। ख़ुश्की दफ़ा हो के, दुह्नियत[5] आ जाती है। और बाज़ औक़ात-ज़ियादः डली खा जाने से गले में जो फन्दा पड़ जाता है, वह ऐब चिकनी डली में बिल्कुल बाक़ी नहीं रहता। और सच यह है कि मामूली डली से बदर्जहा ज़ियादः बा-मज़ः, लतीफ़ व नफ़ीस हो जाती है।

जहाँ तक मुझे मालूम है, चिकनी डली का रवाज हैदराबाद, देहली और दीगर शहरों में लखनऊ के मुक़ाबिल बहुत ज़ियादः है। और इन्हीं मक़ामात के शौक़ीनों का काम था कि इसमें किसी क़िस्म की इस्लाह करते या इसको अपने मज़ाक़ में तरक़्क़ी देते। मगर तअज्जुब है कि किसी शहर में इस जानिब तवज्जुः न की गई। और

---

१ बनावटी २ वह भाग जो अलग न हो सके ३ वह चीज़ें जो किसी पदार्थ के अन्त में शामिल हों ४ लस ५ चिकनाहट।

चिकनी डली की भी इस्लाह् की तो लखनऊ वालों ने। चिकनी डली का अस्ली मग़्ज़ निहायत लतीफ़, ख़ुशमज़: व नाज़ुक होता है। और जो हिस्सए-क़श्र[1] से मिला रहता है, किसी क़दर बक्ठा रह जाता है। ख़ुसूसन् पेंदी की तरफ़ का हिस्स: बहुत ज़ियाद: नाक़िस होता है। इन्हीं अ़यूब[2] को मिटाने और नाक़िस हिस्से के निकाल डालने के ख़याल से काँट-छाँटकर मामूली चिकनी डलियाँ कई क़िस्म की तैयार होने लगीं। सबसे अव्वल तो 'दो रुख़ी' कहलाती हैं। इनके बनने की शान यह है कि नीचे-ऊपर से ज़ियाद:तर हिस्से को और थोड़े-थोड़े किनारों को गिर्द से काटकर ख़ुशनुमा और ख़ुशरंग कटोरियाँ-सी बना दी जाती हैं, जिनमें फ़क़त वही नर्म व लतीफ़ मग़्ज़ रह जाता है जो चिकनी डली का बेहतरीन हिस्स: है। दूसरे दर्जे की चिकनी डलियाँ 'यकरुख़ी' कहलाती हैं। इनमें भी अग़्लब: चारों तरफ़ से थोड़ी-बहुत काँट-छाँट होती है, मगर नीचे-ऊपर के दोनों नाक़िस हिस्सों में से एक तरफ़ का ज़ियाद:तर हिस्स: छोड़ दिया जाता है। तीसरी क़िस्म यह है कि चिकनी डली के मग़्ज़ के ख़ुशनुमा हश्तपहल[3] टुर्रे बना दिए जाते हैं। इस काँट-छाँट में जो चूरा निकलता है, वह जुदागान: फ़रोख़्त होता है। और दरअस्ल लखनऊ में वह मुदब्बिर चिकनी डली की पाँचवीं क़िस्म बन गया है। फिर इसकी भी दो-तीन क़िस्में हो गई हैं। इसलिए कि दोरुख़ी और यकरुख़ी डलियों में से जो चूरा निकलता है, वह अलग रहता है और दोनों की लताफ़त व नर्मी और मज़े में निहायत फ़र्क़ होता है। और इसी वजह से इनकी क़ीमतों में भी ज़मीन व आसमान का फ़र्क़ रहा करता है। अलग़रज़ चिकनी डली अग़्र्चि: इस क़दर ज़ियाद: लखनऊ वालों के शौक़ की चीज़ नहीं है, मगर इसकी इस्लाह् भी इन्होंने इस क़दर की जो किसी जगह नहीं हो सकी थी।

अब चूँकि पान के अज्ज़ा ख़त्म हो गये, लिहाज़ा हम उसके ज़ुरूफ़ व आलात की तरफ़ तवज्जु: करते हैं। पानों के सामान रखने की सबसे अहम चीज़, या यूँ कहिए कि पानों की गिलौरियों में जो क़ुव्वते बर्क़ी[4] की-सी अख़्लाक़ी और माशूक़ान: कशिश होती है, उसकी बैट्री पानदान है। अगले ज़माने में ख़ुसूसन् देहली में, पिटारी हुआ करती थी जो गोल, मुरब्बअ़[5] या हश्तपहल[6] सब क़तओं की होती हैं। और ग़ालिबन् देहली ही से हैदराबाद में पिटारीनुमा पानदान गए, जिनकी नक़ल वह टीन या शीशे के वह मुरब्बअ़ पानदान होते हैं जो हैदराबाद की शादियों में कमाले फ़ैयाज़ी से चूना, कत्था, डलियाँ, चिकनी डलियाँ, इलाइचियाँ, लौंगें और पान वग़ैर: रखकर मिह्मानों में तक़सीम किए जाते हैं। बहरहाल पुराने पानदान यही पिटारियाँ थीं और इन्हीं पिटारियों को साथ लिये हुए डेढ़-दो सदियों पेशतर की मुह्तरम ख़ातूनें देहली से लखनऊ आई थीं। यहाँ जब तक देहली की तक़लीद[7] रही, वही पिटारियाँ रहीं। मगर जिस दिन से लखनऊ वालों ने अपनी वज़अ़, मुआशरत और ज़बान में

---

१ छिलके २ दोषों ३ आठ पहलू वाले ४ विद्युत्-शक्ति ५ वर्गाकार ६ अष्टकोण ७ अनुसरण।

अपनी तराश-खराश शुरू की, इस रोज से पानदानों का नक़्शा भी बदलना शुरू हो गया। पहले तो पान रखने के लिए फ़क़त ताँबे की क़लईदार गोल पिटारियाँ इख्तियार की गईं। फिर उनके ढकने में बलन्दी और गोलाई पैदा होना शुरू हुई। चन्द रोज़ में इनकी क़तअ़ एक चौड़ी नुक़्रई क़ुब्बे की-सी हो गई, जिस पर चोटी की जगह गिरफ़्त के लिए एक लम्बोतड़ा कड़ा लगा दिया जाता है। कड़े के दोनों सिरे कुंडों में पहना दिए जाते हैं। चुनांचि: बजाय ऊपर की तरफ़ क़ाइम रहने के, वह इधर-उधर पड़ा रहता है। इन पानदान के अन्दर दो कत्थे, चूने की कुल्हियाँ होती हैं। जिनकी क़तअ़ बिअ़ैनिही[1] छोटी पतीलियों की-सी होती है। इन्हीं कुल्हियों के सिल्सिले में तीन बराबर की बड़ी डिबियाँ होती हैं। जिनमें से बाज़ में मुसल्लम और बाज़ में कटी हुई डलियाँ और चिकनी डलियाँ रखी जाती है। डिबियों के ढकने कसे हुए होते हैं, ख़ुद व ख़ुद नहीं खुल सकते, बल्कि खुलने में थोड़ा-बहुत ज़ोर माँगते हैं। मगर कुल्हियों के ढकने थालीनुमा होते हैं। जो उनके मुँह पर रख दिए जाते हैं। कत्थे-चूने की कुल्हियों मे कत्था-चूना लगाने की चमचियाँ होती हैं, जिनके सरों पर कभी तो मोर बना दिया जाता है और कभी सादी रहती हैं। इन कुल्हियों के ऊपर एक बड़ी पूरे पानदान भर की थाली होती है, जिसमें पान कपड़े में लपेटकर रख दिए जाते हैं। अगले दिनों एक और पान की क़तअ़ का जुदागान: ढकनेदार ज़र्फ़ होता था, जिसमें पान रखे जाते, वह 'नागरदान' कहलाता था। मगर तजुर्बे ने उसको ग़ैरज़रूरी और नाक़िस साबित किया। इसलिए कि इसमें बन्द कर देने से हवा न लगती और पान खराब हो जाते। इस वजह से नागरदान अर्गचि: बाज़-बाज़ पुराने पानदानों में अब भी नजर आ जाता है, मगर दरअस्ल इसका रवाज बिल्कुल छूट गया और अ़न्क़रीब[2] अन्क़ा[3] हो जायेगा।

चन्द रोज़ में पानदान औरतों को सन्दूक़, खजाने और केशबक्स का काम देने लगा। और औरतों के लिए सच यह है कि वह हिन्दोस्तान में अ़म्र व अ़य्यार की जंबील[4] था। इस जरूरत से वह वुसअ़त[5] और जिस्म में बढ़ना शुरू हुआ। यहाँ तक दस-दस सेर और बीस-बीस सेर के पानदान बनने लगे। और फिर सख्त ज़रूरी था कि मिहमान जाने में हर जगह वह साथ रहे। इसलिए कि बमिस्दाक़[6] "शिम्ल: बमिक़्दारे इल्म" जितना बड़ा पानदान होता था, उतनी ही बड़ी बेगम साहिब की हैसियत व वजाहत[7] समझी जाती थी। नतीज: यह हुआ कि डोली में सारी जगह पानदान ले लिया करता। और बेगम साहिब को बड़ी मुश्किलों से दबने और सिमटने के बाद बैठने की जगह मिलती। बहरतक़्दीर पानदान वज़न और क़ामत में रोज़ अफ़ज़ूँ[8] तरक़्क़ी करते जाते थे कि यकायक इख्तिसारपसन्दी ने नई तरह के छोटे, बलन्द, गुम्बदनुमा और कलसदार पानदार ईजाद किए, जो पहले तो 'आरामदान' कहलाते थे,

---

१ वही २ शीघ्र ही ३ एक फ़र्ज़ी चिड़िया, न पाई जानेवाली चीज़
४ पिटारा ५ विस्तार ६ चरितार्थतः ७ प्रतिष्ठा, सम्पन्नता ८ अत्यधिक।

मगर अब अुमूमन् 'हुस्नदान' के नाम से याद किए जाते हैं। इनके अन्दर तो वही चीजें होती हैं जो पानदान में हैं, मगर बैरूनी क़तअ़ एक कलसदार ख़ुशनुमा गुम्बद की-सी होती है और बजाय कड़े के, इसी कलस या चोटी को पकड़ के उठाया जाता है। यह हुस्नदान अुमूमन् पसन्द किये गए। लखनऊ में भी और दीगर बिलाद में भी इनकी माँग बढ़ी। लखनऊ में पहले-पहल इनको मर्दों ने इख़्तियार किया या उन लोगों ने जो नुमाइश और दिखावे को पसन्द नहीं करते हैं। मगर चन्द रोज़ में आ़म हो गया। और गोकि अगली वज़अ़ के पानदान नहीं मिटे, मगर अब ज़ियाद: रवाज हुस्नदानों ही का है। और जिन घरों में पानदान बाक़ी भी हैं तो उतने बड़े नहीं, बल्कि छोटे। अब मुरादाबाद में भी ऐसे ही लखनऊ की वज़अ़ के हुस्नदान बनने लगे हैं। मगर वह ज़ियाद: फैले होते हैं और इस क़दर ख़ूबसूरत नहीं होते, जैसे कि लखनऊ में बनाए जाते हैं। लखनऊ के हुस्नदानों का तनासुब[1] ही एक चीज़ है जो यहाँ के साथ मख़्सूस है और किसी जगह के कारीगरों से इतना तनासुब क़ाइम रहना क़रीब-क़रीब ग़ैरमुम्किन है।

पानदान के बाद ख़ासदान है। यह वह ज़र्फ़ है, जिसमें रख के गिलौरियाँ महफ़िल या सुह्बते अह्बाब में लाई जाती हैं। देहली में यह काम एक खुली हुई थाली देती है, जिसमें एक तरफ़ कतरी हुई डलियाँ रख दी जाती हैं और दूसरी तरफ़ आधे-आधे पान, चूना-कत्था लगाकर और दुहरा के यानी मोड़ के रख दिए जाते हैं। और चूँकि वहाँ अब भी यही थाली मुरव्वज है, इसलिए उम्मीद है कि अगले ज़माने में भी पानों के सुह्बत में लाने का यही तरीक़: होगा। मगर लखनऊ में कम अज़् कम दो पानों की गिलौरियाँ बनाई जाती हैं, जो पहले तो सिंघाड़े की वज़अ़ की ख़ूब गठी हुई होती थीं, अब अुमूमन् बीड़े होते हैं। और इनकी क़तअ़ ऐसी होती है, जैसी बोतलों में लगाने के लिए काग़ज़ की डाट बनाई जाती है। फिर इनके क़ाइम रखने के लिए कीलें लगा दी जाती हैं। पहले लौंगे लगा दी जाती थीं। बाद अज़ाँ जंजीरों का एक लच्छा ईजाद हुआ। लच्छे की सूरत यह है कि चाँदी की एक डिबिया या कैरीनुमा इत्रदान में चारों तरफ़ बहुत सी जंजीरें लगा दी जाती हैं, जिनमें कीलें होती हैं। यह पूरा लच्छा मअ़[2] पानों के ख़ासदान में रख दिया जाता है। मगर इसको तत्वील[3] ख़याल करके, यह रवाज हो गया कि गिलौरियों में लोहे की कीलें लगा दी जाया करें। मगर अब सबसे अच्छा तरीक़: यह ईजाद हुआ है कि गिलौरी के ऊपर पान ही का एक ग़िलाफ़ चढ़ा दिया जाता है जो उसको खुलने नहीं देता।

बहरहाल इन गिलौरियों के लिए सिर्फ़ थाली मुनासिब न थी, इसीलिए इस थाली पर एक गुम्बदनुमा कलसदार ढकना ईजाद किया गया। जिसको थाली पकड़ लिया करती। ढकने ने ख़ासदान की सूरत भी छोटे हुस्नदान की-सी कर दी।

---

१ पारस्परिक सम्बन्ध २ साथ ३ लम्बा काम।

प्रचलित मुख्य बर्तनों का ज़िक्र

पानों की गिलौरियाँ रखने के लिए अगर्चिः खासदान में बहुत तरक़्क़ी की गई, इसकी खुशनुमाई व नजरफ़रेबी में कोई दक़ीक़ः[1] नहीं उठा रखा गया, मगर जब यह नजर आया कि गर्मियों के मौसम में तांबे के क़लई किए हुए खासदान जल उठते हैं, और इनमें रखने से पुरतकल्लुफ़ गिलौरियों के खुश्क होने के अलावः वह ऐसी गर्म हो जाती हैं कि खाने में बजाय तफ़्रीह के, तक्लीफ़ होती है और बअिवज़ तस्क़ीन[2] के, मुँह खुश्क हो जाता है, तो इस मौसम में इनके रखने के लिए मिट्टी की कोरी हाँडियाँ इख्तियार की गईं, जिनमें पान ठण्डे रहते हैं। इनकी ताजगी व फ़र्हतबख्शी[3] में और तरक़्क़ी हो जाती है और इनमें निहायत ही सोंधापन पैदा हो जाता है। यह क़ाग़ज़ी हांडी लखनऊ में ऐसी सुबुक, खुशनुमा और वरक़ की-सी बारीक बनती हैं कि और किसी जगह नहीं बन सकतीं। जब इनको पानी में भिगो के और इनमें गिलौरियाँ रख के सामने लाई जाती हैं, तो पान तो बाद में खाया जाएगा उनकी सूरत देखते ही आँखों में ताजगी आ जाती है।

फिर उमरा के तकल्लुफ़ ने इस खयाल से कि इनको बार-बार भिगोना दुश्वार है, और जब तक पानी में तर न हों, इनमें लुत्फ़ नहीं आ सकता, इन पर कपड़ा मँढ़ा, ताकि कपड़ा उनको तर रखे। और मामूली सफ़ेद कपड़ा चूँकि जल्दी मैला हो जाता है, और गिलौरियाँ रखने से उसमें जा ब जा सुर्ख धब्बे पड़ जाते हैं, इसलिए बजाय सफ़ेद के, इन पर सुर्ख टूल मँढ़ा गया, जो न जल्दी मैला होता है और न पान के धब्बे उसको बदनुमा कर सकते हैं। ज़ियादः आरास्तगी के लिए इन हाँडियों में टूल पर बारीक रुपहली धनक[4] से फाँकें-सी बना दी जाती हैं। इन चीज़ों ने पान की हाँडियों को बना-सँवार के दुलहन बना दिया।

तांबे के खासदान भी अमूमन् ग़िलाफ़ में बँधे रहते हैं। और इसी तरह के ग़िलाफ़ों का रवाज पानदानों और हुस्नदानों के मुतअल्लिक़ भी है, जो बड़े एहतिमाम से हस्बे दर्जः व हालत पुरतकल्लुफ़ बनाए जाते हैं। जिनमें फ़क़त हिफ़ाजत ही नहीं, आराइश भी मलहूजे खातिर[5] होती है।

ऐसा ही टूल, धनक के साथ सुराहियों पर भी मँढ़ा जाता है। जिसकी वजह से सुराहियों में पानी खूब ठण्डा रहता है और इनकी सूरत देखते ही बे-प्यास के पानी पी लेने को जी चाहता है।

पान खानेवालों को अक्सर पीक थूकने की ज़रूरत हुआ करती है, जिसके लिए बार-बार उठना, जहमत से खाली नहीं। और फिर जिन कमरों में पुरतकल्लुफ़ फ़र्श बिछा हो, थूकने को जगह मुश्किल से और दूर जा के मिलती है। और जगह मिले भी तो पीक के धब्बों से मकान खराब होता है। इसलिए पान ही के सिलसिले में

---

१ कसर २ आनन्द ३ सुख देना ४ पतला गोटा ५ ध्यानस्थ।

एक और ज़र्फ़[1] की ज़रूरत पेश आई, जो थूकने के लिए हो। यह ज़र्फ़ 'उगालदान' कहलाता है। उगालदान कोई नई चीज़ नहीं, जिसको लखनऊ के साथ ख़ुसूसीयत हो। पहले उगालदान ग़ालिबन् देहली में ईजाद हुए और वह विऌनिही लखनऊ में मुन्तक़िल हो आए। इनकी क़तअ़ यह थी कि नीचे गोल पेंदा, उसके ऊपर गोल लट्टू, फिर उसके ऊपर कँवल[2]नुमा दहाना। यह उगालदान ताँवे, पीतल और जस्त के हर जगह वनने लगे। वेदर में उन पर वहाँ का वेनज़ीर वेदरी का काम वना। लखनऊ में ताँवे पर नक़्क़ाशी हुई। लखनऊ में फिर मिट्टी के उगालदान इसी क़तअ़ के वनने लगे।

मगर इनमें खरावी यह थी कि उनके नीचे का हिस्स: हल्का और ऊपर का ज़ियाद: फैलाव की वजह से वज़्नी होता था। नतीज: यह था कि अक्सर वेएह्तियाती या ग़फ़्लत में गिर जाते और फ़र्श खराव होता। इस ऐव को दूर करने के लिए जयपुर, हैदरावाद और इसके वाद मुरादावाद में एक दूसरी क़तअ़ के उगालदान वनने लगे, जो शायद देहली ही की ईजाद हों। इनकी क़तअ़ कहारों की हुड़क, या मदारी की डुगडुगी की-सी होती है। और लखनऊ में भी वहुत से लोगों को इस क़िस्म का उगालदान इख्तियार कर लेना पड़ा। अगर्चि: यहाँ अभी तक पुरानी वज़अ़ छूटी नहीं और इसी वज़अ़ के वहुत वड़े-वड़े उगालदान अव भी वनते हैं, मगर अव वहुत से घरों में इस नई वज़अ़ के भी मौजूद हैं। मगर सच यह है कि उगालदान की ईजाद व तरक़्क़ी में लखनऊ को कोई ख़ुसूसीयत नहीं है। अगर्चि: इसका रवाज लखनऊ में हिन्दोस्तान के तमाम शहरों से ज़ियाद: है।

अव एक नई क़तअ़ के वैठे और फैले हुए अंग्रेज़ी उगालदान भी आते हैं, जो चीनी और तामचीनी के होते हैं। मगर वह ग़ालिवन् चुरुट पीते वक़्त थूकने के लिए हैं। तान की पीक थूकने के लिए विल्कुल मौज़ूँ[3] नहीं हैं।

खासदान के वाद उमरा और खुशवाश लोगों के हमराही सामान में पानी की लुटिया भी है, जो खिदमतगारों के पास रहा करती है। अ़लल्अ़ूमूम यह ताँवे की औसत दर्जे की सादी या नक़्शी लुटियाँ हुआ करती हैं। जिन लोगों को खुदा ने इस्तिताअ़त दी है और इसके साथ यह भी है कि अमारत व दौलतमन्दी ने इनको पावन्दिए शरअ़[4] से आज़ाद कर दिया है, वह चाँदी की लुटिया साथ रखते हैं।

लुटिया पुरानी हिन्दुओं के अह्द की चीज़ है, जो एक वे-टोंटी का गोल ज़र्फ़ होता था। जिसका मुँह, पेट से छोटा होता और चूँकि कुएँ से पानी भरने की अक्सर ज़रूरत पेश आया करती, इसलिए हर मुसाफ़िर के साथ सफ़र में लुटिया-डोरी ज़रूर रहा करती। और देहात के हिन्दुओं और नेज़ वहाँ के अदना तव्क़े के मुसलमानों में आज तक उसी अगली शान में इसका रवाज है। मुसलमानों ने अपने ज़माने में इस लुटिया में टोंटी लगा दी, ताकि पानी के इस्तेमाल में आसानी हो।

---

१ बर्तन २ कमल ३ उचित ४ इस्लामी क़ानून।

मैं नहीं जानता कि देहली के उमरा में भी यह रवाज था। और जिन लोगों के साथ खिदमतगार रहा करते तो उनके पास लुटिया भी ज़रूर होती, जो पानी पीने, कुल्ली करने और दीगर ज़रूरतों में काम आया करती। मगर लुटिया की मौजूदः क़तअ़ और उसकी खुशनुमाई में लखनऊ को बड़ा दख्ल है, जिसका हाल हम ताँबे के बर्तनों के सिल्सिले में बयान करेंगे।

गर्मियों में रंगीन कपड़े का मँढ़ा हुआ झालरदार पंखा भी खिदमतगारों के पास रहता। और बाद के ज़माने में छतरी भी लाज़िम हो गई, जिसको धूप में नौकर आक़ा[1] के सर पर लगाए रहता।

घरों की अन्दरूनी ज़रूरतों में हाथ धोने के लिए सिलफ़ची, आफ़्ताबः[2] और चूँकि साबुन का रवाज न था, इसलिए बेसनदानी भी ज़रूरी चीज़ें थीं। सिलफ़ची, आफ़्ताबः हिन्दोस्तान के दौलतमन्द घरानों की पुरानी चीज़ें हैं, जो देहली में खुदा जाने कब से मुरव्वज थीं, और अपनी क़दीम[3] वज़अ़ व शान से लखनऊ में आ गईं। यहाँ सिलफ़ची तो वही रही और गो अब उसकी जगह तसले का ज़ियादः रवाज हो गया है, मगर सच यह है कि वह सिलफ़ची का बदल नहीं हो सकता। सिलफ़ची एक गोल पेट का ज़र्फ़[4] है, जिसका मुँह ज़रा छोटा करके, कगरें एक उथले तश्त की वज़अ़ में बहुत ज़ियादः फैली होती हैं। और मुँह पर एक पर्दे की जाली रख दी जाती है, जिसमें से हाथ धोने में सब पानी गिर जाता है। इस पर्दे को जब चाहें उठाकर खूब अच्छी तरह साफ़ कर सकते हैं। इस जाली के ऊपर थोड़ी घास डाल दी जाती है कि पानी के गिरने में छींटें न उड़ें। इसमें बहुत बड़ी खूबी और नफ़ासत यह है कि मैला पानी, जिसकी सूरत करीह[5] होती है, नज़र के सामने नहीं रहता। और जिनके मिज़ाज में नफ़ासत है, उनको तक्लीफ़ नहीं होती है (कज़ा)। मगर आफ़्ताबे की जगह लखनऊ में लोटा राइज[6] हो गया। दरअस्ल आफ़्ताबः ही पुराने ज़माने का लोटा था, जिस पर लखनऊ के मज़ाक़ ने तसर्रुफ़ करके मौजूदः लोटे की सुडौल शक्ल पैदा की। पुराना लोटा, जो आफ़्ताबः कहलाता, उसकी शक्ल यह थी कि ताँबे का एक मख़रूती[7] शक्ल का ज़र्फ़ होता, जिसमें पेट और गले का कुछ इम्तियाज़ न था। पेंदे के पास जितना दौर होता, वह ऊपर की तरफ़ तद्रीजन्[8] घटता चला जाता। आखिर में वही गला हो जाता। यहाँ तक कि किनारे मोड़ के वह मुँह बना दिया जाता। और एक जानिब उसमें खमदार टोंटी लगा दी जाती। इस शक्ल के लोटे हैदराबाद में आज भी मिल जाते हैं, जो अपनी क़दामत और हमारे लोटों के नक़्शे अव्वलीं का सुबूत देते हैं। इनकी शक्ल मिस्र व शाम के गिली[9] 'ज़ुरूफ़े आब[10]' या अंग्रेज़ों के यहाँ मुंह धोने की मेज़ पर जो चीनी का जग रहता है, उसकी

१ मालिक २ हाथ-मुंह धोने का गडुआ ३ प्राचीन ४ बर्तन ५ घृणास्पद ६ प्रचलित, चालू ७ शुण्डाकार ८ धीरे-धीरे ९ मिट्टी १० पानी के बर्तन।

सी होती। और इसी से खयाल होता है कि मुसलमान इसको अरब व ईरान से अपने साथ लाए होंगे। चन्द रोज़ बाद हिन्दी तमद्दुन् के असर ने इसमें पहला तसर्रुफ़ यह किया कि पेट गोल बनकर गर्दन से जुदा और मुतमाइज़ हो गया। मगर अस्लीयत की क़ुर्बत के बाइस लम्बोतड़ापन बाक़ी था। यानी अरज़ और फैलाव, बलन्दी की मुनासिबत से न था। उस वक़्त तक पेट की गुलाई भी कुरे की मिस्ल नहीं, बल्कि बैज़ावी थी। यही शक्ल उस आफ़ताबे की है, जिसका ज़िक्र उर्दू की अगली मस्नवियों और क़िस्से-कहानियों में है। लखनऊ में यह हुआ कि पेट बैज़ावी से कुर्वी हो गया, और जितनी बलन्दी होती उसकी मुनासिबत से उसका दौर और फैलाव भी बढ़ गया। गलों में एक मौज़ूँ ढलाव हो गया और टोंटी भी इब्तिदाअन्[१] वसीअ[२] और नोक के पास तंग, खमदार और बहुत ही खुशनुमा हो गई। यह लखनऊ का मौजूदः लोटा है, जिससे जियादः खुशनुमा और सुडौल लोटे हिन्दोस्तान के किसी शहर में नहीं बनते। और हर जगह के शौक़ीन फ़रमाइशें कर-करके लखनऊ से मँगवाया करते हैं। जो तनासुब टोंटियों में यहाँ पैदा हो गया है, छोटी लुटिया से लेकर बड़े-बड़े लोटे तक सबमें नजर आता है। इसी क़िस्म का तनासुब तसर्रुफ़ ताँबे के तमाम बर्तनों में हुआ है, जिसको हम आइन्दः बयान करेंगे। इसलिए कि इस महल पर इसके बताने का मौक़ा नहीं है।

बेसनदानी दरअस्ल ताँबे की एक बे-टोंटी की लुटिया होती है। अ़मूमन् खाने के बाद दुहूनियत[३] छुड़ाने के लिए इसमें से बेसन लेकर मला जाता है और फिर पानी से धो डाला जाता है। बाज, मगर बहुत ही कम लोग ऐसे हैं, जो बेसनदानी में बुटना या खली रखते हैं। इसलिए कि बेसन खाने की चीज़ है, जिसको हाथ धोने में ज़ाए[४] करना उनके खयाल में नाजाइज़ या नामुनासिब है। मगर अब इसका रवाज बहुत कम हो गया है। इसलिए कि बुटना शादियों के सिवा और किसी मौक़े पर नहीं बनता। और खली से हाथ में उसकी तेज़ बदबू आने लगती है।

यातायात के उम्दः साधन व शानोशौकत

मुआ़शरत के बहुत से सामाने ज़रूरी और आदाबे निशस्त व बर्खास्त को हम इससे पेशतर बयान कर चुके हैं, मगर अब हमको यहाँ के शुरफ़ा की बाहर की आमद व रफ़्त की वज़अ़ व शान बताने की ज़रूरत मालूम होती है। हिन्दोस्तान के तमाम शहरों की तरह यहाँ भी अंग्रेज़ीयत इस क़दर ग़ालिब आ गई है कि एशिया के आखिरी तमद्दुन् में जो वज़अ़ पैदा हुई थी, बिल्कुल मिट गई। मगर हमको इस मौक़े पर वही चीज बयान करना है जो मिट चुकी है, या मिटने के क़रीब है। लिहाज़ा हम आज से साठ-सत्तर बरस पेशतर से भी पहले जमाने में निकले चलते हैं और उस

१ आरम्भ से २ विशाल ३ चिकनाई ४ बरबाद, नष्ट।

ज़माने की तस्वीरें नाज़िरीन के पेशे नज़र करते हैं, जो अब कहीं नहीं नज़र आ सकतीं।

आजकल की-सी उम्दः मोटरों और लम्बी-चौड़ी फ़िटनों और लैण्डू गाड़ियों के न होने से, और नीज़ हाल के उसूले हिफ़्ज़े सेहत के पेशे नज़र न होने के बाइ़स, उन दिनों आजकल-सी लम्बी-चौड़ी और वसीअ़ व कुशादः सड़कें न थीं। बल्कि तंग गुज़रगाहें थीं, जिनमें हाथी, घोड़े, ऊँट, हवादार, बूचे, फ़ीनसें, मियाने, सुखपालें, डोलियाँ, रथें, बहलें, आदमियों की भीड़ में से हटो, बचो करती हुई हर वक़्त गुज़रा करती थीं। कैसा ही मर्‌जअ़[1] आ़म बाज़ार और कैसी ही पसन्दीदः सैरगाह हो सबकी हालत बिला इस्तिस्‌ना यही थी।

एक ऊँट तो नहीं, जो फ़ौजी ज़रूरतों, नामाबर क़ासिदों, या बारबरदारी के लिए मख़्सूस थे, बाक़ी और तमाम सवारियाँ शुरफ़ा व रुअसा[2] में हस्बे हालत व हैसियत मुरव्वज थीं। आला तब्क़े के शाहज़ादे या नव्वाब या उन्हीं के दर्जे के और उमरा, हवादारों और बूचों पर सवार हो के निकलते। हवादार टमटम की वज़अ़ एक खुली डोली थी, जिसके पीछे चमड़े का टप होता और लोहे की कमानियों के ज़रीए से खोला या बन्द किया जा सकता। ठण्डे औक़ात में जब टप गिरा दिया जाता तो हर तरफ़ की फ़ज़ा[3] खुली रहती। आगे-पीछे इसमें फ़ीनस के डण्डे लगे होते। चार कहार उसको काँधे पर उठाकर ले जाते और जो शख़्स होता, वह निहायत वक़ार[4] व तम्कनत[5] से बाज़ार की सैर करता, हर चीज़ को देखता-भालता और शिनासाओं से साहिब-सलामत करता हुआ जाता। हवादार की क़तअ़ से मालूम होता है कि वह खास अंग्रेज़ों की ईजाद की हुई चीज़ थी। हिन्दोस्तान में आकर उन्होंने अपने मज़ाक़ के मुताबिक़ और अपनी जिद्दततराज़ी से इसको ईजाद किया। और अपनी नफ़ासत, ख़ुशनुमाई और सफ़ाई की बदौलत रुअसाए हिन्द को बहुत पसन्द आया। अब इसका रवाज बिल्कुल उठ गया। अगर्चिः बाज़ पुराने रुअसा के यहाँ चन्द हवादार अब भी पड़े हुए हैं, जो रुअसा की आमद व रफ़्त में तो नहीं, मगर दौलतमन्द हिन्दुओं की बरातों में वह कभी-कभी नज़र आ जाया करते हैं।

बूचा—इससे ज़ियादः बा-वक़ार और मुशय्यन्[6] सवारी थी। इसकी क़तअ़ आजकल की बरोहम या अद्धा गाड़ियों की-सी होती, जिसमें पहियों के बजाय पाए होते। और आगे-पीछे फ़ीनस के ऐसे दो डण्डे होते और कम अज़ कम आठ और अक्सर सोलह कहार उसको उठा के ले चलते। इसलिए कि वह कहारों के उठाने की तमाम सवारियों से ज़ियादः भारी होता। इस सवारी पर शायद कभी और उमरा भी सवार हुए हों, मगर मैंने फ़क़त वाजिद अ़ली शाह को कलकत्ते में इस पर सवार होते देखा। और उनके सिवा यह सवारी मैंने कहीं और किसी के पास नहीं देखी।

---

१ रक्षा-स्थान २ धनवानों ३ वातावरण ४ प्रतिष्ठा ५ गौरव ६ शानदार।

बादशाह अपने बाग़ों, महलों और कोठियों में इसी पर सवार हो के फिरा करते और गिर्द जुलूसी ख़ुद्दाम के अलावः मुअज़्ज़ज़ अर्काने दौलत और हुज़ूर रस मुसाहिबीन पा-प्याद: साथ चलते। मगर यह भी यक़ीनन् अंग्रेज़ों की ईजाद था, जो उस अह्द की अंग्रेज़ी गाड़ियों से अख़्ज़[1] करके कहारों के उठाने के क़ाबिल बना लिया गया।

सुखपाल—उन दिनों औरतों की निहायत मुअज़्ज़ज़ सवारी थी, जो ख़ालिस हिन्दोस्तानी चीज़ और हिन्दी मज़ाक़ के तकल्लुफ़ात का मुकम्मल नमूना थी। यह एक सुर्ख़ गुम्बदनुमा डोली थी। एक लम्बे-चौड़े खटोले पर एक शानदार लाल बुर्ज-सा बना दिया जाता, जिसमें सोने-चाँदी के कलस लगे होते। चारों तरफ़ पर्दे लटकते होते। इसमें भी आगे-पीछे दो-दो, एक-एक डण्डे होते और बहुत से कहार उनको उठा के ले चलते। यह सवारी आली मर्तबः बेगमात और महले शाही की ख़ातूनों के लिए ख़ास थी।

रथ—इसी वज़अ की पहियोंदार गाड़ी थी। जिसमें बैल जोत दिए जाते। रथें देहात के तअल्लुक़ेदारों और मुअज़्ज़ज़ ज़मीनदारों के यहाँ और देसी रियासतों में अब भी मौजूद हैं, मगर रोज़ ब रोज़ बेकार होती जाती हैं और उनका रवाज उठता जाता है। लखनऊ में खास शाही महलात की ज़रूरत के लिए उन दिनों हज़ारों रथें थीं। शुजाउद्दौलः की बीबी बहू बेगम साहिबा, नव्वाब आसिफ़ुद्दौलः के अह्द में जब अपनी बेवगी की ज़िन्दगी एक हुक्मराँ मलका की शान से फ़ैज़ाबाद में बसर करती थीं तो अकेली उनकी सरकार में आठ-नौ सौ रथें थीं। और क़दीमुल्अय्याम में जब शाहाने देहली अपनी मम्लुकत[2] में दूर-दराज़ के सफ़र किया करते थे, तो उनके महलाते आलियात इन्हीं रथों पर सवार हो के साथ जाते।

बहल—बैलों की आम गाड़ी थी, जिसमें एक खटोले को दो पहियों पर क़ाइम करते, फिर उस पर चार डण्डे खड़े करके, एक छतरी लगा देते। और इस पर पर्दे के लिए ग़िलाफ़ डाल दिया जाता। इसमें अक्सर मर्द और औरतें सफ़र करतीं। उन दिनों मुतवस्सित[3] तब्क़े के देहातियों और शहरियों दोनों के लिए सफ़र का ज़रीअः यही सवारी थी। बहलें, देहातों में अब भी ब-कस्रत मौजूद हैं। मगर उनकी ज़रूरत रोज़ ब रोज़ मिटती जाती है। और अन्क़रीब एक ज़मानः ऐसा आनेवाला है कि यह सवारी अन्क़ा हो जाएगी।

इनके सिवा तमाम सवारियों को लोग ख़ुद ही जानते हैं। हमें उनकी शक्ल व सूरत बताने की ज़रूरत नहीं है।

बहरहाल यह सब सवारियाँ शहर के तमाम रास्तों और गली-कूचों में गुज़रती नज़र आतीं। ज़ियादःतर लोग फ़ीनसों पर सवार होते। उलमा, अतिब्बा, उमरा

---

१ ग्रहण २ राज्य ३ मध्यम।

और खुशबाश, जिनको खुदा इस्तिताअ़त देता, चार कहार नौकर रख लेते जो खिदमतगारी भी करते और सवारी का काम भी देते। जिन लोगों में ज़रा भी बाँकपन होता या सिप:गराना शान दिखाना चाहते, जो उन दिनों अह्ले शहर में आ़म थी, वह घोड़े पर सवार हो के निकलते, जो चाँदी के ज़ेवर और कारचोबी साज़ व वर्राक़[1] से दुलहन बना दिए जाते। आला दर्जे के मुअ़ज़्ज़ीन हाथियों पर बैठ के आमद व रफ़्त करते, जो बावजूद इस क़द व क़ामत के तमाम गली-कूचों में बिला तकल्लुफ़ गुज़र जाते, हाथियों पर सादी बानात या कारचोबी झोलें होतीं और उन पर खुले हौदे या सायेदार बुर्जनुमा अ़मारियाँ कसी जातीं।

ज़नानी सवारियाँ, जो सुखपालों और फ़ीनसों पर होतीं, वह बड़े तकल्लुफ़ और शान से निकलतीं। फ़ीनस पर सुर्ख़ झटके पड़े होते, जिन पर कभी गोटा लचका भी टाँक दिया जाता। कहार सुर्ख़ बानात के चुग़े पहने होते, सरों पर सुर्ख़ कगरदार पगड़ियाँ होतीं, जिनकी कगरों पर चाँदी की मछलियाँ टंकी रहतीं। मछली हिन्दोस्तान में बेहतरीन शगून मानी गई है। रुखसत करते वक़्त या किसी को किसी अहम काम के लिए जाते वक़्त आज भी औरतों के मुँह से निकल जाता है "दही-मछली", ग़ालिबन् इसको नुजूम[2] से तअ़ल्लुक़ हो और यह भी नुजूमियों ही का, लटका मालूम होता है कि चाँदी की मछलियाँ बनवाकर कहारों की पगड़ी में टाँक दी जाएँ जो आगे रहते हैं। ताकि कहीं जाते वक़्त मछली पेशे नज़र रहे।

ज़नानी फ़ीनस के साथ-साथ एक कहारी छटके का कोना पकड़े दौड़ती जाती। इन कहारियों की वज़अ़ भी खास क़िस्म की थी। सबसे बड़ी पहचान यह थी कि लहँगे में इतनी चौड़ी गोट होती है कि उसका आधे से ज़ियाद: हिस्स: फ़क़त गोट का हुआ करता।

इन सवारियों में से शहर में अब फ़क़त फ़ीनस बाक़ी रह गई है या कभी-कभी कोई रईस घोड़े या हाथी पर दिखायी दे जाते हैं।

अब देखना यह है कि बाहर निकलने में शुरफ़ा की क्या वज़अ़ होती थी। लिबास को हम बयान कर चुके हैं। मगर इनकी तस्वीर दिखाने के लिए हमें फिर एक हद तक इनकी वज़अ़-क़तअ़ बताने की ज़रूरत है। सवारी की शान के मुतअ़ल्लिक़ मैंने जो कुछ बयान किया उसमें बजुज़ बूचे और हवादार के और तमाम चीज़ें वही हैं, जो देहली से आईं। लखनऊ को इनसे कोई खुसूसीयत नहीं। दरअस्ल यह देहली ही की शान थी, जो अपनी आखिरी झलक बड़े कर्र[3] व फ़र्र[4] के साथ लखनऊ में दिखा के ग़ाइब हो गई।

लेकिन लिबास में लखनऊ देहली से जुदा हो गया। अब घर में कुर्ता या क़मीस उतार के बैठना मायूब हो गया है। मगर उन दिनों यहाँ घर का लिबास सच पूछिए

१ उज्ज्वलता २ नक्षत्र (ज्योतिष) ३ शान ४ शौकत।

तो एक ग़र्क़ी थी। यहाँ का दरबार शीअ़: था और हर चीज़ यहाँ तशय्युअ़[१] ही के साँचे में ढलती थी। फ़िक़: ए इमामियः की रू से रानों के खुले रहने में मुज़ायक़: नहीं। बख़िलाफ़ हनफ़ीयों के, कि उनके मज़्हब में नाफ़[२] से लेकर घुटनों तक जिस क़दर हिस्सए जिस्म है, सतर में दाख़िल है। उसका छुपाना ज़रूरी है और इसी वजअ़ पर देहली में अ़लल्अ़ुमूम तहमत की वजअ़ की लुंगी बाँधी जाती। जिसमें घुटनों के नीचे तक जिस्म ढका रहता है। यहाँ के तमद्दुन् में इसकी ज़रूरत नहीं बाक़ी रही। और यहाँ की लुंगी फ़क़त एक पतली-सी ग़र्क़ी या जाँघियः रह गई, जिसमें नाफ़ से कुंजे रान तक तो जिस्म ढक जाता है। बाक़ी सब जिस्म खुला रहता है। लोगों में मुहज़्ज़ब और मर्द आदमी बन के निकलने का ख़याल तो बढ़ा हुआ था, मगर घर में बजुज़ एक ग़र्क़ी के, जिस्म पर एक धागा भी न रहता। और यह बात इस क़दर आ़म हो गई थी कि इस बरह्नंगी[३] की वजअ़ से अपने घर पर किसी से मिलने में भी मुज़ायक़: न समझा जाता। मगर यही हज़रात जब बाहर निकलते तो शान ही और होती। क़ालिब पर चढ़ी चौगोशियः टोपी, उजला साफ़ और बर्राक़ अँगरखा, जो मालूम होता अभी-अभी धोबी के घर से आया है और इसी वक़्त गोट और आस्तीनें चुनी गई हैं। गुलबदन या नैनसुख का अ़रज़ का पायजामा, काँधे पर मुसल्लस रूमाल, हाथ में दस्ती रूमाल और छड़ी। और पाँव में लखनऊ का बना हुआ सुबुक, मख़मली ख़ुर्दनोका[४] जूता, बाहर निकलने में हर वज़ीअ़[५] व शरीफ़ की यही वजअ़ थी।

बहुत से लोगों को बाहर निकलने में इस वज़अ़ व लिबास का इस क़दर लिहाज़ था कि कभी उनके कपड़े मैले नज़र न आते। मालूम होता कि इसी वक़्त धोबी के यहाँ से आए हैं। हालाँकि महीनों उसके धुलने की नौबत न आती और होता यह कि दो घड़ी दिन रहे घर से निकले, ख़िरामाँ-ख़िरामाँ[६] हर चीज़ से बचते और अपने साये तक से भड़कते हुए चौक की सैर की, दो घड़ी रात गये वापस आ गये। और आते ही पहला काम यह किया कि टोपी क़ालिब पर रख के एक कपड़े से उढ़ा दी। अँगरखे, पायजामे, ओढ़ने के रूमाल को एह्तियात से तह करके, दस्ती रूमाल में गठरी की तरह बाँध के खूँटी पर रख दिया। और ग़र्क़ी बाँध के और कोई पुराना जूता या ज़ेर-पाई पहनकर बैठ रहे। इस दाश्त की बर्कत थी कि क़ीमती और शाली कपड़े चार-चार, पाँच-पाँच पुश्तों तक इस एह्तियात से रहते कि न मैले होते, न फटते, न कीड़ा खाता। हमेशा नये बने रहते और शादी की तक़रीबों या शान व शुकोह की महफ़िलों में ऐसा शाहानः लिबास पहनकर जाते कि लोगों को, जो उनकी हालत व हैसियत से वाक़िफ़ होते, तअ़ज्जुब होता।

गोकि आला तब्क़े के उमरा ख़ुसूसन् शहज़ादे, उलमा और अतिब्बा लुज़ूम[७] के

१ शीओं २ नाभि ३ नग्नता ४ छोटी नोक वाला ५ रख-रखाव रखने-वाला ६ धीरे-धीरे टहलते हुए ७ अनिवार्यता।

साथ सवारियों पर निकलते मगर शुरफ़ा के लिए पैदल फिरना आजकल के ज़माने की तरह मायूब न था। हर तब्क़े और दर्जे के लोग यकसाँ हालत से पा-प्याद: बाहर की सैर करते और पैदल चलनेवाले, बड़े से बड़े रईसों और मुअज्ज़ज़ लोगों के बराबर बैठते और मुज़ायक़: न होता।

मिट्टी के बर्तन और खिलौने

अब हम मुख्तसरन्[१] यह भी बता देना चाहते हैं कि लखनऊ की मुआशरत ने अपनी ज़रूरत व क़द्रदानी से किन-किन चीज़ों को तरक़्क़ी दी और किन-किन फ़नों को यहाँ नश्वनुमा[२] हुआ। इस सिल्सिले में बहुत सी चीज़ों का ज़िक्र आएगा। मगर हम पहले मिट्टी के बर्तनों से शुरू करते हैं।

मिट्टी के बर्तन दुन्या की पहली ईजाद हैं। हर मुल्क और हर सरज़मीन से खोद के क़दीमुल्अय्याम के खज़फ़-पारे[३] बरामद किये गये हैं। जिससे साबित होता है कि मिट्टी को भट्ठी में पका के खज़फ़ बना लेना इन्सान को अपनी तरक़्क़ियों के बहुत इब्तिदाई दौर में मालूम हो गया था। और ग़ालिबन् दुन्या के अह्दे हिजरीयत[४] ही में मादिनी फ़िलिज़्ज़ात[५] के बरामद होने से पहले इन्सान को, बर्तन बना के उनको पकाना आ गया था। मिस्र के अह्दे फ़राअिन: के गिली[६] ज़ुरूफ़[७] और बाबुल व नैनवा में ग़िज़ा और पानी के ज़ुरूफ़ के साथ निहायत पुख्त: ईंटें बरामद हुई हैं। फ़राअिन: के दौर में उमराए मिस्र जिन ताबूतों[८] में लाशों को ममी बना के रखा करते, वह मिट्टी ही के होते थे। यह नहीं, अगली दुन्या खज़फ़-पारों और ठीकरों से बहुत दिनों तक काग़ज़ का काम लेती रही है।

हिन्दोस्तान वालों को भी क़दीमुल्अय्याम ही में यह फ़न आ गया था और अह्दे क़दीम से निकले हुए ज़ुरूफ़ से मालूम होता है कि यहाँ भी इस फ़न ने दीगर मक़ामात से कम तरक़्क़ी नहीं की थी। मख्सूसन् बुतपरस्ती ने हिन्दुओं में भी मिट्टी की मूरतों की बुन्याद डाली, जिसमें रोज़ व रोज़ तरक़्क़ी होती रही। और यहाँ कुम्हारों की एक ज़ात पैदा हो गई, जिसका खानदानी और आबाई पेशा यही है कि मिट्टी के ज़ुरूफ़ और खिलौने बना के पकाते हैं।

देहली में इस्लामी दौर ने आम कुम्हारों की निस्बत ज़ियाद: तरक़्क़ीयाफ़्त: कसगरों (क़ासगरो) का एक नया गिरोह पैदा कर दिया, जो मुसलमान हैं और ज़ुरूफ़ के साथ खिलौने भी बनाते हैं। और अगर्चि: शरअ़े इस्लाम मूरतों के बनाने को मुत्लक़न्[९] नाजाइज़ बताती है, मगर कसगरों का चूँकि ज़रीयए मआ़शत[१०] यही काम

१ संक्षेपतः २ पालन-पोषण, विकास ३ ठीकरे ४ पाषाण-काल ५ खनिज धातुएँ ६ मिट्टी ७ बर्तनों ८ वह सन्दूक़ जिसमें शव को बन्द करके गाड़ते हैं ९ बिल्कुल १० रोज़ी।

है, इसलिए वह एक हद तक खिलौने बनाने और बेचने पर मज्बूर हैं। मुसलमान कसगर आम मुआशरत व शाइस्तगी और नीज़ अपने फ़न में कुम्हारों से ज़ियादः तरक़्क़ीयाफ़्तः हैं।

देहली से मुसलमान उमरा इन कसगरों को भी अपने साथ लखनऊ में लाये। और उमरा की शौक़ीनी की बदौलत इनकी सन्अत[1] को यहाँ ज़ियादः और नुमायाँ तरक़्क़ी होने लगी। चुनांचि: कुम्हार और कसगर दोनों ने अपने काम में वह ज़िहानत व तब्बाअी[2] और जिद्दततराज़ियाँ दिखाना शुरू कीं, जो एक मुसव्वर[3] तस्वीरों में और एक शाअिर, अश्आर में दिखाया करता है। हुस्ने इत्तिफ़ाक़ से लखनऊ की मिट्टी इस फ़न के लिए मुनासिब साबित हुई, जिसने कारीगरी को इज़्हारे कमालात का मौक़ा देना शुरू किया। और बर्तन और खिलौने दोनों ऐसे बनने लगे जैसे कि कहीं न बन सके थे। ज़ुरूफ़ में तो यह तरक़्क़ी हुई कि ऐसे सुबुक, बारीक और साफ़ और इसके साथ ख़ुशक़तअ[4] बर्तन यहाँ बनते हैं कि कहीं नहीं बन सकते। अमरोहे की मिट्टी भी इस काम के लिए ज़ियादः मुनासिब है। चुनांचि: वहाँ भी इस फ़न को ज़ियादः तरक़्क़ी हो रही है। और वहाँ के कारीगरों के ज़ुरूफ़, गुलदस्तों और लखनऊ के ज़ुरूफ़ की वज़अ में फ़र्क़ है। और अक्सर लोगों का ख़याल है कि लखनऊ के कारीगरों का काम नफ़ासतपसन्द लोगों की नज़र में बढ़ा हुआ है।

आम चीज़ों में लखनऊ के घड़े, बधनियाँ सारे हिन्दोस्तान के घड़ों और बधनियों से सुबुक और ख़ुशनुमा होते हैं। घड़ों की गुलाई निहायत ही मुकम्मल और अपने हुदूद[5] में पूरी होती है। बधनियाँ ताँबे के लोटों की क़तअ से बहुत ज़ियादः क़रीब होती हैं। ज़ुरूफ़ में सिफ़ाली के बर्तन यहाँ से अच्छे शायद कहीं कम मिलेंगे। मगर चूँकि मिट्टी के बर्तनों में खाने का रवाज बिल्कुल उठ गया है, इसलिए कुम्हारों की तवज्जुः इनकी तरफ़ से हट गई और रोज़ ब रोज़ हटती जाती है। मगर जिन ज़ुरूफ़ में यहाँ के कसगरों ने अपने कमालात का आलातरीन सुबूत दिया, वह आबख़ोरे, सुराहियाँ, झजरियाँ और हुक़्क़े हैं। और उनके बाद खीर की हाँडियाँ।

आबख़ोरे—पानी पीने के ज़ुरूफ़ हैं। अगर्चि: शीशे और तामचीनी के सुबुक और ख़ुशनुमा और नफ़ीस गिलास और नीज़ मुरादाबाद वग़ैर: के गिलास और कटोरे कस्रत से रवाज पा गये हैं, मगर हिन्दोस्तान में गर्मियों का एक ऐसा मौसम आता है, जबकि बजुज़ मिट्टी के आबख़ोरों के, किसी ज़र्फ़ में पानी मज़ः नहीं दे सकता। इसलिए कि पानी इनमें ठण्डा रहता है और ख़ुद उनकी ठंडक से, हाथ और होठों पर ख़ुनुकी[6] की ऐसी लज़्ज़त देती है जो और किसी चीज़ से नहीं हासिल हो सकती। अलाव: बरीं, मिट्टी के कोरे आबख़ोरों में एक ऐसी रूह को ताज़ः करनेवाली ख़ुशबू

१ कला २ तबीअत की तेज़ी ३ कलाकार ४ सुन्दर, अच्छे ५ सीमा ६ शीतलता।

होती, जिसके शौक़ ने यहाँ मिट्टी का इत्र ईजाद करा दिया, ग़रज़ इस ज़रूरत ने आबख़ोरों को बाक़ी रखा, जिनमें तरह-तरह की नफ़ासतें पैदा की गईं। ऐसे नाज़ुक, हल्के और सुबुक आबख़ोरे बने जो काग़ज़ी कहलाते हैं। और इस क़दर बारीक होते हैं कि शीशे के गिलासों की नज़ाकत को भी यहाँ मिट्टी के आबख़ोरों की सुबुकी और बारीकी ने मात कर दिया। फिर उन पर नक़्श व निगार बना के बालू की एक तह चढ़ा दी जाती है कि पानी को ज़ियादः ठण्डा रखे। इन्हीं के मुनासिब इनके जोड़ की थालियाँ ईजाद हुईं। आख़िर आबख़ोरों की क़तअ़ ऐसी ख़ुशनुमा और दिलकश हो गई कि देखने से तअ़ल्लुक़ रखती है। और ज़माने को मान लेना पड़ा कि इन्सानी सनअ़त ने जो कमाल पिघलनेवाले फ़िलिज़्ज़ात[1] के इस्तेमाल में दिखाया है, वहीं मिट्टी में भी दिखा सकती है।

आबख़ोरों के बाद पानी रखने और उसके ठण्डा करने के ज़ुरूफ़ में सुराहियाँ हैं। सुराही बहुत पुरानी चीज है, जिसका रवाज ईरान व मिस्र क़दीम में भी था। मगर लखनऊ की सुराहियाँ, मिट्टी की ख़ूबी और कारीगरों की लताफ़तें मज़ाक़ से नफ़ीस, काग़ज़ी और बहुत ही सुबुक हो गईं। और फिर उनकी शक्ल भी ऐसी ख़ूबसूरत हो गई कि इन दोनों बातों में कहीं की सुराहियाँ इनका मुक़ाबलः नहीं कर सकतीं। इनके दहाने पर ऐसी मुतनासिब ख़मीदगी पैदा हो गई कि लखनऊ की सुराहियों का दहाना ही ऐसी चीज है जो और किसी जगह नज़र नहीं आ सकती। झज़रियाँ भी वैसी ही नाज़ुक व सुबुक हैं। उनका पेट तो वही सुराहियों के मिस्ल होता है, मगर इसके ऊपर लम्बी गर्दन के ऐवज़ एक मुँहगर लगा दिया जाता है। काम और नज़ाकत व लताफ़त के एतिबार से वह भी सुराहियों से कम नहीं होतीं।

हुक़्क़े—इनमें भी ठण्डक की बेइन्तिहा ज़रूरत हुआ करती है, ताकि धुआँ ठण्डा आये। मिट्टी के काग़ज़ी हुक़्क़े यहाँ ऐसे नफ़ीस और ख़ुशक़तअ़ बनने लगे कि किसी जगह नहीं नसीब हो सकते। फिर नये अनबासे हुए कोरे हुक़्क़ों से धुएँ में ख़ुनुकी और नफ़ासत के साथ-साथ कोरी मिट्टी की ऐसी नफ़ीस ख़ुशबू पैदा हो जाती है कि अ़हदे शाही के बहुत से आली मर्तबः रईसों को सिवा इनके किसी हुक़्क़े में मज़ः न आता था। अ़ज़ीमुल्लाह ख़ाँ ने इनमें और ख़ुशनुमाई व नफ़ासत पैदा करके, अ़ज़ीमुल्लाह ख़ानी हुक़्क़े अपनी यादगार छोड़ दिए। जो आज तक मिट्टी के कुल क़िस्मों के हुक़्क़ों से अच्छे, सुबुक और मक़बूल आम है। मैंने एक मर्तबः लन्दन के मलिकुश्शुअ़रा लार्ड टेनेसन की निस्बत सुना कि उनको मिट्टी के सफ़ेद पाइप, जो "गिली पाइप" कहलाते हैं, इस क़दर पसन्द थे और उनकी शाइरानः नफ़ासतपसन्दी, कोरे पाइपों की इस क़दर रसिया थी कि सामने एक टोकरी में भरे हुए और अछूते पाइप रखे रहते। वह एक पाइप को लेकर उसमें तम्बाकू भरते, पीते और चन्द मिनट में उसको तोड़ के

१ धातुएँ।

दूसरी टोकरी में डाल देते। फिर दुबारा ज़रूरत होती तो दूसरा पाइप लेते और चन्द कश लेकर उसे भी तोड़ के डाल देते। यूँ ही दिन भर बैठे कोरे पाइप भरा, पिया और तोड़ा करते। मेरा ख़याल है कि अगर लार्ड टेनेसन को लखनऊ के अज़ीमुल्लाह ख़ानी हुक़्क़े मिल जाते, तो इन 'गिली पाइपों' को भूल जाते। इसलिए कि इनके धुएँ में जो ठण्डक, नफ़ासत और ख़ूबी होती है, उसका पता गिली पाइपों में कोसों नहीं है।

खीर की हाँडियाँ—पकाने की हाँडियाँ पर जगह बनती हैं, मगर लखनऊ की हाँडियाँ ताँबे की पतीलियों की जितनी सच्ची नक़्ल हैं, और कहीं न होंगी। ख़ुसूसन् गुलाबी हाँडियाँ, जो हिस्सों में खीर वग़ैरः तक़्सीम करने के लिए बनाई जाती हैं। आबख़ोरों और सुराहियों की तरह यह भी काग़ज़ी और बहुत ही ख़ूबसूरत बनती हैं। इनमें अब अक्सर नाज़ुक उमरा गिलौरियाँ भी रखते हैं। इसलिए कि गर्मियों के मौसम में ख़ासदान जल उठते हैं और उनमें गिलौरियाँ भी बहुत गर्म हो जाती हैं। मगर इन हाँडियों में वह इस क़दर ठण्डी रहती हैं और इनमें ऐसी सोंधी ख़ुशबू पैदा हो जाती है कि निहायत ही फ़र्हतबख़्श होती हैं। मगर बर्तनों से भी ज़ियादः कमाल कुम्हारों ने खिलौनों और मिट्टी की मूरतों में दिखाया। बुततराशी का फ़न बुत-परस्ती के तुफ़ैल में बहुत पुराना है। मिस्रियों, बाबुलियों और ईरानियों, यूनानियों और रूमियों, सबने अपने-अपने अह्द में इन फ़न में कमालात दिखाये, जिनके नमूने आज यूरोप के नामवर अजाइबख़ानों में नज़र आ सकते हैं। ख़ुसूसन् अहले यूनान ने पत्थर की मूरतें तराशने और आज़ा[1] का तनासुब क़ाइम रखने में ऐसा कमाल दिखाया कि आज का ज़मानः भी बावजूद बेइन्तिहा तरक़्क़ियों के उनकी चाबुकदस्ती पर हैरान है। और इनकी बनाई हुई मूरतें हाल के बुततराशों और मुसव्विरों के लिए बेहतरीन "मॉडल" या मेयार समझी जाती हैं। मगर मिट्टी के खिलौनों में तनासुबे आज़ा क़ाइम रखने और फ़ितूरत की सच्ची नक़्ल उतारने में जो कारीगरी यहाँ के अनपढ़, जाहिल कुम्हार दिखा रहे हैं, वह यूनान के कमाल से ज़रा भी कम नहीं हैं। वह इन्सान को देखकर, उसकी पूरी मूरत उतनी ही बड़ी जितना कि उसका जिस्म हो, तैयार कर देते हैं। फिर छोटी मूरतों में हर वज़अ और हर तब्क़े के लोगों की ऐसी मुताबिक़े अस्ल तस्वीरें बनाते है कि उनके कमाल में शाइरानः नाज़ुक ख़यालियों का पता चलता है। दीवाली में हिन्दू कसरत से खिलौने ख़रीदते और तक़्सीम करते हैं। और इसी ज़रूरत से हर साल इस मौसम में यहाँ के कुम्हारों को अपने फ़न में नई-नई ईजादों, तब्बाख़ियों[2] और नाज़ुक ख़यालों के ज़ाहिर करने का मौक़ा मिल जाया करता है।

इन कुम्हारों ने जो मूरतों के तरह-तरह के ग्रूप और सेट तैयार किये हैं, वह देखने से तअ़ल्लुक़ रखते हैं। अंग्रेज़ी बैण्ड, रंडियों और भाँड़ों के ताइफ़े, क़दीम

१ अंगों २ हुनरों।

नव्वाबों की महफ़िल, उमरा के दरबार, मुख़्तलिफ़ अहले हरफ़ा के मज्मे, खास शान रखते हैं। एक मर्तबः नुमाइश के मौक़े पर यहाँ के एक कुम्हार ने एक हिन्दोस्तानी गाँव बनाया था, जिसमें आबादी के अन्दर दुकान और मकानों के दरमियान मुख़्तलिफ़ुल्-वज़अ[1] लोगों का चलना-फिरना, बैलों और गाड़ियों का गुज़रना दिखाने के बाद, गिर्द के मैदान में किसानों का हल जोतना और नालियों के ज़रीए से खेतों में पानी पहुंचाना दिखाया था। नालियों में पानी बहना और उसमें नन्ही-नन्ही लहरों का पड़ना तक नमूदार होता था और यह चीज़ नुमायाँ तौर पर दिखाई गई थी कि जो बैल, हलों में काम कर रहे हैं, निहायत दुबले हैं और उनकी पसलियाँ साफ़ नज़र आ रही हैं। इसी तरह शाही ज़माने के लखनऊ की एक तस्वीर भी मैंने देखी, जिसमें उस वक़्त की आबादी और गलियों और पुलों का नक़्शा दिखा दिया गया था। मगर अफ़सोस कि यह सब मिहनतें वक़्ती जोश के तौर पर दो-चार रोज़ नज़र आ के ग़ाइब हो जाती हैं और कोई ऐसा मुक़ाम[2] नहीं है, जहाँ इन तमाम सन्नाअियों[3] के नमूने महफ़ूज़[4] रखे जाते हों। लन्दन में "मैडम टिसाड्स इग्ज़बीशन्" के नाम से एक मोमी तस्वीरों का अजाइबख़ानः है, जिसमें हर क़िस्म की क़द्दे आदम तस्वीरें कुल मशाहीरे ज़मानः की और नीज़ जिनमें सन्नाअ ने कोई खास कमाल दिखाया है, जमा कर दी गई हैं। बाज़ ऐसी सूरतें हैं कि मुम्किन नहीं कि हर जानेवाले को किसी न किसी सूरत पर धोखा न हो जाए। अगर ऐसा मिट्टी की मूरतों का एक अजाइबख़ानः यहाँ क़ाइम कर दिया जाए और उसमें कुम्हारों की तमाम कारीगरियाँ जमा कर दी जाएँ तो मेरा खयाल है कि फ़न की तरक़्क़ी में बेहद मुफ़ीद होने के अ़लावः नफ़ाबख़्श भी होगा। इसके दाखिले के लिए एक टिकट मुक़र्रर किया जा सकता है और मेरा खयाल है कि कोई बाहर का सय्याह[5] बग़ैर इसके देखे न जायगा। लेकिन खराबी यह है कि खुद हममें कोई ज़ौक़ और जोश नहीं है। और हम हर बात में गवर्नमेंट के दस्ते निगर[6] रहना चाहते हैं। अगर किसी दौलतमन्द अमीरज़ादे को बजाय अ़य्याशी के, इसका शौक़ हो जाए तो किस क़दर नामवरी व खिदमते वतन का बाअ़िस हो सकता है?

अ़जाइबख़ानों में इस क़िस्म के खिलौने अक्सर जमा कर दिए गये हैं, मगर वह बहुत ही महदूद हैं। और लखनऊ में इस सन्अ़त[7] का दर्जः इतना ही नहीं है कि दीगर अजूबए रोज़गार चीज़ों के ज़िम्न[8] में चन्द खिलौने भी रख दिए जाएँ। यहाँ खिलौनों और गिली[9] मूरतों की मुस्तक़िल नुमाइश होनी चाहिए।

---

१ विभिन्न प्रकार २ स्थान ३ कलाकारियों ४ सुरक्षित ५ यात्री ६ अधिकार में ७ कला ८ सिल्सिलः ९ मिट्टी की।

'प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक संत की बानी।
सम्पूर्ण विश्व में घर-घर है पहुँचानी ॥'
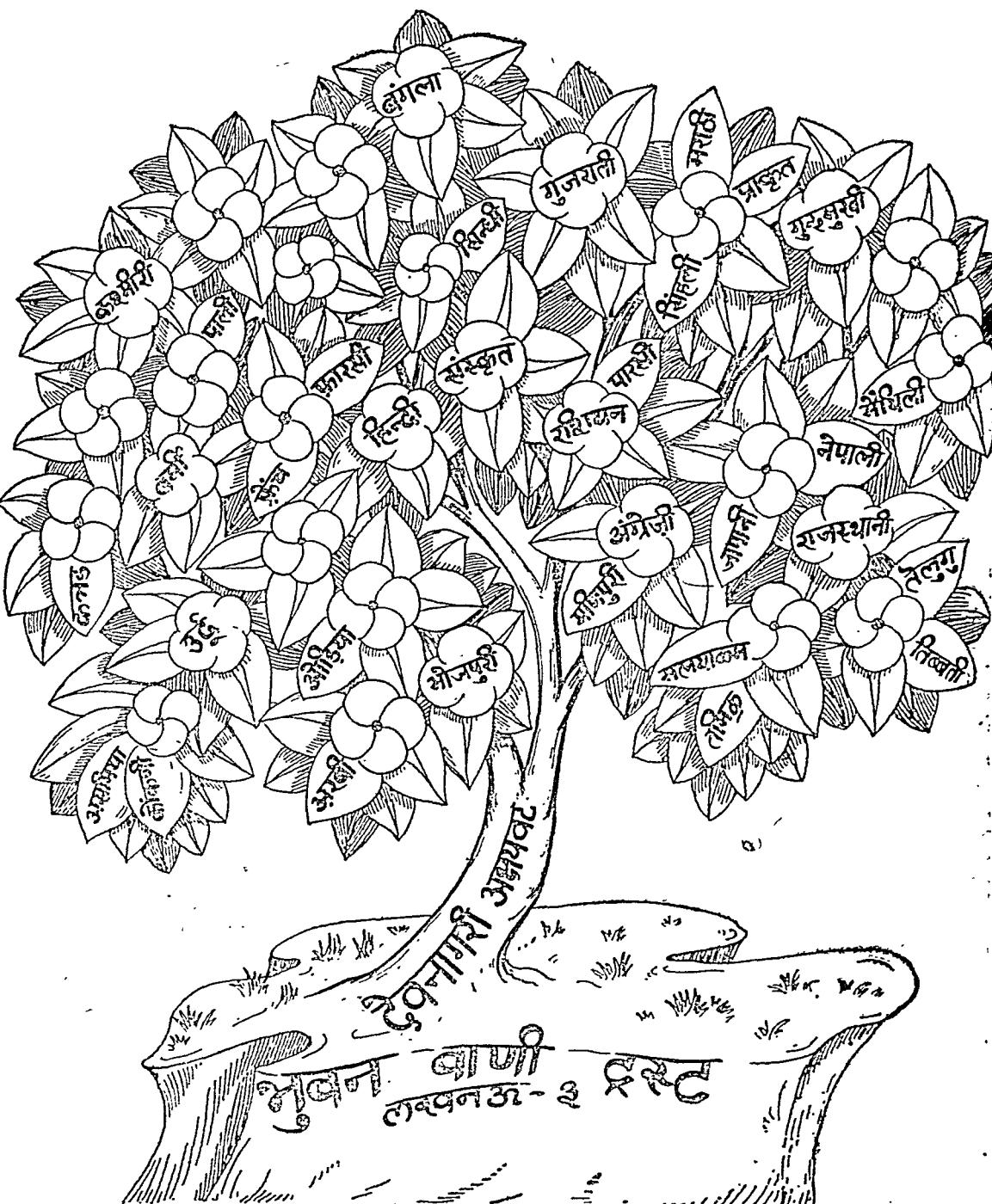
प्रतिष्ठाता— पद्मश्री नन्दकुमार अवस्थी